

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रधान संपादक
गिरीश्वर मिश्र

अतिथि संपादक
दामोदर खड़से



संपादक
अशोक मिश्र

मराठी साहित्य विशेषांक



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंक : 59 (अक्टूबर-दिसंबर 2018) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 7888048765, 09422386554, ईमेल- bahuvaachan.wardha@gmail.com

E-mail : amishrafaiz@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक एवं विश्वविद्यालय की स्वीकृति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

यह अंक : रु. 150/- रजिस्टर्ड डाक से प्राप्त करने के लिए रु. 175/- भेजें।

सामान्य अंक : 75/- वार्षिक शुल्क रु. 300/-, द्विवार्षिक शुल्क रु. 600/- व्यक्तिगत

संस्थाओं के लिए वार्षिक शुल्क रु. 400/-, द्विवार्षिक रु. 800/- (डाक खर्च सहित)

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : वेदप्रकाश भारद्वाज

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रण : क्विक ऑफसेट ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22824606, मो. 9811388579)

अनुक्रम

आरंभिक

बातें कुछ मराठी-साहित्य की 05

विरासत

कुसुमाग्रज • विंदा करंदीकर • नारायण सुर्वे • अरुण कोलटकर • सुरेश भट 11

वैचारिकी

देशीवाद और आधुनिकता/ भालचंद्र नेमाडे 21

हिंदी को सींचने में मराठीभाषियों का योगदान/कृपाशंकर चौबे 30

चिंतन

नवजागरण के संदर्भ में मराठी साहित्य / सूर्यनारायण रणसुभे 59

कविताएं

64

ना.धों. महानोर • वसंत आबाजी डहाके • सतीश कालसेकर • यशवंत मनोहर • चंद्रकांत पाटील • प्रभा गणोरकर • नामदेव ढसाल • नारायण कुलकर्णी कवठेकर • अनुराधा पाटील • मल्लिका अमरशेख • गणेश विसपुते • भुजंग मेश्राम • सायमन मार्टिन • शरण कुमार लिंगबाले • दासू वैद्य • अरुणा ढेरे • मनोहर जाधव • आसावरी काकडे • प्रफुल्ल शिलेदार • अशोक कोतवाल • नागनाथ मंजुले • वसंत के. पाटील • विजय चोरमारे • सौमित्र • मंगेश नारायण काले • श्रीकांत देशमुख • चैताली आहेर • प्रिया जामकर • कविता मुरुमकर • अनिल साबले • बालाजी मदन इंगले • ऐश्वर्य पाटेकर • अरुण काले • पृथ्वीराज तौर • वीरा राठोड़ • पांडुरंग सुतार • उज्ज्वला केलकर • तुकाराम धांडे • लोकनाथ यशवंत • शेषराव पीरजी धांडे • शशिकांत हिंगोनेकर • अरुण शेवते • नीलकांत कुलसंगे • संगीता बर्वे • मनोज बोरगावकर

आलेख

समकालीन मराठी कविता/ रणधीर शिंदे 117

नवें दशक के बाद स्त्रीवादी काव्य/ नीलिमा गुंडी 129

मराठी कथा : दशा और दिशा / डॉ. निशिकांत ठकार 138

कहानियां

एकांक / भारत सासणे 146

लेखक की मौत / जयंत पवार	163
उलझन / सदानंद देशमुख	168
तोहमत / आसाराम लोमटे	180
रत्नप्रभा जाधव का अखबारी खबर बन जाना / नीरजा	202
चंहु दिस पानी उदधि के / मेघना पेठे	217
वितरण / दीपध्वज कासोदे	238
मोहिनी / मधुकर धर्मापुरीकर	243
बाप / प्रिया तेंडुलकर	249
उपन्यास-अंश	
सनातन / शरणकुमार लिंबाले	258
नाटक	
वासंसि जीर्णानि / महेश एलकुंचवार	264
संवाद	
हमारी संस्कृति बहुवचनी : नेमाड़े	291
लेखन हमारी संस्कृति से अलग नहीं : डहाके	300
लेखक को कभी संतोष नहीं मिलता : कोतापल्ले	310
फिल्म	
21वीं सदी का मराठी सिनेमा/संजय आर्वीकर/ हृषिकेश आर्वीकर	315
रंगमंच	
मराठी रंगमंच / अविनाश कोल्हे	323
उपन्यास	
उपन्यासों की आलोचना का परिदृश्य / रामचंद्र सालुंखे	327
समीक्षा	
शताब्दी का समीक्षा-विचार/रवींद्र किंबहुने	335
दलित-विमर्श	
दलित शब्द का उद्भव : एक ऐतिहासिक यात्रा / शैलेश मरजी कदम	345
कला	
चित्रभाषा / मंगेश नारायण काले	349
पाठक, लेखक, आलोचक / श्याम मनोहर	359
साहित्य के उज्ज्वल भविष्य के लिए / भानू काले	364

बातें कुछ मराठी-साहित्य की

मराठी साहित्य में पुरातन और अधुनातन का अद्भुत संगम है। भक्ति-साहित्य की लंबी परंपरा है। साथ ही, लोकचेतना, संघर्ष, विद्रोह और समानता के लिए मराठी साहित्य ने निरंतर आवाज उठाई है। मराठी साहित्य सम्मेलन की एक सुदीर्घ परंपरा है। यह सम्मेलन महाराष्ट्र में ही नहीं महाराष्ट्र से बाहर भी होते रहे हैं। पिछला अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन वड़ोदरा में संपन्न हुआ। इस सम्मेलन के अध्यक्ष का चुनाव होता रहता है- सदस्य साहित्यकारों और साहित्य-संस्थाओं द्वारा। इस वर्ष से साहित्य-संस्थाओं की संयुक्त-सहमति से सम्मेलन के अध्यक्ष का चयन किया जाएगा। सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशक लगभग चार सौ की बड़ी संख्या में पुस्तकों के स्टाल लगाते हैं। पुणे-पिंपरी में आयोजित एक सम्मेलन के अवसर पर छह करोड़ की पुस्तकों की बिक्री दर्ज की गई थी। इन सम्मेलनों में मराठी साहित्य पर व्यापक ऊहापोह होता है साथ ही, मराठी के अलावा किसी अन्य भाषा के साहित्यकारों को विशेष रूप से आमंत्रित किया जाता है। मराठी भाषा और साहित्य की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रगति के बारे में व्यापक विचार-विमर्श ऐसे सम्मेलनों में होता है।

मराठी का प्राचीन नाम 'मरहट्ट' है। नौवीं शताब्दी से मराठी भाषा प्रचलित है। दसवीं सदी से मराठी साहित्य का उल्लेख मिलता है। 'लीला चरित्र' 'ज्ञानदेवी' और 'विवेकसिंधु' मराठी के प्रारंभिक ग्रंथ माने जाते हैं। तेरहवीं सदी से महाराष्ट्र में महानुभाव, वारकरी संप्रदाय मुख्य रूप से रहे, जो नाथ संप्रदाय से आए। दत्त और समर्थ संप्रदाय भी रहे। अठारहवीं सदी तक नाथ संप्रदाय का प्रभाव देखा जा सकता है। मराठी को 'धर्म भाषा' मानने वाले महानुभाव संप्रदाय का मराठी साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्व है। इस पंथ के संस्थापक श्री चक्रधर का जीवन-चरित् अभिव्यक्त करने वाला 'लीला चरित्र' (इ.स.1278) मराठी का पहला ग्रंथ माना जाता है। म्हाइभट्ट इसके लेखक थे। इसके बारह वर्ष बाद 1290 में नेवासा में ज्ञानदेव ने गीता के भाष्य के रूप में 'ज्ञानेश्वरी' की रचना की। 1296 में ज्ञानदेव समाधिस्थ हुए तब नामदेव 26 वर्ष के थे। संत नामदेव ने भक्ति साहित्य को खूब समृद्ध किया। वे केवल मराठी तक सीमित न रहते हुए अपनी लंबी यात्राओं में आने वाले प्रदेशों की भाषाओं को अपनाते हुए रचनाएं रचते रहे। हिंदी प्रदेशों से गुजरते हुए उन्होंने पंजाब तक की यात्रा की। हिंदी और पंजाबी में उनकी रचनाएं उपलब्ध हैं। पंजाबी की उनकी रचनाएं गुरुग्रंथ साहिब में समाविष्ट की गई हैं। 1532 में एकनाथ का जन्म हुआ, उन्होंने कई रचनाएं रचीं। बाद में, रघुनाथ पंडित (1660-1721) मोरोपंत (1729-1794) आदि ने मराठी को साहित्य अपना विशिष्ट अवदान किया।

पंद्रहवीं सदी में गद्य लेखन का मराठी में प्रारंभ हुआ। महाराष्ट्र में मुद्रण का प्रारंभ 1822 में हुआ। 15वीं सदी में हथकागज उपलब्ध था, जिस पर 1597 से मोड़ी में लेख उपलब्ध हैं। दीए के

काजल और हर्षा से स्याही बनाई जाती थी। 1815 में स्थापित नेटिव स्कूल बुक एंड स्कूल सोसायटी ने मुद्रण के लिए देवनागरी लिपि स्वीकार करने का निर्णय किया। 18 जून, 1857 को मुंबई विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। 1864 से पर्याप्त ग्रंथों के अभाव में प्रादेशिक भाषा हटा दी गई। 1901 में महादेव गोविंद रानडे के प्रयासों से एम.ए. में प्रादेशिक भाषा आई और 1928 में बी.ए. में भी मराठी, पाठ्यक्रम में शामिल की गई। नौवीं सदी से प्रचलित मराठी भाषा जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में 15वीं और भारत में तीसरे क्रमांक की भाषा है। पहले क्रमांक पर हिंदी, दूसरे पर बांग्ला और 2011 की जनगणना के अनुसार तीसरे स्थान पर मराठी है।

मराठी लोकभाषा, लोक-व्यवहार में एक समृद्ध भाषा रही है। प्रशासन में भी मराठी का प्रयोग बहुत पहले से होता रहा है। समाज में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। साने गुरुजी ने भाषा और साहित्य को लोगों तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लोकमान्य तिलक, महात्मा फुले, बाबासाहब अंबेडकर, शाहू महाराज जैसे पुरोधाओं ने सामाजिक-चेतना के लिए मराठी को माध्यम बनाया।

पु.ल. देशपांडे मराठी के अत्यंत लोकप्रिय लेखक रहे। उनकी विनोद-शैली पाठकों को सीधे प्रभावित करती थी। जीवन के पहलुओं को उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में छुआ है। हास्य-व्यंग्य से अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए जीवन की विसंगतियों को उन्होंने समाज के सामने रखा। उनका शताब्दी वर्ष चल रहा है। उनकी शैली गुदगुदाते-गुदगुदाते गंभीरता की ओर इशारा कर जाती है। उनके तेरह विनोदपूर्ण ग्रंथ हैं, चार रेखाचित्र, छह अनुवाद और चार भाषणों के संग्रह हैं। अत्यंत सम्मानित रचनाकार पु.ल. देशपांडे ने चौबीस फिल्मों का लेखन किया और चार फिल्मों में अभिनय भी किया। घर-घर में पहुंचे पु.ल. देशपांडे अपनी विनोदप्रियता और विशिष्ट शैली के कारण अत्यंत चर्चित और लोकप्रिय रहे। साहित्य, नाटक, संगीत पर उनका अधिकार था। जरूरतमंद व्यक्ति की मदद कर वे सुखद अनुभव करते। उनका विश्वास था कि 'रक्तदान ही सर्वश्रेष्ठ दान' है। इस क्षेत्र में कार्य करने वाली एक महिला को चालीस हजार रुपयों की जरूरत थी। इतनी रकम देशपांडेजी के पास नहीं थी और वे मदद करना चाहते थे। फिर उन्होंने 'हँसाना मेरा काम' नामक एकपात्री कार्यक्रम शुरू किया। एक कार्यक्रम में वे एक हजार लेते थे। चालीस कार्यक्रम किए और रक्तदान को सुरक्षित रखने की मशीन खरीद के लिए मदद की।

मराठी में नाटकों की सुदीर्घ परंपरा रही है। विवा शिरवाड़कर 'कुसुमाग्रज', विजय तेंडुलकर, जयंत दलवी, अनिल बर्वे, जयंत पवार, अजीत दलवी, महेश एलकुंचवार जैसे अनेक नाटककारों ने रंगमंच को समृद्ध किया है। मराठी दर्शकों ने नाटकों को भरपूर सराहा। टिकट खरीदकर नाटक देखने वालों की बड़ी संख्या ने नाट्य-संस्कृति को खूब प्रोत्साहित किया है।

विजय तेंडुलकर ने अपने नाटकों के माध्यम से समाज में व्याप्त विसंगतियों पर कड़ा प्रहार किया। उन्होंने कहानियां और उपन्यास भी लिखे। उनके लेख बहुत प्रखर होते थे। कुसुमाग्रज लगभग हर विधा में अभिव्यक्त होते रहे। विविध भाषाओं में उनके साहित्य के अनुवाद हुए। मराठी साहित्य को समृद्ध करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। उनकी लोकप्रियता बहुत व्यापक रही है। उनके जन्मदिवस पर 27 फरवरी को 'मराठी दिन' घोषित किया गया है। गुलजार ने उनकी कविताओं का हिंदी में अनुवाद किया है। एक मुलाकात में गुलजार कहते हैं, मुंबई से निकलने पर पुणे में पु.

ल. देशपांडे और नासिक में कुसुमाग्रज श्रद्धास्थान के रूप में रहे हैं। वि.स.खांडेकर का साहित्य भी जनमानस में अपनी विशिष्ट जगह बनाए हुए है। तमिल और गुजराती में उनकी कृतियों के इतने अनुवाद हुए कि इस भाषा के पाठक खांडेकरजी को अपनी भाषा का ही लेखक मानते हैं।

मराठी में विज्ञानकथाएं बड़ी संख्या में हैं। ह.मो. मराठे, अरुण साधु ने इस क्षेत्र में काम किया है। बाल फोंडके का योगदान भी उल्लेखनीय है। बाल और किशोर साहित्य की ओर भी पर्याप्त ध्यान लेखकों ने दिया है। न.म. जोशी विशेष रूप से इस दिशा में सक्रिय रहे हैं। 'मिळून सार्याजणी' 'यानी' हम सब स्त्रियां मिलकर, नामक एक स्त्री-विषयक पत्रिका का मासिक आधार पर नियमित प्रकाशन होता रहा है। डॉ. मंदा खांडगे के नेतृत्व में स्त्रियों द्वारा रचित कथा-साहित्य के कई खंड संपादित हुए हैं। साथ ही, भारतीय भाषाओं में स्त्रियों द्वारा रचित कथा-साहित्य का दस्तावेजीकरण मराठी और अंग्रेजी में किया गया। साहित्य प्रेमी भगिनी मंडल द्वारा विविध सम्मेलन व कार्यक्रम नियमित रूप से आयोजित होते हैं। मराठी भाषा और साहित्य की मुख्य शक्ति मराठी भाषा के प्रति मराठीजनों की जागरूकता है। वैश्वीकरण, कम्प्यूटरीकरण आदि सबके साथ मराठी जुड़ना चाहती है। मराठी के विद्वान, साहित्यकार, पाठक, मराठी-संस्थाएं मराठी को गतिशील बनाने में निरंतर सक्रिय रहते हैं। चाहे बात मराठी को अभिजात भाषा दिलवाने के प्रयासों के हों या मराठी विश्वविद्यालय गठित करने की मांग हो; मराठी-प्रेमी निरंतर प्रयासरत रहते हैं। मराठी को ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनाने के प्रयास हो रहे हैं।

शिवाजी सावंत के 'मृत्युंजय' उपन्यास ने नए रेकार्ड बनाए। हिंदी साहित्य कई भारतीय भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ। 'मृत्युंजय' की भाषा और शैली भी अलग है। मराठी में पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों पर काफी उपन्यास लिखे गए हैं। इन उपन्यासों में केवल अतीत का आख्यान न होकर वर्तमान संदर्भ में मानव-जीवन के प्रतिबिंब भी देखे जा सकते हैं। 'मृत्युंजय' की कर्ण-कथा ऐसे ही उपेक्षित व्यक्ति के संघर्ष को रेखांकित करती है।

आत्मकथा मराठी की लोकप्रिय विधा है। केवल लेखकों ने ही नहीं अनेकानेक दूसरे क्षेत्रों के व्यक्तियों ने भी आत्मकथा में अपनी अभिव्यक्ति दी है। मराठी में दलित साहित्य का जन्म आत्मकथाओं के माध्यम से ही हुआ। दया पवार, शरणकुमार लिंबाले, लक्ष्मण माने, लक्ष्मण गायकवाड़ जैसे लेखकों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से दलित साहित्य के रूप में एक विशाल दालान की रचना की। इनका खूब अनुवाद हुआ और दलित साहित्य के रूप में भारतीय भाषाओं में भी काफी आत्मकथाओं ने प्रवेश किया। स्त्रियों ने भी अपनी कथा-व्यथा निर्विघ्न रूप से कहनी शुरू की।

मराठी पत्रकारिता ने मराठी भाषा को खूब समृद्ध किया है। गोविंद तलवलकर, माधव गड़करी जैसे पत्रकार-संपादकों ने मराठी को जन-जन तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने मराठी को बदलते समय के अनुसार विशिष्ट प्रवाह दिया।

जयंत नारलीकर जैसे विश्व विख्यात खगोलशास्त्री इस बात पर जोर देते रहे हैं कि शिक्षा मातृभाषा में दी जाए। इतने बड़े वैज्ञानिक अपने ज्ञान-विज्ञान का लेखन मराठी और हिंदी में भी करके यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि अपनी भाषा में ज्ञान-विज्ञान को अभिव्यक्ति दी जा सकती है। जयंत नारलीकर का स्पष्ट कहना है कि बच्चे जिस भाषा में विचार करते हैं, उस भाषा में विज्ञान पढ़ाना चाहिए, क्योंकि विज्ञान सोचने-समझने की चीज है, रटने की नहीं।

अनुवाद के माध्यम से भी मराठी साहित्य संपन्न हो रहा है। कुछ प्रकाशक केवल अनूदित साहित्य ही प्रकाशित कर रहे हैं। भैया लगभग समग्र रूप से उमा कुलकर्णी द्वारा अनूदित होकर मराठी में आ गए हैं। हिंदी, बांग्ला, कन्नड़, अंग्रेजी आदि भाषाओं से अनूदित साहित्य बड़ी मात्रा में मराठी में आ रहा है। अनुवाद पर एक पूर्ण-पत्रिका 'केल्याने भाषांतर' (अनुवाद करने से) है और 'अनुवाद' शीर्षक से एक 'वार्षिकांक' प्रकाशित होता है। मराठी में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं से साहित्य उल्लेखनीय मात्रा में अनूदित होता है। यह आदान-प्रदान साहित्य, संस्कृति, शैली, चिंतन को विशिष्ट दिशा देने में सहायक होता है।

मराठी साहित्य ने समाज की जड़ों तक अपनी पहुंच बनाई। स्त्री-केंद्रित, दलित विमर्श, आदिवासी-समाज के दुःख-दर्द तो मराठी में आए ही ग्रामीण जीवन और कृषि का संसार भी मराठी साहित्य में बखूबी है। ना.धों. महानोर ने किसानों की कथा-व्यथा, सुख-दुःख अपनी कविताओं में समेटे हैं, वहीं आनंद यादव, सदानंद देशमुख जैसे लेखकों ने ग्रामीण-जीवन का पूरा चित्र ही साकार किया। सदानंद देशमुख का 'बारोमास' उपन्यास ग्रामीण-जीवन की त्रासदी का महागद्यकाव्य है, जिसे मराठी का 'गोदान' भी कहा जाता है। विट्ठल वाघ की वैदर्भी-मराठी में लिखे गीत कृषक-जीवन की गाथा कहते हैं। ये सारा साहित्य जड़ों से जुड़ा होने के कारण कालजयी होता गया है।

गांव-कस्बों, नगरों-महानगरों तक फैले सार्वजनिक-ग्रंथालय, गली-मोहल्लों में चल रहे निजी-ग्रंथालय वाचन-सांस्कृति के केंद्र बन गए हैं। पुणे जैसे शहर में 'बुक कैफे' खुल रहे हैं, जहां बैठने की अच्छी-खासी व्यवस्था है। चाय-कॉफी के साथ पुस्तकों का वाचन घंटों तक किया जा सकता है। सहकारिता आधारित लेखक-प्रकाशक शिविर, साहित्य के नाना सम्मेलन, मराठी साहित्य को चेतनापूर्ण बनाए हुए हैं। मुस्लिम मराठी साहित्य सम्मेलन, ख्रिस्ती, दलित, आदिवासी, कुमार, स्त्री साहित्य सम्मेलन जैसे कितने ही सम्मेलन हर वर्ष आयोजित होते हैं। 'ग्रंथाली' नामक प्रकाशन संस्था लेखकों ने मिल-जुलकर स्थापित की है और हर वर्ष पांडुलिपियां चुनकर प्रकाशित की जाती हैं। ये गतिविधियां पुस्तक-संस्कृति को जगाए रखकर भाषा और साहित्य के प्रति अपना सक्रिय योगदान दे रही हैं।

कंप्यूटर के नए युग से मराठी को जोड़ने में सफलता हासिल की गई है। 1980 में कंप्यूटर का आगमन हुआ। भारतीय भाषाओं को कंप्यूटर से जोड़ने के लिए सी-डैक की स्थापना भारत सरकार ने की और परम कंप्यूटर बनाने की जिम्मेदारी इस संस्थान पर आई। उस समय सी-डैक के निदेशक के रूप में डॉ. विजय भटकर नेतृत्व कर रहे थे। परम कंप्यूटर का निर्माण कर उन्होंने सबको सुखद आश्चर्य में डाल दिया। वे मराठी-हिंदी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं के लिए काम कर रहे थे। 1990 में उन्होंने भारतीय भाषाओं के लिए कंप्यूटर-तकनीक विकसित की। वे कहते हैं, इस डिजिटल युग में तकनीक, भाषा के लिए अपरिहार्य है। भाषा का लोप, संस्कृति का लोप होगा। इस कारण भाषा के लिए तकनीक को खड़ा करना होगा। मराठी को आधुनिक तकनीक के साथ आगे बढ़ना होगा। मराठी ने यह चुनौती स्वीकार की है और गूगल तथा अन्य तमाम माध्यमों में मराठी की उल्लेखनीय उपस्थिति देखी जा सकती है।

भारत के लगभग सभी राज्यों में मराठी-भाषी फैले हैं, जहां वे नाटकों व कथा-कथन, कविता जैसी साहित्य विधाओं के माध्यम से मराठी-संस्कृति और अस्मिता को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं।

लगभग 72 देशों में मराठी-भाषी बसे हुए हैं, जहां वे सम्मेलनों, नाटकों, पत्रिकाओं के माध्यम से एक-दूसरे से जुड़े हैं। आप्रवासी मराठी भाषी भारतीयों की बड़ी संख्या है। भाषा और साहित्य उन्हें दूरदराज में होने की अनुभूति से बचाए रखते हैं। कारगिल युद्ध के समय बर्फीली पहाड़ियों पर मराठी के लेखक शिवाजी सावंत सैनिकों से मिलने गए। वहां एक सैनिक से उन्होंने प्रश्न किया कि इतने दुर्गम और विपरीत स्थितियों का सामना आप किस तरह कर पाते हैं तो उत्तर मिला? मैं अपने साथ 'मृत्युंजय' रखता हूँ। उस दिन 'मृत्युंजय' के लेखक शिवाजी सावंत को अपनी भाषा और लेखन पर निश्चित ही गर्व हुआ होगा।

विदेशों में मराठी के लिए प्रयास करने वालों की संख्या कम नहीं है। एक मराठी मानुष ने विदेश में, कतार में मराठी स्कूल की स्थापना कर दूर देश में मराठी का झंडा गाड़ दिया। रत्नागिरी, खेड बहिरवली के हसन चौगुले ने कतार में दो मराठी स्कूलें शुरू की हैं। वे 40 वर्षों से वहां हैं। आज उनके स्कूल में दस हजार बच्चे मराठी में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। उन बच्चों के लिए वे आवश्यक पुस्तकें उपलब्ध करवाते हैं। अपनी मातृभूमि और मराठी भाषा से नाल जुड़ी रहे, इसलिए वहां उन्होंने मूल मराठी लोगों को एकत्र किया है।

महाबलेश्वर के पास का एक गांव स्ट्राबेरी के उत्पादन के लिए मशहूर है। पर अब यह गांव, 'पुस्तकों के गांव' के रूप में जाना जाता है। भारत में संभवतः यह पहला प्रयास है, जहां महाराष्ट्र सरकार ने इसे 'पुस्तकों का गांव' घोषित किया है। 25 घरों में 15 हजार रुपयों की पुस्तकों का भंडार है। अलग-अलग घरों में अलग-अलग विषयों की पुस्तकें हैं। यह एक अभिनव प्रयास है, जिससे वाचन-संस्कृति को एक नया आयाम मिला है। दीपावली के अवसर पर मिठाइयों, पटाखों के साथ; साहित्य के दीवाली-अंकों को घर-घर देखा जा सकता है। हर वर्ष लगभग चार सौ से अधिक पत्र-पत्रिकाओं के दीवाली-विशेषांक मराठी में प्रकाशित होते हैं।

मराठी भाषा में अब तक चार साहित्यकारों को ज्ञानपीठ पुरस्कार से अलंकृत किया गया है। कुसुमाग्रज और विंदा करंदीकर की रचनाएं 'विरासत' में दी गई हैं। डॉ. भालचंद्र नेमाडे मराठी के अत्यंत चर्चित उपन्यासकार हैं, साथ ही, चिंतनपरक लेखन में उनका व्यापक योगदान है। 'देशीवाद' के बारे में उनके विचार अत्यंत प्रभावित करने वाले हैं। इस अंक में मराठी साहित्य के अन्यान्य प्रवाहों को शामिल करने का प्रयास किया गया है। प्रयोगशीलता, विषय की विविधता, विशिष्ट प्रस्तुतीकरण और भाषा का लालित्य साहित्य में देखा जा सकता है। वि.स. खांडेकर मराठी के लोकप्रिय कथाकार रहे हैं। उनके उपन्यास 'ययाति' को भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया है।

मराठी साहित्य में सामाजिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक विषयों के साथ नए साहित्य-प्रवाहों को समाविष्ट करने का प्रयास रहा है। नाटक, मराठी साहित्य की एक अनिवार्य विधा है। महेश ऐलकुंचवार एक विशिष्ट नाटककार के रूप में विख्यात हैं। उनके विषय और प्रस्तुतीकरण सर्वथा अलग रहे हैं। उनके एक नाटक का इस अंक में समावेश है। कविताएं अपनी विविधताओं से परिपूर्ण हैं। सामाजिक सरोकार और निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्तियां इन कविताओं में देखी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त समीक्षा, कला, फिल्म, संगीत, रंगमंच आदि पर केंद्रित महत्वपूर्ण टिप्पणियों का इस अंक में समावेश किया गया है।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा और साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली के

संयुक्त तत्वावधान में एक त्रिदिवसीय सेमिनार आयोजित किया गया था। विश्वविद्यालय के कुलपति माननीय गिरीश्वर मिश्र जी का सुझाव रहा कि 'बहुवचन' का एक मराठी विशेषांक प्रकाशित किया जाए। यह दायित्व उन्होंने मुझ पर सौंपा। बहुवचन के संपादक अशोक मिश्र के साथ निरंतर विचार-विमर्श से यह कार्य पूरा हो सका। मराठी के लेखकों और अनुवादक-मित्रों के सहयोग से बेहतर सामग्री जुटायी जा सकी। समय पर अनुवादकों की तत्परता से यह अंक आपके सामने है।

मराठी का साहित्य-फलक बहुत व्यापक है। इसमें से प्रतिनिधि रचना चुनना चुनौती भरा काम है। ऐसा लगता रहा है कि जितनी सामग्री जुटायी जा सकी, उसमें और बहुत कुछ जोड़ना छूट गया है। सब कुछ समेटने की सीमाओं से मैं अनभिज्ञ नहीं था। फिर भी यह प्रयास रहा कि मराठी साहित्य की मुख्य-मुख्य धारा को शामिल किया जा सके। माननीय कुलपति गिरीश्वर मिश्र, संपादक अशोक मिश्र एवं विशेषांक के रचनाकार और अनुवादकों के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

जय हिंदी! जय हिंद!!



अंतिम कमाई

कुसुमाग्रज

अनुवाद : दामोदर खड़से

आधी रात बीतने पर
शहर के पांच पुतले
एक चबूतरे पर बैठे
अपनी बात छानने लगे
ज्योतिबा बोले,
अंततः मैं हुआ
केवल मालियों का।
शिवाजी राजा बोले
मैं केवल मराठों का
आंबेडकर बोले
मैं केवल बौद्धों का
तिलक के उद्गार,
मैं तो केवल
चित्पावन ब्राह्मणों का
गांधी ने रुंधे कंठ को संभाला
और वे बोले,
फिर भी आप भाग्यवान
एक-एक जाति-जमात तो
आपके पीछे है
मेरे पीछे तो केवल
केवल सरकारी दफ्तरों की दीवालें!

मध्यरात्र उलटल्यावर
शहरातील पाच पुतले
एका चौथत्यावर बसले
आणि टिपं गाळू लागले।
ज्योतिबा म्हणाले,
शेवटी मी झालो
फक्त माळ्यांचा।
शिवाजीराजे म्हणाले,
मी फक्त मराठ्यांचा।
आंबेडकर म्हणाले,
मी फक्त बौद्धांचा।
टिळक उद्गारले,
मी तर फक्त
चित्पावन ब्राह्मणांचा।
गांधींनी गळयातला गहिवर आवरला
आणि ते म्हणाले,
तरी तुम्ही भाग्यवान,
एकेक जातजमात तरी
तुमच्या पाठीशी आहे।
माझ्या पाठीशी मात्र,
फक्त सरकारी कार्यालयातील भिंती!

मेरे मन पत्थर बन

विंदा करंदीकर

अनुवाद : दामोदर खड़से

यह रास्ता अटल है!
अन्न बिना, वस्त्र बिना;
ज्ञान बिना, मान बिना
ठिठुराए यह जीव
देख मत! आँखें सी ले!
मत देख जीना उदास
ऐन रात होंगे आभास
सीने में रुक जाएगा श्वास
भूल इन्हें, दबा उबाल;
मेरे मन, पत्थर बन!

यह रास्ता अटल है!
मत सुन यह आक्रोश
तेरा गला जाएगा सूख
कानों पर हाथ धर
उससे भी आएंगे स्वर
इसलिए कहता सीसा उंडेल;
संभल-संभल, हो जाएगा पागल!
रोने वाला, रोएगा कितना?
कुढ़ने वाला, कुढ़ेगा कितना?
दबने वाला, दबेगा कितना
मत सुन, ऐसा क्रंदन;
मेरे मन, पत्थर बन!

हा रस्ता अटळ आहे!
अन्नाशिवाय, कपड्याशिवाय,
ज्ञानाशिवाय; मानाशिवाय,
कुडकुडणारे हे जीव
पाहू नको! डाळे शीव!
नको पाहू जिणें भकास;
ऐन रात्रीं होतील भास;
छातीमध्ये अडेल श्वास।
विसर यांना, दाब कढ;
माझ्या मना बन दगड!

हा रास्ता अटळ आहे!
ऐकू नको हा आक्रोश,
तुझ्या गळयाला पडेल शोष,
कानांवरती हात धर,
त्यांतूनही येतील स्वर,
म्हणून म्हणतो ओत शिसें;
संभाळ, संभाळ, लागेल पिसें!
रडणान्या, रडशील किती?
झुरणात्या झुरशील किती?
पिचणात्या पिचशील किती?
ऐकू नको असला टाहो;
माझ्या मना दगड हो

यह रास्ता अटल है!
यही रहते हैं निशाचर
जगह-जगह राहों पर
अँधेरे में करते नाच,
हंसते बिचकाते काले-दांत;
और कहते, 'कर हिम्मत
आत्मा बेच, उठा कीमत!
मनुष्य मिथ्या, सोना सत्य;
स्मरो उसे, स्मरो नित्य'
सुन चकराएगा ऐसे वेद;
पत्थर बन, न कर खेद

आज से पत्थर बन
क्या रुकेगा तेरे बिन;
गाल पे ढलका खारा पानी
पीकर किसे मिली जिंदगानी?
क्या तेरे ये निःश्वास
मरने वालों को देंगे श्वास?
और दुःख छाती फोड़े
देंगे उन्हें सुख थोड़े
है दुःख वही अपार
मेरे मन, कर विचार
कर विचार, लगा ठहाका;
मेरे मन, पत्थर बन!

यह रास्ता अटल है!
अटल है गंदगी सारी
अटल है यह धिन सारी,
एक समय ऐसा आएगा
गंदगी का खाद बन जाएगा!
अन्याय के सारे दाने
उठेंगे फिर; बनेंगे भूत
इस सोने की बनेगी सूली,
चढेगा सूली, सारा कुल!

हा रास्ता अटल आहे!
येथेंच असतात निशाचर
जागोजाग रस्त्यावर ।
असतात नाचत काळोखांत;
हंसतात विचकुन काळे दांत;
आणि म्हणतात, "कर हिंमत;
आत्मा वीक, उचल किंमत!
माणूस मिथ्या, सोनें सत्य;
स्मरा त्याला, स्मरा नित्या ।"
भिशील ऐकून असले वेद;
बन दगड, नको खेद्

बन दगड आजपासून;
काय अडेल तुझ्यावांचून?
गालावरचें खारें पाणी
पिऊन काय जगेल कोणी?
काय तुझे हे निःश्वास
मरणान्यांना देतील श्वास?
आणिक दुःख छातीफोडे
देईल त्यांना सुख थोडें?
ओह दुःख तेंच फार;
माझ्या मना कर विचार;
कर विचार : हस रगड;
माझ्या मना बन दगड!

हा रास्ता अटल आहे!
अटल आहे घाण सारी;
अटल आहे ही शिसारी,
एक वेळ अशी येईल
घाणीचेंच खत होईल!
अन्यायाचीं सारीं शितें
उठतिल पुन्हां; होतील भुतें
या सोन्याचे बनतील सूळ!
सुळीं जाईल सारें कूळ!

सुनो टाप, सुनो आवाज!
लाल धूल उड़ती आज;
इसके बाद आएगा सवार
इस पत्थर पर लगाएगा धार!
इतने यश, तुझे बहुत;
मेरे मन, पत्थर बन!



ऐका टांपा! ऐका आवाज!
लाल धूल उड़ते आज;
याच्यामागून येईल स्वार;
या दगडावर लावील धार!
इतके यश तुला रगड;
माझ्या मना बन दगड!



अपना ही नाम लिखें

नारायण सुर्वे

अनुवाद : दामोदर खड़से

मास्टरजी, लिखें,
अपना ही नाम लिखें
सच कहती हूं
देवी मां की कसम खाकर कहती हूं
लिखो आप
इसके बालों की जटा तो देखो जरा मास्टरजी
कैसी नाग के फन जैसी है वह।
अरे, भगवान का वरदान है वह, भगवान का
मास्टरजी, जमीन उफनती है
हां, फलती-फूलती है
पर हल चलाए बिना
और बीज बोए बिना
पौधा उगता है क्या? उगता है? बोलो
फिर बाप की जगह मेरा नाम लिखने से
कैसे चलेगा?
बाप नहीं है कहूं, तो बच्चे का क्या होगा
किसी भी देवता का नाम मत लिखें
आदमी का ही लिखें
देवता ने क्या किया है?
गोद तो उसी ने भरी है ना जी?
अपना ही लिखें
जात मत पूछो
अरे, हम क्या किसी एक की घरवालियां हैं मास्टरजी?
खानदानी औरतें नहीं हम
इतनी तकदीर कहां...

मास्तर, लिवा
तुमचंच नाव लिवा;
खरं सांगते;
मरीआईला समरून सांगते,
लिवा तुमी-
ह्येच्या केसाची जटा बगा मास्तर;
कसा नागाचा फडा हाय त्यो...
अवं, देवाचं देणं हाय त्ये...देवाचं।
मास्तर, जिमीन उतमातती...
व्हय उफानती, पन
नांगुर घातल्याबिना आनु,
बी पेरल्याबिना,
रोप वर उगतं का? उगतं? बोला।
मंग बापाच्या जागी माजं नाव लिवून
कसं चालंल?
बाप न्हाई म्हनलं तर पोराचं कसं जमंल?...
कनच्याबी देवाचं नाव नणा लिवू
मानसाचंच लिवा...
देवानं काय केलंय हो,
वटी तेनंच भरली ना ही...
तुमचंच लिवा।
जात नगा इच्यारू;
अवं आमी कुना एकाची का बायली हावंत मास्तर?
घरोट्यातल्या बाया नव्हत आमी,
तेवढं कुठलं नाशिबाला...

उसका जनम यहीं का
फटे-हाल जनमा ये
पेट नाभि के नीचे उतर गया
न दाई, न पास कोई
मन कांपा, पर फिर हर्षाया
छू बेटा,
पांव छू
छू इनके पांव
पर इतना करें आप अपना ही नाम लिखें ■

तेचा जलम हितलाच
फाटंला जलामला त्यो;
पॉट निरनाखाली सराकलं;
ना सुईण, ना काय जवळ,
मन चराकलं... पन मग हराकलं ।
पड, पोरा
पड पाया
पड हयेंच्चा पाया
पर तेवढं तुमचंच नाव लिवा । ■

वामांगी

अरुण कोल्हटकर

अनुवाद : सुनील देवधर

मंदिर गया था हाल ही में
वहां विट्टल तो दिखा नहीं
रखुमाई के निकट
केवल ईंट!
मैंने सोचा, कोई बात नहीं
रखुमाई ही सही
किसी के तो पांव पर
रखना है सर,
पांव पर रखा सिर
हटा लिया फिर
कि पड़ सकती है जरूरत
अपने को ही कभी
और जाते-जाते सहज ही
कहा रखुमाई से
'कहां गया विट्ट,
देता नहीं दिखाई?'
रखुमाई ने कहा,
'कहां गया' का मतलब?
खड़ा तो है
मेरी दाहिनी ओर।'
मैंने दुबारा देखा
तसल्ली करने के लिए
और कहा, 'वहां तो
कोई भी नहीं है'

देवळात गेलो होतो मधे
तिथं विट्टल काही दिसेना
रख्मायशेजारी
नुस्ती वीट
मी म्हणालो न्हायलं
रख्माय तर रख्माय
कुणाच्या तरी पायावर
डोकं ठेवायचं
पायावर ठेवलेलं
डोकं काढून घेतलं
आपल्यालाच पुढं मागं
लागेल म्हणून
आणि जाता जाता सहज
रख्मायला म्हणालो
विट्ट कुठं गेला?
दिसत नाही
रख्माय म्हणाली
कुठं गेला म्हणजे
उभा नाही का माझ्या
उजव्या अंगाला
मी परत पाहिलं
खात्री करून घ्यायला
आणि म्हणालो तिथं
कोणीही नाही

कहने लगी, 'नाक की सीध में
देखते हुए उमर बीत गई,
बगल का मुझे कुछ
कम ही दिखता है
पत्थर जैसी
देखो अकड़ गई है गर्दन
इधर ये उधर
जरा भी नहीं हिलती
कब आता है, क्या करता है
मुझे कुछ भी
पता नहीं
कंधे से कंधा सटाए
हमेशा बगल में ही होगा विठू
इसलिए मैं भी बावरी
खड़ी रही
आषाढ़-कार्तिक की ग्यारस को
आते हैं इतने लोग हमेशा
मुझे कभी किसी ने
कैसे कुछ बताया नहीं
आज अचानक ही मुझसे
मिलने दौड़ा आया
अट्टाईस युगों का
अकेलापन ।'

■

म्हणते नाकासमोर
बघण्यात जन्म गेला
बाजूचं मलां जरा
कमीच दिसतं
दगडासारखी झाली
मान अगदी धरली बघ
इकडची तिकडं जरा
होत नाहीं
कधी येतो कधी जातो
कुठं जातो काय करतो
मला काही काही
माहीत नाही
खांद्याला खांदा भिडवून
नेहमी बाजूला असेल विठू
म्हणून मी पण बावळट
उभी राहिले
आषाढी कार्तिकीला
इतके लोक येतात नेहमी
मला कधीच कसं कुणी
सांगितलं नाही?
आज एकदमच मला
भेटायला धावून आलं
अट्टावीस युगांचं
एकटेपण

■

उषा: काल होते-होते

सुरेश भट

अनुवाद : सुनील देवधर

उषा: काल होते-होते हुई रात काली
चलो फिर से जिंदगी की जला लें मशालें

हम चार किरणों की भी
आस क्यों करेंगे
जो कभी नहीं था उसकी
राह क्यों तर्केंगे
सूर्य ने ही अंधियारे की मशकें उठा लीं

वही घाव देतीं फिर से
ये नई कटारें
दंश वही करतीं हम पर
सर्प की फुफकारें
हम फकत सुनते रहते अपनी ही खुशहाली

तिजोरी में कैद उन्होंने
किए स्वर्ग सातों
हम पर जमाने की
धूल प्रहर आठों
हम वह श्मशान, जिसका मृतक भी न माली

ऐसे कैसे इसने उसने
दफन की उम्मीदें
जिसे चाहे ऐसे वैसे
यहां तो खरीदे

उषा:काल होता-होता काळरात्र झाली
अरे, पुन्हां आयुष्यांच्या पेटवा मशाली

आम्ही चार किरणांचीही
आस का धरावी?
जे कधीच नव्हाते त्यांची
वाट का पहावी?
कसा सूर्य अंधाराच्या वाहतो पखाली।

तेच घाव करिती फिरुनी
ह्या नव्हा कट्यारी,
तेच दंश करिती आम्हा
साप हे विषारी
आम्ही मात्र ऐकत असतो आमुची खुशाली!

तिजोन्यांत केले त्यांनी
बंद स्वर्ग साती,
अम्हावरी संसाराची
ठडे धूळमाती
अम्ही तो स्मशाने ज्यांना प्रेतही न वाली।

अशा कशा ज्याने त्याने
गाडल्या उमेदी?
असा कसा जो तो येथे
होतसे खरेदी!

इस अपार गम की भी हो रही दलाली

हुआ देश सारा अब तो
एक बंदीशाला
जहां देवकी का आंचल
हुआ दूध-काला
पुण्य है अभागा कैसे पाप भाग्यशाली

धधकते हैं अब भी बुझती
चिता के अंगारे
अधिक रक्त मांगा करते
वधस्तंभ सारे

मात्र अश्रु आजादी के हमें मिले खाली
उषा:काल होते-होते हुई रात काली ।

ह्या अपार दुःखाचीही चालती दलाली !

उभा देश झाला आता
एक बंदीशाला,
जिये देवकीचा पान्हा
दुधाने जळाला
कसे पुण्य दुर्दैवी आन् पाप भाग्यशाली !

धुमसतात अजुनी विझल्या
चितांचे निखारे
अजुन रक्त मागत उठती
वधस्तंभ सारे

आसवेच स्वातंत्र्याची अम्हाला मिळाली !
उषा:कला होता-होता काळरात्र झाली !

देशीवाद और आधुनिकता

भालचंद्र नेमाड़े

अनुवाद : दामोदर खड़से

आजकल देशीवाद और आधुनिकता के समन्वय का सवाल हम सबको पेशान करने वाला है। केवल आधुनिकता के बारे में उसके पश्चिमी अर्थ में बोलना ही हमारा स्वतंत्रता के बाद रोज का ही धंधा हो गया है। ऐसा धंधा उसके खिलाफ जोरदार प्रतिक्रिया आने तक अबाध रूप से चलता रहता है। परंतु, अब दिनोंदिन ऐसी आधुनिकता सहने की कीमत तेजी से बढ़ती जा रही है इसीलिए हमारे लेखक, समीक्षक, पर्यावरणवादी, नगर रचनाकार और सामान्यतः सभी विचारक इस संबंध में बेचैन होकर प्रश्न पूछने लगे हैं : आधुनिकता की हमारी परिभाषा क्या है? हमारे देश में इस आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और कितने समय तक जारी रहेगी? वह कब समाप्त होगी? या कभी समाप्त भी होगी? पश्चिमी देशों में उनके ध्यान में आने से पहले ही 'उत्तर आधुनिकता' का दौर शुरू हो गया था। उन्हीं का अनुकरण करना हो तो हम भी यह समझें कि यह दौर हमारे ध्यान में आने से शुरू हो गया होगा या आधुनिकता का ही समर्थन जारी रखें?

पश्चिमी विचारकों ने आधुनिकता को मूल्यांकन की एक गुणात्मक कसौटी की तरह इस्तेमाल किया। हमें इन पश्चिमी लोगों द्वारा किए गए आधुनिकता के आकलन का विरोध करना है क्योंकि, समाज के मूल्यों का, वृत्ति का, श्रद्धा का, समाज की व्यवस्थाओं का या संपूर्ण समूह का भी मूल्यांकन करते समय इस्तेमाल किए जाने वाले आधुनिकता के मानदंड संस्कृति विशेष ने, समूह विशेष ने सार्वजनिक रूप से स्वीकार किए होते हैं। समूह की सामाजिक संस्थाओं ने उन्हें अनेक पीढ़ियों से तैयार करते-करते लोगों पर लादे हुए होते हैं। दूसरे समूह का मूल्यांकन करते समय उस दूसरे समूह के भी कई पीढ़ियों से तैयार किए हुए मानदंड होते हैं, ये मानदंड भौगोलिक विशेष, ऐतिहासिक परिस्थितियों से निर्मित हुए होते हैं, इसकी प्रतीति आधुनिकता की कसौटी का इस्तेमाल करने वाले पश्चिमाचार्यों ने पिछली सदी के मध्य तक भी नहीं दिखाई। तब तक हिंदुस्तान जैसा देश राजकीय दृष्टि से स्वतंत्र हो गया था पर इस देश में पश्चिमी मूल्यों का अब भी इतना प्रभाव है कि हम अपना भी मूल्यांकन पश्चिमी कसौटी से करते हैं। इस कारण निरंतर उनके पीछे भागना हमारी तकदीर में हमेशा के लिए लिखा लगता है। आधुनिकता से गांठ लगाए कई वर्ष बीत जाने जाने के बाद भी अनेक शंका कुशंकाओं के जाल में हम फंस गए हैं। इस समस्या के बखेड़े का मुद्दा न समझ पाने के कारण हमारी यह हालत हो गई है। आधुनिकता केवल एक ही प्रकार की - इंग्लैंड द्वारा हमें सिखाई

गई - है, वह एक त्रिकाल-अबाधित वैश्विक बात है; ऐसे भ्रमों का यह परिणाम है। हमारे इतिहास के विशेष दौर की, अपनी देशी परंपरा से जन्मी ऐसी आधुनिकता हमें कल्पना में भी महसूस नहीं होती।

पचास वर्ष पूर्व मेरी पीढ़ी जब स्वयं को 'आधुनिक' (पाश्चात्य अर्थ में) बनाने में लगी थी तब अपनी पारंपरिक जीवन-शैली का क्षुद्रमूल्यीय स्थान ध्यान में आने के कारण हम बहुत बेचैन हो गए थे। प्राचीन काल से चले आ रहे परिवार के मां की ओर के और बाप की ओर के रिश्ते-नाते और उनका दमघोंटू मजबूत जाल, कठोर जाति-प्रथा, विवेक-शून्य धर्म-व्यवहार, स्त्रियों और अस्पृश्यों के असहाय अस्तित्व, आर्थिक-दृष्टि से अलाभदायक कृषि-पद्धति और केवल पारंपरिक शौक के कारण अनेक तरह की फसल की अव्यवहारिक आदतें, बड़ी मात्रा में निरक्षरता, परिवहन के सीमित साधन और बाहर की दुनिया से हमारा मामूली संपर्क ... ये हमें बेचैन करने वाली थीं।

आज महाराष्ट्र के ये सारे दृश्य आधुनिकता ने, पहले की स्थिति से बदला लेने की तरह, पूरी तरह बदल डाले हैं। भौतिक रहन-सहन काफी हद तक सुधरा है। आधे से अधिक लोग शहरों में रहते हैं। साक्षरता सत्तर प्रतिशत तक पहुँच गई है। नकदी फसल की खेती ही करने वाले किसानों की संख्या बढ़ी है। स्त्रियों और दलितों के लिए उल्लेखनीय आस्था चारों ओर दिखाई देती है, आदि आदि...। फिर भी इस सारी प्रक्रिया में महाराष्ट्र ने जो खोया, इस कारण आज मैं अधिक बेचैन होता हूँ। पुरानी कुटुंब-पद्धति लगभग समाप्त हो गई है और विभक्त कुटुंब बढ़ रहे हैं। स्वार्थी प्रवृत्ति का व्यक्तिवाद बढ़ा दिखाई देता है। चारों ओर वाहनों के पेट्रोल के बढ़ते धुएँ, चीनी कारखानों के कारण उत्पन्न खेती के सवाल, अंग्रेजी-शिक्षा के कारण आया असंस्कृतपन, पूंजीवावादी प्रवृत्ति के विज्ञापनों से उन्मत्त सैकड़ों अखबार, भीड़ से जर्जर महानगर... अब भयावह लगने लगे हैं। भूसा भरी फिल्म-संस्कृति, हानिकारक बुद्धि-बक्सा और सर्वत्र प्रदूषण के सारे प्रकार।

वैसे प्रगति के साथ कई नए प्रश्न उठ खड़े होते हैं। साथ ही, इन प्रश्नों के उपाय खोजने पड़ते हैं। हमें मालूम है कि उनमें से और नए प्रश्न पैदा होते हैं। जिसे आधुनिक कहा जाता है, उसका कुरूपता से चोली-दमन का साथ दिखाई देता है और अत्याधुनिक बातों से अधिक कुरूप कुछ हो ही नहीं सकता, यह दृश्य महाराष्ट्र में दिखाई देता है। जहाँ आधुनिकता का प्रभाव नहीं है, वहाँ का दृश्य भी बहुत आशाजनक नहीं है परंतु, कम से कम वहाँ पारंपरिक सौंदर्य दृष्टि की रक्षा करने वाली व्यवस्था दिखती है। इसे निरक्षर-समूह ने ही सुरक्षित रखा है, इसलिए उन्हें बहुत सम्मान नहीं दिया जाता; यह भी सच है। हमें इन अनेक विरोधाभासों से समझौता करते हुए जीना पड़ता है.. पुराना और नया, सुंदर और कुरूप, पारंपरिक देशी और पाश्चात्य-आधुनिक।

कोई भी देशी संस्कृति स्वालंबी, स्वतंत्र होगी तो वह विदेशी-संस्कृति की ओर से हमेशा ही उधार लेती रहती है। पूर्णतः स्वायत्त समाज आज पृथ्वी पर नहीं बचा है। विदेशी-तत्व हजमकर देशी संस्कृति बनाई जाती है, इसके बिना कोई भी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती परंतु, हमारे देश के राजकीय और आर्थिक स्वावलंबन छिन जाने के कारण लगभग दो सौ वर्ष हममें आयात किया गया सांस्कृतिक तत्व विचारपूर्वक नहीं चुना गया है; यह हर क्षेत्र का घटित-सत्य है। उधार में लिए गए अनेक तत्वों का तो देशीकरण हम आज तक नहीं कर पाए हैं। आधुनिक कहे जाने वाले सुशिक्षित, सक्षम वर्ग की यह जिम्मेदारी है। हमें यह बात कबूल करनी चाहिए कि हमारे जंगल आदिवासी या

अनाड़ी किसानों ने नष्ट नहीं किए हैं। उसे आधुनिकता से रिश्ता जोड़ने वाले ब्रिटिश रेलवे कंपनी, अखबार चलाने वाले उद्योग, कागज उत्पादक, सरकारी संस्थाओं ने साफ किया है। अब धीरे-धीरे अपने आधुनिक कुटुंबों को भी यह समझ में आने लगा है कि नन्हे बच्चों को पालना-घरों में ठूसने के बजाय या उन्हें संभालने के लिए नौकर रखने की बजाय घर में बूढ़े मां-बाप, बुआ-चाची का होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक सुंदर, अधिक निरोगी या सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक अच्छा होता है। व्यक्तिवादी मुक्त-यौनाचार से उत्पन्न एड्स जैसे संकटों के लिए पारंपरिक संयम, एकनिष्ठता, ब्रह्मचर्य जैसे आदर्श ही पर्याय के रूप में हैं।

बड़ी-बड़ी सामाजिक संस्थाओं के बारे में भी यह दिखाई देगा कि पूर्व में जाति आज की तरह घृणा उत्पन्न करने वाली बात नहीं थी। इतिहास का सही उत्खनन कर पूर्वग्रह रहित आकलन किया जाए जो कितने ही आदिवासी, शूद्र, वैश्य-वंश के लोग बड़े-बड़े सम्राट के रूप में मिलेंगे। ब्रिटिश वंश-शास्त्रियों ने त्रुटिपूर्ण शास्त्रीय आकलन के अनुसार यहां नए सिरे से जाति, पंथ, धर्म की श्रेणियां निर्माण कर हम पर लाद दिए। निरंतर स्थान परिवर्तन करने वाले जन-समूह को जनगणना के पिंजरे-पिंजरे में ठूसकर स्थायी लेबल लगाकर जाति-संस्था की ब्राह्मण-काल से जारी अवनति को अंग्रेजी उपनिवेशवादियों ने पूर्णता तक पहुंचा दिया। इस बंधी-श्रेणी को संख्या का बल मिलते जाने से बहु-संख्य-अल्प-संख्य जैसे वर्ग बनते गए और इसकी अंततः परिणति अस्थिर-सी राष्ट्रवादी शक्ति निर्माण होने में हुई और पूरे देश का विभाजन हुआ। उसके दाहक परिणाम आज भी सर्वत्र अनुभव किए जाते हैं और यह राष्ट्रवादी संघर्ष जल्दी समाप्त होने के आसार नजर नहीं आते।

सच तो यह है कि धर्म-निरपेक्षता और सहिष्णुता जैसे पाश्चात्य आधुनिकतावादी मूलभूत सिद्धांत हमारे लिए अपरिचित नहीं थे। महानगरों की रचना और व्यवस्था, बुद्धिवाद, अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता, विज्ञान और ज्ञान को प्रतिष्ठा... जैसी आधुनिक कहीं जाने वाली बातें हमारे इतिहास में मोहनजोदड़ो से मुगलकाल तक विभिन्न रूपों में और मात्रा में अस्तित्व में थी। परंतु, औद्योगिक क्रांति जैसी प्रचंड दबाव में लाने वाली स्थिति भारतीय समाज में अंग्रेज आने से पहले कभी भी निर्मित हुई दिखाई नहीं देती। इस कारण उपर्युक्त सिद्धांतों की गतिवृद्धि करने वाला ऐतिहासिक उत्थापन हमारे यहां नहीं हो सका। अंग्रेजी की शिक्षा के कारण हमारे विद्वान 'पाश्चात्य विद्या', 'पाश्चात्य शास्त्र' जैसे भ्रामक शब्द प्रयोग करने लगे। वस्तुतः कोई भी विद्या या शास्त्र मूलरूप से पाश्चात्य नहीं है। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि 16वीं सदी के आसपास यूरोप में वैज्ञानिक दृष्टिकोण गया, तब उनकी ओर संशय से देखा जाता था। यह माले के 'द ट्रेजिक हिस्ट्री ऑफ डॉ. फॉस्टस' या गेटे के 'फाउस्ट' नामक अक्षर-ग्रंथ का सूत्र है। विज्ञान की बातों को जादू-टोना या पैशाचिक विद्या मानने की प्रवृत्ति इक्कीसवीं शताब्दी तक यूरोपीय समाज की थी। मूलरूप से हिंदुस्तान में ही जन्मा गठित, खगोल, रसायनशास्त्र, दर्शन, शरीरशास्त्र, वैद्यक और शल्यशास्त्र, रेखागणित, नौकायन, वस्त्र-निर्माण, पशुपालन, कृषि भाषाशास्त्र और व्याकरण आदि अनेक शास्त्रों को भी 'पाश्चात्य' कहने का अज्ञान उपनिवेशी अंग्रेजी शिक्षा के कारण ही आया, यह बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए। बंदूक की बारूद, छपाई, नौकायन जैसी खोजें तो पूर्व के चीनी, अरबी लोगों द्वारा की गई हैं परंतु, इन्हें स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करके पाश्चात्यों ने संपूर्ण पृथ्वी पर गुलामगीरी के कई प्रकार लागू किए। इसे भी हम बड़प्पन समझ रहे हैं, यह अत्यंत चिंता की बात है।

सारांश यह है कि मानवता को अंतिम क्रमांक पर रखकर वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांति यशस्वी कर दिखाने वाले पाश्चात्य आधुनिकतावाद का प्रारूप अनेक मानवता विरोधी तत्वों पर आधारित है।

ऐसी अपरधी प्रवृत्ति की, अन्य मानवी समूहों का शोषण करने वाली और पर्यावरण की तबाही करने वाली आधुनिकता मानव को गलत दिशा में ले जाने वाली है, ऐसी समझ पाश्चात्य समाज के अलावा पृथ्वी के सभी समाजों में है। एशिया, लेटिन-अमेरिका, अफ्रीका महाद्वीप के सभी उपनिवेशों में, यहां तक कि यूरोप में भी कहीं-कहीं इस आधुनिकता के खिलाफ जनमत तैयार हो रहा है। 'ऑफिशियल' या इन राष्ट्रों की सरकारी नीतियों में शायद ही निषेध उभरता है। अमेरिका के मूल देशी रेड इंडियन समूह भी यूरोपीय आधुनिकवाद के दर्शन को समय-समय पर हास्यास्पद करार देते रहे हैं। हमारे यहां महात्मा गांधी के विचार इन सारी आधुनिकता को खारिज करने वाले हैं। देशी संस्कृति को आधुनिक होना होगा तो अपनी-अपनी परंपराओं की अच्छी बातें छोड़ दें; यह पर्याय सभी समृद्ध देशों के सामने आया। हिंदुस्तान जैसे देश को स्वराज मिलने के बाद छिटपुट भौतिक लाभ छोड़ दें तो इस समाज का नैतिक और सौंदर्यशील गुणों का विकास दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत हमारे विचारकों में यह चिंता है कि बचे हुए पारंपरिक-मूल्य और देशी जीवन-पद्धति कैसे टिकाए रखी जाए। पोशाक और खाने-पीने की नानाविध शैली के साथ सहिष्णुता, विविधता, प्रकृति की ओर आध्यात्मिक दृष्टि से देखने की परंपरा, लोक-साहित्य, लोक-कला वास्तुशास्त्र, भाषा और साहित्य, जीवन के जन्म से मृत्यु तक प्रत्येक प्रसंग पर प्रचलित रूढ़ि और विधि का पालन... जैसे देशी सांस्कृतिक घटक का जतन करने की चिंता आज सभी विचारकों में है। ये देशी तत्व कई पीढ़ियों की जीवन-शैली से प्राकृतिक उल्काति होते हुए आज तक विकसित होते रहे हैं। देशी परंपराओं के सुंदर और उपयुक्त घटकों के संरक्षण करने में हमने जो उधार में आधुनिकता ली थी, वह घोर असफल रही, इस कारण यह पाश्चात्य पद्धति की आधुनिकता हमें पुरानी लगने लगी है; यह पिछले दिनों हुए परिवर्तन का स्वागत योग्य लक्षण माना जाएगा।

पश्चिमी उपनिवेशवादी माध्यमों के बिना हिंदुस्तान में किस प्रकार की आधुनिकता स्वतः ही प्राकृतिक रूप में विकसित हुई होती? यह प्रश्न कल्पना ही साबित होने का खतरा हो सकता है, फिर भी आधुनिक बने विभिन्न देशों द्वारा स्वीकार किया गया। आधुनिकता का अलग-अलग पद्धतियों से विचार किया गया तो यह प्रश्न संबद्ध ही लगेगा। रूस जैसा स्वतंत्र राष्ट्र एकतंत्र पद्धति से आधुनिक हुआ! चीन की तरह आंशिक उपनिवेश रहा राष्ट्र एकतंत्री पद्धति से ही आधुनिक बना परंतु, उसे काफी समय लगा। उपनिवेशीकरण से बचे एशिया का जापान जैसा राष्ट्र संगठित होने के कारण बहुत जल्दी आधुनिक बन सका। तुर्किस्तान, इटली, फ्रांस की आधुनिक होने की पद्धतियां अलग-अलग थीं। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल एक ही इंग्लैंड या अमेरिका द्वारा तय आधुनिकता का मार्ग एकमेव मार्ग है; यह सिद्ध नहीं होता। इस कारण हमारे प्रश्न का उत्तर यह कि हिंदुस्तान में भी अपनी परंपरा के अनुरूप आधुनिकता निर्माण हो ही जाती। उपनिवेशकाल की गुलामी के कारण यह अवसर इतिहास ने हमें नहीं दिया।

अब इससे नया प्रश्न उपस्थित होता है कि अपनी प्राचीन परंपरा के अनुरूप ऐसी आधुनिकता निर्माण करने में क्या हम समर्थ हैं?

इसके लिए पिछली सदी के एक श्रेष्ठ विचारक महात्मा गांधी ने ठीक सौ वर्ष पूर्व अपनी सदा-नम्रता छोड़कर 'हिंद स्वराज' (1909) की पुस्तिका में क्या कहा है, उसे पहले देखेंगे। गांधीजी इतनी कठोरता से तुलनात्मकता शायद ही कभी दिखाते थे। वे कहते हैं, 'पश्चिम की संस्कृति की तुलना में भारतीय संस्कृति बहुत उच्च स्तर की है।' कई सहस्रकों से वरिष्ठ भारतीय संस्कृति ने अपनी मौलिक परंपरा का त्याग कर दूसरी संस्कृति से जो अच्छा लगा उसे निरंतर आत्मसात किया है। ऐसी इस संस्कृति को आधुनिकता में प्रवेश करते समय अपना बहुमूल्य विरासत छोड़ देना संभव होगा, यह नहीं लगता। भारतीय आधुनिकता का चेहरा पाश्चात्यों की आधुनिकता के कुरूप चेहरे की तुलना में भिन्न है। वह दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, जैसे स्थानों में भी कई लोगों में, अनेक परिवारों में दिखाई देता है परंतु, सारी बस्तियां, गांव, शहर और प्रदेश इन विस्तारित घटकों में भारतीय पद्धति की आधुनिकता अभी दिखाई नहीं देती; यह हम सबका दुर्भाग्य है। किसी प्रदेश के प्रत्येक गांव में प्रत्येक स्त्री-पुरुष साक्षर हैं; स्वास्थ्य, आहार, सामाजिक विसृति, ग्रंथालय, बाहरी दुनिया से संपर्क ऐसी सामान्य बातें हम अभी कल्पना में भी नहीं देख पाते; इसका दोष किसे दें? युद्ध पर और आंतरिक सुरक्षा पर आधा बजट खर्च करने वाले हमारे लोकतंत्र की यह पाश्चात्य आधुनिकता का प्रभाव है। परंतु, इस पर अधिक कहना, समय बर्बाद करना है। खैर!

एक वाङ्मयीन संस्कृति के निर्माण में दूसरी वाङ्मयीन संस्कृति के सिद्धांत लगाने के खतरे ध्यान में आने के बाद देशीयता की संकल्पना भारतीय साहित्य-मीमांसा में पिछले 25-30 वर्षों से अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत की जाती रही है। भारतीय साहित्य में आधुनिकता का एक युग आया तो था, पर उसकी सृजनशीलता का केंद्र देशी परंपरा के बाहर ही होने की बात ध्यान में आने से उसकी निर्मित-क्षमता संशयास्पद लगने लगी। मराठी में यह बात सबके ध्यान में आने लगी इतना सच था। केवल पाश्चात्य आधुनिकतावाद के वैभव में आधुनिक कहलवाने वाले भारतीय चुपचाप लोटते हुए अटलांटिक किनारे के मंत्र-तंत्र सतत इधर लाते रहे। इसका यह अर्थ नहीं कि हम अटलांटिक किनारे के बारे में अनभिज्ञ रहे। अज्ञान किसी भी बात का नहीं होना चाहिए। कम से कम अपनी परंपराओं का तो कतई नहीं होना चाहिए। अंग्रेजी भाषा के लेखन-वाचन का वर्चस्व, अंतरराष्ट्रीय मानदंड कहते-कहते केवल पाश्चात्य का ही मानदंड मानना, भूमंडलीकरण के नाम पर केवल इंग्लैंड, अमेरिका के नियमों का पालन करना; यह सब बौद्धिक क्षेत्र में भी उपनिवेशवाद को जारी रखने के लक्षण हैं। हमारी वाङ्मयीन संस्कृति का विस्तारित क्षेत्र केवल है, यह अहसास इस आधुनिकता में प्रबल होता रहा। इस कारण हमारी प्राचीन साहित्य-परंपरा का अवमूल्यन इस आधुनिकता के कारण अपने आप होता रहा। हमारे बौद्धिक जीवन के परावलंबन के कारण सांस्कृतिक और सौंदर्यशील देशी व्यवस्थाओं की छीज तेजी से होती रही। ब्रिटिशों के सांसदीय पद्धति को 'हिंद स्वराज' में गांधीजी ने 'वेश्या' कहा है। इस पद्धति को स्वीकार करते ही हमारी परंपरा की ग्राम-पंचायत जैसी स्वायत्त संस्था ज्यों बेकार हो गई। विकेंद्रीकरण की संकल्पना ही दिल्ली के 'नए शासकों' ने समाप्त कर दी। ऐसी कितनी ही पारंपरिक व्यवस्था दबा दी गईं। किसी देशी तत्व का आधुनिकीकरण आवश्यक है, किस पाश्चात्य तत्व का आयात कर उसे देशी पद्धति से जोड़कर देखें तो वह अधिक सक्षम होंगी; इस संबंध में निर्णय लेने में हम स्वतंत्र नहीं थे। आज भी नहीं हैं। अंग्रेजी की गुलामी ज्ञान के क्षेत्र में ही मान्य कर लेने के कारण, आगे कोई भी पराक्रम दिखाया, तब भी

देशी व्यवस्थाओं को मजबूती नहीं मिलने देते। भारत के आधुनिकीकरण में उपनिवेशवाद ने आज तक सतत वर्चस्व बनाए रखा है।

भारत की औपनिवेशिक संरचना होते समय ही हमारे अधिकांश सभी विचारक किसी न किसी रूप में प्राचीन समाज की सामाजिक पुनर्रचना संबंधी जटिल प्रश्न समझ ले रहे थे। यह देशीयता के अहसासों की शुरुआत कही जा सकती है। राजकीय, सामाजिक, धार्मिक जैसे अनेक आंदोलनों से स्वतः भारतीयों ने ही 'भारत की खोज' करने की अभूतपूर्व प्रक्रिया प्रारंभ की लगती है। इन सब में पुनर्जीवनवादी विचार कमोवेश मात्रा में था। आर्य समाज हो या जोतिराव फुले का सत्यशोधक समाज हो... आधुनिकता के ज्यों प्रतीक ही सिद्ध उपनिवेशखोर शक्तियों ने कल्पित ही आधुनिकता स्वीकार करनी चाहिए या उसे स्वीकार न किया जाए इस आशय का स्वीकार-नकार सर्वत्र मिलता है। राजकीय स्वातंत्र्य की अत्यंत क्षीण होती आशा पाश्चात्यों का औद्योगिक आक्रमण दुनिया भर में चलता दिखा रहा था। इस कारण किंकर्तव्यविमूढ़ अनेक विचारकों के लिए अनायास आई पाश्चात्य आधुनिकता स्वीकार करने के अलावा दूसरा विकल्प नहीं बचा था। जापान का उदय और जर्मनी का उपनिवेशवाद राष्ट्रों को आह्वान प्रत्यक्ष सामने आने तक भारतीयों को इसकी कल्पना नहीं थी कि खास भारतीय आधुनिकता हो सकती है। लंबे समय तक चले अंग्रेजी उपनिवेश के कारण हमारे विचारकों के सामने भारतीय समाज की पुनर्रचना करने के लिए कुछ यक्ष प्रश्न सामने आए। विश्व में बहुत कम संस्कृतियों के सामने ऐसे प्रश्न दिखाई देते हैं।

भारत के बारे में पाश्चात्यों के ज्ञान का निर्उपनिवेशीकरण कैसे किया जाए?

पाश्चात्यों के बारे में हमारे आकलन का निर्उपनिवेशीकरण कैसे किया जाए?

इन दोनों प्रश्नों से स्वदेशी के अनेक आंदोलन खड़े हुए। इनमें महात्मा गांधी का देशीवाद सामने आया और पाश्चात्य साम्राज्यवादियों का शोषक आधुनिकता का कुरूप चेहरा सामने आया। पर इस साम्राज्यशाही उपनिवेशवाद की बुनियाद हमेशा के लिए नहीं उखड़ी; यह शीतयुद्ध के बाद के एकाधिकार अमेरिकी-साम्राज्यवाद के कारण स्पष्ट हुआ है। इस कारण एक प्रश्न अब भी हमारे सामने खड़ा है। वह है- हम भारत के बारे में स्वतः के आकलन का निर्उपनिवेशीकरण कैसे करें?

स्वातंत्र्योत्तर काल में हमारे देश में स्वतः की सीमाओं के कारण अज्ञानी तथाकथित प्रगतिशील धर्म-निरपेक्ष आधुनिकतावादियों का दौर आया और परिणामस्वरूप कट्टरपंथी धर्मांध लोगों का राष्ट्रवाद पनपने लगा। प्रतिगामी वृत्ति के संकुचित हिंदुत्ववादियों ने आज हिंदू वैभवशाली परंपरा पर संपूर्ण कब्जा हासिल करने के कारण देशीवाद के बारे में भी संभ्रम पैदा हो, ऐसा वातावरण निर्माण हुआ है। देशीवाद का यह विकृतीकरण, भारतीय पद्धति की खास आधुनिकता निर्माण करने में नई बाधा है। केवल बाहर से उधार की आधुनिकता जितनी कुरूप उतनी ही पुनरुज्जीवनवादी द्वेष आधारित राष्ट्रीयता भारतीय समाज के उदार परंपराओं के लिए अशोभनीय है। खरी भारतीय आधुनिकता जिस बुनियाद पर खड़ी करनी है, उसकी सर्वसमावेशक प्राथमिक कसौटी है। इसके लिए आवश्यक देशी द्रव्य जाति-समूहों की परंपरा से जुड़े हैं, क्योंकि भारतीयत्व पिछले दो हजार वर्षों के इतिहास में केवल एक जाति-धर्म से कभी भी बंधा नहीं था। यह देशी-द्रव्यों की चर्चा का और मूल्यांकन का प्रश्न भी गंभीर स्वरूप का होता जा रहा है। यहां यदि हमने विवेक का इस्तेमाल नहीं किया तो हमारी आधुनिकता के प्रमाणकों में चूक की यहीं से शुरुआत होगी। इस बीच पाश्चात्य

पद्धति की आधुनिकता हमारा सर्वनाश कर चुकी होगी। दो सौ वर्ष पहले ऐसे ही उपनिवेशवाद ने हमारा नाश किया। बाद में, हम बावलों की तरह स्वतंत्रता-संघर्ष में पराक्रम दिखाते हुए दुनिया के इतिहास का मूल्यांकन कालखंड हमने गंवा दिया इसीलिए लॉर्ड मेकाले के काले साहब अब भी हममें निर्माण होते हैं। इस कारण भारतीय ज्ञान अब भी इंग्लैंड, अमेरिका के खैरात पर निर्भर है। हम अपने से संबंधित ज्ञान भी निर्उपनिवेशीकरण नहीं कर सके, तो अपनी आधुनिकता की पुनर्चना पाश्चात्य प्रमाणकों पर कैसे की जाएगी? स्वयं पाश्चात्यों के प्रमाणक अपनी-अपनी विशिष्ट परंपराओं की सामर्थ्य के बाहर नहीं जा सकते। इस कारण वे हमारी नजर में बेकार हैं, इसे जब तक हम अपने प्रमाणकों पर सिद्ध नहीं करते, तब तक हम उनके पीछे घिसटते जाएंगे।

संस्कृति के विश्लेषण के लिए और मूल्यांकन के लिए हमें देशी मानदंड चाहिए या तथाकथित 'वैश्विक'; इस द्वंद्व की ओर भी गंभीरता से देखने की पद्धति हमें इस कालखंड में आदतन हो जाएगी। तथाकथित वैश्विक या जागतिक के रूप में पाश्चात्यों ने हम पर लादे हुए मानदंड त्रिकालाबाधित तो नहीं ही हैं, पर वे जागतिक भी नहीं हैं, ऐसा एकस्वर हमारा नहीं होता, इसका कारण यह है कि हमें अपना ज्ञान स्वतः की संकल्पना से नहीं हुआ है। 'पाश्चात्य शास्त्र' 'पाश्चात्य वैज्ञानिकता' जैसी संकल्पना मानकर ही हम विचार करते हैं। 'संस्कृति' संकल्पना भी विशिष्ट मानवी समूहों की विशिष्ट संस्कृति का अमूर्तीकरण है। बहुत कम ज्ञान के क्षेत्र वैश्विक या सार्वत्रिक सिद्ध होते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण तो पाश्चात्य भी नहीं होता और पौरात्य भी नहीं होता। शास्त्रीय सत्य भी इसी तरह सार्वत्रिक सिद्ध होंगे परंतु, ज्ञान का बड़ा फासला उस-उस समूह से, उनकी भाषा से, इतिहास से, भूगोल से और कुल मिलाकर ज्ञानात्मकता से संबद्ध है; मुद्दे से मतभेद होना भी महत्वपूर्ण होता है। संस्कृति के मूल्यांकन का औरों का मानदंड और अपनी संस्कृति के मानदंड के बीच स्पष्टतः विरोध होना, यह भी आवश्यक समझना चाहिए। देशी मानदंड की कद्र हमें बौद्धिक क्षेत्र में विदेशी वर्चस्व की शरण में जाने का दावा विश्वासपूर्वक कर सकेंगे। कुछ भी हो तब भी हमारे प्रश्नों पर बोलने किसी भी नामोल्लेख योग्य विचारक को देशी द्रव्यों का, देशी परंपराओं का अज्ञान होने की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए। यह कसौटी अन्यत्र हास्यास्पद, क्योंकि अनावश्यक समझी जाएगी परंतु, हिंदुस्तान में ऐसे ही लोगों ने हमारा देश चलाया है। बौद्धिक उपनिवेशीकृत सुशिक्षित भारतीयों के लिए यह लिटमस परीक्षा है। देशी आधुनिकता रचते समय उसे सनातनी प्रतिगामियों का जितना विरोध होगा, उतना ही ऐसे जड़हीन प्रगतिशीलों का भी होगा, यह भी मानकर चलना हमारे लिए बेहतर होगा।

हमारे यहां लिखा हुआ इतिहास पर्याप्त नहीं है, इस कारण देशी-द्रव्य, देशी-परंपरा जैसी बातें आधुनिकता की पुनर्चना के लिए विवाद का विषय हो सकती हैं। वैसे भी, वे जानबूझकर विवादित घोषित कर देशी पद्धति की आधुनिकता हो ही न सके, ऐसी रणनीति भी अभी बताएं देशीयविरोधी दोनों पक्ष अपनाएं। तथापि, जीवन के सभी क्षेत्रों की जीवित परंपरा हमारे पास अब भी है। अर्ध-ऐतिहासिक दस्तावेज भी हैं। भाषा और बोली, प्राचीन-काल से चली आ रही मूर्त-अमूर्त परंपरा, रूढ़ि, धार्मिक रीति-रिवाज और लोकविद्या... इन साधनों से हमारा सांस्कृतिक आकाश समृद्ध है। इतनी विविध अभिव्यक्ति को एक सैद्धांतिक भूमिका में बांधना संभव नहीं होगा, फिर भी कम से कम दुनिया को देखने की हमारी दृष्टि एक-सांस्कृतिक एकतंत्री, एक खंड, एक प्रकार की

संकुचित नहीं है; इस पर तो एकमत होना आवश्यक है। हमारी आधुनिकता की पुनर्रचना में यदि हम विविधता की और बहुप्रकारपन के मूल्यों को अनिवार्य मानने लगे, तो वह आज के एकस्वरी, संकुचित आधुनिक दुनिया में हमारा योगदान बड़ा सिद्ध होगा। पाश्चात्य सिद्धांत के अनुसार आज तक भारतीय आधुनिकता को एक भाषा, एक धर्म, एक सभ्यता जैसे परिमाण लगाकर झमेला करते रहे हैं परंतु, हमारी संस्कृति के द्रव्य इस एकतंत्री व्यवस्था की पूर्ण विरोधी हैं, इसका बोध होना प्राथमिक आवश्यकता है।

देशीवाद को हमारी परंपरा की बहुविविधता का सतत मान रखकर और तीव्र मतभेदों का, परोकोटि की विचार-स्वतंत्रता का और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण का सतत आहार रखकर ही आधुनिक समाज का निर्माण किया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसे विरोध उसकी अंगभूत विशेषताएं हैं। हमारी परंपरा अखंड है और उसमें पहले से विरोधी स्वर नहीं हैं? यह विश्वास केवल धर्मांध लोग ही रख सकते हैं। हमारी परंपरा के बारे में हमने निर्माण की संरचना भी सतत विरोधी तत्वों को जन्म देती आई है। किंबहुना, विरोधी तत्वों को सतत शामिल कर लेने से वह इतनी सशक्त होती है कि स्थापित तत्वों को फिर विरोध करने वाले नए तत्व परंपरा से निर्माण होते ही रहते हैं; ऐसे आत्म-विश्वास से हमारे प्रदीर्घ इतिहास की ओर हमें देखते आना चाहिए। प्राचीन वेद पूर्व काल के मूल्य, वैदिक काल में आत्मसात किए गए, वैदिक व्यवस्था का उपनिषदकाल में विरोध हुआ, उसके बाद ब्राह्मणी पुनरुज्जीवनी से बौद्ध व जैनों के सिद्धांत आत्मसात् कर, उन्हीं के ही अहिंसा व शाकाहार जैसे मूल्यों का कट्टर स्वरूप में उपयोग कर ब्राह्मणी धर्म-व्यवस्था देश भर पक्की हुई। उसके बाद लगभग एक सहस्र में भक्ति संप्रदाय ने ब्राह्मणी धर्म के विरुद्ध विद्रोह कर मुसलमान धर्म की समता की और एक दयालु परमेश्वर की संकल्पना सामने लाई। भक्ति संप्रदाय बड़ी मात्रा में उपनिषद, जैन व बौद्ध के ब्राह्मण-विरोधी दर्शन को जन-सामान्य के दैनिक जीवन के आचरण में लाया। कई हिंदू संतों के गुरु मुसलमान सूफी संत थे। अंग्रेजों के काल में जोतिराव फुले ने बहुजनों का शोषण करने वाले शोषक ब्राह्मणों के प्रतीक सोमनाथ मंदिर का विध्वंस करने वाले मोहम्मद गजनी जैसे, 'पद दलितों को ब्राह्मणों की यातना से मुक्त करने वाले' मुसलमान विजेता का आदर से उल्लेख किया है। अब फिर बीसवीं सदी में शूद्रों ने वर्ण-आधारित सनातन हिंदू धर्म को आह्वान देते हुए धर्मांतरण भी बड़ी संख्या में किए। ऐसी बातें उदार परंपरा में ही संभव है, इसलिए हमें गर्व होना चाहिए। अपनी परंपरा को यह वाचन, अति संक्षेपी करने के बावजूद वह किस तरह नए-नए विद्रोह को जन्म देने वाली हैं, सतत नए-नए विरोध प्रकट कर नए युग का समर्थ रूप में सामना करने वाली है, यह सब हमें समझा देने वाला है। हमारी संस्कृति निरंतर एक ही मुख्य-धारा से प्रकट होती है, यह समझने में कतई गर्व की बात नहीं है उल्टे यह अविकसित परंपरा का लक्षण सिद्ध होता है। सारांश, अपनी ही परंपरा के भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी आशय-द्रव्यों में हम अपनी सृजन-शीलता के केंद्र खोज सकेंगे। इसकी तुलना में पाश्चात्य आधुनिकता में 'अन्य' संस्कृति, अन्य परंपरा, अन्य भाषा... कुल मिलाकर बहु-सांस्कृतिकता किस तरह निर्दयतापूर्वक नष्ट हो रही है, यह सत्य जानने के लिए बहुत समय नहीं लगता।

मित्रों, समापन करते हुए मुझे यह बताना चाहिए कि भारतीय परंपरा की ही तरह भारतीय आधुनिकता भी जटिल ऐतिहासिक पड़ाव है, जिस पर संपूर्ण विश्व की सभ्यता की दिशा भी कमोबेश

मात्रा में तय होती है। भारतीय समाज कुछ पारंपरिक तत्वों के लिए दृढ़ता से खड़ा रहा तो दुनिया में महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे। इसीलिए भारतीयों की आधुनिकता पर चर्चा में मार्क्स से पाज, हंटिंग्टन तक के कई छोटे-बड़े विचारकों ने भाग लिया लगता है; इसे भुलाया नहीं जा सकता। आज विश्व की आधुनिकता की प्रक्रिया को अत्यंत तेज गति मिले, यह वातावरण तैयार हो गया है। और भूमंडलीकरण के नजारे के नीचे विश्व की सारी छोटी-बड़ी संस्कृति, परंपरा और भाषा मृतवत हो रही हैं। आधुनिकता लोगों के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर व्यक्त होने वाली मूल्य-व्यवस्था है। इस बात पर यदि आपका विश्वास होगा तो अस्तित्वपूर्ण अपने सांस्कृतिक द्रव्यों का कठोर परीक्षण कर प्रबल आत्म-विश्वास के साथ वे प्रत्यक्ष उपयोग में लाने की प्रक्रिया हमें शुरू करनी चाहिए। व्यक्तिगत और संस्थागत भी यह पुनर्चना की प्रक्रिया दृश्य रूप में शुरू होनी चाहिए। तभी अपनी पद्धति की आधुनिकता हमें प्रत्यक्ष रूप में लाना संभव होगा। भारतीय आधुनिकता की शक्ति हमारे दुर्दम्य देशी मूल्यों पर अवलंबित है। हमें भूगोल में, इतिहास में और बहुविविधता में और बहुवर्ग प्रवृत्तियों में जड़ें जमाकर बैठे इस आधुनिकता की शक्ति सिद्ध होगी। हमारी नानाविध परंपराओं के नानाविध प्रवाह से अब भी टिके रहे आध्यात्मिक-तत्वों से यह शक्ति सिद्ध होगी... ये आध्यात्मिक तत्व हमारी आदिवासी परंपराओं में, अभिजात परंपराओं में, साथ ही विदेशों से समय-समय पर उधार ली गई बातों में भी सुरक्षित हैं। हमारे इन मूल्यों की विश्व-आधुनिकता को भी नितांत आवश्यकता है। हमारे देशी मूल्य, विश्व-आधुनिकता में दिखने वाली शून्यता दूर करने में पूरी तरह सक्षम हैं। ■

हिंदी को सींचने में मराठी भाषियों का योगदान

कृपाशंकर चौबे

महाराष्ट्र में अनेक हिंदी सेवी हुए। शुरुआत यदि संत ज्ञानेश्वर से मानी जाए तो उनका नाम महाराष्ट्रीय संतों में मूर्धन्य स्थान पर है।¹ उनकी 'ज्ञानेश्वरी' का आज भी घर-घर पाठ होता है। उनका जन्म वर्ष शक-संवत् 1197 है। उनका हिंदी में एक पद प्राप्त होता है जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

**'सब घट देखो माणिक मौला कैसे कहूँ में काला धवल ।
पंचरंग से न्यारा होई लेना एक और देना दोई॥'**

उन्होंने नामदेव के साथ उत्तर भारत की यात्रा की थी। अतएव उनका हिंदी में पद रचना करना असंगत नहीं है। ज्ञानेश्वर की बहन मुक्ता बाई ने भी हिंदी में पद कहे हैं। यद्यपि नामदेव ज्ञानेश्वर के सम-सामयिक थे तो भी उनका रचनाकाल ज्ञानेश्वर की मृत्यु के पश्चात ही मुख्यतः प्रारंभ होता है। उन्होंने ज्ञानेश्वर की समाधि के उपरांत महाराष्ट्र त्याग कर उत्तर भारत के पंजाब में ही अपना अधिक समय बिताया। इसलिए उनके हिंदी के पद उत्तर भारत में बहुत अधिक प्रचलित हैं। वे पद सिक्खों के आदि ग्रंथ में प्रचुर मात्रा में संकलित हैं। हिंदी में निर्गुण भक्ति के प्रथम उन्नायक नामदेव हैं।² कबीर ने भी उनकी स्तुति की है और यत्र-तत्र उनकी छाया ग्रहण की है। त्रिलोचन की गणना प्रसिद्ध संतों में की जाती है। गुरु ग्रन्थ साहब में उनके चार पद संग्रहित हैं जो विभिन्न राग-रागिनियों में हैं। किंवदंती के अनुसार वे वर्षा के रहने वाले थे। गोंदा महाराज नामदेव के पुत्र थे। उन्होंने मराठी के अतिरिक्त हिंदी में भी पद लिखे हैं।³ उन्होंने मराठी के अभंग छंद का प्रयोग किया। साथ ही उसमें अपने पिता के जीवन को गूँथने के कारण हिंदी में उन्हें खड़ी बोली में आख्यान-काव्य लिखने का प्रथम श्रेय दिया जाता है। सेनानाई की भी प्रसिद्ध संतों में गणना होती है। सेना के एक-दो हिंदी पद समर्थ वाग्देवता मंदिर घुलिया की हस्तलिखित पोथी में प्राप्त हुए हैं। भानुदास महाराष्ट्र के सरस कृष्ण-भक्त कवि थे तो एकनाथ महाराष्ट्र में भागवत-धर्म रूपी प्रसाद के दृढ़ स्तंभ कहे जाते हैं। उनका समय पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के मध्य है। उनके हिंदी पद गौलज, मुंडा, नानक, भारूड, शीर्षकों के अंतर्गत लिखे गए हैं।⁴ उनकी भाषा संतों की अटपटी वाणी का ही रूप है। ब्रज, खड़ी बोली के साथ-साथ अरबी, फारसी और गुजराती की भी छटा है। दासो पंत का काल सन 1551 से 1615 तक माना जाता है। वे दत्तोपासक थे। उनके कुछ हिंदी भजन भी मिले हैं। माधव दास विदर्भ के रहने वाले संत थे। अनुमान है कि शक संवत् 1600 में उनका आविर्भाव हुआ होगा। उनके हिंदी

पद भी प्राप्त हुए हैं। श्यामसुंदर का समय शक संवत 16 वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। उनका एक हिंदी पद मिला है, जो गेय है। जन जसवंत गोस्वामी तुलसीदास के महाराष्ट्र शिष्य थे।⁵ वे शक संवत 1530 के लगभग आविर्भूत हुए। उन्होंने तुलसीदास से प्रत्यक्ष दीक्षा लेने के लिए काशी प्रवास किया।

शिवाजीकालीन मराठी संतों की हिंदी सेवा: तुकाराम महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत थे। उन्हें लोकोन्मुख कवि कहा जाता है। उनकी भाषा में सहज भोलापन है। उनका जन्म शक-संवत 1520 और निधन 1572 माना जाता है। वे विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे पर उन्होंने ज्ञानेश्वरी और एकनाथी भागवत का खूब पाठ किया था। तत्कालीन हिंदुई अथवा हिंदी भाषा से उनका समीपी परिचय था। उनके हिंदी पदों को तीन भागों में बाँटा जाता है। वे हैं गोपी-प्रेम पाखण्ड उद्घाटन और नीति तथा भक्तिपरक उपदेश।⁶ महाराष्ट्र में हिंदी का क्या रूप था, इसे समझने के लिए तुकाराम की 'असल गाथा' अध्ययन-योग्य है।⁷ कान्होबा तुकाराम के छोटे भाई थे जिन्होंने 'चुरा-चुराकर माखन खाया, गौलिनी का नन्द कुमार कन्हैया' जैसी पंक्तियाँ लिखी हैं। समर्थ रामदास का समय ईसा की सत्रहवीं शताब्दी था उन्हें शिवाजी महाराज का राजनैतिक गुरु माना जाता है। उन्होंने महाराष्ट्र में राम और हनुमान की उपासना का बहुत अधिक प्रचार किया। उनके कई हिंदी पद प्राप्त होते हैं। उनके शिष्यों ने भी हिंदी पद रचना की, जिनमें वेणा बाई, बयाबाई, बहिणा बाई आदि उल्लेखनीय हैं। बहिणाबाई महाराष्ट्र की प्रसिद्ध कवयित्री थीं। वे तुकाराम की शिष्या थीं। उनका समय 1950 से शक संवत 1622 तक माना जाता है। उनकी कृष्ण-भक्तिपरक रचनाएँ जो गौलन कहलाती हैं, अधिक प्रसिद्ध हैं। गिरिधर, रंगनाथ, वामन पंडित (रामदासी) आदि रामदासकालीन संतों में भी हिंदी वाणी मिलती है। कल्याण स्वामी स्वामी रामदास के प्रिय शिष्यों में रहे और उनके लेखक भी। कल्याणी की स्मरण शक्ति अत्यंत तीव्र थी। समर्थ मुख से बोलते जाते और कल्याण द्रुतगति से लिखते जाते। उन्होंने हिंदी में पद और 'रुक्मणी स्वयंबर' नामक कथा-काव्य की भी रचना की है। महाराष्ट्र में 'रुक्मणी स्वयंबर' पर कई कथाकारों ने लिखा है। कल्याण स्वामी के अतिरिक्त मुकुंददास और मुकुंदराज के नाम पर भी 'रुक्मणी स्वयंबर' नामक कथा-काव्य प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त, जयरामस्वामी, शिवराम, देवदास, मुकुंदानंद, राम, नरहरि आदि के हिंदी पद मिलते हैं। इसी काल के गोस्वामी नंदन, केशव स्वामी, गोपालनाथ, निपट निरंजन, लीला विश्वंभर और जमालशाह के मस्ती भरे पद मिलते हैं।

पेशवाकालीन और उसके परवर्ती काल के मराठी संतों की हिंदी सेवा: मध्व मुनीश्वर का जन्म शक संवत 1611 में हुआ था। वे नासिक के रहने वाले थे। उनकी रचनाओं में औरंगाबाद में रहने के कारण अरबी, फारसी शब्द आए हैं। वे भी निर्गुण संतों जैसी उक्ति कहते हैं। शिवदानी केसरी महाराष्ट्र में नाथ-परंपरा के कवि कहे जाते हैं।⁸ उनकी रचनाओं में भी सूफी रंग है। अमृतराय का समय शक संवत 1620 और 1673 के मध्य माना जाता है। वे बुलढाना जिले के रहने वाले थे, बाद में औरंगाबाद में जाकर बस गए थे। वे अच्छे कीर्तनकार भी थे। वे मराठी के अतिरिक्त संस्कृत और हिंदी भी अच्छी जानते थे। उन्होंने मराठी और हिंदी प्रथम बार कटाव नामक एक छंद को जन्म दिया।⁹ सिद्धेश्वर महाराज अमृतराय की शिष्य परम्परा में हैं। उनकी रचनाओं में नाथ योगियों की अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। सोहिरोबा महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत हुए। उन्होंने पर्याप्त भ्रमण किया था।

उनके कई हिंदी पद प्राप्त होते हैं। नरहरिनाथ शिवदीन केसरी के पुत्र सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे। इसके अतिरिक्त लक्ष्मण फकीर, महिपत, कृष्णदास रामराय के भी फुटकर हिंदी-पद मिलते हैं। देवनाथ महाराज विदर्भ के रहने वाले थे। उनका काल सन 1754 से 1830 तक है। उनका अधिक समय तो ग्वालियर में व्यतीत हुआ। उन्होंने हिंदी पद-रचना की है। दयालनाथ देवनाथ के शिष्य थे। उनका देहांत सन 1825 में हुआ था। यद्यपि वे नाथ पंथी थे फिर भी उन्होंने हिंदू धर्म मानी सभी देवताओं पर रचनाएं की हैं। विष्णुदास कवि सातारा के रहने वाले थे। उनका जन्म सन 1844 में हुआ था। उनकी कुछ लावनियाँ मणि-प्रवाल शैली में लिखी गई हैं जिनकी एक पंक्ति हिंदी की है और दूसरी मराठी की। गुलाबराव महाराज विदर्भ के रहने वाले थे और उनका जन्म सन 1880 में हुआ था। उन्होंने ज्ञानेश्वर को अपना गुरु स्वीकार किया था। उनकी रचनाओं से प्रतीत होता है कि वे सखी संप्रदाय के अनुयायी थे। कृष्ण को अपना पति मानकर शरीर पर मंगलसूत्र, कुंकुम आदि स्त्री-सौभाग्य चिह्न धारण करने लगे थे। वे मधुराद्वैत दर्शन के आचार्य कहे जाते हैं। उन्होंने दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त आदि छंदों तथा विभिन्न राग-रागिनियों में गेय पदों की रचना की है। गुण्डा केशव विदर्भ के रहने वाले थे। उनके आविर्भाव का काल अनिश्चित है पर वे शक संवत् 1752 में विद्यमान अवश्य थे। उनके कई हिंदी-पद प्राप्त होते हैं जिनमें निर्गुण संतों की विचारधारा मिलती है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की भूमिका: महाराष्ट्र के वर्धा में 1936 में हिंदी के संवर्धन के लिए एक संस्था की स्थापना हुई और उसका नाम रखा गया राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा। उसके संस्थापकों में महात्मा गाँधी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन, पं. जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, आचार्य नरेन्द्र देव, काका कालेलकर, सेठ जमना लाल बजाज, बाबा राघवदास, शंकरदेव, माखनलाल चतुर्वेदी, हरिहर शर्मा, वियोगी हरि, श्रीनाथसिंह, मन्नारायण अग्रवाल, बृजलाल बियाणी एवं नर्मदाप्रसाद सिंह प्रमुख थे। एक राष्ट्र और एक राष्ट्रभाषा का पवित्र संकल्प लेकर गाँधीजी ने इस समिति की प्राण प्रतिष्ठा की थी और उनकी परिकल्पनाओं को मूर्त रूप देने में समिति गहरी निष्ठा से लगी रही है। आठ दशक यह समिति जिस मुकाम पर पहुंची है, वह कई मनीषियों की साधनाओं का फल है। आज इस बहुदेशीय संस्था में 22 प्रांतीय समितियाँ (क्षेत्रीय केंद्र), 987 शिक्षा केंद्र (अध्ययन केंद्र) और 7629 परीक्षा केंद्र हैं। भारत में गुजरात, मुम्बई, विदर्भ, मराठवाडा, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड, राजस्थान, दिल्ली, प्रसिद्ध असम, अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मेघालय, मिजारम, मणिपुर, त्रिपुरा, सिक्किम, बंगाल, उत्कल, जम्मू-कश्मीर, अन्डमान-निकोबार, गोवा, हरियाणा और विदेशों में दक्षिण अफ्रीका, पूर्व अफ्रीका, अमेरिका, सूरीनाम, अरब, सुडान, इटली, मॉरीशस, जापान, म्यानमार, (बर्मा), नीदरलैंड, फीजी द्वीप, ब्रिटेन, जर्मनी, थाईलैंड, बहरीन, मस्कत, जावा, श्रीलंका में समिति के केंद्र हैं। समिति के तत्वावधान में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ज्ञान 'मंडल' विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रम संचालित करता है। समिति ने तेरह भाषाओं की तेरह छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित कर बहुत बड़ा काम किया है। इन तेरहों भाषाओं को देवनागरी में प्रस्तुत किया गया है। भारत भारती नामक इन पुस्तकों के द्वारा इन तेरह भाषाओं में से किसी भी भाषा का सामान्य ज्ञान आसानी से प्राप्त किया जा सकता है तथा सामान्य व्यवहार की कठिनाई दूर हो सकती है। इस पुस्तकों से राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार संपूर्ण भारत में करने में बहुत सहायता मिली है। इन पुस्तकों की मदद से

प्रत्येक भारतीय दूसरे प्रदेशों के निवासियों के साथ संपर्क स्थापित कर लेते हैं तथा एक दूसरे के साथ सामान्य व्यवहार कर पाते हैं। भारत का प्रत्येक व्यक्ति दूसरे प्रदेश की भाषाओं से परिचित भी हो जाता है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा का घोषित उद्देश्य रहा है- 'संपूर्ण भारत में, आवश्यकतानुसार विदेशों में हिंदी का प्रसार करना और देशव्यापी व्यवहारों और कार्यों के लिए सुविधा प्रदान करना। राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं का संचालन। पाठ्यपुस्तकें आदि का निर्माण व प्रकाशन। भावनात्मक एकता के लिए भाषाई सहयोग द्वारा अनुकूल वातावरण तैयार कर भारतीय भाषाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना। हिंदी भाषा एवं साहित्य की अभिवृद्धि के लिए उपयोगी पुस्तकें लिखवाना, अनुवाद करना और उन्हें प्रकाशित करना। राष्ट्रभाषा हिंदी की शिक्षा का प्रबंध करना तथा परीक्षाएँ चलाना। हिंदी प्रचारकों, केन्द्र व्यवस्थापकों तथा हिंदी प्रेमियों को राष्ट्रभाषा प्रचार की गतिविधियों की जानकारी देने के लिए मासिक पत्रिका का प्रकाशन करना। भारतीय संविधान की धारा 351 के अनुसार भारत की सामासिक संस्कृति की वाहक राष्ट्रभाषा को संस्कृति तथा भारत की अन्य समृद्ध भाषाओं के सहयोग से इसकी शब्द समृद्धि करते हुए भारत की राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने के लिए प्राणवान भाषा बनाना। देवनागरी लिपि का प्रचार करना और टंकण, कंप्यूटर तथा शीघ्रलिपि के प्रशिक्षण और प्रसार के लिए आवश्यक कार्य करना।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की अब तक की उपलब्धियां कम नहीं हैं। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के सुझाव के आधार पर ही 14 सितम्बर को हिंदी दिवस के रूप में मनाया जाता है। समिति की पहल से ही प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन, नागपुर में एवं तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन नई दिल्ली में आयोजित किया गया था। प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन, नागपुर में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने ही सबसे पहले महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा में स्थापित करने तथा विश्व हिंदी सम्मेलन का मुख्यालय मॉरीशस में खोलने का प्रस्ताव पारित कराया था और बाद में दोनों प्रस्ताव फलीभूत भी हुए। समिति 1943 से ही हिंदी मासिक पत्रिका 'राष्ट्रभाषा' का प्रकाशन कर रही है। यह पत्रिका समिति के मुख पत्र के रूप में निकलती है।

आधुनिक काल के मराठीभाषी हिंदी सेवी: आधुनिक युग में भी महाराष्ट्र और उसके बाहर के अनेक मराठीभाषियों ने हिंदी में रचनाएँ कीं। सन 1899 में सीताराम गुर्जर ने मराठी के ओबी छंद में भक्त महिसासुर ग्रन्थ की रचना की। वे वर्धा के रहने वाले थे। उसी काल में बाबा रामजी तस्करी ने भी जो होशंगाबाद नर्मदा तट पर रहते थे, कुछ हिंदी पद रचे। संत तुकड़ोजी का जन्म सन 1910 में हुआ। उनकी राष्ट्र सेवा सर्व-विश्रुत है। सन 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में उनके भजनों से जनता अनुप्राणित हो उठती थी। ब्रिटिश सरकार ने उनके प्रभाव को देखकर उन्हें कुछ समय के लिए बंदी बना लिया था। महात्मा गाँधी, विनोबाजी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू सभी ने उनकी राष्ट्र सेवा की प्रशंसा की है। उनके भजन विदर्भ के घर-घर में गाए जाते हैं। उनके अनेक हिंदी भजन पद आदि मिलते हैं। रघुनाथ भगाड़े का जन्म सन 1804 में दमोह में हुआ था और मृत्यु नागपुर में 1938 में हुई थी। वे सत्र न्यायाधीश पद से सेवा-मुक्त हुए। वे हिंदी-प्रेमी थे। उन्होंने ज्ञानेश्वरी का हिंदी में अनुवाद किया है। वे एकनाथी भागवत का भी हिंदी में अनुवाद कर रहे थे पर वह पूर्ण न हो सका।

काका कालेलकर की हिंदी सेवा: काका कालेलकर का जन्म सतारा (महाराष्ट्र) में 1 दिसंबर, 1885 ई. को हुआ था। इस नाते जन्मतः वे मराठी हुए। उनका पूरा नाम 'दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर' था। उनका परिवार मूलतः कर्नाटक के करवार जिले का रहने वाला था और उनकी मातृभाषा कोंकणी थी। लंबे समय तक गुजरात में रहने के कारण गुजराती भाषा पर उनका बहुत अच्छा अधिकार था। 1922 में वे गुजराती पत्र 'नवजीवन' के सम्पादक भी रहे थे। 'फर्ग्यूसन कॉलेज', पुणे में शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने एक शिक्षक के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया था। 1990 में वे बेलगांव के गणेश विद्यालय के प्रधानाध्यापक के रूप में बड़ीदा चले गए, परंतु राजनीतिक कारणों से एक वर्ष बाद ही वह विद्यालय बंद हो गया। विद्यालय के बंद होने पर वे मोक्ष की खोज में हिमालय की ओर चल पड़े। उन्होंने तीन वर्ष तक देश के विभिन्न भागों की 2500 मील की पैदल यात्रा की। उन्होंने अनुभव किया कि देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करना ही सबसे उत्तम मार्ग है और इसके लिए नई पीढ़ी को तैयार करना चाहिए। वे अध्यापन करने लगे। वे शिक्षक के रूप में शांतिनिकेतन पहुँचे। 1915 में शांतिनिकेतन में काका कालेलकर की भेंट गांधीजी से हुई और उन्होंने अपना जीवन गांधीजी के कार्यों को समर्पित कर दिया। उनके राजनीतिक विचार भी बदल गए। वे साबरमती आश्रम के विद्यालय के प्राचार्य बने और बाद में उनके अनुभवों के आधार पर बेसिक शिक्षा की योजना बनी। फिर वे 1928 से 1935 तक गुजरात विद्यापीठ के कुलपति रहे। 1935 में काका साहब गांधीजी के साथ साबरमती से वर्धा चले गए और हिंदी के प्रचार में लग गए। गांधीजी के नेतृत्व में जितने भी आंदोलन हुए, काका कालेलकर ने सब में भाग लिया और कुल मिलाकर 5 वर्ष कैद में बिताए। गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद वे गुजराती पत्र 'नवजीवन' के सम्पादक भी रहे। उन्होंने गुजराती, मराठी, हिंदी और अंग्रेजी में विविध विषयों पर 30 से अधिक पुस्तकों की रचना की। उन्होंने रवींद्रनाथ की किताबों का मराठी और गुजराती में अनुवाद भी किया। राजनीति, समाजशास्त्र, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, अध्यात्म आदि कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिस पर उन्होंने प्रामाणिक लेखन न किया हो। हिंदी में लिखी काका कालेलकर की किताबें हैं 'राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्शों का विकास', 'सहजीवनी की समस्या', 'सप्त-सरिता', कला : एकजीवन 'दर्शन हिन्दुस्तानी की नीति' 'बापू की झांकियां', हिमालय की यात्रा, 'उस पार के पड़ोसी,' 'उत्तर की दीवारें,' 'स्मरण-यात्रा,' जीवन-साहित्य', 'लोकजीवन', 'जीवन-संस्कृति की बुनियाद,' 'नक्षत्रमाला,' जीवनमाला', 'गांधीजी की अध्यात्म-साधना', 'भाषा', 'कठोर कृपा' गीता रत्नप्रभा', आश्रम-संहिता,' 'नमक के प्रभाव से', 'प्रजा का राज प्रजा की साधना', 'भाषा का आनंद', 'यात्रा का आनंद', 'समन्वय, सत्याग्रह-विचार और युद्धनीति', 'परमसखा मृत्यु', 'उपनिषदों का बोध', 'युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ', 'राष्ट्रभारती हिंदी का मिशन'। 21 अगस्त 1981 को उनका निधन हुआ।

विनोबा भावे और देवनागरी: विनोबा भावे (11 सितंबर, 1895-15 नवंबर 1982) गाहोदे, गुजरात में जन्मे थे। वे बहुभाषी थे। उन्होंने संस्कृत भाषा को आम जनमानस के लिए सहज बनाने का भी सफल प्रयास किया। विनोबा भावे ने गीता, कुरआन, बाइबल जैसे धर्म ग्रंथों के अनुवाद के साथ ही उनकी आलोचनाएं भी कीं। विनोबा भावे भागवतगीता से बहुत ज्यादा प्रभावित थे। वे कहते थे कि गीता उनके जीवन की हर एक सांस में है। उन्होंने गीता का मराठी भाषा में अनुवाद भी किया था। उन्हें लगभग सभी भारतीय भाषाओं का ज्ञान था। विनोबा भावे के अनुसार कन्नड़ लिपि विश्व

की सभी 'लिपियों की रानी है। चीनी, जापानी जैसी लिपियों का भी उन्होंने अध्ययन किया था। इसी भाषा और लिपियों के व्यामोह में उनकी आँखें कमजोर हो गईं। अंत में वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सभी भाषाओं को एक सामान्य लिपि में लिखा जाए। इससे विविध भाषाओं के ज्ञान विज्ञान का भंडार मानव को अल्प प्रयास में ही प्राप्त हो जायेगा। 1972 में उन्होंने लिखा था कि, 'मैं नागरी लिपि पर जोर दे रहा हूँ। मेरा अधिक ध्यान नागरी लिपि को लेकर चल रहा है। नागरी लिपि हिंदुस्तान की सब भाषाओं के लिए चले तो हम सब लोग बिलकुल नजदीक आ जाएंगे। खासतौर से दक्षिण की भाषाओं को नागरी लिपि का लाभ होगा। वहाँ की चार भाषाएँ अत्यन्त नजदीक हैं। उनमें संस्कृत शब्दों के अलावा उनके अपने जो प्रांतीय शब्द हैं, तेलुगू और मलयालम के उनमें बहुत से शब्द समान हैं। वे शब्द नागरी लिपि में अगर आ जाते हैं तो दक्षिण की चारों भाषाओं के लोग चारों भाषाएँ 15 दिन में सीख सकते हैं। इतना आसान हो जाएगा इसके बाद। विनोबा भावे का मानना था, भिन्न-भिन्न लिपि सीखने में हर एक की अपनी-अपनी परिस्थिति आड़े आती है। मैंने हिम्मत की हिंदुस्तान की, हर एक लिपि का अध्ययन किया। परिणाम में विचार आया कि दूसरी लिपियाँ चलें उसका मैं विरोध नहीं करता। मैं तो चाहता हूँ वे भी चलें और नागरी भी चले। मैं बैंगलोर की जेल में था। वहाँ डेढ़ दो साल रहा। वहाँ मैंने दक्षिण भारत की चारों भाषाएँ सीखना एकदम शुरू किया। जेल में विभिन्न भाषाओं के लोग थे तो किसी ने मुझसे पूछा विनोबा जी, आप चार भाषाएँ एकदम से क्यों सीख रहे हैं। मैंने कहा-पांच नहीं हैं इसलिए अगर पांच होतीं तो पांच ही सीखता। चार ही हैं इसलिए चार ही सीख रहा हूँ। मैंने देखा कि उन भाषाओं में अत्यंत समानता है केवल लिपि के कारण ही वे परस्पर टूटी हैं, एक नहीं बन पा रही हैं।'

सखाराम गणेश देउस्कर का अवदान: मूलतः मराठीभाषी मनीषी सखाराम गणेश देउस्कर प्रायः कहा करते थे- 'मराठी मेरी माता है, पर हिंदी मेरी मौसी है। मौसी की गोद में ही मेरा लालन-पालन हुआ है और मुझे वह बहुत प्रिय है। मैं उसकी सेवा में सुख अनुभव कर रहा हूँ।'¹⁰ बाबूराव विष्णु पराड़कर और लक्ष्मण नारायण गर्दे को हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में लाने का श्रेय उन्हीं को है।¹¹ बाबूराव विष्णु पराड़कर ने जब 1906 में कलकत्ता में 'हिंदी बंगवासी' से पत्रकारिता शुरू की तब वे देउस्करजी के घर में ही रहते थे। एक तरह से देउस्कर जी के सान्निध्य ने उनकी पत्रकारिता को नई धार दी। उधर लक्ष्मण नारायण गर्दे ने 'विशाल भारत' 1931 ई. के अक्टूबर अंक में स्वयं स्वीकार किया है, 'सन् 1908 ई. में पितृतुल्य प. सखाराम गणेश देउस्कर और बाबूराव विष्णु पराड़कर की तथा अपनी इच्छा से मैं कलकत्ता आकर 'हिंदी बंगवासी' में काम करने लगा। यथार्थ में यहीं से मेरे संपादकीय जीवन का प्रारम्भ होता है।' सखाराम गणेश देउस्कर स्वयं भी बड़े पत्रकार और लेखक थे। उनका जन्म 17 दिसंबर 1869 को देवघर के पास करौं नामक गांव में हुआ था, जो अब झारखंड राज्य में है। 18वीं सदी में मराठा शक्ति के विस्तार के समय उनके पूर्वज महाराष्ट्र के देउस गांव से आकर करौं में बस गए थे। दोनों गांवों के संयोग से ही देउस्कर बना है। सखाराम गणेश देउस्कर ने सन् 1891 में देवघर के आरण् मित्र हाई स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा पास की और सन् 1893 से इसी स्कूल में शिक्षक नियुक्त हो गए। वहीं वे राजनारायण बसु के संपर्क में आए और अध्यापन के साथ-साथ एक ओर अपनी सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि का विकास करते रहे, दूसरी ओर उसकी अभिव्यक्ति के लिए बांग्ला की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में राजनीति, सामाजिक और साहित्यिक विषयों

पर लेख भी लिखते रहे। सन् 1894 में देवघर में हार्ड नाम का एक अंग्रेज मजिस्ट्रेट था। उसके अन्याय और अत्याचार से जनता पेशान थी। देउस्कर ने उसके विरुद्ध 'हितवादी' नामक पत्र में कई लेख लिखे जिसके परिणामस्वरूप हार्ड ने देउस्कर को स्कूल की नौकरी से निकालने की धमकी दी तो देउस्करजी ने स्वयं अध्यापक की नौकरी छोड़ दी और कलकत्ता जाकर-हितवादी अखबार में प्रूफ रीडर के रूप में काम करने लगे।¹² कुछ समय बाद अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर वे हितवादी के संपादक बना दिए गए लेकिन सन् 1907 में सूरत के कांग्रेस अधिवेशन में जब कांग्रेस का गरम दल और नरम दल में विभाजन हुआ तो हितवादी के मालिक ने देउस्कर से गरम दल और तिलक के विरुद्ध 'हितवादी' में संपादकीय लेख लिखने के लिए कहा। सखाराम तिलक के राजनीतिक विचारों से एकता अनुभव करते थे, इसलिए उन्होंने तिलक के विरुद्ध संपादकीय लेख लिखने से मना कर दिया। परिणामस्वरूप उन्हें 'हितवादी' के संपादक पद से त्यागपत्र देना पड़ा।¹³ उसके बाद वे कलकत्ता के ही राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् के विद्यालय में बांग्ला भाषा तथा भारतीय इतिहास के शिक्षक नियुक्त हुए। लेकिन सन् 1910 में जब राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् के प्रबंधकगण उन्हें सशक्त दृष्टि से देखने लगे तो सखाराम ने शिक्षक पद से भी त्यागपत्र दे दिया। बाद में 'हितवादी' के प्रबंधकों ने उनसे पुनः संपादक बनने का अनुरोध किया तो देउस्कर ने उसे स्वीकार कर लिया। उनका पारिवारिक जीवन भी निरंतर संकटों और संघर्षों के बीच बीता। जब वे पांच वर्ष के थे तभी उनकी माता का देहांत हो गया, इसलिए उनका पालन-पोषण उनकी विधवा बुआ के हाथों हुआ जिन्होंने सखाराम को मराठी साहित्य की शिक्षा दी। सखाराम गणेश देउस्कर ने बांग्ला में किताब लिखी - 'देशेर कथा' जिसने उन्हें भारत विख्यात बना दिया। बंग-भंग विरोधी आंदोलन को 'देशेर कथा' ने अनेक रूपों में प्रभावित किया। माधव प्रसाद मिश्र ने लिखा था, जिस पुस्तक की लागत तक के वसूल होने में लेखक को और मुझे आशंका थी उसकी थोड़े ही दिनों में सब प्रतियां बिक गईं। बंगाल के टुकड़े होते ही वहां स्वदेशी आंदोलन उपस्थित हुआ जिसमें पुस्तक के प्रदीप्त वाक्यों ने भी अपना प्रभाव दिखलाया। यह कहना तो छोटे मुंह बड़ी बात समझी जाएगी कि स्वदेशी आंदोलन इसी पुस्तक का फल है, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि इस आंदोलन के प्रज्वलन में इसने घृताहुति का सा काम अवश्य किया। ऐसे समय में 'देशेर कथा' का लिखा जाना एक वैचारिक विस्फोट की तरह था, जिसने जन-मानस को धक्का देकर चकित करते हुए जगाया। 'देशेर कथा' की लोकप्रियता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उसका एक हजार प्रतियों का पहला संस्करण सन् 1904 में छपा। दो हजार प्रतियों का दूसरा संस्करण सन् 1905 में निकला। पुस्तक की मांग को ध्यान में रखकर ठीक चार महीने बाद ही पांच हजार प्रतियों का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। पुस्तक का दो हजार प्रतियों का चौथा संस्करण सन् 1907 में और तीन हजार प्रतियों का पांचवां संस्करण सन् 1908 में छपा। महज पांच वर्षों में पांच संस्करण और तेरह हजार प्रतियां। लेखक प्रत्येक संस्करण में कुछ नई सामग्री जोड़ता था, जिससे पुस्तक का आकार बढ़ जाता था किंतु उसकी कीमत नहीं बढ़ाई जाती थी, बल्कि दो बार घटा दी गई। 1905 के बंगभंग के दौरान 'देशेर कथा' के लिखे जाने की पृष्ठभूमि की ओर संकेत करते हुए माधव प्रसाद मिश्र ने सन् 1908 में लिखा था, जिस समय यह पुस्तक बांग्ला में लिखी गई थी, उस समय बंगाल के टुकड़े नहीं हुए थे, स्वदेशी आंदोलन का विचार भी लोगों के जी में नहीं आया था। लार्ड कर्जन के कुचक्रपूर्ण शासन से लोग शंकित हो चुके थे, पर उनकी मोहमयी

निद्रा तब तक भी टूटने नहीं पाई थी। बंगाल के शिक्षित लोग आमोद-प्रमोद में लगे रहे थे और कितने ही सौंदर्योपासक 'मूकाभिनय' का अपूर्व कौतुक कृत्रिम रमणीयता का बाजार खोल रहे थे। उपन्यास और नाटकों में शृंगार रस की प्रधानता हो रही थी और बंगाल के बहुत से बड़े आदमियों का समय उसी के आकलन में पूरा हो रहा था। यह किसी को ध्यान भी न था कि उनके देश की कैसी दशा हो रही है और आगे कैसा परिवर्तन होने वाला है।' बरीसाल के वीर स्वदेशी हितैशी बाबू अश्विनी कुमार दत्त ने अपनी कालीघाट वाली वक्तृता में कहा था, इतने दिनों तक सरस्वती की आराधना करने पर भी बंगालियों को मातृभाषा में वैसा उपयोगी ग्रंथ लिखना न आया जैसा एक परिणामदर्शी महाराष्ट्रीयन युवा ने लिख दिखाया। बंगालियों, इस ग्रंथ को पढ़ो और अपने देश की अवस्था और निज कर्तव्य पर विचार करो। 'देशेर कथा' की अपार लोकप्रियता से अंग्रेजी शासन भयभीत हुआ और 28 सितंबर, 1910 को एक विज्ञप्ति निकालकर उसे जप्त कर दिया गया।¹⁴

'देशेर कथा' पर पाबंदी की खबर 30 सितंबर 1970 को कुछ दैनिक अखबारों में छपी। 'हितवादी' और 'हितवार्ता' को छोड़कर किसी अन्य पत्र-पत्रिका ने इस प्रतिबंध का प्रतिवाद नहीं किया। 'हितवादी' पत्रिका में यह छपा कि पंडित सखाराम गणेश देउस्कर की पुस्तक 'देशेर कथा' पर पाबंदी इस आधार पर लगाई गई है कि उसमें ऐसी सामग्री है जिसको पढ़कर पाठकों के मन में सरकार के प्रति अलगाव का भाव पैदा होगा। 'हितवादी' के लेख में सरकार से कई प्रश्न पूछे गए थे, पर सरकार की ओर से उनके उत्तर कभी नहीं दिए गए। 'देशेर कथा' के साथ ही देउस्कर की एक और किताब पर भी पाबंदी लगाई थी। वह किताब थी- 'तिलकेर मुकद्दमा।' जिस समय देशेर कथा पर प्रतिबंध लगा उस समय तक 'देशेर कथा' का हिंदी अनुवाद 'देश की बात' से प्रकाशित हो चुका था। सखाराम गणेश देउस्कर ने देश में स्वाधीनता की चेतना के जागरण और विकास के लिए 'देशेर कथा' की रचना की थी। यद्यपि उन्होंने कांग्रेस द्वारा संचालित स्वाधीनता आंदोलन का समर्थन किया, लेकिन उन्होंने उस आंदोलन की रीति-नीति की आलोचना भी की है। उन्होंने 'देशेर कथा' की भूमिका में स्पष्ट लिखा है, 'हमारे आंदोलन भिक्षुक के आवेदन मात्र हैं। हम लोगों को दाता की करुणा पर एकांत रूप से निर्भर रहना पड़ता है। यह बात सत्य होते हुए भी राजनीति की कर्तव्य-बुद्धि को उद्बोधित करने के लिए पुनः पुनः चीत्कार के अलावा हमारे पास दूसरे उपाय कहां हैं।' 'देशेर कथा' में भारत की पराधीनता के यथार्थ और स्वाधीनता की अदम्य आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। 'देशेर कथा' छपते ही माधव प्रसाद मिश्र ने उसका हिंदी में अनुवाद प्रारंभ कर दिया था। बाद में अमृत लाल चक्रवर्ती ने 'देशेर कथा' के हिंदी अनुवाद का काम पूरा किया। वह अनुवाद सन् 1908 में 'देश की बात' नाम से बंबई से प्रकाशित हुआ, जिसकी सुचिंतित भूमिका माधव प्रसाद मिश्र ने लिखी है। 'देशेर कथा' का दूसरा हिंदी अनुवाद हिंदी में प्रसिद्ध पत्रकार बाबूराव विष्णु पराड़कर ने किया था, जो सन् 1910 में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। अपने अनुवाद की प्रस्तावना में पराड़करजी ने लिखा है कि माधव प्रसाद मिश्र तथा अमृत लाल चक्रवर्ती द्वारा किया गया अनुवाद मूल पुस्तक के पहले तीन संस्करणों का था, लेकिन चौथे संस्करणों में ग्रंथकार ने अपनी मूल पुस्तक में बहुत ही अधिक फेरफार किया। इसी से उक्त हिंदी संस्करण कई अंशों में अपूर्ण रह गया है। इसीलिए देउस्करजी ने मुझे 'देशेर कथा' का अनुवाद करने की आज्ञा दी। 'देश की बात' के प्रतिपाद्य विषय को भूमिका के अंतर्गत पराड़करजी ने पद्य में इस प्रकार उपस्थित किया था:

पाठकगण! निज हृदय थामकर पढ़ो देश अपने की बात ।
 निर्दयता से हुआ जिस तरह पुण्यभूमि भारत का घाता।
 शोध सिंधु में डूब न रहना रखना मन में भारी धीर ।
 बड़ी बीर जननी को जायो, हरै सदा जो उसकी पीर ।।
 पुस्तक के अंत में यह मार्मिक पद्य है:
 अहह के कहिये ये युदीर्घ कथा,
 सम सिंधु अपार अगाध व्यथा!

‘देश की बात’ देश के प्राचीन गौरव के ज्ञान के साथ ही वर्तमान दुर्दशा का तुलनात्मक विवरण प्रत्येक देशवासी के हृदय में स्वाधीन होने की एक अदम्य भावना उत्पन्न करता था।¹⁵ पराङ्करजी द्वारा अनूदित ‘देश की बात’ की एक विशेषता: यह भी है कि इसमें हिंदी पाठकों के काम की अनेक नई बातें दी गई हैं, जो बांग्ला पुस्तक में नहीं हैं इसलिए यह पुस्तक मूल बांग्ला से भी बड़ी हो गई है। बांग्ला ‘देश कथा’ के चौथे संस्करण से सन् 1910 में प्रकाशित ‘देश की बात’ का तुलनात्मक अध्ययन करने पर देउस्करजी के ज्ञान की व्यापकता और उनके अखिल भारतीय दृष्टिकोण के रूप में स्पष्ट बोध होता है। अरविंद ने लिखा है कि स्वराज्य शब्द का पहला प्रयोग ‘देश कथा’ के लेखक सखाराम गणेश देउस्कर ने किया। सखाराम गणेश देउस्कर के ग्रंथों और निबंधों की सूची बहुत लंबी है। डॉ. प्रभु नारायण विद्यार्थी ने एक लेख में देउस्कर की रचनाओं का ब्यौरा प्रस्तुत किया है। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं महामति रानाडे (1901), झासीर राजकुमार (1901), बाजीराव (1902), आनन्दी बाई (1903), शिवाजीर महत्व (1904), देश कथा (1904), देश कथा (परिशिष्ट) (1907) कृषकेर सर्वनाश (1904) तिलकेर मोकदमा ओ संक्षिप्त जीवन चरित (1908) आदि। देउस्कर भारतीय जनजागरण के ऐसे विचारक हैं जिनके चिंतन और लेखन में स्थानीयता और अखिल भारतीयता का अद्भुत संगम है। वे महाराष्ट्र और बंगाल के नवजागरण के बीच सेतु के समान हैं। जब ‘देश कथा’ की लोकप्रियता के कारण देउस्कर ख्याति के शिखर पर थे, तभी एक ओर उनकी दो पुस्तकों पर सरकारी प्रतिबंध लगा तो दूसरी ओर उनकी पत्नी और एकमात्र पुत्र का निधन हुआ। सन् 1910 के अंतिम दिनों में इन सब आघातों से आहत होकर सखाराम गणेश देउस्कर अपने गांव लौट आए और वहीं रहने लगे। उनको कुल 43 वर्ष का ही जीवन मिला था। 23 नवंबर, 1912 को उनका निधन हो गया।

माधव राव सप्रे की हिंदी पत्रकारिता: माधवराव सप्रे (19 जून 1871-23 अप्रैल 1926) ने छत्तीसगढ़ के पेंडा से ‘छत्तीसगढ़ मित्र’ पत्रिका का प्रकाशन व संपादन जनवरी 1900 में आरंभ किया। वामन बलीराम लाखे और रामराव चिंचोलकर उनके सहयोगी थे। ‘छत्तीसगढ़ मित्र’ के प्रवेशांक में सप्रेजी ने आत्म परिचय शीर्षक से अपने मंतव्य की घोषणा इस प्रकार की: (1) इसमें कुछ संदेह नहीं कि सुसंपादित पत्रों के द्वारा हिंदी भाषा की उन्नति हुई है अतएव यहां भी ‘छत्तीसगढ़ मित्र’ हिंदी भाषा की उन्नति करने में विशेष प्रकार से ध्यान देवे। आजकल भाषा में बहुत सा कूड़ा-ककट जमा हो रहा है, वह न होने पावे, इसलिए प्रकाशित ग्रंथों पर प्रसिद्ध मार्मिक विद्वानों के द्वारा समालोचना भी करे। (2) अन्यान्य भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद कर सर्वोपयोगी विषयों का संग्रह करना आवश्यक है। ‘छत्तीसगढ़ मित्र’ तीन साल ही निकल सका किंतु उसने दस पुस्तकों की विस्तृत समालोचना

की और सत्रह पुस्तकों पर परिचयात्मक टिप्पणियां प्रकाशित की। सप्रेजी ने समालोचना विधा को प्रतिष्ठित करने का महत्वपूर्ण काम किया। सप्रेजी की राय थी कि किसी पुस्तक या पत्र की आलोचना करने में समालोचक को उचित है कि उस पुस्तक या पत्र के गुण-दोष सप्रमाण सिद्ध करे। मराठी भाषी होने के बावजूद उन्होंने हिंदी के विकास के लिए सतत् कार्य किया। सन् 1905 में सप्रेजी नागपुर आ गए और हिंदी ग्रंथ प्रकाशक मंडल का गठन कर तत्कालीन विद्वानों के हिंदी की उत्कृष्ट रचनाओं व लेखों का प्रकाशक धारावाहिक ग्रंथमाला के रूप में आरंभ किया। इस ग्रंथमाला में माधवराव सप्रेजी के मौलिक स्वदेशी आंदोलन एवं बायकाट लेखमाला का भी प्रकाशन हुआ। बाद में इस ग्रंथमाला का प्रकाशन पुस्तकाकार रूप में हुआ। इसकी लोकप्रियता को देखते हुए अंग्रेज सरकार ने सन् 1909 में इसे प्रतिबंधित कर प्रकाशित पुस्तकों को जब्त कर लिया। हिंदी ग्रंथमाला के प्रकाशन से राष्ट्रव्यापी धूम मचाने के बाद पं. माधवराव सप्रे ने लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक से अनुमति प्राप्त कर उनकी आमुख पत्रिका मराठा केसरी के अनुरूप 'हिंदी केसरी' का प्रकाशन 13 अप्रैल 1907 को प्रारंभ किया। 'हिंदी केसरी' के प्रवेशांक में ही उसके संपादक सप्रेजी ने अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया था, विश्वविज्ञापन से विदित हुआ होगा कि हमने वर्तमान समय के एक राजनीतिक वीर और तत्ववेत्ता के सार्वजनिक विचार जो अब तक केवल मराठी में प्रकट होते थे, हिंदी में प्रकाशित करने का निश्चय किया है। अब केवल उन्हीं बातों का विचार किया जाए कि किन उपायों से सरकार की वर्तमान राजनीति और शासन पद्धति में हम लोग सुखकारक परिवर्तन करा सकेंगे। किन उपायों से आर्य माता राजनीतिक दासत्व से मुक्त होकर स्वराज्य का सुखकारी मुकुट अपने मस्तक पर धारण करेंगी। बस इन्हीं बातों की शिक्षा इस समय हमें दरकार है। यदि 'हिंदी केसरी' यह काम पूरा कर सकेगा तो समझना चाहिए कि उसके जीवन की सफलता हुई। 'हिंदी केसरी' ने तिलक की विचारधारा का प्रचार-प्रसार हिंदी क्षेत्रों में जमकर किया। 'हिंदी केसरी' के दूसरे वर्ष के प्रारंभ में नए वर्ष में पदार्पण शीर्षक से अग्रलेख प्रकाशित हुआ था जिसमें सरकार की दमन नीति। भारत के पुत्रों का कर्तव्य का विवेचन किया गया था। इस अग्रलेख के अलावा कालापानी शीर्षक लेख भी अखबार ने छपा और मराठी से दो अनूदित लेख देश का दुर्देव, बम के गोले का रहस्य भी प्रकाशित किया। अंग्रेजों को इससे फौजदारी मुकदमा चलाने का मौका मिल गया और 22 अगस्त 1908 में पं. माधवराव सप्रेजी गिरफ्तार कर लिए गए। उनकी अनुपस्थिति में लक्ष्मीधर वाजपेयी और जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल 'हिंदी केसरी' का संपादन करते रहे।

सप्रेजी 1919-1920 में जबलपुर आ गए और 'कर्मवीर' नामक पत्रिका का प्रकाशन उनकी ही प्रेरणा से आरंभ हुआ जिसके संपादक पं. माखनलाल चतुर्वेदी बनाए गए। माधवराव सप्रे ने देहरादून में आयोजित 15 वें अखिल भारतीय साहित्य-सम्मेलन की अध्यक्षता भी की एवं अपनी प्रेरणा से जबलपुर में राष्ट्रीय हिंदी मंदिर की स्थापना करवाई जिसके सहयोग से 'छात्र सहोदर', 'तिलक', हितकारिणी 'श्री शारदा' जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन संभव हुआ जिसका आज तक महत्व विद्यमान है। उनकी प्रमुखकृतियाँ हैं: स्वदेशी आंदोलन और बाँयकाट, यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें। हमारे सामाजिक हास के कुछ कारणों का विचार और माधव राव सप्रे की कहानियाँ (संपादन: देवी प्रसाद वर्मा)। उनकी अनूदित कृतियाँ हैं- हिंदी दासबोध (समर्थ रामदास की मराठी में लिखी गई प्रसिद्ध रचना), गीता रहस्य (बाल गंगाधर तिलक), महाभारत मीमांसा (महाभारत के उपसंहार:

चिंतामणि विनायक वैद्य द्वारा मराठी में लिखी गई प्रसिद्ध पुस्तक)। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की विशाल शब्दकोश योजना के अन्तर्गत आर्थिक शब्दावली के निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य भी सप्रेजी ने किया।

लक्ष्मण नारायण गर्दे : लक्ष्मणनारायण गर्दे (1889-23 जनवरी 1960) का हिंदी, मराठी, बांग्ला, अंग्रेजी भाषा पर अधिकार था। गर्दे जी के पूर्वज महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले के रहने वाले थे। वहां से वे काशी आए थे। वे सखाराम गणेश देउस्कर और स्वदेशी आंदोलन से प्रेरित होकर पत्रकारिता में आए। उन्होंने 'विशाल भारत' के अक्टूबर 1931 के अंक में प्रकाशित अपने लेख में खुद स्वीकार किया है, पत्र-संपादन के कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने का मेरे लिए प्रत्यक्ष कारण स्वदेशी आंदोलन हुआ। 1906-07 ई. में मैं मराठी समाचार-पत्र विशेषकर 'केसरी' 'काला' और 'काला' बहुत पढ़ता था। समाचारों की अपेक्षा अग्रलेखादि पढ़ने में ही अधिक रूचि थी, जो विचार पढ़ता था, उन विचारों को भी प्रकट करने की बड़ी प्रबल इच्छा होती थी। उन दिनों काशी में ही महाराष्ट्रीय विद्यार्थियों की एक सभा स्थापित हुई थी, जिसका नाम ज्ञानवर्द्धिनी सभा था। इस सभा में प्रचलित राजकाल और राजनीतिक आन्दोलन के विषय में लेख पढ़कर मैं सुनाया करता था और ये लेख सुनने वालों को पसन्द होते थे, ऐसा मैं समझता हूँ... मैंने बायकाट पर एक लेख लिखा था और इसी विषय पर श्रीप्रकाशजी का अंग्रेजी में व्याख्यान हुआ था। मेरे लेख से मि. आरण्डेल बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने मेरा नाम एसेइस्ट (निबंधकार) रखा और मुझसे यह कहा कि उस लेख को छपवाकर वितरण करा दो। पत्र-सम्पादन के कार्य की ओर जोर के साथ झुक पड़ने का यह एक निमित्त कारण हुआ।¹⁶ ज्ञातव्य हो कि मि. आरण्डेल उस समय सेंट्रल हिंदू कॉलेज के हेडमास्टर थे। 1908 ई. में गर्देजी ने सेंट्रल हिन्दू कॉलेज में पढ़ाई के दौरान ही गोविन्द शास्त्री दुगवेकर के सहयोग से थाणे (महाराष्ट्र) से निकलने वाले 'मराठी पञ्च' के हिंदी संस्करण के सम्पादक-पद पर नौकरी तय की। उस समय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक मंडाले जेल में बंद थे। तिलक के वियोग की कोई खास उद्विग्नता थाणे में न दिखने के कारण गर्देजी बड़े निराश हुए और उन्होंने एक-दो दिन बाद ही नौकरी छोड़ दी। उसके बाद वे 'वैकटेश्वर समाचार' में चले गए। उस समय चंदूलालजी प्रधान संपादक थे। बंबई की बीमारियां देखकर तथा वहां के जीवन में अपनापन न रहने के कारण गर्देजी को अच्छा नहीं लगा और वे बंबई छोड़कर काशी चले आए। गर्दे जी 1908 में 'हिंदी बंगवासी' में काम करने लगे। उन्होंने लिखा है, मैं यहीं से मेरे संपादकीय जीवन का प्रारंभ होता है।¹⁷ वहां कुछ दिन रहने के बाद गर्देजी 'भारत-मित्र' में चले गए तथा सहकारी संपादक पद पर काम करने लगे। उस समय 'भारत-मित्र' के संपादक अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी थे। गर्देजी ने वहाँ काम करते हुए महाराष्ट्र रहस्य लेखमाला चलायी थी। 'भारत-मित्र' में भी गर्देजी बहुत दिनों तक नहीं टिके अतः उन्होंने कुछ दिन बाद इसे छोड़ दिया। उसके बाद वे कलकत्ता और काशी में अध्यापन करते रहे। 1913 ई. में गर्देजी ने गणपति कृष्ण गुर्जरजी के सहयोग से काशी से 'नवनीत' (मासिक) नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। गर्देजी ने ग्रंथ प्रकाशन समिति की स्थापना कर उस पत्रिका को निकाला था। 'नवनीत' की विशिष्टता के विषय में गर्देजी ने लिखा है, 'नवनीत' को इतना गौरव अवश्य प्राप्त है कि उसमें सम्पूर्णानंद, बनारसीदास चतुर्वेदी और रामनारायण मिश्र लिखा करते थे और कई विद्वानों ने पहले पहल 'नवनीत' में लिखा है। संपूर्णानंद जी की साहित्य-सेवा का आरंभ इसी पत्र से समझना चाहिए, क्योंकि उनका

सबसे पहला लेख और पहले ग्रंथ का कुछ भाग 'नवनीत' में ही छपा था। हनुमानप्रसाद पोद्दार का पहला लेख इसी पत्र में छपा था। 'नवनीत' का प्रकाशन हालाँकि ढाई वर्षों तक ही हो पाया, लेकिन इस पत्रिका ने हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में नए आयाम प्रस्तुत किए। सन् 1919 ई. में गर्देजी ने पुनः 'भारतमित्र' की नौकरी शुरू की। गर्देजी ने विशाल भारत के अक्टूबर 1931 अंक में लिखा है, 1918 ई. में दैनिक 'भारत मित्र' के सहकारी सम्पादक और मेरे मित्र वासुदेव मिश्र का एक पत्र और साथ ही मैनेजिंग डायरेक्टर हरिचरण हुलवासिया का एक पत्र मुझे मिला, जिसका आशय यह था कि आप शीघ्र यहाँ आकर 'भारत मित्र' के काम में सम्मिलित होइए। अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी प्रधान संपादक थे। उनसे सम्मति लेना मैंने जरूरी समझा। सन् 1918 ई. की कांग्रेस के लिए मुझे दिल्ली जाना था और वहाँ वाजपेयीजी से मिलने की आशा थी। दिल्ली में उनसे भेंट हुई और उन्होंने भी 'भारत मित्र' में आने की सलाह दी। तदनुसार 1919 ई. के प्रारंभ में मैंने अपने आपको फिर कलकत्ता में पाया। इसके बाद वाजपेयीजी बहुत दिन 'भारत मित्र' में नहीं रहे। मेरे आते ही पहले ही दिन उन्होंने सहकारी संपादकों से कह दिया, अपने भावी प्रधान संपादक आ गए हैं' वाजपेयीजी की स्कीम आगे क्या है, यह मुझे कुछ मालूम नहीं था। पर मेरी यह इच्छा थी कि वाजपेयीजी 'भारतमित्र' न छोड़ें। उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। इसलिए मैंने कहा था कि आप केवल प्रधान संपादक बने रहें, निगाह रखें और काम हम सब लोग कर लेंगे। इसके लिए मुझसे जो कोशिश हो सकती थी वह मैंने की। पर वाजपेयीजी अलग हो ही गए और आगे चलकर उनका 'स्वतंत्र' पत्र निकाला जिसके पहले दैनिक 'भारत मित्र' के संपादक का पूर्ण भार इन दुर्बल कंधों पर आ गया। 'भारत मित्र' के बाद गर्देजी ने कलकत्ता से सन् 1915 ई. में चुन्नीलाल वर्मन के सहयोग से 'श्रीकृष्ण संदेश' (साप्ताहिक) प्रकाशित किया। वह 'विजय' नामक पत्र के भी संपादक थे। जब काशी से 1946 ई. में 'सन्मार्ग' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तो गर्देजी उसमें 'चक्रपाणि' नाम से एक-डेढ़ वर्ष लिखते रहे। इनके अंतिम जीवन का अंतिम पत्र लखनऊ से प्रकाशित 'नवजीवन' था, जिसे एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड ने निकाला था। गर्देजी के स्वाभिमान का उदाहरण इस पत्र में दिखाई देता है। 'नवजीवन' तो कांग्रेसी पत्र था। इसमें 1948 ई. में गर्देजी ने एक लेख लिखा, जिसमें आर. एस.एस. के अनुशासन का समर्थन किया गया था। एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड के प्रबंध निदेशक फिरोज गाँधी थे, जो उस लेख पर आग-बबूला हो गए। उन्होंने गर्देजी से पूछा, आपने आर.एस.एस. के अनुशासन का समर्थन क्यों किया है? इसी बात पर गर्देजी नाराज हो गए और उन्होंने त्यागपत्र दे दिया जबकि उक्त लेख के दूसरे दिन आर.एस.एस. के अनुशासन का समर्थन सरदार वल्लभभाई पटेल ने भी किया था। गर्देजी ने वाराणसी से प्रकाशित साप्ताहिक संसार में भी लेखन किया था। लक्ष्मणनारायण गर्दे को पत्रकारिता की हर विधा की जानकारी थी। 1915 ई. में 'भारत मित्र' दैनिक के विशेष प्रतिनिधि थे। इस दौरान जब महात्मा गांधी बनारस आए थे तो गर्देजी ने उनसे साक्षात्कार लिया था। हिंदी-पत्रों ही क्या, पत्रकारिता में साक्षात्कार की आधुनिक पद्धति का प्रवर्तन गर्देजी ने ही किया था। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले प्रमुख पत्र 'विश्वामित्र' का नाम गर्देजी ने ही रखा था। उसके मालिक मूलचंद्र अग्रवाल गर्देजी से मिले। उन्होंने कहा, 'मैं एक पत्र निकालना चाहता हूँ, जिसका नाम 'विश्वामित्र' रखा है।' गर्देजी ने कहा, विश्वामित्र का अर्थ विश्व का दुश्मन (विश्व+अमित्र) होता है। अतः इसका नाम विश्वमित्र रखें तो अच्छा होगा।' मूलचंद्र अग्रवाल ने तभी

इस पत्र का नाम विश्वमित्र रख दिया। गर्देजी पत्रकारिता में कर्णकटु शब्दों के विरोधी थे। अंग्रेजी में 'ग्रेटर इण्डिया' का अनुवाद 'वृहत्तर भारत' होता था। गर्देजी ने कहा यह कर्णकटु शब्द है अतः इसकी जगह 'विशाल भारत' होना चाहिए। तभी से विशाल भारत का प्रचलन बढ़ गया। गर्देजी ने कई पुस्तकें भी लिखीं जिनमें महाराष्ट्र रहस्य, सरल गीता, जापान की राजनीतिक प्रगति, एशिया का जागरण, गांधी सिद्धांत, जेल में चार मास, मियां की करतूत आदि प्रमुख हैं। उन्होंने अनेक पुस्तकों का अनुवाद किया। कई किताबों का उन्होंने संपादन भी किया। वे बिहार पत्रकार सम्मेलन के अध्यक्ष रहे। 1946-47 ई. में वे काशी पत्रकार संघ के अध्यक्ष रहे। वे राष्ट्रकवि परिषद्, काशी के पदाधिकारी, कलकत्ता जिला कांग्रेस के अध्यक्ष भी थे।

बाबूराव विष्णु पराड़कर : बाबूराव विष्णु पराड़कर (16 नवंबर 1883-12 जनवरी 1955) मूलतः मराठीभाषी थे। उनकी माता अन्नपूर्णाबाई और पिता विष्णु शास्त्री महाराष्ट्र से आकर वाराणसी में बस गए थे। संस्कृत की प्रारंभिक शिक्षा के बाद बाबूराव विष्णु पराड़कर ने 1900 ई. में भागलपुर से मैट्रिक परीक्षा पास की। वे 1906 ई. में 'हिंदी बंगवासी' के सहायक संपादक होकर कलकत्ता गए। छह महीने बाद हिंदी साप्ताहिक हितवार्ता के संपादक हुए और चार वर्ष तक वहीं रहे। साथ ही बंगाल नेशनल कालेज में हिंदी और मराठी पढ़ाते थे। पराड़कर जी 1911 ई. में 'भारतमित्र' के संयुक्त संपादक हुए जो उस समय साप्ताहिक से दैनिक हो गया था। 1916 ई. में राजद्रोह के संदेह में वे गिरफ्तार होकर साढ़े तीन वर्ष के लिए नजरबंद किए गए। सन् 1920 में नजरबंदी से छूटने पर वे वाराणसी आ गए। उसी वर्ष 5 सितंबर को दैनिक 'आज' का प्रकाशन हुआ जिसकी रूपरेखा की तैयारी के समय से ही संबद्ध रहे। पहले चार वर्ष तक संयुक्त संपादक उसके बाद संपादक तथा प्रधान संपादक मृत्यु पर्यंत रहे। बीच में 1943 से 1947 तक 'आज' से हटकर वहीं के 'संसार' के संपादक रहे। पत्रकारों की स्वतंत्रता के बारे में उन्होंने कहा था पत्र निकालकर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े धनियों अथवा सुसंगठित कंपनियों के लिए ही संभव होगा। पत्रसंवांग सुंदर होंगे। आकार बड़े होंगे, छपाई अच्छी होगी मनोहर, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक चित्रों से सुसज्जित होंगे, लेखों में विविधता होगी, कल्पकता होगी, गंभीर गवेषणा की झलक होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जाएगी। यह सब कुछ होगा पर पत्र प्राणहीन होंगे। पत्रों की नीति देशभक्त, धर्मभक्त अथवा मानवता के उपासक महाप्राण संपादकों की नीति न होगी, इन गुणों से संपन्न लेखक विकृत मस्तिष्क समझे जाएंगे, संपादक की कुर्सी तक उनकी पहुंच भी न होगी। वेतनभोगी संपादक मालिक का काम करेंगे और बड़ी खूबी के साथ करेंगे। वे हम लोगों से अच्छे होंगे पर आज भी हमें जो स्वतंत्रता प्राप्त है वह उन्हें न होगी। वस्तुतः पत्रों के जीवन में यही समय बहुमूल्य है।¹⁸ पराड़कर जी ने कहा था, मेरे मत से संपादक में साहित्य और भाषा ज्ञान के अतिरिक्त भारत के इतिहास का सूक्ष्म और संसार के इतिहास का साधारण ज्ञान तथा समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र और अंतरराष्ट्रीय विधानों का साधारण ज्ञान होना आवश्यक है। अर्थशास्त्र का वह पण्डित न हो पर कम से कम भारतीय और प्रांतीय बजट समझने की योग्यता उसमें अवश्य होनी चाहिए।¹⁹ पांच सितंबर 1920 को 'आज' की संपादकीय टिप्पणी में उन्होंने लिखा था, हमारा उद्देश्य अपने देश के लिए सर्व प्रकार से स्वातंत्र्य उपार्जन है। हम हर बात में स्वतंत्र होना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य है कि हम अपने देश के गौरव को बढ़ावें, अपन देशवासियों में स्वाभिमान संचार करें।'

पराङ्करजी के चलाए शब्द: लक्ष्मीशंकर व्यास ने अपनी किताब 'पराङ्करजी और पत्रकारिता' में एक स्वतंत्र अध्याय लिखा है जिसका शीर्षक है: शब्द जो पराङ्करजी की देन है। सात पृष्ठों के इस लेख की पहली ही पंक्ति है, पराङ्करजी ने पत्रकारिता तथा साहित्य साधना की आधी शताब्दी में हिंदी भाषा को सैकड़ों नए शब्द दिए।²⁰ इसी लेख में कहा गया है, 'सर्वश्री' शब्द पराङ्करजी की ही देन है। यह शब्द आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने स्वीकार कर लिया था और अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में उसका निरंतर प्रयोग किया है।²¹ इस संबंध में संपादकाचार्य पंडित अंबिका प्रसाद वाजपेयी का भी कथन है कि 'सर्वश्री' शब्द पराङ्करजी का ही चलाया हुआ है।²² इसी प्रकार 'श्री' शब्द का प्रयोग और व्यवहार तथा उसका व्यापक प्रचार करने का श्रेय पराङ्करजी को ही है। 'मिस्टर' शब्द के लिए 'श्री' का प्रयोग पराङ्करजी ने प्रचलित किया और आज के माध्यम से उन्हें इसमें सफलता भी मिली।²³ इसी प्रकार राष्ट्रपति शब्द भी उन्हीं की देन बताया जाता है जिसका प्रयोग देश के संविधान में विहित कर लिया गया है और जिसे सार्वदेशिक स्तर पर स्वीकार कर लिया गया है।²⁴

आधुनिक काल में अर्थशास्त्र का बहुप्रचलित शब्द 'मुद्रास्फीति' पराङ्करजी का ही चलाया हुआ है।²⁵ इसी प्रकार लोकतंत्र, नौकरशाही, स्वराज्य, सुराज्य, नक्राशु, मक्राशु, वातावरण, वायुमंडल, काररवाई, वाग्यन्त्र, अंतरराष्ट्रीय, चालू, परराष्ट्र आदि शब्दों के व्यापक प्रयोग तथा प्रचलन का श्रेय पराङ्कर जी को है।²⁶

राहुल बारपुते की पत्रकारिता: इंदौर से 5 जून 1947 को हिंदी दैनिक 'नई दुनिया' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। संपादक कृष्णकांत व्यास और कृष्णचंद्र मुद्गल थे। कुछ महीने बाद उसके प्रकाशन का दायित्व लाभचंद्र छजलानी ने संभाला और संपादन का दायित्व राहुल बारपुते को सौंपा गया। राहुल बारपुते मूलतः मराठीभाषी थे किंतु उनके संपादकत्व में इंदौर की 'नई दुनिया' हिंदी पत्रकारिता की ऐसी नर्सरी बनी, जिसकी जड़ें भाषाई और सामाजिक सरोकारों से ऊर्जा पाती थीं। वहां से कई नामचीन पत्रकार निकले। राहुलजी का आकाश अखबार में समाचार और विचारों की दुनिया तक सीमित नहीं रहा, उन्होंने जीवन की सार्थकता की तलाश कला और संस्कृति के संसार में भी खूब की। उन्हें कलम की दुनिया का कबीर कहना ठीक होगा। विजय मनोहर तिवारी ने एक किताब तैयार की है: पत्रकारिता के युग निर्माता: राहुल बारपुते। 2010 में वह प्रभात प्रकाशन से प्रकाशित हुई। राहुल बारपुते ने राजेंद्र माथुर और प्रभाष जोशी, शरद जोशी, आलोक मेहता जैसे दिग्गजों को तराशा और पत्रकारिता जगत को इन रत्नों से लाद दिया। वह संस्थान कब अखबार से विश्वविद्यालय बन गया और बाबा कुलपति को भी पता नहीं चला। राहुल बारपुते को लोग बाबा कहते थे। लोग 'नई दुनिया' पत्रकारिता सीखने आते और बाबा से सीखकर अन्य अखबारों को समृद्ध करने चले जाते। यह सिलसिला 1996 तक अनवरत चलता रहा। बारपुतेजी जब तक जिए 'नई दुनिया' की बेहतरी के लिए सोचते रहे। पत्रकारों को हर विषय की जानकारी होनी चाहिए इस तथ्य को बाबा ने आत्मसात किया था। रंगमंच, समाजसेवा, संगीत, पेंटिंग आदि कई विधाओं में उन्हें महारत हासिल थी। टेनिस एसोसिएशन का अध्यक्ष बनने के लिए उन्होंने 3 दिन में टेनिस सीखा था। कुमार गंधर्व, विष्णु चिंचालकर और राहुल बारपुते की तिकड़ी की दोस्ती के कई किस्से मशहूर हैं। बाबा की वसंत पोद्दार से बोलचाल बंद थी लेकिन जब उन्होंने कुमार गंधर्व पर किताब लिखने का निश्चय किया तो बाबा खबर मात्र से ही पोद्दार साहब के पास पहुँच गए। अनिल सद्गोपाल जब किशोर भारती

की स्थापना के लिए मध्यप्रदेश आए तो उन्हें बाबा ने हाथों-हाथ लिया। रणवीर सक्सेना के साथ पिपरिया के समीप के एक गांव में उनके प्रोजेक्ट को इस तरह संबल प्रदान किया कि किशोर भारती के कार्यकर्ता उत्साह से भर गए। बाद में उन्होंने इंदौर में अनिल की प्रेस कॉन्फ्रेंस कराकर उन्हें जननायक सा सम्मान दिलवाया। अभय छजलानी, अभिलाषा खांडेकर, सुभाष गावड़े, दिलीप चिंचालकर, भानु चौबे, राजीव बारपुते, जवाहरलाल राठौर से लेकर 'नई दुनिया' पुस्तकालय के अशोकजी, कमलेशजी तक सभी से राहुल बारपुते ने सीखा व उन्हें सिखाया। राहुल बारपुते की कोशिश थी कि 'नई दुनिया' जैसा क्षेत्रीय अखबार भी अंतरराष्ट्रीय स्तर का बने। इसी कारण राहुलजी के जमाने में राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय खबरें प्रमुखता से प्रकाशित होती थीं। 'नई दुनिया' में डैंगवुड और ब्लांडी जैसी कार्टून पट्टी राहुल जी के जमाने में छपना शुरू हुई। राहुल बारपुते ने नक्शे, ग्राफिक्स और चित्रों के प्रयोग से अखबार की साज-सज्जा को सुरुचिपूर्ण बनाया। मालवी भाषा में सामग्री छापना प्रारंभ किया। नए स्तंभ शुरू किए। सांस्कृतिक व खेल गतिविधियों को महत्व देना प्रारंभ किया। 1960 में जब विनोबा इंदौर आए तो उनके प्रवास काल के दौरान प्रतिदिन दो पृष्ठों का विनोबा दर्शन परिशिष्ट निकाला। इमरजेंसी के दौरान नई दुनिया ने संपादकीय की जगह खाली छोड़कर उसका विरोध किया। सिर्फ राजनीति ही नहीं, बारपुते की दिलचस्पी साहित्य, कला और सरकारी आयोजनों में भी रहा करती थी। भारत भवन के कार्यक्रमों में वे हवाई जहाज से उड़कर भोपाल जाया करते थे। अशोक वाजपेयी उनके अभिन्न मित्रों में थे। बारपुते मध्य प्रदेश कला परिषद में भी रहे। राहुल बारपुते के मित्रों में विष्णु चिंचालकर (जिन्हें राहुलजी ने गुरुजी नाम दिया था), नाट्यकर्मी बाबा डिके और गायक कुमार गंधर्व प्रमुख थे। मराठी समाज की सांस्कृतिक-गतिविधियों को भी 'नई दुनिया' प्रमुखता से स्थान देता था। मराठी समाज के लोग 'नई दुनिया' को समाज का मुखपत्र ही मानते थे। राहुल बारपुते अपने साथियों को हमेशा सुविधाओं और लालच से दूर रहने की नसीहत देते थे। उनका मानना था कि पत्रकारों को ज्यादा वेतन नहीं लेना चाहिए और समाज की सेवा का ध्येय रखना चाहिए। बारपुते कभी भी एक घंटे से ज्यादा समय 'नई दुनिया' के दफ्तर में नहीं रहते थे। वे शाम को आते, अपनी डाक देखते, कुछ फोन वगैरह करते, कभी-कभी शाम की बैठक को संबोधित करते लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि 'नई दुनिया' के कार्यालय में उनका मन नहीं लगता था, इसका मतलब यह भी नहीं कि उनकी दिलचस्पी अखबार में रती भर भी कम थी। वे जहां भी जाते, 'नई दुनिया' उनके साथ होता, वे 'नई दुनिया' के पर्याय थे और 'नई दुनिया' उनका पर्याय।

मुक्तिबोध की हिंदी सेवा: मूलतः मराठीभाषी गजानन माधव मुक्तिबोध हिंदी के विख्यात साहित्यकार थे। हिंदी को उन्होंने 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'काठ का सपना' जैसी क्लैसिक कृतियां दीं। मुक्तिबोध रचनावली छह: खंडों में छप चुकी है। 'अंधेरे में, और 'ब्रह्मराक्षस' पर कई रंग प्रस्तुतियां हुई हैं। उनका पत्रकारिता में भी कम अवदान नहीं है। उनका पत्रकारीय लेखन नेमिचंद्र जैन द्वारा संपादित 'मुक्तिबोध रचनावली' के छठे खंड में 180 पृष्ठों में फैला हुआ है। इसमें मुक्तिबोध के लेख, टिप्पणियां और अग्रलेख हैं जो मुख्यतः 'नया खून' और हिंदी साप्ताहिक सारथी, में छपी थी। अधिकतर टिप्पणियों में मुक्तिबोध ने अवंतिलाल गुप्त उपनाम का प्रयोग किया अथवा कभी-कभी यौगंधरायण का। 'नया खून' में प्रकाशित बौद्ध संस्कृति से जुड़े एक लेख में अलबत्ता उन्होंने अपना नाम अमिताभ रखा। मुक्तिबोध 1948 में नागपुर आए और सूचना व जनसंपर्क विभाग

से जुड़कर पत्रकारिता प्रारंभ की किंतु आकाशवाणी की नौकरी के लिए उसे छोड़ दिया। आकाशवाणी नागपुर से जब उनका तबादला भोपाल के लिए हुआ तो 1956 में उन्होंने आकाशवाणी की नौकरी भी छोड़ दी और साप्ताहिक 'नया खून' में काम करने लगे। 1958 में वे 'नया खून' से भी अलग हो गए और साप्ताहिक 'सारथी' में काम करने लगे। हालांकि इन दोनों साप्ताहिकों में वे पहले से ही लिख रहे थे। 'नया खून' के 1952 से 1954 के दौरान उनके चार लेख छपे। अप्रैल 1957 से फरवरी 1958 के दस महीनों में उनके 10 लेख छपे जिनमें पांच संपादकीय थे, जबकि 'सारथी' में 1954 में छह, 1955 में पांच, 1956 में 37 और 1957 में सात लेख लिखे। 'नया खून' में क्रमशः 18 सितंबर 1953 और 28 जून 1957 को जिंदगी के नए तकाजे और सामाजिक त्योंहार तथा सांस्कृतिक आध्यात्मिक जीवन पर संकट शीर्षकों से प्रकाशित मुक्तिबोध के दो लेख उनकी सांस्कृतिक पत्रकारिता के विरल उदाहरण हैं। 'नया खून' में ही 21 फरवरी 1958 को प्रकाशित हवने सांग की डायरी भी सांस्कृतिक पत्रकारिता का ही अनूठा उदाहरण है। 'नया खून' में 7 जून 1957 को प्रकाशित अपने संयुक्त महाराष्ट्र का निर्माण एकदम जरूरी' शीर्षक मूलतः राजनीतिक संपादकीय में मुक्तिबोध स्वायत्त महाराष्ट्र राज्य की तार्किक पैरवी करते हुए उसे एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दस्तावेज भी बना देते हैं। 'मराठा' कौम, 'महाराष्ट्र' की उत्पत्ति और विकास तथा मराठी भाषा के उद्भव और विस्तार में जाते हुए मुक्तिबोध कहते हैं कि महाराष्ट्र भावना संतों की देन है और वह ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ आदि के बिना निरर्थक है। इस भावना के पीछे दलितों, पीड़ितों पिछड़े वर्गों के साथ सवर्णों का भी योगदान है क्योंकि संत इन सभी में पैदा हुए। जिसे इन संतों ने 'महाराष्ट्र-धर्म' कहा वह किसी ग्रंथ या स्मृति से बंधा न था, उसके आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी पक्ष थे, वह शिवाजी और उनके गुरु संत रामदास से पहले ही था।

1857 के 'रक्तरंजित राष्ट्रीय-संग्राम की शताब्दी पर 'नया खून' के अपने संपादकीय में मुक्तिबोध उस क्रांतिधर्मा विद्रोह के कारणों में जाते हुए कहते हैं कि वह ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारतीय अर्थतंत्र पर किए गये क्रूर अत्याचारों के विरुद्ध होने के साथ-ही-साथ जनता के उस व्यापक असंतोष के फलस्वरूप था जो कंपनी द्वारा खुली और निर्दल लूट के सबब उग्र रूप से जनता के सभी वर्गों में फैल गया था। वह बगावत जनता के दिल की आग से पैदा हुई थी और देशभक्त जुझारू सामंत उसके रहनुमा थे। विनोबा भावे ने जो कभी राजनीति या सत्ता में नहीं रहे, 1957 में कभी कहीं कह दिया कि सारे बूढ़े राजनीति से रिटायर हो जाएं, तब भूदानी गांधीवादी ब्रह्मचारी विनोबा की एक राष्ट्रीय नैतिक उपस्थिति थी। उस घटना से प्रेरित होकर मुक्तिबोध ने 'नया खून' में है। 'दून घाटी में नेहरू लेख लिखा जो कि खासा पठनीय है। उसमें मुक्तिबोध ने राजनीति तथा साहित्य में व्याप्त वृद्धतंत्र पर प्रहार किए हैं। नेमिचंद्र जैन द्वारा खोजे गए और 'मुक्तिबोध रचनावली' के छठे खंड में प्रकाशित अखबारी लेखन के कारण मुक्तिबोध का पत्रकारीय लेखन एक तरफ हमारे सामने है। तो जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे। उसकी दूसरी कड़ी है। उसमें मुक्तिबोध की अन्य पत्रकारीय टिप्पणियां व लेख हैं। उसे उनके पुत्र रमेश गजानन मुक्तिबोध ने खोज कर और 2009 में, राजकमल प्रकाशन से ही एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया।

प्रभाकर माचवे की हिंदी सेवा: प्रभाकर माचवे (1917-1991) मूलतः मराठीभाषी थे। उन्होंने एम.ए., पी.एच.डी. एवं साहित्य वाचस्पति की उपाधियां प्राप्त कीं। वे मजदूर संघ, आकाशवाणी,

साहित्य आकदमी, भारतीय भाषा परिषद आदि से संबंध रहे। देश और विदेश में अध्यापन किया। उनके बहुचर्चित कविता 'संग्रह हैं :स्वप्न भंग, अनुक्षण, तेल की पकौड़ियां तथा विश्वकर्मा आदि। उन्होंने उपन्यास, निबंध, समालोचना, अनुवाद आदि मराठी, हिंदी, अंग्रेजी में 100 से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। उन्हें सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार तथा उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का सम्मान प्राप्त हुआ है। प्रभाकर माचवे के संपादन में 16 दिसंबर 1988 को इंदौर से हिंदी दैनिक 'चौथा संसार' प्रकाशित हुआ। वे उस दैनिक के प्रधान संपादक थे। दो वर्षों से अधिक समय तक वे उस दैनिक के प्रधान संपादक रहे और उस दौरान दर्जनों लेख, अग्रलेख और टिप्पणियां लिखीं। वह अखबार आज एक वटवृक्ष बन गया है। भारत में ऐसे अनेक अखबार समूह हैं, जो सांध्य दैनिक प्रकाशित करते हैं, लेकिन ऐसे अखबार नहीं हैं जो उसी नाम से शाम को भी नए रंग-रूप में संस्करण प्रकाशित करते हों। इस संदर्भ में चौथा संसार यह बिरल प्रयोग कर रहा है। 'चौथा संसार' ग्लोबलाइजेशन के युग में लोकल खबरों को तवज्जो देता है। प्रभाकर माचवे द्वारा निर्धारित नीतियों का अनुसरण करते हुए वह अखबार आज भी सच्ची और ताजा खबरें देता है। यह अखबार पाठक को उद्वेलित करता है तो गुदगुदाता भी है। पाठक के कष्ट में साझेदार बनता है।

रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर की हिंदी सेवा: रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर (1 अप्रैल 1914-28 फरवरी 1960) के पूर्वज महाराष्ट्र के रत्मागिरी जिले के तलबड़े ग्राम के थे। खाडिलकर जी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1935 ई. में बी.एस.सी. की डिग्री हासिल की, उसी वर्ष 'आज' के छापाई विभाग में काम करना प्रारम्भ किया। उन्हें 1936 ई. में बाबूराव विष्णु पराड़कर के नेतृत्व में 'आज' के संपादकीय विभाग में विधिवत् काम करने की अनुमति मिल गई। उन्होंने इस अखबार में कार्य करते हुए पत्रकारिता के क्षेत्र में कई नए प्रयोग किए। उस समय हिंदी समाचार-पत्रों में टेलीप्रिंटर नहीं थे। समाचार एजेंसी एसोसिएटेड प्रेस भी तार से समाचार भेजती थी, जो देर से मिला करते थे। पत्रकारों के सामने समाचारों का भारी संकट था। पत्रकार पुराने समाचार को नए रूप में कैसे प्रकाशित करें, यही उनकी कला थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने पर पत्रकारिता में नया बदलाव आया। इस परिवर्तन से खाडिलकरजी की प्रतिभा द्विगुणित हो उठी। हर सूत्र के समाचार एकत्र करने के लिए वे कितने दक्ष रहते थे, इसका एक उदाहरण यह है कि काशी हिंदू विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति आनंद शंकर ध्रुव के निधन का समाचार उन्होंने किसी गुजराती पत्र में पढ़कर 'आज' में छापा, वरना काफी दिनों तक इस समाचार से लोग अनभिज्ञ रहते।¹⁷ खाडिलकर जी का 'आज' में कुछ महीने तक कार्य के बाद 17 जुलाई 1937 ई. को उससे संबंध विच्छेद हो गया। चार माह 9 दिन बाद पुनः वे 'आज' में आ गए। 1942 ई. में 22 अगस्त को 'आज' का प्रकाशन जब कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया तो उनका संबंध उससे छूट गया तथा 1942 ई. में वे काशी से ही निकलने वाले दैनिक पत्र 'खबर' के प्रधान संपादक बनाए गए। 1943 ई. में 'खबर' के संचालकों ने दैनिक संसार का प्रारंभ किया तो वे उसके सह संपादक बनाए गए। उसी वर्ष अक्टूबर माह में बंबई से 'संसार' का साप्ताहिक संस्करण निकलना प्रारंभ हुआ तो उनको वहां जाना पड़ा। यहां 1945 ई. तक साप्ताहिक 'संसार' के संपादक तथा प्रेस मैनेजर पद पर कार्य करते रहे। वहीं पर भारत रक्षा कानून के अंतर्गत उन्हें 300 रुपये का अर्थदंड भी सहना पड़ा था। बंबई के बाद खाडिलकरजी ने 1944 ई. के अगस्त माह में लखनऊ से प्रकाशित होने वाले 'अधिकार' पत्र में नौकरी

कर ली। वे उस पत्र के संपादक बनाए गए। उसके बाद 1946 ई. में पुनः 'संसार' में चले आये। उन्होंने 1947 ई. में लखनऊ के 'नवजीवन' में नौकरी प्रारम्भ की। लक्ष्मणनारायण गर्दे के नेतृत्व में वे उस पत्र में उप संपादक बने। रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर 1948 ई. में 'आज' में सह संपादक बने। 1955 ई. में बाबूराव विष्णु पराड़कर के निधन के बाद 'आज' के प्रधान संपादक तथा ज्ञानमंडल बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के सदस्य बनाए गए।²⁸ वे 1957 ई. में ज्ञानमंडल लिमिटेड के अध्यक्ष बने। 'आज' को सजाने-संवारने में उनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने कई नए प्रयोग किए। 25 मार्च 1952 ई. से उन्होंने 'आज' में पहले पृष्ठ पर बिना डबल कॉलम के मेकअप शुरू किया।²⁹ खाडिलकरजी ने 'आज' में शतरंज, ब्रिज के कूट प्रश्न तथा आकाश दर्शन जैसे लोकप्रिय स्तम्भ प्रारंभ किए। उन्होंने 'आज' को और स्तरीय बनाने के लिए विभिन्न विषयों पर लेख लिखे तथा दूसरों से लिखवाए। जरूरत पड़ने पर विशेषांक भी निकाले। उनकी विशेषता थी कि वे अधिक समय अखबारों के पठन-पाठन में लगाते। वे रेडियो समाचार जरूर सुनते। उनके लेखों में उनकी तटस्थता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी। उदाहरण के लिए विश्वनाथ मंदिर विवाद जैसी कट्टर सांप्रदायिक समस्याओं पर भी उन्होंने लेखनी उठाई तथा लोगों को दिग्भ्रमित होने से बचाया। उन्होंने शास्त्रों, पुराणों तथा बड़े-बड़े विद्वानों के विचार 'आज' में प्रकाशित कराकर उसे सेमिनार का रूप दिया। इतना ही नहीं, इस विवाद पर एक पुस्तक भी लिखी। बाबूराव विष्णु पराड़कर और लक्ष्मणनारायण गर्दे के बाद खाडिलकरजी ही एक ऐसे पत्रकार हैं, जिन्होंने महाराष्ट्र का होते हुए भी हिंदी का नारा बुलंद किया। महाराष्ट्र की लोकप्रिय पत्रिका 'किलोस्कर' (मासिक) में उन्होंने लेख लिखा, 'हिन्दुस्थान ची राजकाजची भाषा हिंदीच'। अर्थात् हिंदुस्तान की राजकाज की भाषा हिंदी ही है। लेख में उन्होंने हिंदी विरोधियों को मुँहतोड़ जवाब दिया। उन्होंने लिखा, 36 करोड़ भारतीयों की अवसर की समता अंग्रेजी के कारण मिलना बिलकुल असंभव है। हिंदी के अलावा अन्य किसी भाषा में वह मिलना संभव नहीं है। संभावना केवल हिंदी भाषा में ही है और उसी के लिए 1965 ई. तक का काल तैयारी के लिए रखा गया है। यह संकल्प सभी भारतवासियों ने मिलकर किया है। हिंदी वालों ने अपने संख्या के बल पर यह संकल्प नहीं किया है। इसे चरितार्थ करना समस्त भारतवासियों का परम कर्तव्य है। हिंदी वालों पर किए जाने वाले आक्षेप और आरोप गलत हैं।' नाप-तौल मुद्रा के साथ पंचाग में भी समानता लाने के लिए भारत सरकार ने 1952 ई. में मेघनाद साहा की अध्यक्षता में सात सदस्यीय समिति बनाई थी। उस समिति ने अपनी रिपोर्ट में 21 मार्च 1956 ई. से यह योजना कार्यान्वित करने की सलाह दी थी। पंचाग सुधार शीर्षक से आठ लेखों की माला में खाडिलकरजी ने इस बात पर जोर दिया था कि आधुनिक वेधशाला काशी में ही हो। उन्होंने सुझाव दिया था कि पंचाग सुधार समिति की एक-दो बातें छोड़कर या उसमें परिवर्तन कर सभी सिफारिशों सरकार द्वारा कानून बनाकर चलाई जानी चाहिए। उन्होंने इसी पंचाग सुधार के बारे में लिखते हुए कहा था कि समाज में पुत्रनुरूप और ज्ञानानुरूप परिवर्तन हमेशा होते आए हैं और पुराणपंथी कथित सनातनधर्मी उनका विरोध भी करते आए हैं, पर इन विरोधों के बावजूद समाज आगे बढ़ता जा रहा है। उन्होंने 'हालैण्ड में पचीस दिन', बदलते 'रूस' आदि यात्रा-संस्मरण भी लिखे। कीमती 'ऑसू' नामक पुस्तक में खाडिलकर जी की बारह कहानियाँ संकलित हैं। उन्होंने रेडियो परमाणु बम, हाइड्रोजन बम, कल की दुनियाँ, यूरोप के दो सिपाही, गंगा की आधुनिक कहानी, तथा गांधी हत्याकाण्ड नामक पुस्तकें भी लिखी थीं।

चंद्रकांत वांडिवडेकर की हिंदी सेवा: चंद्रकांत वांडिवडेकर ने बीसवीं शताब्दी के सत्तर के दशक में मराठी से हिंदी और हिंदी से मराठी में अनुवाद शुरू किया था। तब तक उनकी ख्याति हिंदी व मराठी दोनों भाषाओं के लेखक के रूप में हो चुकी थी। हिंदी में उनके मौलिक ग्रंथों की संख्या एक दर्जन और मराठी में आधा दर्जन है। उनकी पुस्तक हिंदी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन 1969 में छपी। उनकी किताब मराठी साहित्य परिदृश्य 1997 में आई जिसमें संत ज्ञानेश्वर से लेकर 1980 तक के मराठी साहित्य के परिदृश्य पर प्रकाश डाला गया है। मराठी में 1983 में छपी उनकी पुस्तक प्रेमचंद्र: व्यक्ति आणि वांग्मय खासी चर्चित रही। वांडिवडेकर ने चि.त्र्य. खानोलकर के मराठी उपन्यास चानी, अ.ना.पेंडसे के मराठी उपन्यास आक्टोपस, रा.भा. पाटणकर की आलोचना पुस्तक सौंदर्य मीमांसा, रत्नाकर मतकरी के नाटक प्रेम कहानी, वृंदा करंदीकर के कविता संग्रह यह जनता अमर है का हिंदी में अनुवाद किया। हिंदी-मराठी में भाषा सेतु बंधन के लिए वांडिवडेकर को केंद्रीय हिंदी निदेशालय पुरस्कार, बिहार राष्ट्रभाषा पुरस्कार, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का पुरस्कार और कोलकाता की संस्था अपनी भाषा का शारदाचरण मित्र पुरस्कार मिल चुका है। 4 नवंबर 1932 को जन्मे चंद्रकांत वांडिवडेकर ने हिंदी और संस्कृत में एम. करने के बाद हिंदी में पीएच.डी. की और 34 वर्षों तक अध्यापन किया।

दामोदर खड़से की हिंदी सेवा: चार उपन्यास, पांच कहानी संग्रह, दो संस्मरणात्मक ग्रंथ, पांच कविता संग्रह, चार भाषा विषयक पुस्तकों के अलावा डॉ. दामोदर खड़से की पंद्रह पुस्तकें मराठी से अनूदित एवं प्रकाशित हुई हैं। उनमें कुछ प्रमुख हैं (अछूत), (दया पवार), (रामनगरी), (राम नगरकर), (कालचक्र), (जयवंत दलवी), (पराया), (लक्ष्मण माने), (ऐसे लोग ऐसी बातें), (शवाजी सावंत), (संघर्ष), (शिवाजी संवाद), (भूले-बिसरे दिन), (अरुण खोरे), (शुभ वर्तमान), (भारत सासणे), (झुंड), (शरण कुमार लिंबाले), (बारोमास), (सदानंद देशमुख), (अपने ही होने पर), (विंदा करंदीकर), (मन सर्जन), (अनिल गांधी), (अबोली प्रवास), (सुनील दत्त चौधरी)। मराठी हिंदी अनुवाद के लिए खड़सेजी को 2015 का साहित्य अकादेमी का अनुवाद पुरस्कार सहित कई अन्य पुरस्कार मिल चुके हैं। उनके कथा संग्रह हैं- (भटकते कोलंबस), (पार्टनर), (आखिर वह एक नदी थी), (जन्मांतर गाथा), (इस जंगल में)। उनके प्रकाशित उपन्यास हैं- (काला सूरज), (भगदड़), (खंडित सूर्य), (कोलाहल)। उनके कविता संग्रह हैं- (अब वहां घोंसले हैं), (जीना चाहता है मेरा समय), (सन्नाटे में रोशनी), (तुम लिखो कविता)।

मनोहर खाडिलकर की हिंदी सेवा: 'आज' के पूर्व प्रधान संपादक रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर के पुत्र मनोहर खाडिलकर का जन्म 13 दिसंबर 1937 को हुआ। मनोहर खाडिलकर ने 1954 में वाराणसी से हाई स्कूल किया। मूलतः मराठीभाषी मनोहर खाडिलकर ने 1957 में वाराणसी से हिंदी दैनिक 'आज' में खेल संवाददाता के रूप में कैरियर शुरू किया और 1967 से आकशवाणी में खेल कमेंटेटर के रूप में जुड़े। मनोहर खाडिलकर 1958 में 'आज' में शहर संवाददाता के रूप में नियुक्त हुए और आम चुनावों की रिपोर्टिंग की। उन्होंने 1960 से 1967 तक महामना मदन मोहन मालवीय के अखबार 'द लीडर' में खेल संवाददाता के रूप में कार्य किया। उन्होंने अंग्रेजी दैनिक 'द टाइम्स ऑफ इंडिया' में वाराणसी संवाददाता के रूप में भी काम किया। वे 1959 से 1968 तक अंग्रेजी दैनिक 'इंडियन एक्सप्रेस' के वाराणसी संवाददाता रहे। वे 1964 से 1978 तक वाराणसी में अंग्रेजी

दैनिक 'पैट्रियॉट' के संवाददाता रहे। उन्होंने 1960 से 1971 तक इंटरनेशनल फीचर एंड न्यूज एजेंसी 'नाफेन' में काम किया। मनोहर खाडिलकर 1966 से 70 तक राष्ट्रीय न्यूज एजेंसी यू. एन. आई. से जुड़े रहे। वे 1969 से 1974 तक 'भारत' और 'लीडर' के वाराणसी ब्यूरो प्रमुख रहे। वे 1978 में इलाहाबाद से प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक 'नार्दन इंडिया पत्रिका' में वरिष्ठ संवाददाता बने और 1998 में सेवानिवृत्ति तक उसके ब्यूरो प्रमुख रहे। वे 1953 से 1962 तक बाल गंगाधर तिलक के मराठी अखबार 'केसरी' में नियमित रूप से उत्तर प्रदेश की चिट्ठी लिखते रहे। उन्होंने देश की नामी वेबसाइट रेडिफ.कॉम और वेब 18 में भी काम किया। वे आकाशवाणी में नियमित खेल कमेंटेटर रहे और इस दौरान क्रिकेट, हाकी, फुटबाल और अन्य खेलों की लाइव कमेंट्री के साथ उनका विश्लेषण भी करते रहे। मनोहर खाडिलकर 1957 में भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ से जुड़े और 1982 से 1984 तक उसके सचिव रहे।

राजेंद्र धोड़पकर की हिंदी सेवा: मूलतः मराठीभाषी राजेंद्र धोड़पकर का जन्म 11 अगस्त 1956 को हुआ। उनकी शिक्षा भोपाल में हुई। वे 1995 तक 'जनसत्ता' में कार्टूनिस्ट और सहायक संपादक रहे। बीच में दो साल 'द इन्डियन एक्सप्रेस' में भी कार्टूनिस्ट रहे। कुछ वक्त तक टीवी टुडे से जुड़े रहे। फिर 'जनसत्ता' में वापसी हुई। राजेंद्र धोड़पकर 2002 से 2016 तक 'हिंदुस्तान' में रहे। उसके बाद से स्वतंत्र पत्रकारिता कर रहे हैं। राजेंद्र धोड़पकर का एक कविता संग्रह और दो नाटक प्रकाशित हैं। कुछ लघु फिल्मों में लेखन और सहायक निर्देशक का काम भी उन्होंने किया। राजेंद्र धोड़पकर ने कार्टून पत्रकारिता की शुरुआत 'दिनमान' से की। उनके आरंभिक कार्टून 'दिनमान' में छपे। उसके बाद वे 'जनसत्ता' में गए। कार्टून पत्रकारिता पर केंद्रित होने के पहले राजेंद्र धोड़पकर कविता-कहानी लिखते थे, पेंटिंग करते थे। कार्टून पत्रकारिता ने उन्हें ऐसा माध्यम मुहैया कराया जिसके जरिए वे अपनी क्रिएटिव बातें भी कह जाते और उसके लिए 'कॉमर्शियल' समझौते भी न करना पड़ता। संयोग से उन्हें अच्छी जगह काम मिलता गया और वे बढ़ते गए। जब तक वह कार्टून नहीं बन जाता, वे उधेड़बुन में ही लगे रहते थे। अखबार में और भी काम करने पड़ते थे। संपादकीय नोट लिखना पड़ता था। वह लिखने के बाद तक अगर कार्टून नहीं बनाए तो घंटी बजनी शुरू हो जाती थी! 6:30 की डेटलाइन तक भी अगर कोई कार्टून दिमाग में नहीं आता था, तो कैसे भी कोई आइडिया फाइनल करना पड़ता था, और कई बार तो 10-15 मिनट में ही वह बनाकर देना भी होता था। राजेंद्र धोड़पकर को हर मूड में हँसाने वाले कार्टून ही बनाने पड़ते थे। कार्टूनिस्ट को अखबार में एक सीमित और निश्चित स्पेस मिलता है। उसे घटा-बढ़ा नहीं सकते हैं। सब कुछ उसी स्पेस में कह कहना होता है। एक कार्टूनिस्ट को हर रोज एक अलग आइडिया से पाठकों को गुदगुदाना होता है। इसलिए इससे अधिक की चिंता कार्टूनिस्ट को नहीं करनी चाहिए। जैसे राजेंद्र माथुर कहते थे कि माचिस की तीली अगर पानी में गिरी तो बुझ जाएगी और अगर सूखी घास पर गिरी तो आग में तब्दील भी हो सकती है। तो इसे भी पत्रकारिता के दायरे में देखना चाहिए। एक कार्टूनिस्ट पर सबसे कम प्रतिबंध होते हैं। अखबार में सबसे कम दबाव एक कार्टूनिस्ट पर लागू होता है इसलिए राजनीतिक रूप से सबसे लोकतांत्रिक मंच भी वही तैयार करता है। एक कार्टूनिस्ट को व्यापक सामाजिक हित का सर्वाधिक ध्यान रखना पड़ता है। दूसरा यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि वह एक सार्वजनिक मंच पर है, इसलिए ऐसा न हो कि उसका वर्ल्ड व्यू हावी हो जाए। उस मंच की

सार्वजनिकता का राजेंद्र धोड़पकर ख्याल रखते रहे हैं। वे वामपंथी हैं किंतु ऐसा नहीं कि इस विचारधारा की आलोचना ही न करते हों। अखबार में रहकर उन्हें सतत विपक्ष की भूमिका निभानी पड़ती रही है। कार्टूनिस्ट का विकास संपादक पर भी बहुत निर्भर करता है। प्रभाषजी राजेंद्र धोड़पकर को पूरी आजादी देते थे लेकिन ऐसे सुझाव देते थे कि इस शब्द को यहां ले आओ तो ज्यादा मजा आ जाएगा। शब्दों का समुचित इस्तेमाल करना प्रभाषजी ने उन्हें सिखाया। अरुण शौरी के साथ भी राजेंद्र धोड़पकर को बहुत सीखने को मिला। उन्हें पता होता था कि उनको क्या चाहिए। उनकी राजनीति से भले ही असहमति हो लेकिन वे पत्रकार के तौर पर काफी कुछ सिखा सकते थे। उनसे राजेंद्र धोड़पकर ने यह सीखा कि आपको कार्टून से जो असर चाहिए ठीक वही असर कैसे पैदा किया जाए। प्रभाषजी ने तो कभी राजेंद्रजी के काम में दखल नहीं दिया। अरुण शौरी खुलकर बताते थे कि उन्हें क्या चाहिए। वह राजेंद्र का लर्निंग पीरियड था और उससे उन्हें मदद ही मिली। शौरी जी ने उनके कार्टूनों का काफी अच्छा इस्तेमाल किया। 1989 में कांग्रेस ने चुनावी कैंपेन में करोड़ों रुपये लुटाए। एक्सप्रेस के पास भी विज्ञापन आते थे, तो वे उसी विज्ञापन के चित्र को थोड़ा हेर-फेर करके अगले दिन पहले पन्ने पर छापते थे। इसकी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चर्चा हुई कि कैसे कार्टून के जरिए विज्ञापन मुहिम को ध्वस्त किया जा सकता है। एक्सप्रेस समूह ने उस वक्त राजीव गांधी को सत्ता से उखाड़ फेंकने का मन बना लिया था। राजेंद्र धोड़पकर के कार्टून्स तब एक्टिविस्ट की भूमिका निभा रहे थे।

जगदीश उपासने की हिंदी सेवा: पैंतालीस वर्षों की हिंदी पत्रकारिता की सफल पारी खेलने के बाद जगदीश उपासने ने 24 मार्च 2018 को माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल के कुलपति के रूप में नई पारी शुरू की। उनके पास पत्रकारिता का दीर्घ अनुभव है और हिंदी पत्रकारिता जगत में उनकी राष्ट्रीय साख है। जगदीश उपासने माखन लाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय के नोएडा कैंपस के प्रभारी भी रह चुके हैं।

हिंदीसेवी जगदीश उपासने मूलतः मराठीभाषी हैं। उनका जन्म विदर्भ के अमरावती में हुआ। उनकी शुरुआती पढ़ाई-लिखाई, मीडिल तक, मराठी माध्यम से हुई। उनके घर में मराठी बोली जाती थी। आज भी बोली जाती है। किशोरवय तक हिंदी से उनका दूर-दूर तक का भी नाता नहीं था। फिर लिप्टन टी कंपनी में कार्यरत उनके पिता दत्तात्रेय उपासने का तबादला मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ इलाके में दुर्ग जिले के बालोद में हुआ और हिंदी माध्यम के स्कूल में जगदीश उपासने का दाखिला करवा दिया गया। शुरू में उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। जगदीश उपासने आरंभ में अपने शिक्षक को क्लास में 'तुम' संबोधित करते थे क्योंकि मराठी में अपने से बड़ों के लिए आदरसूचक संबोधन 'तुम' ही है! पुस्तकें पढ़ने की जबरदस्त आदत ने उन्हें उस विचित्र स्थिति से जल्द ही उबार लिया। प्राइमरी के समय से ही उन्हें पुस्तकें पढ़ने का खूब शौक था। छपा हुआ शब्द उन्हें बरबस ही खींच लेता। बचपन महाराष्ट्र में बीतने के कारण वाचन पहले मराठी पुस्तकों का ही कर पाते थे। उन दिनों अनगिनत मराठी पत्रिकाओं के बहुत शानदार और नामी साहित्यकारों के लेखन से लदे-फदे मोटे-मोटे दीवाली विशेषांक भी निकला करते थे। उन सबको वे मंगाकर या लाइब्रेरी में बैठकर पढ़ा करते थे। कोई खास पसंद नहीं थी। हर तरह की अच्छी-बुरी पुस्तक वे पढ़ लेते थे। वे अमरावती में अपने मामा के घर रहकर पढ़े। मामा पढ़ाई, होमवर्क, परीक्षा वगैरह को लेकर बड़े सख्त थे। उन्हें जरा भी नहीं

भाता था कि उनके घर का कोई सदस्य, खासकर जगदीश उपासने की आयु का स्कूली बच्चा ऐसी 'फालतू' पुस्तकें पढ़े। सो वे मामा के डर से स्ट्रीट लैंप के नीचे बैठकर पुस्तक पढ़ते या पाठ्य पुस्तक-कॉपी की आड़ में रखकर पढ़ लिया करते थे। मध्य प्रदेश में मराठी पुस्तकें मिलना कठिन था। मराठी मासिक पत्रिकाएं भी नहीं पहुंच पाती थीं। सो कस्बे की नगरपालिका की लाइब्रेरी से हिंदी पुस्तकें लेकर उन्होंने पढ़ना शुरू किया। उसी पुस्तकालय में सबसे पहले शरतचंद्र का अनूदित और फिर प्रेमचंद का कोई उपन्यास पढ़ने का मौका मिला और हिंदी की दुनिया उनके सामने खुल गई। तब सचमुच में पिछड़े छत्तीसगढ़ के उस कस्बे-बालोद में 11वीं तक उन्होंने हिंदी साहित्य की हर विधा की वहां जितनी उपलब्ध थीं, सारी पुस्तकें पढ़ लीं। 'धर्मयुग'-दिनमान', 'सारिका' भी उस पुस्तकालय में आती थीं। उन हिंदी पत्रिकाओं से रू-ब-रू होकर जगदीश उपासने और समृद्ध हुए। कॉलेज की पढ़ाई के लिए रायपुर आने पर वहां के समृद्ध शासकीय महंत सर्वेश्वर दास ग्रंथालय का वे सदस्य बने तो वृंदावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन से लेकर अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, रांगेय राघव, राहुल सांस्कृत्यायन तक उस जमाने के और उससे भी पहले के लगभग सभी हिंदी साहित्यकारों का लिखा हुआ पढ़ने और जानने-समझने का मौका उन्हें मिला। कविता, कहानी, उपन्यास, यात्रा वृत्तांत, निबंध-कुछ भी नहीं छूटा। हिंदी पत्रिकाओं का विश्व उन दिनों बहुत समृद्ध था, इसलिए उन दिनों की लगभग सारी साहित्यिक पत्रिकाओं और समाचार पत्रिकाओं से कॉलेज के पहले-दूसरे साल में ही जगदीश उपासने का समीपी परिचय हो गया। शायद उससे ही उनमें न्यूज सेंस पनपा। कॉलेज, विश्वविद्यालय की भाषण टीम में होने से संबंधित विषय पर विशेष अध्ययन करना होता था, सो विषयों की ठीक-ठाक जानकारी भी होने लगी। जगदीश उपासने की भाषा दुरुस्त और चाक-चौबंद हुई प्रेमचंद को पढ़कर। उनकी सरल, सुगम और मुहावरों-लोकोक्तियों से सजी तब की बोलचाल की स्वाभाविक भाषा ने उनके दिल-दिमाग पर आधिपत्य ही जमा लिया।

जगदीश उपासने को रायपुर में 1973 में पत्रकारिता की अपनी पहली नौकरी के दौरान दैनिक 'युगधर्म' में उप-संपादकी-रिपोर्टिंग करते हुए अपने वरिष्ठ जनों से भाषा ज्ञान को और बढ़ाने का अवसर मिला। रायपुर में जगदीश उपासने को दिगंबर सिंह ठाकुर (अब दिवंगत) जैसे सीनियर मिले जिन्होंने पहली बार उनसे एक कॉपी तीस बार लिखवाई थी। उन दिनों सीनियर बहुत कुछ जानते थे और जगदीश उपासने जैसे जूनियरों से अपना सब कुछ हँसी-खुशी शेयर भी करते थे! 'युगधर्म' ने उन्हें एक मंजा हुआ कापी एडिटर बनाने में मदद की। उसी समय आपातकाल का दौर आ गया। आपातकाल के दौरान जिन पत्रकारों को जेल हुई, उनमें जगदीश उपासने भी थे। जगदीश उपासने मीसा बंदी के रूप में 16 महीने जेल में रहे। जेल से उन्होंने इमरजेंसी का समर्थन करनेवाले विनोबा भावे तथा संजय गांधी को पत्र लिखा और मजे की बात यह कि दोनों ने जवाब भी दिए थे। जगदीश उपासने ने समाचार एजेंसी हिंदुस्तान समाचार में भी पत्रकारिता की। 1983 में 'जनसत्ता' शुरू हुआ तो उसके शुरुआती टीम का सदस्य बनकर वे दिल्ली आए जहां बोलचाल की भाषा के उस दौर के सबसे बड़े पुरोधा प्रभाष जोशी और बनवारी की अगुआई में काम करने का अवसर मिला। अनुपम मिश्र की सोहबत से पहले से अर्जित भाषा ज्ञान और परवान चढ़ा। 'जनसत्ता' की वर्तनी एक नायाब प्रयोग थी जो सबके सुझाव पर बनी थी। उन दिनों जगदीश उपासने व उनके साथियों ने न जाने कितने शब्द गढ़े, कितने अपनी भाषाओं, बोलियों से उठाकर चलाए। इससे हर किसी को 'जनसत्ता'

की शब्दावली का अनुकरण करने को मजबूर होना पड़ा। प्रभाषजी तो उम्दा शीर्षक लगाने के मामले में मास्टर थे और उनकी लिखी कॉपी का कॉमा भी नहीं काटा जा सकता था। जगदीश उपासने को भी कैची शीर्षक तुरंत सूझ जाते रहे हैं, और कॉपी-लेखन में कल्पनाशीलता अपने-आप आती रही है। कदाचित इसीलिए जगदीश उपासने को प्रभाष जोशी का कुछ अधिक स्नेह मिल सका। प्रभाष जी इस बात से प्रसन्न थे कि 'जनसत्ता' की वह परंपरा जगदीश उपासने ने 'इंडिया टुडे' (हिंदी) में जाकर भी कायम रखी। हालांकि उन्होंने जगदीश उपासने को हिंदी में 'इंडिया टुडे' पत्रिका शुरू करने के लिए 'जनसत्ता' से इस्तीफा देकर जाने से कुछ महीने तो रोक ही रखा था। 'जनसत्ता' छोड़कर जगदीश उपासने सितंबर 1986 में 'इंडिया टुडे' में चले गए। वहां दिसंबर 2011 तक उन्होंने कार्यकारी संपादक के रूप में काम किया। 'इंडिया टुडे' के बाद जगदीश उपासने ने 'पांचजन्य' और 'आर्गनाइजर' के समूह संपादक के रूप में उन पत्रों का कलेवर बदला और उनका डिजिटलीकरण किया।

जगदीश उपासने ने राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं का ही संपादन नहीं किया, बल्कि कई महत्वपूर्ण किताबों का संपादन भी किया। उनकी एक संपादित किताब 'एक सोच धर्म की' 2015 में आई थी। वह किताब जे.एस. ठाकुर और जी.डी. सिंह की अंग्रेजी में लिखी दी 'आइडिया ऑफ वन रिलिजन' का हिंदी अनुवाद है। रामकृष्ण मिशन के सचिव स्वामी शांतानंद ने लिखा है कि यह पुस्तक स्वामी विवेकानंद के सार्वभौमिक धर्म के संबंध में विभिन्न विचारों को एक सूत्र में पिरोने का बेहतरीन प्रयास है। पुस्तक में 12 अध्याय हैं। किताब ईश्वर, धर्म और आस्था को समझने की कुंजी देती है। धर्मों की सर्वव्यापक प्रकृति और भारत के प्राचीन धर्म दर्शन को समझने में भी यह पुस्तक सहायक है। यह किताब स्वामी विवेकानंद के उस विचार को पूरे बल के साथ रेखांकित करती है कि सभी धर्मों का मूल तत्व एक है। वह है, ईश्वर को जानना और उससे तदाकार हो जाना। किताब के प्राक्कथन में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने लिखा है, यह पुस्तक विश्व के विभिन्न धर्मों के मुख्य पहलुओं का सुस्पष्ट वर्णन और विश्लेषण करती है। धर्मों की सर्वव्यापक प्रकृति अध्याय में बताया गया है कि स्वामी विवेकानंद चाहते थे कि लोग उनके साथ सर्वस्वीकार्य धर्म का स्वप्न देखें। ऐसा जब तक नहीं होता, तब तक सभी धर्मों का आदर आवश्यक है। तभी सर्वस्वीकार्य धर्म का रास्ता खुल सकेगा। पुस्तक में कहा गया है कि हमें महान सत्य साधक स्वामी विवेकानंद के उदाहरण से सीखना चाहिए। सबसे पहले हमें विभिन्न धर्मों का अध्ययन करना चाहिए। रामकृष्ण परमहंस की जीवनी से पुस्तक का समापन किया गया है। रामकृष्ण परमहंस ने बताया था कि धर्म के चाहे अलग-अलग मार्ग हों, मंजिल सबकी एक है। सारे धर्म ईश्वर से जाकर मिल जाते हैं। रामकृष्ण परमहंस ने इस्लाम, ईसाइयत और सांख्य के मार्ग से ईश्वर को खोजा तो भक्ति के मार्ग से भी खोजा। उन्होंने सब तरफ से प्रयोग कर देखा और पाया कि सभी रास्ते ईश्वर के पास पहुंचते हैं। यह पुस्तक सभी धर्मों की बुनियादी एकता पर जाकर ठहरती है इसलिए इसका महत्व बहुत अधिक है। जगदीश उपासने संघ से जुड़े रहे हैं किंतु उनकी पत्रकारिता पर इसका कोई प्रभाव कभी नहीं पड़ा। वे दूसरी विचारधारा वाले गुणी लोगों के प्रति भी खास आदर रखते हैं। 'एक सोच धर्म की' पुस्तक के अलावा जगदीश उपासने ने दस खंडों में प्रकाशित सावरकर समग्र का भी संपादन किया है। जगदीश उपासने के लिए संपादन करना भी उसी तरह का सर्जनात्मक कर्म रहा है जैसे कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास लिखना।

अजित वडनेरकर की हिंदी को देन: दस जनवरी 1962 को जन्मे अजित वडनेरकर मूलतः मराठीभाषी हैं किंतु हिंदी की सेवा वे चार दशकों से कर रहे हैं। उन्होंने दस वर्षों तक 'नवभारत टाइम्स' में पत्रकारिता की। बारह वर्षों तक उन्होंने 'दैनिक भास्कर' में काम किया। भास्कर समूह के मराठी अखबार 'दिव्य भास्कर' से भी वे जुड़े रहे। वे 'अमर उजाला' से भी संबद्ध रहे। आठ साल टीवी मीडिया में रहे। आज तक, जी न्यूज, स्टार न्यूज से जुड़े रहे। हिंदी उपन्यास, कहानी और आलोचना उनकी विधाएं हैं। शानी के साहित्य पर उन्होंने शोध किया है। लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर उनकी प्रसिद्धि हुई शब्द व्युत्पत्ति विवेचना के कारण। शब्दों की उत्पत्ति की विवेचना करते हुए भास्कर में वे साप्ताहिक स्तंभ लिखते थे 'शब्दों का सफर' लेकिन अखबार की सीमा होती है अतः अजित वडनेरकर ने 2006 में 'शब्दों का सफर' नाम से अपना ब्लॉग बनाया और उसमें मूलतः शब्दों की व्युत्पत्ति और विवेचना पर ही लिखने लगे। जल्द ही उसकी लोकप्रियता बढ़ती गई। ब्लॉग के पाठकों का यह आग्रह बढ़ने लगा कि यह किताब के रूप में आए। हिंदी के कुछ अच्छे प्रकाशकों ने इस काम में दिलचस्पी ली और आखिरकार राजकमल प्रकाशन ने 2010 में इसका पहला खंड 'शब्दों का सफर' शीर्षक से ही प्रकाशित किया। किताब के कवर पर ही नामवर सिंह की टिप्पणी छपी 'आदमी की जन्मकुंडली बनाना तो सरल है शब्दों की जन्मकुंडली बनाना बड़ा कठिन है, कैसे पैदा हुए, कब पैदा हुए, यह जानना, खोजना बड़ा मुश्किल काम है। धुन के पक्के हैं वडनेरकर। मृणाल पांडे की टिप्पणी थी ब्लॉगजगत में भाषा के प्रेमियों के बीच अजित वडनेरकर का एक बहुत रसीला ब्लॉग 'शब्दों का सफर' असें से लोकप्रिय रहा है। अजितजी ने आम बोलचाल के शब्दों के रहस्य को खोलकर भाषा की जटिल और लंबी प्रक्रिया से भी पाठकों का परिचय कराया है। इसका पुस्तकाकार प्रकाशन देखना सुखद है।'

इस पुस्तक के दूसरे खंड की पांडुलिपि को राजकमल प्रकाशन की ओर से एक लाख रुपए का कृति पांडुलिपि पुरस्कार और विद्यानिवास मिश्र सम्मान प्राप्त हुआ। 'शब्दों का सफर' के दस खंड निकालने की अजित वडनेरकर की योजना है। एक-एक शब्द के बारे में उसके जन्म सूत्र का संधान बहुत कठिन है। जैसे फकीर एक शब्द है, कैसे पैदा हुआ, वडनेरकर ने लिखा है- फकीर में है फ उर्दू का। पे और फ से बनता है फाका। फिर है की से किनायत जिसका मतलब होता है संतोष फिर र है उर्दू का रे उसका मतलब होता है रियाजत, जिसका मतलब होता है समप्रण। इस तरह फे काफ और रे से बना हुआ, जो फाका करने वाला आदमी हो, जो संतोष करने वाला आदमी हो और जिसमें समप्रण का भाव हो, ऐसा आदमी होता है फकीर।

अजित वडनेरकर इस समय बोलचाल की हिंदी में प्रचलित 10 हजार शब्दों पर काम कर रहे हैं। हिंदी में अरबी, फारसी, पुर्तगाली, अंग्रेजी, तुर्की, सिंहली आदि भाषाओं के शब्द समाए हैं। इसके अलावा क्षेत्रीय बोलियों के हजारों शब्द भी हैं। इन शब्दों का मूल क्या है और विकासक्रम में इनमें क्या क्या बदलाव आए, यह जानना बेहद दिलचस्प होता है। शब्द यायावर की तरह होते हैं। एक भाषा से दूसरी भाषा में इनकी घुसपैठ सदियों से जारी है। भाषा को समृद्ध करने में इस यायावरी का बड़ा महत्व है। प्रसंगवश यायावर शब्द की उत्पत्ति के बारे में अजित वडनेरकर लिखते हैं, हिंदी का यायावर बड़ा खूबसूरत शब्द है। घुमक्कड़ के लिए सबसे प्रिय पर्यायवाची शब्द यही लगता रहा है मुझे। एक अन्य वैकल्पिक शब्द खानाबदोश है। मगर भाव के स्तर पर अकसर मैंने महसूस किया है कि खानाबदोश में जहा दर-दर भटकने का भाव होता है, वहीं यायावर में भटकने के साथ मनमौजी

वाला भाव भी शामिल है। यायावर की व्युत्पत्ति पर गौर करें तो भी यही बात सही साबित होती है। इस शब्द का संस्कृत में जो अर्थ है वह है परिव्राजक, साधु, संत, संन्यासी। उनके व्यक्तित्व में नदियों जैसा गुण होता है। उनमें जो सदैव बहने की, गमन करने की वृत्ति होती है वही साधु में भी होनी चाहिए। इसी भ्रमण वृत्ति के परिणामस्वरूप वे अनुभवजनित ज्ञान से समृद्ध होते हैं और तीर्थस्वरूप कहलाते हैं। अब मनमौजी हुए बिना भला भ्रमणवृत्ति भी आती है कहीं गौर करें कि नदी तट के पवित्र स्थानों को ही तीर्थ कहा जाता है। यायावर बना है संस्कृत की या धातु से। इसमें जाना प्रयाण करना, कूच करना, ओझल हो जाना, गुजर जाना का भाव नहीं शामिल है। भावार्थों पर गौर करेंगे तो आज ट्रांसपोर्ट के अर्थ में खूब प्रचलित यातायात शब्द की व्युत्पत्ति सहज में ही समझ में आ जाती है। या धातु से ही बना है यात्रा शब्द जिसका मतलब है गति, सेना का प्रयाण, आक्रमण, सफर, जुलूस, तीर्थयात्रा, देशाटन। इसी से संस्कृत में यात्रिकः बना और हिंदी में यात्री शब्द बना। घुमक्कड़ वृत्ति के चलते ही साधु से उसकी जात और ठिकाना न पूछे जाने की सलाह कहावतों में मिलती है। खास बात यह भी है कि यातायात और यायावर चाहे एक ही मूल से जन्मे हों मगर इनमें वैर भाव भी है। साधु संतों के जुलूस, अखाड़े और संगत जब भी रास्तों पर होते हैं तो यातायात का ठप होना तय समझिए। यायावर के लिए घुमक्कड़ एकदम सही पर्याय है। घुमक्कड़ वो जो घूमता फिरता रहे। यह बना है संस्कृत की मूल धातु घूर्णः जिसका अर्थ चक्कर लगाना, घूमना, फिरना, मुड़ना आदि है। घूमना, घुमाव, घुण्डी आदि शब्द इसी मूल से उपजे हैं। हिंदी, उर्दू के घुमक्कड़ और गर्दिश जैसे शब्द इसी से निकले हैं। आवारा से मिलकर मतलब निकला व्यर्थ घूमनेवाला। इसका अर्थ विस्तार बदचलन तक पहुंचता है जबकि घूर्णः से ही बने घुमक्कड़ के मायने होते हैं सैलानी, पर्यटक या घर से बाहर फिरने वाला।

इसी तरह विद्वान शब्द की उत्पत्ति पर विचार करते हुए अजित वडनेरकर कहते हैं, महाभारत के प्रसिद्ध पात्र पांडु के छोटे भाई और दासी पुत्र विदुर को मनीषी और बुद्धिमान के तौर पर दर्शाया गया है। विदुर नीति से भी बुद्धिमानीपूर्ण बात ही स्पष्ट होती है। यह शब्द बना है संस्कृत की विद् धातु से। संस्कृत के विद् का मतलब होता है जानना, समझना, सीखना और खोजना। महसूस करना, प्रदर्शन करना, दिखाना आदि भाव भी इसमें समाहित हैं। अत्यधिक ज्ञान भी घातक होता है, इसलिए संस्कृत में धूर्त और षड्यंत्रकारी को भी विदुर कहा गया है। विद्वान शब्द की उत्पत्ति इसी विद् से हुई है। विद्या में यही विद् समाया हुआ है जाहिर है, विद्यार्थी भी इसी कड़ी का शब्द है। किसी शब्द के साथ विद् लगा दिए जाने पर मतलब निकलता है जाननेवाला, मसलन भाषाविद् यानी भाषा का जानकार। इसी तरह जाननेवाले के अर्थ में उर्दू फारसी में दाँ लगाया जाता है जैसे कानूनदा। यह दा भी इसी विद् का रूप है। यह जानना दिलचस्प होगा कि अंग्रेजी के विजन शब्द के पीछे भी यही विद् है। विजन से ही बना है टेलीविजन। इसी तरह किसी अनोखी सूझ, विचार, तरकीब के अर्थ में हिंदी भाषा बड़ी सहजता से अंग्रेजी के आइडिया का इस्तेमाल करते हैं। आइडिया से आइडियल। ये तमाम शब्द प्राचीन भारोपीय भाषा परिवार से ही जन्मे हैं और भाषाशास्त्री इनके पीछे Weid जैसी किसी धातु की कल्पना करते हैं जिसका मतलब भी बुद्धिमानी, जानना और समझना ही है। संस्कृत विद् से इसकी समानता गौरतलब है। जाहिर है, संस्कृत इनकी जन्मदात्री नहीं मगर बहन तो अवश्य ही है। इसी विद् से केवल अंग्रेजी में ही करीब दो दर्जन से ज्यादा शब्दों की रिश्तेदारी है। अन्य

यूरोपीय भाषाओं में भी इसका योगदान है। इसी से बना है वेद। यही वेद अवेस्ता (फारसी का प्राचीनतम रूप) में वेद, प्राचीन स्लाव में वेडे, लैटिन में वीडियोया वीडेयर, अंग्रेजी में वाइड या वाइस, विज्ज और जर्मन में वेस्सेन के रूप में भी अपनी पहचान बनाए हुए हैं। ये तमाम शब्द इन भाषाओं में भी देखना, जानना, ज्ञान या परखना जैसे अर्थ बतलाते हैं। विद् ने ही ग्रीक में आइडेन का रूप ले लिया जिसका मतलब है देखना। वहाँ से यह अंग्रेजी के आइडिया, आइडियल जैसे अनेक शब्दों में ढल गया। शब्द व्युत्पत्ति और विवेचना का अजित वडनेरकर का काम सामान्य भाषा-प्रेमी के लिए है। इस विषय पर भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर किताबें लिखी जाती रही हैं जो सामान्य हिंदी प्रेमी के लिए दुरुह हैं। शब्द कोशों में व्युत्पत्ति के साथ विवेचना नहीं मिलती। अजित वडनेरकर के यहाँ शब्द की उत्पत्ति के साथ विवेचना भी मिलती है।

आलोक पराङ्कर की हिंदी सेवा: मूलतः मराठीभाषी आलोक पराङ्कर 'अमर उजाला', लखनऊ में वरिष्ठ संवाददाता हैं। आलोक की ख्याति कला समीक्षक के रूप में है। वे संगीत, कला एवं रंगमंच की त्रैमासिक पत्रिका 'कलास्रोत' के संपादक हैं। आलोक पराङ्कर को पत्रकारिता की वृत्ति विरासत में मिली। वे बाबूराव विष्णु पराङ्कर के पौत्र हैं। 1970 में जन्मे आलोक पराङ्कर की आरंभिक शिक्षा गोरखपुर और फिर वाराणसी में हुई। उन्होंने विज्ञान में स्नातक करने के साथ ही शास्त्रीय संगीत की भी तालीम ली। आलोक ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संगीत एवं मंच कला संकाय से शास्त्रीय गायन एवं तबला वादन में डिप्लोमा किया। युवावस्था में रंगमंच में भी उनकी रुचि थी। कालेज के बाद वाराणसी की प्रमुख नाट्य संस्था गोकुल आर्ट्स के साथ कई नाटकों में आलोक पराङ्कर ने अभिनय किया। दादा पं. बाबूराव विष्णु पराङ्कर के बारे में सुनते-पढ़ते हुए आलोक की पत्रकारिता में रुचि जगी। स्नातक प्रथम वर्ष के दौरान ही वाराणसी के दैनिक 'आज' से उन्होंने पत्रकारिता आरंभ की। करीब 26 वर्षों की पत्रकारिता यात्रा के दौरान आलोक पराङ्कर ने संस्थान बदले और शहर भी। वर्ष 2002 से लखनऊ में रह रहे हैं लेकिन भौगोलिक रूप से दूर होते हुए भी वाराणसी से उनका गहरा जुड़ाव आज भी बरकरार है। समाचार संकलन एवं संपादन के साथ साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता में वे विशेष दखल रखते हैं। वे संगीत, कला और रंगमंच पर चिंतनपरक लेखन करते रहे हैं। आलोक ने वाराणसी में लंबे समय तक 'आज' में और कुछ समय के लिए 'हिंदुस्तान' के वाराणसी ब्यूरो में पत्रकारिता की। लखनऊ में पहले 'दैनिक जागरण' और फिर 'हिंदुस्तान' में पत्रकारिता करने के बाद संप्रति 'अमर उजाला' में काम कर रहे हैं। आलोक पराङ्कर थोड़े समय के लिए 'जनसंदेश टाइम्स' और 'कल्पतरु एक्सप्रेस' से भी संबद्ध रहे। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलोक के लिए साक्षात्कार, समीक्षाएं, लेख एवं टिप्पणियां प्रकाशित हैं। उस्ताद बिस्मिल्लाह खान, गुदई महाराज, किशन महाराज, गिरिजा देवी, हरिप्रसाद चौरसिया, राजन-साजन मिश्र, अजय पोहनकर जैसे प्रसिद्ध कलाकारों का सानिध्य उन्हें मिला और उन पर लेखन भी आलोक ने किया। आलोक पराङ्कर ने प्रख्यात तबला वादक पं. किशन महाराज के 80 वें जन्मदिवस पर अभिनंदन ग्रंथ का संपादन किया। उन्होंने वाराणसी के रंगमंच पर काशी का रंगमंच ग्रंथ का संपादन भी किया। इसके अलावा वाराणसी के विविध पक्षों पर 'प्रेरणा-काशी अंक' का, अयोध्या शोध संस्थान की शोध पत्रिका 'साक्षी' का और कला, संगीत एवं रंगमंच की त्रैमासिक पत्रिका 'कलास्रोत' का संपादन उन्होंने किया। उनके द्वारा संपादित प्रसिद्ध रंगकर्मी राज बिसारिया पर विशेषांक विशेष तौर पर चर्चित रहा। आलोक

ने रामकथा-वैश्विक संदर्भ (वाणी प्रकाशन) का संपादन भी किया। उनके पत्र-पत्रिकाओं में छपे कला संबंधी आलेखों का संकलन कला-कलरव (नाट्य वसुधा प्रकाशन) द्वारा प्रकाशित हुआ। आलोक पराड़कर ने कविताएं भी लिखीं जो 'तद्भव' 'नया ज्ञानोदय', 'लमही' में प्रकाशित हुईं तथा हिंदी समय, प्रतिलिपि डॉट कॉम एवं अन्य वेबसाइटों में संकलित हुईं। राष्ट्रीय दूरदर्शन के लिए अपने दादा संपादकाचार्य बाबूराव विष्णु पराड़कर पर बने वृत्तचित्र क्रांतिकारी पत्रकार का शोध एवं आलेख उन्होंने तैयार किया। दूरदर्शन लखनऊ की नगर कथा शृंखला हेतु वाराणसी, बांदा, चित्रकूट नगरों पर आधारित कड़ियों का लेखन भी उन्होंने किया। यूनेस्को एवं संस्कृति मंत्रालय की अस्पृश्य सांस्कृतिक धरोहरों की संरक्षण योजना के अंतर्गत रामलीला पर कार्य हेतु शोधवृत्ति उन्हें मिली।

मनोज खाडिलकर की हिंदी सेवा: मूलतः मराठीभाषी मनोज खाडिलकर पिछले 25 वर्षों से पत्रकारिता में हैं। 1971 में जन्मे मनोज खाडिलकर ने 1996 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से पत्रकारिता में एम.ए. किया और हिंदी दैनिक 'अमर उजाला' से अपने पत्रकार कैरियर की शुरुआत की। उन्होंने 1996 से 2000 तक 'अमर उजाला' के लिए शहर की घटनाओं खासकर बीएचयू की सभी गतिविधियों, वहां के प्रमुख शोधों को कवर किया। उन्होंने 1996 के उत्तर प्रदेश चुनाव की कवरेज भी की। मनोज ने 'दैनिक जागरण' 'आज' और 'गांडीव' के लिए भी काम किया। मनोज खाडिलकर 2000 से 2004 तक समाचार एजेंसी 'यूनीवार्ता' (यूएनआई) में उप-संपादक सह संवाददाता रहे। 'यूनीवार्ता' के लिए उन्होंने गुजरात दंगों की रिपोर्टिंग की। वे 2004 से 2007 तक 'इंडिया टीवी' में विशेष संवाददाता रहे। जुलाई 2007 से 2011 तक वे 'लाइव इंडिया' के विशेष संवाददाता रहे। दिसंबर 2011 से अगस्त 2013 तक नेटवर्क 18 (आईबीएन 7) में रहे। उस दौरान उन्होंने सिनेमा के सौ वर्ष पर कार्यक्रम का निर्माण किया। अन्य समाचार बुलेटिनों तथा मनोरंजन कार्यक्रमों का सुपरविजन भी किया। मार्च 2014 से 2016 तक वे 'लाइव इंडिया' न्यूज चैनल के सहायक संपादक रहे। 2016 से मनोज खाडिलकर जागरण डॉट कॉम के मुंबई कार्यालय में समाचार संपादक (मनोरंजन) पद पर कार्यरत हैं।

आनंद देशमुख की हिंदी सेवा: आनंद देशमुख मूलतः मराठीभाषी हैं। उनके पूर्वज महाराष्ट्र से इंदौर आ गए थे। आनंद का बचपन इंदौर में ही बीता। आनंद पर मराठी संस्कार डालने के विशेष प्रयास हुए। मां चंदामामा के मराठी संस्करण 'चांदोबा' की कहानियां पढ़वार्ती। शाम होने पर भगवान के आगे दिया लगाकर देवताओं व दीपक की स्तुति में रचे गए कुछ श्लोक, गिनती, पहाड़े, नक्षत्रों के नाम, भारतीय महीनों के नाम, अंग्रेजी कैलेंडर के महीनों के नाम ऐसा बहुत कुछ दोहराना पड़ता, जिसे मराठी में 'परोचा' कहते हैं। किसी शाम यदि परोचा का नागा हो जाता तो वह बहुत बड़ा पाप हो जाता और उसका उल्लेख कर कई दिनों तक ताने मारे जाते। आनंद देशमुख का सौभाग्य रहा कि उनकी पत्नी राजश्री भी ऐसी ही मिलीं, जो उनसे सिर्फ मराठी में ही बात करती हैं। माता-पिता के मराठी सिखाने के प्रयास में आनंद देशमुख में पढ़ने में रुचि जगा दी और वे कित्ताबें खोज-खोजकर पढ़ने लगे। पढ़ने का इतना चस्का लग गया कि चंदामामा, सरिता, मुक्ता से लेकर वे सत्यकथा और मनोहर कहानियां ही नहीं, दयानंद सरस्वती की 'सत्यार्थ प्रकाश' तक पढ़ गए। दसवीं से कॉलेज के दिनों तक इस पढ़ने ने कुछ दिशा पकड़ी। तब इंदौर में लाइब्रेरियां बहुत थीं। 7वीं से 10वीं तक आनंद देशमुख अमरचित्र कथा बहुत पढ़ते थे। पता करते रहते थे किस लाइब्रेरी में नई अमरचित्र कथाएं

आई हैं और वहां पहुंच जाते थे। इससे उन्हें मनोरंजक शैली में इतिहास और पुराणों का परिचय मिला। नौवीं कक्षा तक प्रेमचंद की पंच परमेश्वर, ईदगाह, बूढ़ी काकी, परीक्षा जैसी कहानियां पढ़ीं और पता चला कि साहित्य क्या है। तब इंदौर के राजवाड़े पर होलकरों की एक पुरानी लाइब्रेरी थी, जिसे जनरल लाइब्रेरी कहा जाता था। वहां हिंदी, अंग्रेजी और मराठी की दर्जेदार पुस्तकों का अच्छा संग्रह था। अंग्रेजी के उपन्यास इश्यू कराकर पढ़ने लगे। टॉलस्टॉय, गोर्की, दोस्तोव्स्की के अंग्रेजी अनुवाद ही नहीं बहुत सारी अंग्रेजी किताबें पढ़ लीं। घर में पिता आते ही ट्रांजिस्टर पर बीबीसी हिंदी सेवा का प्रसारण लगा देते। रत्नाकर त्रिपाठी, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, इंद्रजीत बुधवार जैसे ख्यात उद्घोषकों की आवाज गूंजती। इस तरह बीबीसी हिंदी सुनते-सुनते आनंद देशमुख में पत्रकारिता के संस्कार पड़े। तब मध्य प्रदेश में नई दुनिया अखबार का वर्चस्व था। अखबारों में उनकी दिलचस्पी बढ़ गई। वे पूरा अखबार पढ़ जाते। संपादकीय पेज भी पढ़ते कुलदीप नैयर, इंद्रजीत गुजराल, निखिल चक्रवर्ती, कन्हैयालाल नंदन ऐसे कई स्तंभकार उनके प्रिय हो गए। विज्ञान में मन नहीं लगा तो आनंद ने अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र और अंग्रेजी साहित्य लेकर बी.ए. कर लिया। फिर अंग्रेजी और हिंदी में एम.ए. किया। पत्रकारिता का एक वर्ष का पाठ्यक्रम भी किया। पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद वे नवभारत में इंटरशिप के लिए गए। कुछ माह की इंटरशिप के बाद संपादक ने कहा कि चाहो तो यही नौकरी कर लो। चार सौ रुपए देंगे। यह 1989-90 की बात है। उसी समय इंदौर में एक नया अखबार निकला था चौथा संसार। ख्यात साहित्यकार प्रभाकर माचवे उसके प्रधान संपादक थे। वहां आनंद ने परीक्षा दी तो उनका चयन हो गया और उन्हें आठ सौ रुपए वेतन का प्रस्ताव दिया गया, जो नवभारत से दोगुना था अतः उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। आनंद 1995 में भास्कर में चले गए और 1999 तक वहां रहे। 2004 में वे दैनिक भास्कर में पुनः लौटे। तब से वहीं हैं। संप्रति वे दैनिक भास्कर के संपादकीय पृष्ठ के प्रभारी हैं।

मराठी-हिंदी सेतुबंधन की धारावाहिकता: मराठी के कई लेखक मराठी-हिंदी भाषा सेतु बंधन के काम को आगे बढ़ा रहे हैं। पद्माकर जोशी ने कमलेश्वर के उपन्यास कितने पाकिस्तान का मराठी में किती पाकिस्तान शीर्षक से अनुवाद किया है। उदय प्रकाश की वारेन हेस्टिंग्स का सांड का अनुवाद मराठी में जय प्रकाश ने किया है। श्रीनिवास कोचकर ने हरिनारायण आप्टे के उपन्यास कौन ध्यान देता है का अनुवाद किया तो रामचंद्र रघुनाथ सर्वटे ने मामा वरेरकर के उपन्यास पुतलीघर का। काशीनाथ जोशी ने गो.नी. दांडेकर की पुस्तक स्मरणगाथा का अनुवाद किया तो वसंत देव ने मंगेश पडगांवकर की पुस्तक सलाम का। सुरेखा पाणंदीकर ने जय विष्णु नार्लीकर की पुस्तक अंतरिक्ष में विस्फोट का अनुवाद किया तो ह. श्री.साने ने गंगाधर गाडगिल की पुस्तक बच्चों ने दबोचा चोर का। अरुण नार्लीकर, हेमचंद्र पहारे, अरुंधती देवस्थले, वसंत देव, मोरेश्वर गणेश तपस्वी, आनंद कुशवाहा, लेखा पिंपलापुरे, रमेशचंद्र शर्मा, गोपाल शर्मा, एआर रत्नापारखी विद्यालंकार, सदाशिव द्विवेदी, गजानंद चह्वाण, आनंद यादव, रामजी तिवारी, लीना मेंहदेले और लीना वांडिवडेकर जैसे अनुवादक भी हिंदी-मराठी सेतुबंधन में जुटे हैं।

अनंत गोपाल शेवड़े नागपुर के 'नागपुर टाइम्स' के संचालक थे। उन्होंने हिंदी को मातृभाषा से भी अधिक आदर दिया। वे हिंदी में ही लिखते थे। उनके कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और पुरस्कृत भी। कुछ उपन्यास अन्य भाषाओं में भी अनुदित हुए हैं। उनका 'ज्वालामुखी' उपन्यास बुक

ट्रस्ट द्वारा सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुदित हुआ। उपन्यासों के अतिरिक्त उनके कथा-संग्रह तथा व्यक्तिपरक निबंध भी प्रकाशित हुए हैं। उन्हें हिंदी-सेवी के नाते अखिल भारतीय गांधी पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। अनिल कुमार, भृंग तुपकरी, शंकर शेष, अनंत वामन वाकणकर, गोविन्द नरहरि बीजापुरकर, श्रीनिवास बालाजी हर्डिकर, गोविन्द हरि वर्डिकर, भालचन्द्र आपटे, मालोजीराव नार्हिसराव शितोले ने भी हिंदी की बहुत सेवा की है। प्रवीण तुरहाटे ने हिंदी सांध्य दैनिक नेशनल संदेश का संपादन किया। मराठी के विख्यात साहित्यकार सुरेश भट लोकमत समाचार में हिंदी में अमरावती शहर पर केंद्रित साप्ताहिक स्तंभ लिखते थे। ■

संदर्भ:

1. भट्ट, मोहनलाल. जोशी, जेठा लाल. दुबे, रामेश्वर दयाल. डांगरे पंढरी मुकुंद. जोशी, लक्ष्मण शास्त्री. मेहताब, हरेकृष्ण. चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार. शर्मा, विनयमोहन. चतुर्वेदी, सीताराम. गुप्त, सोमनाथ. जोशी कांतिलाला (संपादकमंडल) रजत जयंती ग्रंथ वर्धा: राष्ट्र भाषा प्रचार समिति 1962, पृष्ठ-8
2. वही, पृष्ठ-8, 3. 9,4. 9 5.10 6. 11 7. 11, 8. 13, 9. 14, 10. 19, 11. 19, 12. देउस्कर, सखाराम 'देशेर कथा' कोलकाता: पूर्वी क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र सव्यसाची भट्टाचार्य की भूमिका 2010, पृष्ठ-8
13. वही, पृष्ठ-8, 14. 9
15. व्यास, लक्ष्मीशंकर, 'पराङ्कर जी और पत्रकारिता' काशी: भारतीय ज्ञानपीठ 1960, पृष्ठ-245
16. 'विशाल भारत' अक्टूबर 1931, 17. वही
18. व्यास, लक्ष्मीशंकर, 'पराङ्कर जी और पत्रकारिता' काशी: भारतीय ज्ञानपीठ 1960, पृष्ठ-303, 19. 305, 20.181,21.185, 22.185-186, 23.186, 24.186,25.186-187, 26.187
27. सिंह, बच्चन व सिंह, डॉ. वशिष्ठ नारायण काशी के यशस्वी पत्रकार, वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन 2011, पृष्ठ-95, 28.96, 29.96।

नवजागरण के संदर्भ में मराठी साहित्य

सूर्यनारायण रणसुभे

19वीं सदी (सन् 1801-1899) में भारत में समाज सुधार के जो विभिन्न आंदोलन शुरू हुए, उसे हिंदी में 'नवजागरण', मराठी में 'प्रबोधन' और अंग्रेजी में 'एनलाइटमेंट' कहा जाता है। इन नवजागरण के मूल में अंग्रेजी के वैचारिक साहित्य से भारतीयों का वैचारिक संपर्क था। ईस्ट इंडिया कंपनी की शिक्षा नीति के कारण बंगाल के भद्र समाज तथा महाराष्ट्र के तत्कालीन सवर्ण-वर्ग के जो संवेदनशील युवक थे, उन्हें इस यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के कारण अपने धर्म तथा समाज की ओर देखने की एक नई दृष्टि मिली। उन्हें यह तीव्रता से महसूस होने लगा कि भारतीय धर्म तथा समाज संरचना में स्त्रियों तथा अछूत वर्ग की पूर्ण रूप से उपेक्षा हो गई है।

धर्म-समीक्षा तथा समाज-सुधार की प्रक्रिया यूरोप में 16वीं सदी से शुरू हो चुकी थी। 'आधुनिक पश्चिमी समाज की संरचना तीन वैचारिक-सांस्कृतिक आंदोलनों से हुई, ऐसा सामान्यतः माना जाता है : (1) 14वीं सदी का रेनेसान्स-ग्रीक विद्या तथा कला का यह पुनर्जन्म था। (2) 16वीं सदी के ल्यूथर तथा केव्हिलन द्वारा किए गए धर्म सुधार (रिफॉर्मेशन) तथा (3) 18वीं सदी का नवजागरण (एनलाइटमेंट)। ये तीनों भिन्न आंदोलन हैं।' उपनिवेशवाद के कारण इन आंदोलनों के संपर्क में भारत का बुद्धिजीवी वर्ग आया। उपर्युक्त दो शब्दों के लिए 'रेनेसान्स' और 'एनलाइटमेंट', हिंदी में 'नवजागरण' और मराठी में 'प्रबोधन' शब्द का प्रयोग होता है।

नवजागरण की इस विचारधारा में वैज्ञानिक दृष्टि को अत्यंत महत्व दिया जाता है। विज्ञान से प्राप्त ज्ञान के निकष के आधार पर मनुष्य की ओर देखा जाना चाहिए, इस पर यहां बल दिया जाता है। उदाहरणार्थ, विज्ञान ने यह साबित किया है कि बौद्धिक स्तर पर स्त्री-पुरुष में किसी भी प्रकार का अंतर नहीं है। इस निष्कर्ष के आधार पर धर्म ने स्त्री-पुरुषों में जो भेद किया है, उसका यहां विरोध किया जाता है। इसकी दूसरी विशेषता सामाजिक करार से संबंधित है। सामाजिक करार के अनुसार स्वतंत्रता पर व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है। इसी आधार पर उपनिवेशवादी देशों ने स्वतंत्रता की मांग की। जैसे, लोकमान्य तिलक ने कहा- 'स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और उसे मैं लेकर रहूंगा। नवजागरण की तीसरी विशेषता मनुष्य की विवेक बुद्धि के प्रति है। समाज, धर्म या राजनीति; जीवन के किसी भी क्षेत्र में, चाहे वह व्यक्तिगत हो या पारिवारिक या सामाजिक; निर्णय लेते समय विवेक ही केंद्र में हो, इस पर यहां बल दिया जाता है।

उपनिवेशवादी राजनीति के कारण भारत में आधुनिकता की (धर्मसमीक्षा, प्राकृतिक अधिकार

तथा विवेकसम्मत निर्णय) की शुरुआत होती है। इस विषय की एक अध्येता डॉ. अपर्णा देवरे ने अभी हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ मेकिंग ऑफ ए मॉडर्न हिंदू सेल्फ' में यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय बुद्धिजीवियों ने इस आधुनिकता के प्रति चार भिन्न रूपों में अपनी प्रतिक्रियाएं दीं। इन प्रतिक्रियाओं के आलोक में ही यहां चार प्रकार के आंदोलन शुरू हुए- (1) भारतीय समाज सुधार की प्रेरणा; उदाहरणार्थ, ब्रह्म समाज, आर्य समाज (2) ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह; उदाहरणार्थ, बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में सक्रिय अनेक क्रांतिकारी संगठन (4) कांग्रेस के माध्यम से सक्रिय राजनीतिक स्वतंत्रता का आंदोलन।² 19वीं सदी के नवजागरण में ये चार प्रकार के आंदोलन बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब, उ.प्र. में शुरू हो चुके थे। नवजागरण के संदर्भ में इस संक्षिप्त-सी वैचारिक पृष्ठभूमि के आधार पर अब इस तत्कालीन मराठी साहित्य का अवलोकन करना चाहेंगे।

नवजागरण के संदर्भ में समाज सुधार की जो पहली प्रतिक्रिया है, वह बंगाल और महाराष्ट्र में सर्वाधिक प्रखर रही है। जैसा कि मार्क्स ने कहा है कि सभी सुधारों की शुरुआत धर्म-समीक्षा से होती है, वह यहां पर भी लागू होता है। भारतीय समाज संरचना में जो विषमता है, उसके मूल में धर्म है। स्त्रियों के प्रति जो भेदभाव किया जाता था और आज भी किया जाता है, इसके मूल में भी धर्म है। इस कारण 19वीं सदी के नवजागरण में धर्म-समीक्षा की शुरुआत हो जाती है। धर्म की यह समीक्षा राजा राममोहन राय ब्रह्म समाज की स्थापना से करते हैं, तो महर्षि दयानंद 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखकर और आर्य समाज की स्थापना के द्वारा करते हैं। महात्मा ज्योतिबा फुले अपने लेखों और सत्यशोधक समाज द्वारा यही कार्य करते हैं। महात्मा फुले 19 वीं सदी के अकेले ऐसे व्यक्ति हैं, जो समाज सुधार के साथ ब्राह्मणी वर्चस्व के विरोध के लिए लिख रहे थे।

महात्मा ज्योति राव फुले के संपूर्ण साहित्य में नवजागरण के सभी घटकों की अभिव्यक्ति हुई है। सन् 1935 में उनकी पहली साहित्यिक कृति 'तृतीय रत्न' प्रकाशित हुई है। यह नाटक मराठी साहित्य में प्रकाशित पहला स्वतंत्र सामाजिक नाटक है।³ सन् 1869 में उनकी एक रचना पवाड़ा छंद में प्रकाशित होती है- 'पवाड़ा छत्रपति शिवाजी राजे भोंसले' शीर्षक से। यह शीर्षक भले ही छत्रपति शिवाजी महाराज से संबंधित हो, फिर भी उसका आंतरिक स्वर सामाजिक समता का ही है। सन् 1869 में 'ब्राह्मणाचे कसब' (ब्राह्मणी करतूतें) शीर्षक से उनकी पुस्तक प्रकाशित होती है। यह पुस्तक उन्होंने महाराष्ट्र की अछूत जातियों को समर्पित की है। इसमें अपना वर्चस्व स्थापित करने हेतु तथा बहुजनों के आर्थिक और मानवीय शोषण के लिए यहां के पुरोहितों ने परंपरा में किस प्रकार की व्यवस्था की है, बहुजनों को कैसे ठगा है, इसे वे प्रमाणित करते हैं। सन् 1873 में उनकी सर्वाधिक विस्फोटक पुस्तक 'गुलामगीरी' (गुलामी) प्रकाशित हुई। उनकी यह दूरदृष्टि थी कि उन्होंने इस पुस्तक को यूनाइटेड स्टेट (अमेरिका) के नीग्रो गुलामों को दासता से मुक्त करने के कार्य में उदारता, निरपेक्षता और परोपकार बुद्धि दिखाने वालों को समर्पित किया है। इसमें वे अनेक प्रमाण देकर यह साबित करते हैं कि भारत में स्त्रियों और शूद्रों को गुलाम बनाने के लिए शास्त्रग्रंथों और पुरोहितों ने किस प्रकार की भूमिका अदा की है। मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व उन्होंने अपना अंतिम ग्रंथ लिखा- 'सार्वजनिक सत्यधर्म।' इसमें उनकी व्यापक मानवतावादी भूमिका के दर्शन होते हैं।

जिस प्रकार राजा राममोहन राय के ग्रंथों ने तथा बाद में ब्रह्म समाजियों द्वारा लिखे गए नए

बंगाली सर्जनात्मक साहित्य से बंगाल में समाज सुधार के कार्यों को गति मिली, उसी प्रकार महाराष्ट्र में फुले की इस ग्रंथ रचना से यहां के समाज सुधार आंदोलन को गति मिली। यह सही है कि फुले की मृत्यु के बाद तत्कालीन सर्वर्ण समाज ने इन ग्रंथों में अभिव्यक्त विचारों की घोर उपेक्षा की, निंदा की। सन् 1960 तक ये ग्रंथ और फुले के विचार हाशिए में चले गए थे परंतु सन् 1960 के बाद यहां दलित-साहित्य का विस्फोट होता है। उसने फुले को फिर प्रासंगिक बना दिया। सन् 1960 के बाद फुले के इन ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद होने लगता है। हिंदी दलित साहित्य पर भी फुले के विचारों के प्रभाव को देखा जा सकता है।

नवजागरण काल के मराठी के दूसरे महत्वपूर्ण लेखक हैं गोपाल हरि देशमुख (1823-1892), जो 'लोकहितवादी' के नाम से लिखते थे। नवजागरण काल वास्तव में सर्वसामान्य लोगों के हित की बात कर रहा था, इसीलिए लोकहितवादी नाम से लिख रहे थे। मराठी साहित्य में उनके द्वारा लिखे गए 'शतपत्र' आज भी प्रासंगिक लगते हैं। उनकी कुल 36 पुस्तकें प्रकाशित हैं। ये पुस्तकें इतिहास, ऐतिहासिक चरित्र, धार्मिक, नैतिक, राज्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाज चिंतन-आदि प्रमुख विषयों पर लिखी गई हैं।

सन् 1840 से 1850 के बीच उन्होंने ये सौ पत्र लिखे हैं। इन पत्रों का उद्देश्य समाज सुधार ही रहा है। कर्मकांडों की निरर्थकता, पुनर्विवाह, विधवा विवाह, बाल विवाह विरोध, स्त्री-शिक्षा आदि विषयों पर ये पत्र हैं। लोकहितवादी मराठी और गुजराती दोनों भाषाओं में सहजता से लिखते थे। गुजरात में वे बारह वर्षों तक न्यायाधीश के रूप में कार्यरत थे। इन दोनों प्रदेशों में, इन दोनों भाषाओं में उन्होंने समाज सुधार से संबंधित विषयों पर ढेरों व्याख्यान दिए हैं। उनके भाषणों और लेखों से महाराष्ट्र और गुजरात इन दोनों प्रदेशों के समाज सुधार के आंदोलनों को प्रेरणा मिली, उनमें गति आई। गुजरात में उन्होंने बारह वर्ष वैचारिक उद्बोधन का कार्य किया है।⁴ उनके लेखन के महत्व को, उसमें स्थित समाज सुधार की छटपटाहट को डॉ. बाबासाहब अंबेडकर ने महसूस किया था। लोकहितवादी स्वयं तो ब्राह्मण थे, लेकिन सामाजिक सुधार के संबंध में वे फुले की तरह प्रखर मानवतावादी भूमिका अपनाते थे इसीलिए डॉ. बाबासाहब अंबेडकर को वे अपने विचारों को निकट लगते थे।

नवजागरण काल के तीसरे महत्वपूर्ण लेखक बाबा पदमनजी (1839-1906) हैं। उन्होंने धर्मपरिवर्तन कर ईसाई धर्म का स्वीकार किया था। सन् 1857 में इनका 'यमुना पर्यटन' उपन्यास प्रकाशित होता है। यह उपन्यास केवल मराठी का प्रथम उपन्यास नहीं है, अपितु भारतीय भाषाओं का पहला उपन्यास है। इस पश्चिमी विधा में भारत में पहली बार लिखने का श्रेय बाबा पदमनजी को चला जाता है। व्यक्ति तथा समाज के संदर्भ में अनेक समस्याएं होती हैं और इस संदर्भ में एक निश्चित भूमिका लेकर उपन्यासकार एक भाषिक कृति रचता है। उसके अनुरूप वह आशयसूत्र चुनता है। इस आशय सूत्र के अनुसार शैली-भाषा के माध्यम से विभिन्न तकनीकों के द्वारा रूप की प्रस्तुति होती है। 'यमुना पर्यटन' ऐसी ही एक कृति है। पदमनजी उस काल के बुद्धिजीवी तथा व्युत्पन्न व्यक्ति थे। विभिन्न सामाजिक विषयों पर लिखी उनकी साठ-सत्तर पुस्तकें उस काल में प्रकाशित हुई थीं।⁵ 'यमुना पर्यटन' इस मुख्य शीर्षक के नीचे उन्होंने उपशीर्षक दिया है, 'हिंदुस्तान की विधवाओं की स्थिति का निरूपण।' इस उपशीर्षक से इसकी कथावस्तु क्या है, यह स्पष्ट हो जाता

है। बाबा पदमनजी मराठी के पहले उपन्यासकार ही नहीं, पहले आत्मचरित्रकार, पहले कोशकार और पहले संपादक भी हैं।

विष्णु बालकृष्ण गोड़से (1827-1904) मराठी के पहले यात्रा-साहित्य के लेखक हैं। सन् 1857 के विद्रोह के समय वे झांसी में रानी लक्ष्मीबाई के यहां थे। इस 1857 के विद्रोह को उन्होंने स्वयं अनुभव किया। विद्रोह के उस पूरे प्रदेश में वे घूमते रहे थे। इसी अनुभव के आधार पर उन्होंने पुस्तक लिखी- 'मेरी यात्रा अर्थात् 1857 की हकीकत'। यह पुस्तक लिखी गई 1857 में, परंतु प्रकाशित हुई 1907 में, उनकी मृत्यु के उपरांत। तत्कालीन समाज जीवन का यथार्थ वर्णन इस पुस्तक में हुआ है।

इस क्रम में महाराष्ट्र के एक महत्वपूर्ण समाजसुधारक और लेखक आते हैं- गोपाल गणेश आगरकर (1856-1895)। विवेकनिष्ठ राष्ट्रवादी के रूप में उनकी पहचान है। नवजागरण के महत्वपूर्ण घटक विवेकनिष्ठा या विवेकदृष्टि के ये मूर्त रूप हैं। लोकमान्य तिलक द्वारा शुरू किए गए 'केसरी' दैनिक के वे पहले संपादक थे। तिलक से वैचारिक मतभेद होने के बाद आगरकर 'केसरी' से अलग हो पाए और उन्होंने अपना स्वतंत्र पत्र 'सुधारक' नाम से शुरू किया। 'सुधारक' पत्र के वे 1886 से 1895 तक संस्थापक संपादक थे। कठोर बुद्धिप्रामाण्यवादी, व्यक्तिस्वातंत्र्यवादी, समाजसुधार के प्रेमी, विचारवादी इनके व्यक्तित्व की विशेषताएं थीं। इनके सहयोगी तथा मित्र बाल गंगाधर तिलक या तिलक महाराज राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रतिपादन कर रहे थे और आगरकर समाज सुधार का। पहले समाज सुधार और बाद में राजनीतिक स्वतंत्रता, ऐसी इनकी मान्यता थी और तिलक पहले राजनीतिक स्वतंत्रता का आग्रह कर रहे थे। इस प्रश्न को लेकर ही इन दोनों मित्रों में मतभेद हुए। इस दृष्टि से आगरकर की परंपरा में महात्मा ज्योतिबा फुले, शाहू महाराज और डॉ. बाबासाहब अंबेडकर आते हैं। आगरकर ने समाज सुधार इस विषय पर आरंभ में 'केसरी' में लिखा और बाद में अपने पत्र सुधारक में। स्त्री-शिक्षा के वे जबरदस्त समर्थक थे। लड़कियों को शिक्षा दी जानी चाहिए और वह भी लड़कों के साथ, इस प्रकार उन्होंने लिखा। उस काल की दृष्टि से उनके ये विचार बहुत आगे की सोच रखते थे। पुणे में एक ओर आगरकर स्त्री-शिक्षा पर लिख रहे थे और उसी समय फुले पुणे में ही लड़कियों के लिए स्कूल खोल रहे थे।

नवजागरण काल (1801-1899) में मराठी में अनेक पत्र-पत्रिकाएं निकल रही थीं। विशेष रूप से सन् 1857 में मुंबई विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद समाज सुधार के कार्य में गति आ जाती है। नवजागरण से संबंधित जिन प्रमुख चार प्रतिक्रियाओं की चर्चा पहले की गई है, उनकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति इस काल के मराठी साहित्य की विशेषता रही है। यहां केवल उन्हीं लेखकों की तथा उनके साहित्य का संक्षिप्त-सा विवेचन दिया गया है जिनके लेखन में नवजागरण की अधिकांश विशेषताएं अभिव्यक्ति हुई हैं। इन लेखकों के विचारों का प्रभाव तत्कालीन मध्यवर्गीय मध्यवर्गीय जनमानस पर हुआ तथा उनके विचारों से प्रेरणा लेकर समाजसुधार के आंदोलन शुरू हुए, संस्थाएं शुरू हुईं। विधवा आश्रम खुले, शिक्षा संस्थाएं खुलीं, व्याख्यानमालाएं शुरू हुईं। इन सभी लेखकों में सर्वाधिक प्रासंगिक साबित हुए महात्मा फुले। उनका लेखन बहुजन समाज के लिए आज भी प्रासंगिक है। संभवतः भविष्य में भी प्रासंगिक रहेगा। जिन प्रश्नों को लेकर लोकहितवादी, आगरकर और फुले लिख रहे थे, उन प्रश्नों को स्वतंत्रता के बाद राजाश्रय भी प्राप्त हुआ। इन लेखकों

ने स्त्रियों तथा बहुजनों की शिक्षा के लिए जो आग्रह किया था, उसे डॉ. बाबासाहब अंबेडकर ने संविधान में जगह दी। उनके द्वारा सुझाए गए अधिकांश कार्यक्रमों को स्वतंत्रता के बाद अनेक राज्यों ने सरकारी तौर पर कार्यान्वित किया।

महाराष्ट्र के इन लेखकों की प्रतिबद्धता और वैचारिकता की तुलना अगर हम इस काल के हिंदी लेखकों से करें, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस काल के हिंदी लेखक नवजागरण के नाम पर हिंदू जागरण की बात कर रहे थे। महाराष्ट्र में स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह और बहुजनों की शिक्षा के नारे गूंज रहे थे, उसी समय हिंदी में गोरक्षा आंदोलन, उर्दू का विरोध और स्वधर्म की श्रेष्ठता के नारे गूंज रहे थे। डॉ. वीरभारत तलवार ने अपने 'रस्साकशी' शोध ग्रंथ में अनेक प्रमाणों द्वारा यह प्रमाणित किया है कि हिंदी पट्टी में नवजागरण के नाम पर हिंदू जागरण ही हो रहा था तो बंगाल और महाराष्ट्र में धर्म, जाति, वंश, वर्ण, लिंग के परे जाकर मानवतावाद का उद्घोष हो रहा था। मराठी के नवजागरण काल में लिखे गए मराठी साहित्य का अंतः स्वर विशुद्ध मानवतावादी ही है। ■

1. मराठी वाङ्मय कोश, समीक्षा संज्ञा, खंड-4, विजया राजाध्यक्ष (संपा), पृ.223
2. आधुनिक इतिहास-भा आणि हिंदुत्व, लोकसत्ता बुकमार्क, 26 मई, 2018, पृ.16
3. मराठी वाङ्मय कोश खंड-2 भाग-1 विजया राजाध्यक्ष (संपा), पृ.101
4. वही, पृ.79
5. टीका स्वयंवर, भालचंद्र नेमाडे, अनु. सूर्यनारायण रणसुभे, पृ.237

कविता

अँधेरे की राह नहीं अपनी

ना.धों. महानोर

अनुवाद : निशिकांत ठकार

यह अँधेरे की राह नहीं है अपनी
बाल-बच्चों के लिए तुम्हारे बिना यह दुनिया अनजानी
यह अँधेरे की राह नहीं है अपनी
राजा, राह नहीं है अपनी!
सूखा साल-दर-साल बहुत आता रहा
तारीख गवाह है सब कुछ बरबाद होता रहा
फिर भी हल को चला-चलाकर बलि का बेटा
वीरान जमीन पर जन्नत को पैदा करता रहा
आने दो कितने भी सूखों को, कर्ज है दुनिया का
नए औजारों-खोजों से रंग बदल देंगे खेती का
संसार को हम सुखी बना डालेंगे रे, राजा
आसमान बस, बरसने दे बरखा के नक्षत्रों का
काश्त और काश्तकारों के बलपर यह राज खड़ा है
गर उसमें हमारे हित की दीखती नहीं तस्वीर है
उलट देंगे इसे अरे एक पलभर की देरी में
भड़क उठेंगे शोले देहातों में, फिर खैर नहीं है
झटक दो मायूसी को दसो-दिशाओं को आवाज है सुनानी
यह अँधेरे की राह नहीं है अपनी
झटक दो मायूसी को दसो-दिशाओं को आवाज है सुनानी
यह अँधेरे की राह नहीं है अपनी! ■

आज तुम्हें क्या मिला ?

बसंत आबाजी डहाके

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

आज तुम्हें क्या मिला ?
बहुत सारे सितारे जिंदगानी के
कि
कैसे हम अनावृत्त हो जाते हैं
नाकाफी सिद्ध होते हैं
चित हो जाते हैं
क्या तुम्हारे हाथ लगे कुछ सतरे ?
मेरे लगा बाजार
अपनी मिल्कियत वाली चीजें
हील-हुज्जत करने वाले....
जिंदगानी नहीं ?
अपकर्ष मिला, अवनति मिली
बौनापन मिला
और जिंदगानी ?
मुझे ठगी मिली
छीना-छपटी, नोच-खसोट मिली
पर तुम्हें क्या मिला जिंदगानी से ?
मुझे अपना उल्लू सीधा करना मिला
और चुपचाप सजा भुगतना मिला
लगता है आज तुमने इस रास्ते पर
कुछ ज्यादा ही चहलकदमी की !
जी नहीं, किसी शहर के नहीं
दरअसल अपने ही भीतरी शहर के
रास्ते की खाक छानता रहा था । ■

और अब जब मैं पहुंच जाऊंगा

सतीश कालसेकर

अनुवाद : प्रफुल्ल शिलेदार

और अब जब मैं पहुंच जाऊंगा
तब
एक तुम्हारे पास जलता दीया छोड़कर
बस्ती के बाकी सभी दीए बुझ गए होंगे
तुम्हारी नजरें मेरी राह तकती
और चूल्हे पर रखा खाना भी हो चुका ठंडा
अब मैं भटक रहा हूं
इस शहर की जगमगाहट में
भरी बस्ती में
आँखों के सामने
अखबारों में छपे चित्र
लोग
सूनी आँखों से
देख रहे आसमान की ओर पांव खींचते
अकाल
लोग चेहरा ढक लेते चिल्लाते हुए
हादसा
लोग
कतारों से जिंदगी लांघ रहे हैं
बेरोजगार
और मैं गुनगुनाने लगता हूं
'... और भी दुःख है जमाने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा...'

कविता

यशवंत मनोहर

अनुवाद : प्रकाश भातंब्रेकर

कविता : चिंता की आँखों का अशक होती है;
रोटी के लिए खटनेवाले हाथों के छाले होती है कविता
कविता : चौराहे पर की लाल-हरी बत्ती होती है;
प्यासे अकुलाते नयनों की कशिश होती है कविता
कविता : अनाथ मासूमों का आक्रंदन होती है;
सूरज के महाकाव्य की लिपि होती है कविता
कविता : मूक घुंघरूओं की हुंकार होती है ;
ठूठ में उगी हरी-हरी कोंपल होती है कविता
कविता : अधीर मन में जल रहा अलाव होती है;
जंगल से खदेड़े गए आदिवासियों का हुजूम होती है कविता
कविता : बादलों के तसव्युर की बिजली होती है;
फूलों-फलों की रस-पोषक मूलाधार होती है कविता
कविता: अँधेरे को उलीचकर आती ऊषा-किरण होती है;
जमीं के सितारों का वटवृक्ष होती है कविता
कविता : इंतजार करते आरजुओं की लौ होती है;
कांटों पर बिछी जीवट पगडंडी होती है कविता
कविता : दो सांसों के बीच की दूरी का पैमाना होती है;
गांवों को लड़ी में पिरोने का रिश्ता होती है कविता
कविता : जी जान से संजोई अमूल्य निधि होती है;
मोर्चे पर तैनात जवान के परिवार की तलखी होती है कविता
कविता : मां के गले में रुंधे घने बादल होती है;
सागर, लहर, गर्जन...तो कभी लहरों का राजहंस होती है कविता
कविता : भोर के कंठ से किलकते पंछियों का कलरव होती है;
खेत की निराई करनेवाला हंसिया होती है कविता । ■

बैराग

चंद्रकांत पाटील

अनुवाद : निशिकांत ठकार

शब्दों को नहीं मिली सही जगहें
कविता की पंक्ति में
या फिर पंक्ति के ही छक्के छूट गए
शब्दों को खोजने-ढूंढने में?
जाने-अनजाने भाषा के जाल में
उलझता गया?
या टुकड़ा-टुकड़ा जिए जाते
भाषा की ही छीछालेदार हुई?
बाहर की ठंड में ओढ़ लिया भाषा को
गर्माहट पाने के लिए
या भीतर के झुलसने के बाद मिल गई
भाषा की नमी?
सरलता की जिद को पकड़ने से
भाषा बेशर्म हो गई सपाट बनकर
या भाषा की अमूर्त सूक्ष्मता से
अनुभव ही खो गया आकर्षक निष्कर्ष में
परछाई के सरकते बुझ गई
यादें और कविताएं
या दिमाग ने ही दिल से दुश्मनी मोल लेकर
ढकेल दिया बैराग में? ■

भुलावा

प्रभा गणोरकर

अनुवाद : सुनील देवधर

जीवन हमें घसीटते ले जाता है - यह गलत है
अकसर हम ही जीवन की अंगुली पकड़कर
उसे गलत जगह छोड़ आते हैं
उस-उस पल अपना वह-वह निर्णय ही एकदम
सही लगता है- बल्कि दूसरे दरवाजे दिखते ही नहीं
उस समय बिलकुल अपने आप सारे गहरे रंग शांत लगते हैं
और कँटीली झाड़ियाँ आकर्षक
उन सबने आपको भुलावा दिया होता है- यह गलत है
आपने ही हँसकर अपना हाथ बढ़ाया होता है। ■

अब

नामदेव ढसाल

अनुवाद : सुनील देवधर

सूर्य की ओर पीठ देकर उन्होंने सदियों का सफर तय किया
अब अँधेरे का यात्री बनने से इनकार करना ही होगा
यह अपना बाप अँधेरा ढोते-ढोते आखिर कब कुबड़ा हो गया
अब उसकी पीठ पर लदा बोझ उतारना ही होगा
इस वैभव नगरी के लिए अपना ही खून बहा
और अधिकार मिला पत्थर खाने का
अब आकाश चूमती इन हवेलियों में बारूद बिछानी ही होगी
सूर्य फूल हथेली पर रखने वाला फकीर हजारों साल बाद मिला
अब सूरजमुखी की तरह सूर्योन्मुख होना ही होगा। ■

नंदी बैल

नारायण कुलकर्णी कवठेकर
अनुवाद : दामोदर खड़से

अब इन नंदी बैलों में नहीं है शेष बैल का कोई गुणधर्म,
पीठ पर मिट्टी गिरते ही सिहरे, इतनी त्वचा भी नहीं रही संवेदनशील
अब इनके पीतल की कड़ियों से सजे सींगों में
बचा नहीं है शौक कीचड़ के लच्छों को तुर्र की तरह दिखाते फिरने का
और घंटियां बंधे गले भूल चुके हैं सामने अपने
गाय का यार दिखते ही ललकारना और
इन्हें याद भी नहीं बादलों की गड़गडाहट के प्रत्युत्तर में
नाग के फन की तरह पूंछ उठाकर मस्ती पर आना
गर्दन पर जुआं न रखने का आश्वासन और
आसानी से खलिहान में मुँह गड़ाने का प्रलोभन
इसलिए बैल हो गए हैं नर्मदिल अंड को कुचले बिना ही
अब किसी भी दरवाजे पर ये बेहिचक खड़े हो जाते हैं
स्त्रियों से हल्दी कुमकुम लगवा लेते हैं
झूल पर रखी झोली में अंजुरी भर गिरते ही खुश हो जाते हैं
और गुबु-गुबु की आवाज सुनकर जोश में गर्दन हिलाकर
मालिक की बरकत का भरोसा दिलाते हैं। ■

नए जनम में

अनुराधा पाटील

अनुवाद : प्रफुल्ल शिलेदार

हर ऋतुचक्र में
चींटियों के भी
उगते हैं पंख
इसीलिए हमारे दुःख
अबाधित है
तुम्हारे अर्थहीन शोरगुल में
लेकिन यदि तुम कहीं हो
तो हे ईश्वर
हमें अपनाओ
और हमसे मुंह फेर दो
सदा के लिए
आशीर्वाद के लिए
हाथ उठाते ही
उखाड़ कर फेंक दो
हमारे भीतर से उपजा हुआ
भ्रमित भोलापन
प्यास को निर्मल जल
मिलने पर
जीने की आसक्ति
निरंतर बढ़ती जाती है
इसलिए खुद ही
छोड़ दो
अंतहीन आकाश में
हमारे मन का
अकेला हरा तोता

जिसे पिंजरे में बंद कर रखा है
और विराट के
असीम किनारे पर
फूटने दो
हमारी नैया
तुम्हारे कुछ भी न होने के
नए जनम में। ■

औरत

मल्लिका अमरशेख

अनुवाद : प्रफुल्ल शिलेदार

में पेड़ थी, तब की यह बात है
जड़ें जमीन में गहराई तक धंसी हुई
हरी-भरी टहनियों पर पंछी चहचहाते
आकाश के बादल कंधे पर सिर रखकर हँसते थे
इतने से में कितने सारे जीव रहते थे
ऐसे में कभी पुल बनाना था तो उन्होंने काट दिया मुझे जड़ से
फिर मैं औरत बन गई
जल्दी-जल्दी झाड़ू लगाते खाना पकाते
गाड़ी पकड़कर बेटे को सम्हालते
मर्द को सहते
किसी दिन मार दिया उन्होंने मुझे
में फिर पानी बनी, फिर परबत बनी, फिर मिट्टी
बार-बार वे मुझे तोड़ते गए मारते गए नष्ट करते गए
में फिर से जन्म लेती रही
उन्हें आदत हो गई मुझे मारने की
और फिर से पलटकर जनम लेने की मेरी आदत
मरने पर भी नहीं गई। ■

वतन गणेश विसपुते

चाहे जो मौसम हो
रास्ते सिर्फ पड़े रहते
इस्तेमाल न किए हुए कपड़ों जैसे
कभी आराम से अपनी रफ्तार से
एकाध तांगा निकल जाया करता पीछे से आगे
या आगे से पीछे
तांगेवाले का चेहरा देखा-भाला ही होता
कभी न कभी
अचानक किसी दिन दिखाई देते
बहुतों के बदन पर नए कपड़े
और ईदगाह मैदान की ओर जाने वाले झुंड
वरना सभी के कपड़े
ज्यादातर एक से हुआ करते
तीन दिन महसूस होती धधक
धू-धू कर जलती होली की
और न धुल पाए रंग टिके रहते वैसे ही स्कूल में भी
परकोटों और बुर्जों के भीतर बसे
उस छोटे से गांव में तब ऐसा लगता
न जाने कितने राज इकट्ठा हैं
अब वहां परकोटे टूट गए हैं
बुर्ज ढह गए हैं
वहां कोई राज ही
बचे नहीं और
भुर्र से बगल से निकला हुआ चेहरा
चाहे जितना निरखा जाए
पहचाना नहीं जाता। ■

झांबरी दाई के डोस

भुजंग मेश्राम

अनुवाद : प्रफुल्ल शिलेदार

एक

ना माई ना ... ऐसा नहीं

ऐस्सा-

सुला दे सुला दे कोको को नीचे

नहाने से पहले

भगोने जैसा धोया

देख-देख

बदन कैसा चमक रहा है चांदी जैसा

पानी डाल...और डाल

बह जाएगी चांदी

बची रहेगी चांदनी

मत पूछना क्यों

चांदी बह जाती है तो जाने दे

बच्चा तो सोने पर सुहागा

जान से भी महुँगा

जैसा नर्सरी का सागौन

ना-ना

माई-माई, संभाल इस ईख को

दो

ताई, मालिश करनी है ना?

फिर क्यों निकाल रही हो

नारियल-वारियल

ऐसा वैसा नहीं बनेगा

नारियल मलके

बच्चे को क्या मन्नत का नारियल बनाना है?

कोल्हू का, रेंडी का तेल

सब तेल में यही है सब से बेस

बदन होना चाहिए एकदम मस्त

धावड़े जैसा चिमड़

एक जरूर होगा

पूरी जिंदगी में बच्चे को कहीं भी फेंका

तो वह रेंडी के माफिक

सर्र-सर्र बढ़ेगा... देखना!

तीन

बच्चे का नाक देख नाक

उसे खामखा

तेज नुकीला करने की कोशिश मत कर

फांक उसके गाल

दिखने दे उसके गाल की हड्डियाँ

होंठ मत दबा अंदर

फूलने दे उन्हें गूलर के फूल जैसा

नाक होंठ देखकर

कोई कहेगा जंगली

तुम शान से कहना

प्रकृति जितना सुंदर तो स्वर्ग भी नहीं!

भाग्य की नाक कटवाने का ऐसा मौका

दुबारा नहीं मिलेगा, माई। ■

विपदा

सायमन मार्टिन

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

इस बार चित्र कुछ अलग ही है
इनसान सहमे हुए नहीं हैं
न ही कोई बौखलाया-सा लगता है
लोग जद्दो-जहद के साथ जूझ रहे हैं
तन-ढके वस्त्रों के बूते
घर-बार, जमीं-जुबां
की सरहदों को भुलाकर
लोग चल पड़े हैं
जान बचाने
जबकि असली समस्या तो अलग ही है
कि अगले वर्ष जो विपदा प्रत्याशित है
उस दौर में किस तरह पेश आएंगे लोग?
और परले साल?
विपदा का नहीं रहा भय अब
अब तो इनसान से ही खौफ खा रहा है
इनसान.... ■

आज-कल

शरण कुमार लिंबाले

अनुवाद : पद्मजा घोरपड़े

फूलों की जगह
हथियार कैसे लदते हैं इन फूलों के पेड़ों पर?
इस बाग का शस्त्रागार बना रहे हैं!
किस पेड़ तले छांव करें?
किन फूलों का गजरा गूंथूं प्रिया के लिए?
कल यहां बच्चे खेल रहे थे
आज घुड़सवार दौड़ रहे हैं इशारा करते हुए!
माली कहता है, 'गुलाब पुष्पों में धमाका हुआ'
मेरी समझ में नहीं आता मैं क्या कहूं?
मैंने पूछ ही लिया
'माली चाचा यह गुलाब कहां था?
माली उदास, हँसा बोला,
'नेहरू चाचा के कोट पर था।'
आज-कल मैं बुतों से डरने लगा हूं!
परसों ही एक बुत ने
बम बोए थे इस शहर में!
तब से फूलों की जगह
हथियार लगने लगे हैं आज-कल
फूलों के पौधों पर। ■

एक प्राध्यापक की (अनलिखी) डायरी का पन्ना

मनोहर जाधव

अनुवाद : टीकम शेखावत

दोपहर को घर जाते समय रास्ते किनारे
झाड़ियों को
चेयरमैन समझकर उस पर लबालब मूत दिया
चार साल पहले ढेर सारा डोनेशन देकर नौकरी पर लगा
जमीन बेची, गिरवी रहा साहूकार के पास
घर पर अनुज के हाल बेहाल हो गए
सबकी जिंदगी के लाले अपन ने ही किए
निदेशक ने बेटी बांध दी गले में
तब से जान ही नहीं रही रीढ़ में
आहिस्ता-आहिस्ता चेयरमैन को रिझाकर
बीवी ने खुद को चिपका लिया
चेयरमैन बोलता है, सर आपकी पत्नी
हार्ड स्किल वर्कर है
बीवी, सिल्क पहनकर वर्क में ले आती है स्किल
ये तो हमें पता है
(परंतु हार्ड स्किल का क्या मतलब?)
छोड़े यार नेट, सेट
अपने जैसा उल्लू इस जिंदगी में
कभी पास नहीं हो सकता
पी.एच.डी-फीएच डी
अपने बाप को नहीं जमने वाली
अपन तो बस जिंदगी भर एडहॉक...
अपन स्कॉलर-फोलर नहीं है
पढ़ना-लिखना अपने बस में नहीं
रोज, अखबार पर

हल्की सी नजर मार लेता हूं
पहचान वाले पेपरस्टाल पर...
बस इतना ही है अपना पेपर रीडिंग
सही बताऊं, नॉन ग्रांट नौकरी के चलते
अपन बस हो सकेंगे केवल फक्कड़
(डरपोक शिक्षक क्या खाक निडर विद्यार्थी तैयार करेगा...?
और जिसके अपने कोई विचार नहीं, उसकी कहां होगी ...कोई भूमिका!)
संस्था के साथ रहे लॉयल
तो ही अपन रह सकते हैं रॉयल
तब जाकर कभी-कभार मिलती है 'रॉयल स्टैग'
जिंदगी में बस यही है...
अपनी एकमात्र अचीवमेंट। ■

ठोकर

शशिकांत हिंगोनेकर

अनुवाद : टीकम शेखावत

पहला
शब्दों से बनाता है शास्त्र
दूसरा
शास्त्रों से
तानता है शस्त्र
तीसरा
शास्त्र और शस्त्र से
मचाता है लूट
चौथा
शास्त्र
शस्त्र
लूट
इन तीनों को भी
लात-ठोकरें मारता है! ■

केवल हम ही

दासू वैद्य

अनुवाद : गजानन चव्हाण

लता दाहिनी ओर बढ़े
या बाईं ओर मुड़े,
क्या फर्क पड़ता है?
नहीं होते उसके
'बाएं-दाएं'-जैसे बनावटी संदर्भ
लाल मिट्टी में पैदा होने से
पेड़ होते नहीं श्रेष्ठ;
काली मिट्टी में पैदा होने वाले
पेड़ों को भी
ठुकराने की परंपरा नहीं;
बारिश को
किसी भी प्रदेश में
नहीं होती मनाही;
रास्ता कभी पगों में
भेदभाव करता नहीं;
लता दीदी के गायन में
कब दिखाई दिए
गर्वनिष्ठ भगवे रंग के तरंग?
या कभी सुनाई दिए
जाकिर हुसेन के तबले में
स्वार्थी मजहब के संकुचित शब्द?
केवल हम ही-
यह ऐसा, वह वैसा
मैं... वह...
मेरा... उसका...
अपना... पराया...
ठांयऽ ठांयऽऽ
सुअर... गाय... ■

शब्द ओढ़कर

अरुणा ढेरे

अनुवाद : दामोदर खड़से

किसी ने मांगा तो
कोमल घास की तरह मुट्ठीभर विश्वास दे सकते नहीं हम
रहता ही नहीं बचे मन को मुक्त आँगन
हम तो केवल बित्ता भर होते हैं
आधी उम्र की किसी लड़की की देह
दावाग्नि में झुलस जाए वैसी झुलसकर खत्म होती है
वासना की दावाग्नि में अपरंपार
या कुछ ही मिलता गायब होने पर
झोंक देता है कोई तो स्वयं को
एक बेकाबू मरणमोह पर होकर निरंकुश
तब केवल डबड़बा आती हैं हमारी आँखें
अपने भीतर पुल भी ढह जाते हैं
और बाहर हाहाकार
ऐसे समय कितने हताश होते हैं हम
कितने निराधार!
झर जाने के डर से व्याकुल कलियां
ज्यों अपनी शून्यता को ही थरथराकर ओढ़ लें
हम कहें कवि होते हैं। ■

यादें आसावरी काकडे

यादों के तारे टिमटिमाने लगते हैं अंबर में
जब सारी दुनिया गहरी नींद में होती है
और सिर्फ हम जागते रहते हैं...
कहां-कहां से आई हुई
कई रंग...गंध...स्वाद से सजी
विदेही होकर तारें बनी हुई
अनगिनत यादें
साथ देती हैं रात में
मनमुक्त बातें करती हैं
सूनी रात के अकेलेपन में
कहां-कहां ले जाती हैं
कितनों को मिलवाती हैं
सख्त सूनी रात को
रेशम सी मुलायम बना देती हैं
छिपाने लगती हूं मैं उन्हें
मन की गुफा में
लेकिन तय समय पर
सूरज हाजिर होता है क्षितिज पर
और सारी यादों को
गायब कर देता है प्रकाश-विवर में
दुनिया जाग जाती है...
मैं भी उठकर चलने लगती हूं
नए दिन की रोशनी के साथ
और नई रात के लिए
नए एहसासों के तारे
इकट्ठा करने लगती हूं...! ■

चींटी

प्रफुल्ल शिलेदार

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

एक चींटी
ठाठ से मेरे सामने खड़ी
चिल्ला-चिल्लाकर कह रही है कि
मेरे पीछे विद्यमान बांध
ऊंचा, और ऊंचा होने लगा है
और वह टूटने की कगार पर है
जैसे मेढक का उदर-क्षोभ...
चींटी की आवाज
मैं अकसर अनसुनी करता हूँ
और अप्रकट मुस्काता हूँ
उसकी आत्मीय गुहार
उसी की तरह निर्भार प्रतीत होती है मुझे
धोरारी महक की तरह
हरदम उसका सिर्फ मुझी को संबोधित करना
रास नहीं आता मुझे
उसकी हँसी बर्दाश्त नहीं होती मुझसे
तथापि वह इतनी महीन है कि
उसे मसल भी नहीं पाता मैं
अपने पैर के अंगूठे से
वह निरंतर आँखों की परिधि में होती है
लेन्सिल प्रतिमा की तरह
शायद समा गई हो
पुतलियों में ही
महज इसलिए वह विस्मृत नहीं होती
क्योंकि चिल्ला-चिल्लाकर
आगाह किया होता है उसने
आगामी विभीषिका के प्रति
जो अहम सच सिद्ध होता है। ■

ईश्वर

अशोक कोतवाल

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

किसी भी पत्थर को
ईश्वर मानने वालों ने मुझसे पूछा
तुम्हारा ईश्वर कौन-सा है?
मैंने कहा, ढूंढ रहा हूं...
लेकिन तुम्हारे ईश्वर-सा नहीं होगा
वे मुस्कुराए और चल दिए
तब मैंने अपने दरके-छितरे दिनों को
समेटा और
उनसे बनाया एक पुतला
पुरोहित से कहा
जान फूंक दो इसमें
तुम्हारे धर्म की...
अरे, यह तो इनसान लगता है!
उसने मंजूर नहीं किया
मौलवी ने कहा इसका चेहरा हटाकर
सुला दो इसे फर्श पर
फादर ने कहा इसे सलीब पर धर दो
भंते ने कहा इसे खिसका दो यहां से...
किसी ने कुछ कहा किसी ने कुछ
किंतु मुझे यकीन है
ईश्वर ऐसा ही हो सकता है
इनसान-सा। ■

पर्याय

नागनाथ मंजुले

अनुवाद : टीकम शेखावत

मैंने खोजना चाहा पर्याय प्रेमिका का
और मैंने खोजना चाहा पर्याय मां का
मैंने खोजना चाहा पर्याय अकेले ही भटकते रहने का
दारुण दुःख का और निर्दयी खालीपन का
मैंने खोजना चाहा पर्याय अकेले में आँसू बहाने का
मैंने लोगों के बीच घुल-मिलकर रहा
दोस्त बनाए
आदतें बदल के देखी
और बदला समय सोने-जागने का
मैंने खुद को डूबो के देखा शराब के प्याले में
कई सारे व्यसन कर के देखे
छान दिए प्रदेश
भटकते रहा अच्छी बुरी गलियों में
एवं जो भी मिली
उस किताब के पन्ने-पन्ने छान दिए प्रेम से
मैंने समा कर देखा आत्मीयता से
हर तरह के व्यक्ति के भीतर
फिर भी नहीं मिला
मेरे कांटों भरे जीवन-जीवन का पर्याय
मैंने जीकर देखा
मैंने मरकर देखा
मेरे जीने-मरने का नहीं है
कविता के सिवा और कोई पर्याय... ■

न्याय

वसंत केशव पाटील

अनुवाद : गजानन चव्हाण

सोना बोकर धूप मस्ताई;
पठार पीकर हवा बक रही;
घास का पत्ता-पत्ता
निरखकर;
कौन चल दिया खुराफात कर
ओस की आँखों में
भरी हैं सिसकियां
ईश्वर की कसम!
कह रहे हैं गोखरू के कांटे;
नीम पर बैठा पंडुक
दे रहा है साक्ष्य यही
चिड़िया कह रही-
मैंने देखा है प्रत्यक्ष
मगर
ऑर्डर...ऑर्डर...
मध्याह्न के आसमान की
तरेरी आँख ने कहा
दिन का यह न्याय
मानते हुए,
सड़क गिरी घास पत्ती का
कलेजा मुंह को आया। ■

अलस्सुबह की शीतल सियाही में...

सौमित्र

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

अलस्सुबह की शीतल सियाही में
खुद अपनी कविताओं का पाठ करते हुए
ऐसा लगता है जैसे...
मंत्र जागर चल रहा हो कहीं
निचली पट्टी के धीर-गंभीर स्वर में...
हवन कुंड से उठते शरारों
तथा मंत्रघोष के सुरों के
दो पाटन के बीच बैठा हूं मैं
ध्यानस्थ बगुले ही तरह ...
कुछ ऐसा ही महसूस होता है...
अलस्सुबह की शीतल सियाही में
खुद अपनी कविताओं का पाठ करते हुए
ऐसा लगता है जैसे...
पूजा सजाई है मैंने किसी की
और आरती उतारी जा रही है मेरी
ढोल-मंजीरे के बिना ही...
लगता है कि
आरती के कतरा-कतरा शब्द से मेरे
व्याकुलता रिस रही है बेलाग
लेकिन पलकों पर जूं तक नहीं रेंगती
इन पाषाण शिल्पों की...
अलस्सुबह की शीतल सियाही में
खुद अपनी कविताओं का पाठ करते हुए
केवल अपनी ही आवाज... ■

शहर पनप रहा है

विजय चोरमारे

अनुवाद : टीकम शेखावत

रात भर के सफर से भारी हो गई है आँखें
सुबह तड़के, बस अड्डा है मुरझाया हुआ
बाहर निकलते ही मिलता है शहर
नया-नवेला
जैसे आया है
अभी-अभी
मां के गर्भ से
कोई भी कर्कश हॉर्न नहीं चिंचयाता
ब्रेक भी नहीं लगता कचकचा के
मेले में भटक गए बच्चे की मां बन गई है
जैसे आस-पास हर औरत
अनुभव कर रहा है हर ड्राइवर
कि कहीं अल सुबह
शहर की नींद न टूट जाए!
यह मेरा ही शहर है
या फिर
सुबह-सुबह यह शहर आया है सपने में?
सुबह हो गई है
बिना किसी मुर्गे की बांग के
बढ़ रहा है दिन सूर्योदय की ओर रेंगकर
पुलिस वाले भी उठा रहे हैं लुत्फ
गरमागरम चाय का, हँसी ठिठोली के साथ
सूर्योदय के बाद शहर ले लेगा करवट
तब नहीं नजर आएंगे ये दृश्य
चिड़चिड़ाहट करते सो चुकी पत्नी की

चोर-पुलिस खेलने के इंतजार में
थककर सो गई बच्ची की
याद भी नहीं आएगी
वरिष्ठ अधिकारियों के दबाव के सामने
कवि
प्रेमी-जीव
किसान
पुलिस
आत्महत्या करने वाले घटकों की
सूची बढ़ती ही जा रही है दिन-ब-दिन
निर्दोष को बचा नहीं सके
इसलिए क्या वकील भी करेंगे आत्महत्या?
विद्यार्थियों के फेल होने पर अध्यापक
या फिर फैसला गलत सुनाया इसलिए
न्यायाधीश भी चढ़ जाएंगे सूली पर?
भोर में मैंने जिस शहर को देखा
उसके अवशेष भी नजर नहीं आ रहे
सूरज के माथे पर आ जाने पर
शहर चारों ओर बढ़ रहा है देह पर
भयंकर बाढ़ का पानी
दहलीज तक आ गया है
बरसात रुकने पर भी
पानी कम नहीं हो रहा
बांध टूटने के खतरे की सूचना दी है
सरकारी व्यवस्था ने
न टूटे तो अच्छी बात है
टूट भी गया तो चिंता की कोई बात नहीं
चेतावनी दी जा चुकी थी संकट की
कहकर बच जाएंगे जवाबदेही से
पानी पर तैरता शहर बिल्डरों का
गुलाम है पैसेवालों का
नौका जो कल डूबी थी
वे सभी गरीब लोग थे
लाइफ जैकेट पहने नेताओं की नौका
सकुशल किनारे पहुंच गई

बाढ़ पीड़ितों की खातिर लाइफ जैकेट का प्रस्ताव
खा रहा है मंत्रालय में धूल
इन पुतलों को रंगा गया है
या इनके मुंह पर पोत दी है कालीख एहतियातन!
ये राजा महान है, गरीबों का रखवाला
चौड़ी छाती वाला
माफ कीजिए महाराज
मेरे हाथ आपके गले तक नहीं पहुंच रहे
इस जयंती पर दूर से ही शुभकामनाएं
जब तक नहीं करता आपका अपमान कोई
तब तक चैनलवाले नहीं देखेंगे आपकी ओर
राजघराने में पैदा होने के बावजूद
आप हो मीडिया की दुनिया से बेखबर
कैसे बनेगी आपकी इमेज?
आपके लिए नहीं लगाए जाते
हर-हर महादेव के नारे
आपके लिए खौलता नहीं किसी का भी खून
आपकी जयंती-पुण्यतिथि पर पुलिस
समयानुसार ड्यूटी कर घर जाती है
आपका यह कल्याणकारी राज
कब का डूब चुका अँधेरे में
और अब बाजार में
भयानक भीड़ उमड़ आई है
आकाशदीप खरीदने की खातिर
तिलक लगाए हुए दाढ़ीधारी
घूम रहे हैं पुलिस बनकर
तालाब के किनारे पर
यहां प्रेम करने वालों पर पाबंदी है!
बस कर सकें बात
इस दिल की उस दिल तक
क्या केवल इतना-सा एकांत मिलेगा
इस शहर में?
वरना घुट-घुट कर मर जाएंगे कितने ही
केवल हिंसा का होगा नंगा नाच शहर में!
यह शहर बन सके एक बागीचा

प्रेमियों की खुल्लमखुल्ला मुलाकातों की खातिर
वह है जिसके हृदय में प्रेम
बस उसी के लिए ही खुले यहां दरवाजा
शहर
महाप्रलय में डूबता
दंगा-फसाद में जलता
मैटनी से लेकर
आधी रात तक
बारह से बारह
खिलाते चारा
हर भूखी चोंच को
में रमता रहा तुम्हारे बदन पर-कांधों पर
यहीं बड़ा हुआ, जी रहा-जीता रहा
घुसेड़ता रहा मेरी जड़ें
भीतर बहुत भीतर
जड़ों को नहीं मिल पा रही है राह
और भीतर जाने के वास्ते
जड़ों की ताकत कम पड़ी है
या
पत्थर ज्यादा मजबूत है?
यह अनुमान लगाना मुश्किल है
किंतु शहर
फैलने लगा है भीतर तक
शरीर के कण-कण में भरा है...
प्रियतमा की यादों की तरह बेचैन, बेकल
जड़ से उखाड़ फेंक नहीं कर सकते
त्वचा को छील कर भी नहीं सकते अलग
केवल ठनक रहा है, दुःख भरी स्मृतियों की भांति
शहर मुझमें पनप रहा है। ■

होगा कहीं पृथ्वी पर बिना कहानी का प्रदेश?

मंगेश नारायणराव काले

अनुवाद : गोरख थोरात

होगा कहीं पृथ्वी पर बिना कहानी का प्रदेश?
न कही गई या न किसी ने सुनी
न घटित हुई, न सुझी और न रची गई किसी से
होगा ऐसा एक भी बिना कहानी का प्रदेश?
यानी आज, कल, परसों, यहां तक कि जब यह प्रदेश पहली बार
हुआ आबाद उस प्राचीन, पुरातन, सीधे अश्मयुग से कभी भी
रची ही नहीं गई होगी कहानी, होगा ऐसा कुंवारा इलाका बिना कहानी के?
यानी कैसे संभव है कि प्रदेश आबाद हो इनसानों से
जहां दो से चार, चार से आठ और आठ से सोलह
कई गुना गिनती बढ़ती जाती इनसानी गिरोह में
किसी भी कहानी का न सुनाया जाना, घटित होना या घटित करना
कैसे संभव था तब और आज भी?
यानी यह मानने पर कि कहानी से ही हुआ है जन्म इनसान का
अचंभा है यह घटना
यानी यहीं तो मिली थी इव
हमारे पर दादा से पहली बार
और खाया चोरी-चोरी फल उन्होंने नियम तोड़कर तत्कालीन
यानी इसे एक सनसनीखेज थ्रिलर घटना मानने पर
कैसे हो सकता है कहानी के बिना प्रदेश इस पृथ्वी का?
यानी यहां से वहां तक आधी जहां में
जहां-जहां फैले थे सार्वभौम राज्य और जहां-जहां आबाद थी इनसानी कौमें
वहां-वहां पनपा है डीएनए चंगेजखां का
प्रत्येक वंश के गर्भाशय में
कैसे रह सकता है प्रदेश बिना कहानी के?
और रामायण, महाभारत, पुराण, दंतकथाएं, खबर

मौखिक, लिखित जो भी कुछ है अकल्पित यथार्थ
जो बहता आया है पीढ़ियों से
सीधे खून और मांस से हमारे, वहां तो कहानी के अलावा
मानवीय इतिहास, वर्तमान की कल्पना भी असंभव
और फिर भी कहानी के लिए ही सही, मान लिया जाए प्रदेश बिना कहानी के
तो पृथ्वी के मानचित्र पर कहां दिखा सकते हैं इसे
तो कैसे दिखा सकेंगे यह प्रदेश
पृथ्वी के मानचित्र पर...
यानी एक छोटा-सा भूप्रदेश समुद्री तटवाला
और रेगिस्तान भी साथ में हाथों में हाथ लिए
ढूंढ सकेगा कोई ऐसा गुर्जर प्रदेश
कहानी विहीन?
यानी जहां घटित ही नहीं हुआ होगा कुछ
पुराण में, इतिहास में अथवा यहां तक कि वर्तमान में भी! ■

अब हम

अरुण काले

अनुवाद : प्रफुल्ल शिलेदार

हमारे मस्तिष्क में उसने लगा दिया
महासंगणक बुद्धिवाद का
विज्ञान का
इनसान की संपूर्ण प्रगति करे ऐसे
पोषक तत्वों का
अब हम विकृत संदर्भों को
फटकार देते हैं पल भर में
अब हमने हमारे
हीन भावना को कर दिया है नष्ट
अब हम मिट्टू जैसी बातों में
नहीं आते
अब हम उजाले फैलाते हैं
सब तरफ। ■

आदि पुरुष

श्रीकांत देशमुख

अनुवाद : दामोदर खड़से

तुम्हारा
अब कुछ भी नहीं बचा है
बादल भी छितरा गए हैं
हृदय के आसपास के
फिर
कभी नहीं आएगी बारिश
अथवा
भीगेंगे नहीं पांव के तलुए
ऐड़ियों के आरपार
घुसेंगी नहीं हरी मिट्टी
अथवा
भौहों के बालों में ठहरेगी नहीं
घास की सूखी धूल
नहीं फैलेगा
लहलहाता हुआ पेड़
अथवा
आंधी-तूफान से थरते
डालियों के हरे विस्तार
तुम्हारे पंखों पर के मन भर बोझ
दूर हुए
सारी संभावनाएं समाप्त कर
मृत्यु के बाद भी संसार खड़ा करने वाला
तू है आदि पुरुष! ■

पोलराइजेशन

चैताली आहेर

अनुवाद : गोरख थोरात

देह से देह पर
सोचा था कुछ लिखें
मन ही छप गए अकस्मात
मेरी त्वचा पर
पूरे ज्यों की त्यों
टेक्शचर के साथ
अब स्किनटोन का कैसा
अलग कौतुक
जबकि हम एकसाथ ही
स्कैन हो रहे हैं
तुम्हारे मुझे अनदिए सुख-दुखों ने
कसम दी होगी
हमारी देह की सीमाओं को
पैराशूट जैसा परिवेश लेकर
उतरना पड़ता है हमें

एक दूसरे के प्लैट्यूओं पर
वरना हम कभी के एक हो जाते न!
हमारा पोलराइजेशन होने तक
क्यों रुके रहते हैं हम?
एक दूसरे के अस्तित्व के
जींस हमेशा ट्रेक करते थे हम
(अनपेक्षित स्वीकृति क्या इसी को कहते हैं?)
इतना सब
ब्रेन में प्रैक्टिकली प्रिंट होकर भी
मैं तुम्हारे ओठों पर
अपनी सुकोमल पलकों से
ड्रीमी शिकायत अंकित करूंगी
तुमने मेरी पीठ पर
अनगोदे टैटू की। ■

केवल प्रदेश

प्रिया जामकर

अनुवाद : गोरख थोरात

मैं जानती हूँ
वैसे वहां कोई भी नहीं
अस्तित्वशून्य है यह प्रदेश
यहां की भूमि न काली
न नीली न हरी
सफेद साफ हवा यहां की
भूमि हवा में ही आहिस्ता से ऊपर उठी है
यह भूमि बुलाती है, आह्वन करती है
नंगे पैर चलने को उत्तेजित करती है
मैं चल रही हूँ, चल रही हूँ, और दौड़-दौड़ रही हूँ
सफेद घेरदार कुर्ता पहन
पूरे अंतराल में मेरी दौड़
गोलाकार रेखांकन
एक सफेद पंछी कहीं से
सिर पर गोलाकार ताल भरता है
शायद पंछी नहीं, मैं ही हूँ
वैसे यह केवल प्रदेश है
और यहां ही हवा तो... ■

क्या दूँ मैं तुझे?

कविता मुरुमकर

अनुवाद : गोरख थोरात

क्या दूँ मैं तुम्हें?
नहीं दे सकती कुछ भी
बस दुआ है मेरे पास
यूँ ही रहो सरसराते
नीलिमा दमकती रहे तुम्हारी
उग उठें तुम्हारी स्थिप्रज्ञा में हरी कोंपलें
खिल उठें तुम्हारे लहू में बर्दाश्त के फूल
झूलते रहें तुम्हारी यादों के चंद्रमा
मेरी देह और मन की डालियों पर
शब्द तो नहीं दे सकती
दूर हूँ कोसों मैं तुमसे
कैसे आ पाती, छाया की तरह पीछे-पीछे?
मिलते रहें तुम्हें तुम्हारे मनचाहे आकार
संयम के पेड़ के अधीर पखेरू
चहचहाते रहें आकाश के लगाव में
पुकार ही तो नहीं पहुंच रही तुम तक
पुकारों का ही बन गया है समंदर
एक-एक लहर पर लौट आई है पुकार
फूट पड़ेगी यहीं से एक जम चुकी नदी अहसासों की
करती रहे कलकल, पसीज उठे तुम्हारे भीतर
मिल जाएं तुम्हारे समंदर को यह प्रतीक्षित जल
भर जाएं तुम्हारी अंजुलि संगमरमर से
हो मुलाकात तुम्हारी कविता से, यहीं इसी मोड़ पर।■

सर्प-दोस्ती

अनिल साबले

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

सर्प-दंश हुए हाथ को भींचकर
मैं आईसीयू में दाखिल हुआ हूं
घने झबरीले सीने पर कितने ही निशान
मुंह पर कोल्हू के बैल की तरह मुश्क
हर उंगली चिमटे की पकड़ में...
यही है सर्प-दोस्ती का हथ्र
जो मुझे यहां लाया है
बार-बार कुहनी-घुटने पर
लकड़ी की हथौड़ी मारकर
सुनिश्चित किया जा रहा है
कि मैं फालिज की जद में नहीं हूं
डॉक्टर की तनी उंगलियों पर
नजर फेरने की अनिवार्यता
मुझे गहरी नींद अथवा ऊंघने से
बचाने के लिए बेहद जरूरी है
मेरी बेहोशी की हालत में
मेरा हाथ वे काट दें तो...
कैसे लिखूंगा मैं कविता?
नए हाथ से लिखी मेरी
गिचपिच शायद आप समझ नहीं पाएंगे
हेडमास्टर साब ने तो आगाह कर ही दिया है
एक हाथ से तुम खाना
नहीं बना सकोगे
नया सेवक भी नियुक्त हुआ है
सो घंटा बजाने का काम भी

अब तुम्हारे लिए नहीं बचा
दवा का असर और बेहोशी की हालत में
मैं कुछ बोल नहीं पाया
न ही करबद्ध प्रार्थना कर सका
तुम मेरे करीबी हो इसलिए
कहता हूँ,
यह जहर यदि मुझे निगल ले
तो मेरी जहरीली अस्थियों का विसर्जन
किसी नदी के पानी में मत करना
मेरी जगह पर तुम आ जाओ
किसी खास स्कूल में ही तैनाती का
आग्रह मत करो
हम भूखे-प्यासे इनसान हैं
और हर जगह मौजूद हैं...
मेरे घर में जो कविताएं
तुम्हें प्राप्त होंगी
उन्हें जो भी पढ़ना चाहे, पढ़ने दो
पत्रिकाओं में छपने के लिए भेज दो
या फिर अपनी बेटी के लिए
महफूज रखो
पाथेय के तौर पर... ■

आत्महत्या करने से पहले

बालाजी मदन इंगले

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

आत्महत्या करने से पहले
बापू को भला किस चीज की याद आई होगी?
अपना बचपन
मां-बाप
बच्चे-कच्चे
अपना बसाया घरोंदा
गरीबी
पंढरपुर की वारी
पांडुरंग-विट्ठल
या फिर
अपनी शादी के बाद की पहली रात...
आत्महत्या करने से पहले
बापू किसके बारे में सोचता रहा होगा?
खेत
हवा-पानी
ढोर-डांगर
मां दीदी
मैं घर
सरकार
प्रशासन व्यवस्था
देश
धन-दौलत
अपनी हस्ती
पेड़-पौधे
अथवा रस्सी के बारे में...? ■

कुएँ का अंतरंग

ऐश्वर्य पाटेकर

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

कुएँ की जगत पर अभी बैठा ही था मैं
कि कुएँ ने मुझे ललकारा
'जगत पर बैठ मेरी गहराई नापता है मुआ?
यहां आओ और झांको मेरे भीतर
मैं चला गया नीचे
और उतरा पानी में...
सतह के नीचे कितनी ही सुहागिनें
कुंवारी लड़कियां तथा पतित गर्भ
तलहटी में दिखाई दिए
आर्त, खामोश चीखों की बेदर्द नुमाइश...
प्रत्येक मर-जीवा अपनी दास्तां बयान करने को लालायित
मैं हिल गया... रुंध गया...
उनकी दास्तां सुनने के लिए चाहिए
दरियादिल
जो मेरे पास न होने से
मैं आहिस्ता-आहिस्ता
सीढ़ी-दर-सीढ़ी उलटे पांव ऊपर चढ़ते हुए
पुनः जगत पर आ बैठा
कुएँ ने टिप्पणी की
'बस हांफने लगे?
मैंने पनाह दी है न इन सबको!
फिर तुम्हारा कलेजा क्यों धकधक कर रहा है?'
घिग्घी बंध गई मेरी
मैं नीचे उतरा
और दम दबाकर भाग खड़ा हुआ

गांव की ओर
बीच में तनिक ठिठका, मुड़कर देखा
जगत पर दो चार मुस्टंडे
किसी पीड़िता को कुंए के हवाले करने की
तैयारी में लगे थे...
कुआँ तो आंचल फैलाए हुए था
अपनी गोदी में उसे पनाह देने के लिए...।■

सारे लोग घर से बाहर

अरुण शेवते

अनुवाद : दामोदर खड़से

तुमसे कितनी ही बार कहा
मत पढ़ा करो कविता
बना सकते नहीं हम
ताल किनारे घर
तू कविता पढ़ता है
यानी करता क्या है?
अपने ही पीछे घूम रही
परछाईं ढूंढता है
तू गूंगा हो जो, बहरा हो जा
फिर लिख कोई कविता
पढ़ते तुम्हारी कविता
सारे लोग घर से बाहर निकल पड़ेंगे।■

गांव की एक औरत

पृथ्वीराज तौर

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

गांव की एक औरत को
पति ने छुरा घोंपकर मार डाला
वह बचपन में करंजुवे खेला करती थी
गांव की एक औरत
ताड़ना-पीड़न से तंग आकर
आग के हवाले हो ली
वह बचपन में
किरचा-चित्र बनाती थी
गांव की एक औरत
एंड्रिन पीकर चिरनिद्रा में लीन हो गई
वह बचपन में
बाल-मेलों में कूद-फांद किया करती थी
गांव की एक औरत
चौपड़-चौसर खेलने वाली
गुड्डा-गुड्डी सजने वाली
झिम्मा-फुगड़ी खेलने वाली
चिंआं झपटने वाली
चपटी-झपटी करने वाली
सदाबहार, हँसमुख, खिलंदंड वृत्ति की
कई औरतों की हस्तियां
देखते-ही-देखते मिट गईं
तथापि, गांव की एक औरत
जीवित रही बरसों-बरस
वह बचपन में
किताबों के संग हँसती-खेलती थी
किताबों का साथ-सोहबत सहेजने वाली
औरतों की हस्ती
मिटती नहीं कभी भी
सदियों तक जिंदा रहती हैं वे... ■

समाधि अवस्था की ओर

वीरा राठोड

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

जुए में सर्वस्व लुटा चुके
युधिष्ठिर के कुछ बोलने से पहले ही
तुम्हारी आँखें मां बन गईं
तुमने मुझे करीब खींचकर
गले से लगाया
आँखों में बसा लिया
तुम्हारे स्तनों की ओट में
मुंह छुपाते हुए
कितना रीत चुका था मैं
बिलकुल ही गया-बीता
हीन-दीन
सहमा-सिकुड़ा सा
तुमने सहलाया अपनी जादुई उंगलियों से
मेरे बालों को
धीरे-धीरे रोप दी तुमने
मेरी आँखों में मदहोशी
यानी समाधि अवस्था
कितना आसान है तुम्हारे लिए
यातनाओं के गुंजल्क से बाहर निकालना
पलक झपकने से पहले
लिवा ले गईं तुम मुझे
सत्ताईस साल पहले के अतीत में
मां की गोदी में
इसी तरह सहलाती थी मैया
अभी-अभी अंखुआए

काले-घुघराले बालों को
चूमती थी
कपोल-भाल-माथा-होंठ
और समूचे बदन को भी...
में भी देहभर पसर जाता था
लतर-बेलि बनकर
अब पता चलता है कि
फूट फूटकर रो रहे बालक को
अपने सीने से ही क्यों लगाती है मां
बालों में...समूचे बदन को
ऊर्मिल स्पर्श से ही
कैसे सराबोर कर देती है?
स्तन-पान के लिए अगतिक नन्हा जीव
कैसे शांत हो जाता है क्रमशः?
किस तरह लीन हुआ जाता है
समाधि में?
कितना जटिल है
सवालों का यह गुंजल्क
और उसमें बिलबिलाती जिंदगी
माई, बाई, मैं, तुम
बचपन, यौवन,
बदन, संभोग, प्यार, भय
बेचैनी, छटपटी, सुख, तृप्ति
समाधि...
न जान, न पहचान
फिर कैसे आ पहुंचे
फ्रायड, रजनीश
उसके अंगने में
या कि उसी ने सिखाया है उन्हें
संभोग से समाधि तक का
गणित?
तुम
धर्म हो
और
जीने का मूलाधार वेद भी...

तुम्हारी जड़ों में ही पाए जाते हैं
सभी प्रार्थनाओं के अर्थ
तुमसे हटकर सोचना
यानी जिंदगी का पूर्ण विराम होगा
तुम्हीं हो जिंदगी का उत्स
और जीने का शऊर
अब स्थिति यह है कि
तुम्हारी गाथा सिर पर थाप
नाचूं-गाऊं और-छोर!
मेरा अस्तित्व पिघल गया है अब
लड़कपन में
और मैं रिसने लगा हूं पोर-पोर
तुम्हारे अंगांगों में
तुम लहू में समा गई हो मेरे
गजब की क्षमता है तुम्हारे स्पर्श में
अब तुम इतना भर करो
इस यायावर फकीर को
लिवा ले चलो
समाधि की ओर.... ■

फिर भी बुद्ध हँसता ही था...

पांडुरंग सुतार

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

हजारों साल चिरंतन मुस्कान ओढ़े
अधखुली पलकों से देखते हुए
खड़ा था बुद्ध बामियान में
छेनी से महीन तराशते हुए
शिष्यों ने बनाया था उसे
एक छोटा-सा आघात भी
फोड़ सकता था उसकी पुतलियों को
अथवा कान का लोला भी...
मानो बुद्ध ही अवतरित हुआ था उनके भीतर
और शिल्पकार बन खुदी को गढ़ रहा था
खुदी को गढ़ने के लिए आवश्यक एकाग्रता
उसी ने बख्शी थी उन्हें
उसके बाद ही प्रकट हुआ वह बामियान में
निर्माण के बाद वे तृप्त हुए
बार-बार हैरत से निहारते रहे
इधर से उधर से हर तरफ से
निश्चेष्ट से नतमस्तक हुए
बुद्ध की रहम-दिल नजर उठी उनकी ओर
उनके द्वारा निर्मित करुणार्द्रता की
उन्हीं पर हुई वर्षा
मानो उन्होंने अपना कलेजा ही
काटकर उनके सामने धर दिया
उस कलेजे में से प्रस्फुटित शांति-किरणों से
उनके अंतर्मन को आलोकित कर रहा था वह
बामियान की आबोहवा में

मासूम बालक की मोहक मुस्कान-सा
उसका मंद स्मित
बरसों बरस उनकी आहों-कराहों के लिए
मरहम का काम करता रहा
बुद्ध बराबर जायजा लेता था शिष्यों का
कि वे किस तरह ढलते गए
बदलते गए...
लेकिन बुद्ध की चिरंतन मुस्कान अक्षुण्ण थी
पर बुद्ध का अंतःकरण खुद ग्रहण कर
शांति, करुणा और महाचैतन्य की
दुहाई देने वालों के अंतःकरण बदल गए
प्रज्ञा की जगह प्रतिशोध
शिला-खंड की जगह अस्त्र-शस्त्र
करुणा की जगह क्रूरता
और अमन की जगह दहशत...
खुद ही अपने आपको गढ़ने वालों के लिए
असंभव नहीं था कुछ भी
खुदी की हस्ती मिटा डाली उन्होंने
एक-एक कर वस्त्र उतारने के अंदाज में
एक-एक अवयव अलग कर दिया उन्होंने बुद्ध का
फिर भी बुद्ध हँसता ही था बामियान में। ■

प्रतीक्षा

उज्ज्वला केलकर

अनुवाद : भगवान वैद्य 'प्रखर'

उस समय लगा था
हम परस्पर
पूर्णतः अनुकूल
जैसे
दो देह
एक मन
दो श्वास
एक जीवन
लेकिन
पुल के नीचे से
कुछ जल प्रवाहित हुआ
एवं महसूस हुई
अपने खिलने की ऋतु-भिन्नता
और पतझड़ की भी
अब हम अलग-अलग सहलाते हैं
विहंगों की स्मृतियां
अपने बाहर पर आने के बाद की
और बाट जोहते हैं
पतझड़ के बाद वाली नई बाहर की। ■

यह ऐसा ही होता है

तुकाराम धांडे

अनुवाद : दामोदर खड़से

यह ऐसा ही होता है
सब कुछ मालूम होने पर भी
बोलते नहीं बनता
शिकारी कुत्ते लगे हैं पीछे
फिर भी भागना ही पड़ता है!
यहां जीने के दाम
आसमान छू रहे हैं
फिर भी कतार में खड़े होकर
छटाक भर ही क्यों न हो...
खरीदना ही पड़ता है!
पैरों तले
पृथ्वी के पेट में
लावा छटपटा रहा है
ऊपर आने के लिए
वह किसी भी पल फूट पड़ेगा
फिर भी आसमान की ओर
देखकर हँसना पड़ता है!
वे तारे हँस रहे हैं
युगों-युगों से
हमें कहां उन जितना
जीना होता है! ■

लैंडस्केप

लोकनाथ यशवंत

अनुवाद : टीकम शेखावत

कितना आनंददायी होता है...
कैनवास पर सूर्योदय की पेंटिंग करना!
वैसे ही सूर्यास्त की भी
विशाल लैंडस्केप बनाना
पर्वत मालाएं दिखाना
पेड़-पौधे चित्रित करना
दूर तक फैला हुआ जंगल उभारना
सब कुछ हरित दिखाना चित्रित करना
इनसान को खा जाने वाले बाघ का पोर्ट्रेट बनाना
चित्र बनाते-बनाते उसी में पूरी तरह रच-बस जाना
नशेड़ी की तरह उसी में रम जाना
अंधे भक्त की तरह तालियां पीटना
कितना तकलीफदेह है...
भिखारी का चित्र बनाना
कुपोषित बच्चे का छोटा-सा मुंह
और बड़ा-सा पेट उकेरना
अभावग्रस्त झोपड़ियां चित्रित करना
भूखे पेट ग्राहक का इंतजार करते
वीरांगना बहन का चेहरा कैनवास में उतारना!
लैंडस्केप
भूकंप में समाती जमीन के
बनाते रहो यूं ही
और ऐसे ही आनंदमय जीते रहा! ■

कार्यकर्ता की पत्नी

शेषराव पीरजी धांडे

अनुवाद : टीकम शेखावत

घर पर कदम रखते ही
जरूरत की चीजें उधार लाकर
पत्नी करती है स्वागत
नन्हें बच्चे देखते हैं आशा से
घर पर नहीं है छोंक के लिए तेल
चाय के लिए चीनी
और नहीं स्टोव में घासलेट
ऐसे में
आ धमकते हैं पांच-पचास कार्यकर्ता
करते हैं मोर्चा पर चर्चा
किसी ने लगाई है देशी तो किसी ने महुआ
घर-भर आ रही है दुर्गंध
कोई जाकर ले आता है किलो भर चीनी
घासलेट आ जाने पर पत्नी स्टोव सुलगाती है
चाय लाती है सादगी से
ऐसे में चर्चा उफान चढ़ती है अपने दल की
वह केवल उम्मीद लगाए देखती रहती है
घर की गरीबी खत्म होने की राह
उसे नहीं कुछ भी लेना-देना आंदोलन से
तब भी लगी रहती है ऐसे ही,
आंदोलन में योगदान समझकर
कार्यकर्ता की पत्नी जो ठहरी। ■

आग
नीलकांत कुलसंगे
अनुवाद : सुनील देवधर

दूर बहुत दूर तक जाती है नजर
तब दिखता है
अत्याचार से चिथड़े हुए आकाश के भीतर का
मुरझाया हुआ अर्थ
वेदना की मुसलाधार भार से
कीचड़ में धंस गए कर्ण के रथ पहिए की तरह
स्थिर हुए ग्रह
तब मन में आता है एक विचार कि
अपने ही देह की करूं चीरफाड़
बनाऊं अंतड़ियों की
एक बहुत लंबी सी रस्सी
बांधू एक छोर
उस दूर के अदृश्य क्षितिज पर
दूं चुनौती
संस्कृति का फफूंद लगे मन को कि
भरे वह उड़ान, ऊंची और ऊंची
चमचमाते तारों से अच्छादित चंद्र पर
और करूं उस चंद्र के छोटे-छोटे
बारीक-बारीक टुकड़े
और करूं उन टुकड़ों का भग्नायन
पर तभी महसूस होती है
श्मशान की
भीगी और सूखी लकड़ियों की चिता पर
जलते हुए
हाड़मांस के निर्जीव देह की उग्र गंध

में बेलगाम होता हूँ और
ध्वस्त कर देता हूँ वो चिता,
लेकिन
सब अंतड़िया ठिठुर गई होती हैं
हृदय का रक्त भी जम गया होता है
मन भी निर्जीव हुआ होता है
और रह जाते हैं शेष
सोए हुए सपने
उजाड़ रेगिस्तानी मृग मरीचिका की तरह
में आक्रोश से भर उठता हूँ
मेरा रोम-रोम बन उठता है ज्वाला
अब सब कुछ जला देना है
मैं तेजी से चारों तरफ नजर घुमाता हूँ और
दिखती हैं जहां-तहां
कोने-कोने में अग्नि की ज्वालाएं
मेरी आँख से निकलने वाली
तप्त किरणों से जल उठे
भड़की हुई आग के
कारण यहां
मेरी प्रत्येक आँख बन गई
एक-एक तपता हुआ सूर्य
एक-एक प्रज्वलित सूर्य। ■

युद्धभूमि पर आऊंगी

संगीता बर्वे

अनुवाद : टीकम शेखावत

निर्बल देह से
उतारकर नाजुक केंचुली
तैयार होकर सवार जिंदगी पर
युद्ध-भूमि पर आऊंगी
तेजस ललाट पर
लगाकर वेदना का लाल टीका
बनाकर इस देह को ही मजबूत ढाल
भूतकाल के अवशेषों से
संघर्ष की धधकती ज्वालाओं में
घुसकर तीर की तरह
आ जाऊंगी बाहर
बिलकुल अछूती...
लूंगी एक लंबी समूची सांस
इसके बाद ही
फहराकर विजय पताका
डग भरते अविचल
जाऊंगी इस रण-भूमि से
किसी अज्ञात प्रदेश की ओर...! ■

कांच बटोरते हुए

मनोज बोरगावकर

अनुवाद : दामोदर खड़से

दिन तेजी से बीतते गए
कभी रुके, कभी ठिठके
फिर बीत गए
संभालकर रखी अपनी ही परछाई
अनजाने ही होती गई पराई...पराई...
ठीक से चेहरा दिख जाए
इतने ही आईने बटोरने की आदत
होती ही है घातक
यह रहस्य भी मालूम हुआ
टूटे कांच बटोरते हुए...! ■

समकालीन मराठी कविता

रणधीर शिंदे

अनुवाद : सुनील देवधर

इस लेख में समकालीन मराठी कविता के स्वरूप के संबंध में चंद बातों की ओर संकेत किया गया है। इस समय की कविता की विशेषताएं और उसकी उन्नति की दिशाओं की ओर भी दृष्टिपात कर उसे रेखांकित किया गया है और इस समय की कविताओं के पार्श्व में जो भूमिका है, अथवा जो परिप्रेक्ष्य है, उसका भी विचार किया गया है। कविता के परिप्रेक्ष्य की रचना को स्पष्ट करने हेतु लेख की रचना है।

समकालीन सामाजिक और भौतिक विषय का प्रत्यक्ष व परोक्ष परिणाम सांस्कृतिक निर्मिति पर होता है। इस सदी के आरंभ की साहित्यनिर्मिति के पीछे बीसवीं सदी के अंतिम दशक का बहुत निकट का संबंध है इसलिए इस समय के विश्व एवं भारतीय परिप्रेक्ष्य का भी विचार करना आवश्यक है। वैश्वीकरण, नवीन अर्थनीति, बदलते हुए राष्ट्रों के तथा राज्यों के संबंधों से लेकर स्थानीय सत्तासंबंधों का भी विचार करना चाहिए। नवउदारमतवादी पूंजीवादी संसार का रूप इसी समय में उजागर हुआ था। मुक्त अर्थव्यवस्था का आरंभ हुआ, बाजार और ग्राहक की परिभाषाएं बदली, उनके मूल्यों को नूतन आयाम प्राप्त हुए। विश्व और करीब आया। उसे अत्यधिक मदद हुई टेक्नोलॉजी और ई-क्रांति से मदद मिली। इसी के साथ संदेश और संचार की भी परिभाषाएं ही बदल गईं। सारे देहात नई व्यवस्थाओं के दायरे में आए। इस भौतिक परिवर्तन के कारण मानवी जीवन में कुछ सुलभताएं और आसानियां हुईं परंतु इस गतिशास्त्र का रूप साकार होते-होते एक ओर तो विषय अधिक सहज और विस्तृत हो रहा है तो दूसरी ओर, हमारे निकट का विश्व उसी गति से सिमट रहा है। इस गतिशास्त्र के कारण नए प्रश्न और नए तनाव उत्पन्न हुए हैं। स्थानीय विरुद्ध वैश्विक, गरीब और अमीर, महानगर और देहात बेशुमार वेतन पाने वाले और मजदूरी करते श्रमिक, पूंजीवादी व्यापारों ने पाई प्रतिष्ठा और दुकानदार-श्रमिकादि अप्रतिष्ठितों में, खाई बढ़ती ही जा रही है। इस नए जीवन के तनाव यहां के सामाजिक जीवन पर, रिश्तों पर और मूल्यों की विचारधारा पर प्रभाव डाल रहे हैं। गलाकाट प्रतिस्पर्धा और बाजार ने ऊंचा स्थान पाया है। खोमचेवाले, भिखमंगे, फेरीवालों के समूह बेदखल हो रहे हैं। माध्यम रूपी भस्मासुर ने सत्य और असत्य की सीमारेखा मिटा दी है। पीत पत्रकारिता पनपने लगी है। सारा समाज ही आभासी चित्र प्रतिमाओं का बन रहा है। इन सभी

घटनाओं का संबंध उस समय की वाङ्मय निर्मिति पर होना स्वभाविक ही है और वैसा हुआ है यह हम देख भी सकते हैं। इस समय परिवेश में हुए परिवर्तन, खासकर आर्थिक योजनाओं के कारण हुए परिवर्तन और उसके कारण निर्मित हुआ यह समाज, उस समाज के चर्चा विषय यह साहित्य निर्मिति का निर्माणबिंदु है। इस बिंदु के संदर्भ के आर्डने में इस समय में निर्मित वाङ्मयीन धाराओं को देखना आवश्यक है।

आधुनिक कालोत्तरी संवेदनाएं समकालीन कविता में व्यक्त हुई हैं। भविष्य में, भौतिक एवं मानसिक परिवर्तनों की गति देखते हुए, इन संवेदनाओं को बहुत बड़ा स्थान कविता में प्राप्त होगा। इन बातों की झलक, उसके प्रारंभ की छटाएं, समकालीन कविता में व्यक्त हो रही हैं। भौतिक दुनिया की उथल-पुथल भी अत्यधिक गति से हो रही है। संगणकीय क्रांति का विस्फोट हुआ है। सामाजिक आंतरक्रियाएं भी तेजी से हो रही हैं। इंटरनेट और इलेक्ट्रॉनिक संप्रेषण के माध्यम से आभासी सतह पर जीने वाला नया समाज गढ़ रहा है इसलिए समय और परिवेश की कल्पनाओं में संपूर्ण परिवर्तन हुआ है। 'यहां' के स्थान पर 'अभी' ने अहमियत पाई है। ऐसा लग रहा है, जैसे सायबर समाज ही जन्म ले रहा है, नूतन सायबर भाषा-बोली निर्मित हो रही है। कल्पना की अप्रतिहत योजनाएं तैयार हो रही हैं और इन सब का परिणाम साहित्यनिर्मिति और उसकी अभिव्यक्ति पर हो रहा है, जो कि स्वाभाविक ही है। संगणकीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में पनपनेवाली कविताओं में, उन संवेदनाओं को व्यक्त करने का प्रमाण अधिकाधिक से पाया जाता है। यह काव्य संवेदना नगरीय जीवन शैली में बड़े पैमाने पर व्याप्त है। व्यक्तिवाद से अधिकाधिक व्यक्तिवाद की ओर, साधन सामग्री की विपुलता की ओर और उनका ग्राहक के रूप में हुआ परिवर्तन, भौतिक चमक में व्यक्त होती मानवीय विश्व की संवेदनाएं इस समय की कविताओं में व्यक्त हो रही है। वह भी सिर्फ नगरीय जीवन तक सीमित नहीं है अपितु ग्रामों में, कृषि केंद्रित जीवन के अनुभवों का प्रकटन करती कविताओं पर भी इस भौतिक तकनीकी प्रधान कलानिर्मिति का प्रभाव है। संजीव खांडेकरजी के 'सर्च इंजिन' कविता संग्रह को, भालचंद्र दिवाडकरजी ने प्रस्तावना टिप्पणी दी है, जिसमें वे कहते हैं कि, आज का मानव 'सायबोर्ग' हुआ है। उसे सायबर सपियन कहा है। इस प्रस्तावना को उन्होंने, सायबर सपियन की कविता शीर्षक दिया है। इस बात से भी इस समय की कविता के पीछे स्थित समय के परिप्रेक्ष्य की कल्पना हम कर सकते हैं।

समय से संबंधित यह पार्श्वभूमि नब्बे के दशक में तैयार हुई थी। वैश्विक अर्थनीति का नक्शा और विकासशील राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत नीति और उसके कारण बदले भौतिक विश्व का नक्शा इन सभी बातों के परिणाम नब्बे के बाद के साहित्य में स्पष्ट रूप से गोचर हो रहे थे। इस अर्थ में इस सदी की नींव नब्बे के दशक की है। इस समय की कविता के संबंध में एक लक्षणीय बात यह भी है कि अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में 'कविता' विधा में सर्वाधिक खलबली मची है, उथल-पुथल हुई है। कविता की अभिव्यक्ति में अधिक खुलापन और लचीलापन पाया जाता है। वह विपुल मात्रा में लिखी गई जा रही है। पठन की सतह पर उसकी विविधता के कारण उसका व्यवस्थापन थकाने वाला प्रतीत हो रहा है। सर्वाधिक ग्रहणशीलता, प्रयोगशीलता और गति इस समय की कविता में है, सारी बातें विस्मित कर देती है। विपुल मात्रा में लिखी गई कविता के विषय में एक विशेषता यह भी पाई गई है कि, समूहप्रिय, रंजक और गेय कविता का रूप मराठी में बड़े पैमाने पर है। पूर्व परंपरा

में बापट-पाडगावकर और कुछ हद तक करंदीकर-महानोर इनकी कविताओं की लकीर पर चलने वाले कई कवि हैं। रामदास फुटाणे, फ. मु. शिंदे आदि महानुभावों ने उसे प्रतिष्ठित किया था। कविता गद्य, स्पष्टीकरणात्मक, नाट्य हो, यह संकेत श्रोताओं कविताओं में पाया जा रहा है। उसका, दूरदर्शन और समाज माध्यमों ने पोषण भी किया है। इस श्रोतसंकेतशरणा पर आज कई कवियों ने अपनी बलि चढ़ा दी है ऐसा पाया गया है। कविता और परफॉर्मन्स इस समीकरण को पुष्टि देती आज की सांस्कृतिक व्यवस्था अकसर पाई जाती है। उनके कारण, नवमध्यवर्ग की मानसिकता और उनके ही सामाजिक, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में खोजने होंगे।

इस डेढ़ दशक के पहले कई महत्वपूर्ण कवियों की कविताएं प्रकाशित हुई हैं। अरुण कोलटकर, दिलीप चित्रे, नामदेव ढसाल, वसंत आबाजी डहाके, वसंत गुर्जर, सतीश कालसेकर, तुलसी परब की कविताएं भी इस मोड़ पर ही प्रसिद्ध हुई हैं। 1960 के बाद आधुनिकतावादी और रोमांटिक, मानवतावादी कविता इसी जमीन पर प्रसिद्ध हुई है। उनके फलने-फूलने का समय पूर्व सदी ने नियंत्रित कर दिया था इसलिए इन कवियों की संवेदना विशेषों का यहां केवल संकेत किया है। इनमें से, 'भिजकी वही' अर्थात् 'भीगी कापी' और 'चित्रलिपी' अर्थात् चित्रों की लिखावट शीर्षक कविता संग्रहों को, साहित्य अकादेमी के पुरस्कार भी प्राप्त हुए हैं, उनका उल्लेख करना उचित होगा। अरुण कोलटकर के प्रसिद्ध कविता संग्रह, इस सदी के पहले दशक की एक महत्वपूर्ण घटना है। सन 2000 संग्रहों का प्रकाशन हुआ और उनके जेजुरी संग्रह का उन्होंने मराठी अनुवाद-तर्जुमा भी प्रकाशित किया। 1960 के बाद के आधुनिकोत्तर संवेदनाओं का पट इन कवियों की कविताओं में व्यक्त है। कोलटकर की कविता का एक नया मोड़ इस कालखंड की कविताओं के रूप में देखा गया। अत्यंत शिथिल, रूखी भावना से मानवीय संवेदनाओं को जानने की कोशिश करती कोलटकर की कविता मानवीयता के विशेष रूप को ढूंढने लगी। वैश्विक करुणा और परंपरागत मानवीय श्रद्धा जानकर, मानवीय समाज का निरीक्षण कर उसे नए आयाम प्राप्त हुए। विडल भक्ति, पंढरपुर क्षेत्र और रामायण के समय की ओर वर्तमान की दृष्टि से देखा है। समूचे संसार में, स्त्रियों का शोषण, हिंसा और उस बाबत प्रार्थनारूपी करुणा की दृष्टि का कोलटकर की उत्तरकालीन कविता पर प्रभाव पाया गया है। नामदेव ढसाल की कविता ने महानगर के जातीय-वर्गीय संवेदनाओं की गहरी और तीव्र अभिव्यक्ति की है। महानगर में होने वाले नवीन स्थित्यंतरों के ब्यौरे की कविता लिखी गई।

इस समय की कविता का विचार करते हुए भौतिक दुनिया अर्थात् वैश्वीकरण भले ही चर्चा का अहम् बिंदु है ऐसी कल्पना की जाए, फिर भी सभी मराठी कविताएं इस सामाजिक भावना के दबाव से निर्मित हैं। इसलिए पहले की कविता के पारंपारिक वर्गीकरण का मार्ग छोड़कर कविता का विचार करना होगा। शहरी और ग्रामीण कविता ने समकालीन कविता का क्षेत्र व्याप्त किया है अथवा यों कहना होगा कि उसी का माहौल है। आधुनिक संवेदनाओं के प्रकटीकरण के साथ-साथ आधुनिकोत्तर संवेदनाओं के प्रकटीकरण का यह समय है। वसंत पाटणकर के अनुसार इस युग की कविता का, यथार्थ, खंडित यथार्थ और प्रतिभासिक यथार्थ इन आधारों पर कविता वाचन किया है और विश्राम गुप्ते ने नगरीय कवियों के कार्य का विस्तार के साथ लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। इक्कीसवीं सदी के आरंभ के पर्व की मराठी कविता का विचार करते हुए, अरुण काले और भुजंग मेश्राम की कविता का विचार करना अनिवार्य है। जिनकी ओर से, मराठी कविताओं के धमनियों

के विस्तार की उम्मीद थी, उन कवियों का असमय लुप्त होना मराठी संस्कृति की दृष्टि से दुखदायक है। समय के परिवर्तनों का स्वर इन कवियों ने सशक्तता से व्यक्त किया है। नवउदारमतवादी वैश्वीकरण प्रभावित समाज के निर्मित का स्वर उनकी कविताओं में था। वर्ग, जाति और लिंग भेदों के साथ इस समय के कारण निर्मित उलझनें, यह कविताएं व्यक्त कर रही थीं। स्थानीयता नष्ट कर, वैश्विक भूलभुलैया सर्वहारा वर्ग के दीन, अभावपीड़ित जीवन का संवेदन इस कविता ने व्यक्त किया है। यदि इस मार्ग पर चलती मराठी कविता, तो शायद मराठी कविता की काव्यगत संवेदनाएं और अधिक विस्तृत होतीं।

अरुण काले की कविता समकालीन जीवन के बहुमुखी आवाज है। वैश्वीकरण के समय महत्वाकांक्षाओं का तृष्णायुद्ध अपनी चरम सीमा पर है, जिसमें अमीर और गरीब के बीच की दूर की बहुत बड़ी खाई में परिवर्तित हुई है। भूलभुलैया जैसी इस मोहमयी दुनिया में शोषण के कई षडयंत्र हैं उसमें भूख, गरीबी और शोषण है। अरुण काले और भुजंग मेश्राम की कविता के केंद्र में सर्वाहारा वर्ग का बहुत बड़ा कैनवास है। नई दुनिया की भोग, लालसा, और सर्वाहारा वर्ग की भूख के बीच की दूरी का एहसास है। 'धुंबनाक धुंबनाक झिंग लपा, लपा, लाप/बघा, बघा, बघा/ लगबगा लगबगा तर हा आला आयटीचा रेडलाईट नाका' या 'मल्लिलुटालुटीचा झिंग लपालपा' इस गति से समाज बन रहा है। सर्वव्याप्त लूट से बेहोश समाज की संवेदना इस कविता में है। किराना, राशन, केरोसिन आदि पाने का संघर्ष और 'उधारीकरण की सायबरखिंड' का उपोद्घात इस कविता में है। अरुण काले की कविताओं के मात्र शीर्षक पढ़ने से हमें इन बातों का ज्ञान होता है। 'सीताराम मास्तराचं अगतिकीकरण', डिस्कव्हीवर सर्वजण दिसत नसतात', 'काली जादू आणि विश्वचषकाचं झुलूझुलू पाणी', 'सर्व रस्त तिकडे जात नाही' यह नकारार्थी शीर्षक सर्वाहारा वर्ग के अभाव का दुख और शोषण की संवेदनाओं की कथाएं कह रहे हैं और भुजंग मेश्राम की कविताओं में आदिवासियों की विस्थापना और उनकी नवव्यवस्था के तनाव का चित्रण करती है। इन कवियों की कविता में सामाजिक, राजकीय हस्तक्षेप की संवेदना है। नए परिवर्तन में शोषण की गहरी व्यथा व्यक्त करती कविताएं उन्होंने लिखी। इसी राह पर चलते हुए अविनाश गायकवाड ने अपनी कविता में जातीय, वर्गीय तथा महानगरीय संवेदनाएं विशेष रूप में व्यक्त की हैं। मर्ढेकरी परंपरा की शब्दविशेषता और जीवन संबंधी खुला दृष्टिकोण, उनकी कविता की विशेषताएं हैं।

इस विवेचन के बाद जो लिखा है, उसमें कविताओं का किसी निश्चित रूप से वर्गीकरण नहीं किया गया। वह सामान्य और वर्णनात्मक है। इस समय की कविता में, अनेकानेक संवेदनाओं का मिश्रण पाया जाता है। महानगरीय संवेदनाओं का एक अनोखा चित्रण इस समय की कविता में हुआ है। वर्जेश सोलंकी, हेमंत दिवटे, ऋत्विज कालसेकर, गणेश वसईकर, इग्नेशियस डायस से मीनाक्षी पाटील तक या अन्य कुछ कवियों की कविताओं में नगरीय संवेदनाओं का चित्रण हुआ है। मर्ढेकरोत्तर तथा चित्रे-कोलटकर, डहाके की पीढ़ी के बाद के कवियों ने महानगर संबंधित जो संवेदनाएं व्यक्त की हैं, उसी राह पर चलकर कई नवीन विषय इन कवियों ने व्यक्त किए हैं। विवेक मोहन राजापुरे ने अस्सी के दशक में कहा था, 'या महानगराच्या वळचणीला बसून कोणता शब्द लिहू मी महाशब्द' अर्थात् 'इस महानगर की छाव में बैठकर कौन-सा शब्द, कौन-सा महाशब्द लिखूं मैं। उनके आगे की पायदान की कविता है यह। महानगर के महाकाय समय पटल से दीप्तिमान हुए वस्तुजगत के

विषय में विविध रूप में व्यक्त संवेदनाएं स्पष्ट हुई हैं। इन संवेदनाओं का रूप दोहरा है।

एक तो इस सभी भौतिक परिवर्तन के कारण आई चमक को और उसके मानस विशेष को प्रतिसाद देती कविता है। महाकाय मॉल्स, विशाल वस्तुजगत, सभी प्रकार से इंद्रियों को मुक्त आवाहन करती विपुलतादर्शक चिह्नसृष्टि की उपस्थिति, इस समय की कविता में है। आधुनिकतावाद की अभिव्यक्ति के एक हिस्से के रूप में नगरीय संवेदनाओं की कविता में बड़े पैमाने पर पूंजीवादी अधिसत्ता की शरणागति की संवेदना भी व्यक्त हुई है। नवपूंजीवादी रचना में पाई जाने वाली व्यवस्था और उसके प्रभाव अपरिहार्य और अटल हैं। इस विचार का उस पर प्रभाव है। 'नैसर्गिकरित्या त्यांना मी वंदन करतो मी माझ्यातल्या मला वंदन करतो डीकोड होताना', 'मेगा मॉल शॉपिंग' अथवा 'बॅण्डस फिरताहेत त्यांच्याबरोबर' (हेमंत दिवटे) या मॉल्स की प्रार्थना और शरणागति की भावना इस दृष्टि से वह व्यक्त हुई है। इन सभी कविताओं में समय के मूल्यात्म भेदों की संवेदना कई कवियों ने व्यक्त की है। भूतकाल की कतिपय जीवनशैलियों का नए युग में हुआ हास और वर्तमान में उसके कारण उत्पन्न खोखलेपन की संवेदना कई कवियों ने व्यक्त की है। रिश्तों के संबंधों की दूर से लेकर मानवी सद्भावों के अस्त तक वह व्यक्त हुई है।

उत्तर आधुनिक समय की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि, मराठी कविता में व्यक्त की गई स्त्री-पुरुष संवेदनाएं। साठोत्तरी पीढ़ी ने एक ओर भावनाशील, गूढ़ प्रेयसी की प्रतिमा आंकी है तो दूसरी ओर उसकी नंगधडंग देहधारी होने की भावना की व्यक्त की है। इस समय की नगरीय संवेदनशीलता की कविता से स्त्री-पुरुष संबंधों की अनोखी परिभाषा प्रकट हुई है। उसमें, शारीरिक इंद्रियनिष्ठ भावों का अधिकाधिक खुल्लमखुल्ला प्रकटीकरण है। अनेक बार वह लैंगिक प्रदर्शन जैसा व्यक्त हुआ है। संभोग, संभोगक्रिया का या लैंग्य इंद्रियों के अत्यधिक खुले आम तो कभी अति यथार्थवादी शैली द्वारा चित्रण हुआ है। लैंगिकता भी उसमें अत्यंतिक व्यक्तिवादी उत्सव का और प्रदर्शन का हिस्सा हुई। इस प्रकार की अनेक कवियों की कविता देखी जाती है। संजीव खांडेकर की एक कविता का शीर्षक ही 'फक द वर्ल्ड' है। हेमंत दिवटे, मन्या जोशी, संजीव खांडेकर की कविताओं में इस प्रकार की संवेदनशीलता का चित्र है। 'I am Android with a penis' 'मैं पुरुष जैसी दिखती/ जिसे लिंग है ऐसी एक वस्तु हूं' इस प्रकार की संवेदना खांडेकर की कविता में है। यंत्रमानवजग का भी लिंग में परिवर्तन होने की भावना उसमें है। दूसरी ओर महानगर की दुखती, नकार की स्थिति तीव्रता से साकार हुई है। मानव डिलीट होने की और उसकी तीव्र घुटन का संवेदन-विश्व इस कविता में प्रकट हुआ है। वर्जेश सोलंकी, गणेश वसईकर, दिनकर मनवर, मीनाक्षी पाटील, इग्नेशियस डायस की कविताओं में उक्त संवेदन सूत्रों का चित्रण होता है। इस महानगरीय संवेदन दृष्टि का हिस्सा अरुण काले, अविनाश गायकवाड, महेंद्र भवरे की कविताओं में महानगर का विषय परिवेश साकार हुआ है। भय, दहशत, सार्वजनिक हिंसा, अमानवीय स्थिति आदि दमनकारी यंत्रणाओं ने अंतराल भरा है। यह स्थिति, 'काहीच प्रिंट होत नसलेल्या दिवसांतून' इन शब्दों में या 'इट्स अ युवर डीएनए' ऐसे शब्दों में व्यक्त हुई है। जेसीबी की भयंकर खड़खड़ाहट से, भौतिकता के आक्रमण का संकेत करती प्रतिमाएं अनेक बार प्रकट हुई हैं। आक्रमण करती, भूनकर राख करती वस्तु वा यंत्रसामग्री की उपस्थिति इस कविता में है। महानगरों का कोना-कोना निरखती कविता महत्त्वपूर्ण होती है। वैसे ही इसी कविता ने वर्गीय, जातीय व लिंग की संवेदनाएं भी तीव्रता से प्रकट की हैं। अरुण काले, वर्जेश सोलंकी और

मीनाक्षी पाटील की कविता में वेश्याओं के जीवन का शोषण और दुखती व्यवस्था का चित्रण है। भय, असुरक्षा, कोलाहल, सभी दिनकर मनवर की कविता में व्यक्त हुए हैं। इसलिए महानगर की त्रिशंकु अवस्था, भूतकाल से समूल उखड़ी हुई स्थिति इस कविता में प्रकट हुई। वह विदूषक के रूप में और पैरोडी की सहायता से व्यक्त हुई है। आधुनिकोत्तर अमूर्त संवेदन बन भी प्रकट हुई है। बाहर के सार्वजनिक कोलाहल व भय की पार्श्वभूमि पर बंद घर के आधार से छिपे नायक का चित्र कविता में पाया जाता है। कवियों ने महानगर को जो भी जाना, वो बहुविध स्वरूप का है और नवयुग के बहुसमाज सांस्कृतिकता का परिणाम ही है। एक ही साथ अत्यधिक व्यक्तिवादी समाज के और महानगर के किसी कोने में पड़े बेदखल किए गए समाज के भी चित्र इस कविता में प्रकट हुए हैं।

इस समय की कविता में व्यक्त होने वाला एक सूत्र है, आधुनिकोत्तर संवेदनाओं का। मानवी जीवन की एकरूपता, अखंडता, सुसंगति कब की नष्ट हो चुकी है। मानवी समाज टुकड़ों में बंटकर, विखंडित रूप से जी रहा है। नई भौतिक सृष्टि ने उनके अंतरंग का कायाकल्प किया है। वह इस सृष्टि के कारण केवल अर्चभित ही नहीं हुआ बल्कि उसकी जीवनशैली के साथ उसकी मानसिक रचना पर भी प्रभाव हुआ है। उसकी विचार पद्धति पर भी प्रभाव पड़ा है। उसकी इस विचार पद्धति की, विपरीत और अद्भुत कल्पना शक्ति की अभिव्यक्ति उसकी इस कविता में हुई है। अपने स्थल काल संबंधित स्वनिष्ठ संवेदनाएं, व्यक्ति के मन में चलती संवेदनाओं की अप्रतिहत गति और आस-पास के समाज के संबंध में मन में स्थित गहरी प्रतीकात्मक संवेदना, 'जग' कविता में व्यक्त हुई है।

आधुनिक समय की बहुसमाज सांस्कृतिक विविधता का चित्रण करती कविताओं में श्रीधर तिलवे की एक कविता है। उन्होंने बिना रूके, विपुल मात्रा में कविताएं लिखीं। आज के समय के साथ काल की ओर, वे चिह्नसृष्टि की दृष्टि से देख रहे हैं। आज की चिह्नसृष्टि ने विषय, सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि का स्वरूप ही बदल डाला है। टेलिविजन और कंप्यूटर आज संस्कृति के दो अंग बने हैं। नेटवर्क का चक्रव्यूह और उसमें से अनेक 'मैं' सह चलते जाना यही मेरा 'अटल' है। वे इस 'मैं' की 'अटल' अभिव्यक्ति करते हैं ऐसा वे मानते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने समकालीन भौतिक दुनिया का नक्शा पढ़ा है। 1990 के बाद का बदलता कालस्वर किसी विशेष चिह्न सृष्टि द्वारा निहारा है। आधुनिक और उत्तर आधुनिकतावाद के अनेक अंग उनमें से प्रकट हुए हैं। इसमें अनेकविध संवेदनाओं का मिश्रण हुआ है। यथार्थवादी, रोमांटिक अभिव्यक्तिवादी, आधुनिकतावाद, अस्तित्ववादी भावनाओं के एक-दूसरे में घुल जाने से उन संवेदनाओं का मिश्रण हो गया है इसलिए उसने टेलीविजन के विविध चैनल और उसके विविध मूड्स पर भी विचार किया है। इस कारण स्थानीय से वैश्विक तक का विशेष भाव उसमें व्यक्त हुआ है, हो रहा है। विश्राम गुप्ते ने उनकी कविता के लिए यह भाव व्यक्त किया है कि, तिलवे की कविता नए जार्गन्स में (Lingo) बोलती है।

मंगेश नारायणराव काले के चार संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कविता शब्दों के माध्यम से व्यक्त होती, चित्रविचित्र प्रतीकात्मता, भाषाक्रीड़ा का ध्यान केंद्रित करती उनकी कविता ने वर्तमान के, भविष्य के अकल्पित खंडित यथार्थ का प्रतीकात्मक भाषा में संकेत किया है। एक प्रकार से सार्वजनिक तोड़फोड़ और मुसीबत के समय का चित्रण मंगेश काले की कविता में है। इस अर्थ में शून्यवत् शुष्क क्रियाहीन मानवी विश्व का चित्र उसमें आया है। (संजीव खांडेकर की कविता में चित

लेटे मनुष्य की प्रतिमा बारंबार उभरी है) 'तृतीय पुरुषाचे आगमन' यह उनका वैशिष्ट्यपूर्ण संग्रह है। रंगमंचीय परिभाषा में व्यक्त हुई इस कविता में, 'म्हणजे, येणारेय कुणीतरी- एवढे निश्चित, या अदृश्य भीतीचे सावट' और उसके आक्रमण की आहट के विविध ध्वन्यार्थ संकेत रूप में प्रकट किए गए हैं। 'म्हणजे ही वेल संक्रमणाची आहे नि कयामतचा दिवस जवळ आला आहे।' इस कविता के अंत में कौआ और कौआ, (कौए की मादा) का संवाद है। कौआ कौआ से कहता है, 'हां, गत कुछ दिनों से अशुभ के आगमन के संकेत दिख रहे हैं मुझे' और 'कौआ टहनी के पीछे से अस्त होते सूर्य की ओर टकटकी लगाए देखने लगी', ऐसा अंतिम विधि वाक्य है। इस प्रकार की समझ से वर्तमान और भविष्य में आने वाली उलझन की वास्तविकता की अमूर्त-मूर्त शैली में अभिव्यक्ति की गई है।

संजीव खांडेकर ने निरंतर और विपुल मात्रा में कविताएं लिखीं। कविता में उनकी आधुनिकोत्तर काल की संवेदना प्रकट हुई है। बदलते वैश्विक संदर्भ में भी कविता समझनी होती है। सायबर समाज और उसका आगे बढ़ना और उसकी मानसिक स्थिति का अंकन खांडेकर की कविता में है। विश्व का, वस्तु में हुए रूपांतरण खांडेकर की कविता के केंद्र स्थान पर है। सेक्स भी खांडेकर की कविता के केंद्र में है। नए विश्व की भी संवेदना उन्होंने, अति यथार्थवादी शैली में पैरोडी मिथक कथन के रूप में और व्यंग्य शैली में, लिखी है। यही कारण है कि उनकी कविता का, 'उत्तर आधुनिक खलनायकाची गाथा' इन शब्दों में उल्लेख किया जाता है। 'गाव मेमन्या इरेझल्या कुणी/डिकोडल्या बघ हजार कविता' इस संज्ञा में उन्होंने सारा संसार देखा है इसीलिए उनकी कविता में 'पब नवनीत', 'इन चॅटरूम', 'संगणक' ऐसे विवरणों से ही कविता बोलती है। उसी के साथ उत्तर आधुनिकतावादी काव्य संवेदनशीलता से लिखने वाले, सचिन केतकर और सलील वाघ भी हैं। सचिन केतकर की कविता में कल्पनाचमत्कृति और मानवी जीवन के अनगिनत असंगतचित्र, अतिथार्थवादी शैली में चित्रित हुए हैं।

शहरी भू-प्रदेश का समाजचित्र इस समय की कविता में बड़े पैमाने में आया है अर्थात् समकालीन मराठी कविता विश्व के इस अनुभव विश्व की व्याप्ति अधिक है। देहाती जीवन की संवेदना का चित्र इस कविता में साक्षात् हुआ है। उसकी अनेकविध परतें इस समय के कवि व्यक्त कर रहे हैं। कृषि समाज के बृहद समाजचित्र इस कविता में व्यक्त हो रहे हैं। इसके प्रकटीकरण में साधारणतया तीन-प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। एक बड़े पैमाने पर समाज स्थिति व्यक्त करती प्रवृत्ति। सामान्य एवं एकरेखीय प्रतिक्रियावादी भावों का प्रकटीकरण इस प्रकार की कविता में व्यक्त होता है। इस प्रवृत्ति के बहुसंख्य कवि अखबार की भाषा में लिखते पाए जाते हैं कविता विधा से दूर जाती गद्य कविताओं की रुचि इस समय में बड़े पैमाने पर बढ़ी है। दूसरी एक प्रवृत्ति भी मराठी में बड़े पैमाने पर पाई जाती है, वह रोमांटिकता की ओर मुड़ती ग्रामीण कविता। रविकिरण मंडल से लेकर ना. धों. महानोर और विठ्ठल वाघ की संवेदनशीलता का कवियों को आकर्षण है। सजन-सजनी, राघू-मैना इस प्रिय कल्पनाबंधन से प्रेमविषयक रोमांटिक कविता का चित्र आंकने वाले टाइप इस समय में भी बड़े पैमाने पर पाए जाते हैं। इन कवियों ने परंपरागत लोकधुन का प्रयोग उसके लिए किया। इन दोनों काव्यप्रवृत्तियों को कवि सम्मेलनों ने बहुत बढ़ावा दिया है। ध्वनिमूलक, गद्यप्राय, वक्तृत्वपरक और विधिवाक्यात्मक कविता का विस्तृत चित्र आज की कविता के कक्ष में स्थिर हुआ है।

शहरी जीवन की संवेदना प्रकट करती काव्य धारा में कुछ एक ग्रामीण जीवन का गंभीरता से बोध हुआ है। विस्तृत भू-प्रदेश और वहां की कृषि समाज विश्व की अलग समझ इस कविता में व्यक्त हुई है। नए भौतिक समयपरिवेश के परिणामस्वरूप कृषि समाज में होते परिवर्तन के रूप इस कविता में हैं। कृषि जीवन, वैश्वीकरण के समय उपस्थित हुए कृषि के प्रश्न, कृषकों की आत्महत्याएं, प्रकृति की मनमानी, राजनीतिक व्यवस्था का दबाव और शोषणव्यवस्था का चित्र इस कविता में है। जैसे मूलतः कुछ धीमी गति से चलते शहरी प्रांत पर भौतिक जीवन के आगमन के साथ उनकी मानसिक स्थिति पर भी कुछ परिणाम हुआ है। यह परिवर्तन मुख्य रूप में मूल्यात्मक दृष्टि से प्रकट हुआ है। रिश्तें-नातों की दूरी, मानवता का हास, इस जैव सृष्टि में आई दरार का अंतरिक्ष, मूल्यों की गिरावट के रूप में प्रकट हुआ है। एक अर्थ में इस समय के शहरी समाज के वाचनचित्र इस कविता में हैं।

इंद्रजित भालेराव से श्रीकांत देशमुख तक की कविता में देहाती जीवन में आई गिरावट और परिवर्तन प्रभावी रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। किसानों का 'बली' की प्रतिमा में रूपांतरण हुआ है। सालोंसाल संसार का पोषक रहा किसान राजकीय-समाज व्यवस्था के शोषण का शिकार है। इस दृष्टि से ग्रामीण कविता में पिता के स्वरूप का, विस्तृत देखा गया बृहद चित्रफलक, वास्तव में देखने योग्य है। प्रकृति का दृष्टचक्र और व्यवस्था की शोषण यंत्रणा की अनेक पद्धतियां ग्रामीण कविता में प्रकट हुई हैं और कुछ बातों में मूल्य हास के संबंध की समझ भी इस कविता ने प्रकट की। अजय कांडर की कविता कोंकण में रहने वाले आम आदमी के जीने की अभावग्रस्तता और राजनीतिक सत्ता के विपरीत चलन को, ढूंढ लेती है। प्रवीण बांदेकर, वीरधवल परब, अजय कांडर ने कोंकण प्रांत के वर्तमान मानवी समूहों की स्थिति और किसी समय समाज को जिंदा रखनेवाले बुनियादी पुख्ता समाज की दुखती रग को जाना। भू-परंपरा की सजीव बातों का विस्मरण और भयावह वर्तमान में निर्मित हुई पेचीदगी इनकी कविताओं में साकार हुई है। कृषक स्त्री के दुख का स्वर भी कवि ने मुखरित किया है।

कल्पना दुधाल की कविता में भी ग्रामजीवन का यथार्थ रूप व्यक्त करते हुए, हरी-भरी नंदनकानन जैसी धरती का देखते-देखते 'करपा' कैसा हो जाता है, इस बात की अभिव्यक्ति है। उसी प्रकार से खेतों की माटी से गहरी संवेदना व्यक्त की गई है। कृषक स्त्री का जीवन ही नहीं, उसकी मौत तक उसके खेत से जुड़ी है, यह भी इस कविता ने व्यक्त किया है। भौतिक परिवर्तन ग्रामीण जीवन के लिए पोषक नहीं, बल्कि विरोधी है। 'विदेशों में खिलते सुंदर ट्यूलिप्स के खेतों का मोह तो है ही, उजड़े खेतों में फैले भुट्टे भी मोह लेते हैं। 'हाती काहीच येत नाही अनुदानाच्या उसन्या सावलीत/ ग्लोबल एरिया नेटवर्कमध्ये/ मी मात्र कव्हेरेज क्षेत्राच्या बाहेर' ऐसा विसंवाद है और 'जग जवल आलं.. लांब गेलं/ काय फरक पडतो बाई? ही तरह जगण्याची लढाई!'/ मी नेटवर सर्चमध ये टाईप केलं/ पोटाला काय घालू?/ तर उत्तरच आलं नाही?' इस यथार्थ का उद्गार कल्पना दुधाल की कविता में है।

मानववादी शहरी कविता में एक महत्वपूर्ण बात है कि कुछ जाति समूहों के संस्कृति स्तर का हुआ अलग चित्रण। अजीम नवाज राही, अनिल धाकू कांबली, रफीक सूर इनकी कविताओं में व्यक्त हुआ मुस्लिम मराठी संस्कृति का अनोखा समन्वय! मराठी परंपरा की मोहल्ला संस्कृति उसमें व्यक्त हुई है। विशेषकर अजीम नवाज और अनिल धाकू कांबली की कविता ने मुस्लिम जीवन के दुःख

और उनकी दर्दभरी संघर्षकथाएं व्यक्त की हैं। वे संवाद रूप में प्रकट हुई हैं। इस समय की कविता की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह धर्मचिकित्सा के द्वारा मुखर हुई है। अरुण काले, मंगेश नारायण काले, वीरधवल परब प्रवीण बादेकर, श्रीकांत देशमुख, कल्पना दुधाल इन कवियों की कविताओं में धर्म के चर्चाविषय प्रकट हुए हैं। इसमें दो प्रकार की प्रवृत्तियां दिखती हैं। एक तो, परंपरागत धर्मसंस्कृति के विवेक का बल नष्ट होने के समय का वाचन इस कविता में है। वारकरी और महानुभाव धर्म का विस्मरण इस दृष्टि से भी वह व्यक्त हुई है और दूसरी बात धर्म के हस्तक्षेप की संवेदना व्यक्त करती कविता है। आधुनिकीकरण के पायदान पर धर्म अस्मिता यह सामाजिक ध्रुवीकरण का हिस्सा बना है, यह भावना उसमें व्यक्त हुई है। धर्मभावना से सम्मोहित समाजशास्त्र निर्मित हो रहा है, यह भाव व्यक्त करती कई अच्छी कविताएं भी लिखी गई हैं। 'श्रीहुच्च केद्रविकेंद्रीकरण प्रथोमाध्यायम्' अथवा 'तुम्ही पाटावर बसून/ फक्त 'मम' म्हणा' (वीरधवल परब) इस अंध धर्मनीति का चित्रण इस समय की कविता में हुआ है।

इस समय की स्त्रियों की लिखी कविता और भाव कविता के संबंध में संक्षेप में कुछ विशेषताएं दर्ज करनी आवश्यक है। स्त्रियों के लेखन ने इस समय में कुछ एक स्थान प्राप्त किया है। बड़े पैमाने पर स्त्री लिखित कविता पर भी पुरुष वाङ्मयीन संस्कृति का प्रभाव है। पारंपारिक प्रेम विषयक कविताओं की राह पर, बहुत सी कविताएं स्त्रियों द्वारा लिखी जा रही हैं। रोमांटिक व पारिवारिक संकेतों का प्रभाव भी उस पर पाया जाता है। इस समय की स्त्री कविता का विचार करते वक्त हम पाते हैं कि अनेकविध विषयों की समझ उसमें है। साधारणतया बीसवीं सदी के अंतिम छोर पर स्त्री कविता को नई समझ और नई दृष्टि प्राप्त हुई है। स्त्रीत्व के नव प्रकाश में संसार को निरखने की दृष्टि उसे प्राप्त हुई। स्त्रीत्व को एक नव पहचान इस कविता ने प्रदान की है। समाज-संस्कृति के पुनर्वाचन की ओर से वह विस्तृत रूप में प्रकट हो रही है। आधुनिक विषय के आलोक में, उसके प्रकाश में वह अधिक चल रही है। पुरुष और स्त्री या द्वंद्व से वह आस-पास के जीवन की ओर देख रही है। भविष्य में इस काव्यधारा से अनेक नए उन्मेष प्रकट होंगे। उसकी व्यवस्था समकालीन कवयित्री कर रही हैं। पुरुष के मुंह में लगे इस रक्त से भय, दहशत की छाया, और किचन से बेडरूम तक अंत्ययात्रा के (नीरजा) उसके भाव प्रकट हो रहे हैं। 'बाईपण डिस्कनेक्ट करण्याची' (ज्ञानदा) भाषा उसमें प्रकट हो रही है और इसमें पुरुषविहीन वैकल्पिक संसार को अपनाने का प्रयास कर रही हैं। स्त्रियों की कविता में एक महत्वपूर्ण बात, अर्थात् पुरुष प्रधान संस्कृति के पुनर्वाचन का विशाल कैनवास इस कविता में प्रकट हो रहा है। स्त्री-पुरुष भेद के सर्वव्यापी संसार और 'स्त्री' का स्थान इस अनावश्यक बात का उस पर बहुत प्रभाव है। इसी कारण इस समय की स्त्री कविताओं में संभावित का एक महत्वपूर्ण फर्क है, 'मैं' 'तुम' का परिवर्तित स्वरूप। इस रिश्ते में कमाल का परिवर्तन आया है। विकसन के साथ वह अविकसन के संदेह की राह से स्वतंत्र हो, 'उसके' सिवा की राह अब रेखांकित हुई है। इस राह पर उसे और कई समाज संस्कृतियां और लिंगसमझ का दोगलापन व्यक्त करना है। इस दृष्टि से स्त्रियों की कविता में 'घर' का बंध, रिश्तों के बंध और 'उसके' खलत्वरूप को स्पष्ट करती समझ स्त्रियों की कविता में प्रकट हुई है, वैसे ही स्त्रियों की कविता ने मिथकसृष्टि का किया पुनर्वाचन यह भी महत्वपूर्ण फलश्रुति है। अनेक पुराण कथाओं का नवीन दृष्टि से वाचन किया है। ऐसा ही उन पुराण कथाओं के नवीन अन्वयार्थ और विपरीत

वाचन के अनेक मार्ग स्त्रियों की कविता में देखे जाते हैं।

बीसवीं सदी में मराठी में भाव कविता की एक संपन्न परंपरा थी। वह इन दिनों, कुछ हद तक क्षीण हुई दिखती है। इसके पीछे बदलते समय का दबाव हो सकता है। विविध भाव संवेदनाओं का जो निचोड़ पाना चाहिए, उसके लिए समय की अनुकूलता नहीं होगी कदाचित इसलिए इस कविता का स्वभाव बौद्धिक व दीर्घत्व की ओर झुका दिखता है। कविता की संपृक्तता की गहरी अनुभूति देता मितव्ययी रूप, पीछे छूट गया है। प्रफुल्ल शिलेदार, अभय दाणी, श्रीधर नांदेडकर, सरयू आसोलकर जैसे कवि भाव कविता की परंपरा समृद्ध कर रहे हैं। प्रेम और प्रीति भावना की विविध छटाएं, मौत के अनुभव के गहरे चित्रण, मानवी भावनाओं का तेजी से नष्ट होना और उनकी समझ का प्रकटीकरण इन कविताओं में हो रहा है।

इस डेढ़ दशक की कविता के स्वरूप संबंधी कुछ सर्वसाधारण पड़ताल निम्नांकित हैं- इस समय की मराठी कविता का संपूर्ण संभाषित ही बदल गया है। काव्य संभाषित में कमाल की विविधता है। पूर्व काव्यपरंपरा के काव्यरूप का सामर्थ्य देखते हुए भाषा की विविधता का खुला प्रयोग करने की संभावनाएं बढ़ गई हैं। पाठक को, उसकी पठनक्रिया को चुनौती प्राप्त हो ऐसे भाषारूप की निर्मिति इस समय की कविता में हो रही है। कविता वाङ्मय विधा की सूक्ष्मतर समझ, संवेदनाओं को महत्वपूर्ण स्थान है। कवि अपने विशिष्ट अनुभवों के अंकन द्वारा समझ, भावना, संवेदना, विचारों का वैशिष्ट्यपूर्ण चित्रण करता है। केवल इस सूक्ष्मतर संवेदनाओं के चित्रण पर समकालीन समय संकट लाना चाहता है। जिस प्रकार गति और भौतिकसृष्टि का दबाव निर्मित होता है, उसमें मानवी भावसंवेदनाओं पर प्रतिसाद आने की संभावना है। अब ऐसे समय में ही सृजनकर्ता को इस समय के चारों ओर से चुनौती होती है परंतु इस में राह ढूंढने और आस-पास की पेचीदा स्थिति सर्जन क्रिया में समाने की संभावना कवियों को ही निर्मिति करनी होगी। 'अवकाशाचे सांधे तेव्हा ठिकठिकाणी करकरत होते, जेव्हा मलवट भरलेली दुपार आली वाघावर बसून' इस प्रकार की अरुण कोलटकर की कविता में प्रकट होती समझ और भाषिक ऊंचाई का दर्शन यही मराठी कविता का एक महत्वपूर्ण प्राणबिंदु कहना होगा। इस समय की गति का और नव मूल्यनिर्मिति का स्वरूप कविता संग्रहों के शीर्षकों से भी ध्वनित होता है। 'थांबताच येत नाही', 'या रूममध्ये आलं की लाइफ सुरु होतं', 'स्माइल प्लीज', 'ततपप' इ.

प्रचलित समय में सबसे बड़ी फटकार यही है कि इस कविता की भाषा पर मानवीय जीवन का भाषिक संदेश रूप बदल रहा है। नेट और मोबाइल तकनिक प्रधान इलेक्ट्रॉनिक साधनप्रणित भाषा का स्वरूप सामाजिक जीवन में स्थिर हो रहा है। मानवी संदेशन जैसे इन माध्यमों द्वारा नियंत्रित हो रहा है। इस नवसंभाषित का प्रभाव इस समय की कविता में, उसके चित्रण पर है। अंग्रेजी व सायबर प्रणित भाषा प्रभाव का बहुत बड़ा असर समकालीन मराठी कविता पर है। कविता संग्रह के शीर्षक से लेकर भाषा के रूप पर और संपूर्ण कविता के स्वरूप पर यह असर है। इस नवभाषा की निर्मिति में अनजाने सदमे, अर्थ का विपरीत प्रयोग, मिक्सकोडिंग सायबर बोलियों से भरे-पूरे कई रूप इस कविता में हैं। मोबाइल संदेश चिह्नों से व्याप्त अनेक कविताएं दिखती हैं। यह भाषा न प्रभाव केवल शहरी कवियों पर ही है ऐसा ही ग्रामीण कवियों पर भी देखा जाता है। बालाजी मदन इंगले 'मेलं नाही अजून आभाल' अथवा कल्पना दुधाल की कविताओं पर इस नए समय की तकनीक

प्रधान भाषा का प्रभाव अनेक दृष्टि से देखा जा सकता है। मोबाइल स्क्रीन के संकेतचिह्न और ईमेल आईडी की परिभाषा में अनेक कविताएं हैं।

अंग्रेजी शब्दों का विपुलता से और अत्यधिक प्रयोग इस कविता में है। नए भौतिक परिवेश के दबाव का बहुत अधिक परिणाम इन संभाषितों पर हुआ है। वस्तुओं का, स्थानों, संवेदनाओं की विपुलता दर्शाते शब्दों का ब्योरा 'पठत' इस कविता में पाया जाता है। संगणक, सायबर विश्व से मॉल्सभारीत शब्दों के प्रयोग का इस कविता पर बड़ा प्रभाव है। मॉल, हाईवे, बिल्डिंग, ट्रैफिक, होर्डिंग अथवा ऑपरेटिंग मैनुअल, डीकोड करते समय, ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है। वह केवल शहरी कविता तक ही मर्यादित है, ऐसा नहीं बल्कि वह तो ग्रामीण, स्त्रीवादी और दलित कविता में भी देखा जाता है। बालाजी मदन इंगले की, मेलं नाही आभाल में कृषक जीवन की परिभाषा भी मोबाइल संप्रेषण प्रभावित है। सलील वाघ की एक कविता में केवल एस.एस.एस. के चिह्नसंभाषित दिखाकर दिन भर का दिनक्रम बताया है। श्रीधर तिलवे की 'संगणक आला त्या दिवशी' शीर्षक की कविता है। उसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार की हैं- 'माझं आखवं शरीर कुरतडून/ पलून चाललाय ह्या शतकाचा उंदीर/ आणि मी त्याने मागे सोडलेल्या माऊसवर स्वार होऊन गातोय/ संगणेशाची आरती (डेकॅथलॉन)। मेरा सारा शरीर कुतर के/ भाग चला है इस सदी का चूहा/ और मैं उसके द्वारा छोड़े गए माऊस पर सवार होकर गा रहा हूं/ संगणेश की आरती।

इस समय की कविता में एक और बात प्रविष्टि हुई है, वह है, कविता विधा में कई प्रकारों से कथन हो रहा है। मंगेश नारायण काले, सचिन केतकर व संजीव खांडेकर की कविताओं में इस कथन के प्रयोग हो रहे हैं। वैसे भी इस कथन में पुराणकथाओं के मिथकों के प्रयोग भी विविध पद्धतियों से हो रहे हैं। मिथक पारंपारिक प्रयोगों से कब के ढल चुके हैं। वह केवल पुनर्वाचन की दृष्टि से भी व्यक्त हो रहे हैं, इतना ही नहीं, इस मिथकसृष्टि का विपरीत और कल्पकता से प्रयोग होता है। इसके पीछे आधुनिक विश्वचेतना कार्यरत है, ऐसा प्रतीत होता है। इस कथन में अनेकविध बातों का मिश्रण हुआ है। इस कथन में संवाद का, सहजता से की गई बातों का, कॉमिक पद्धति का और परंपरागत कथाओं की शृंखला रूप के आवर्तनों का प्रयोग होते दिखाई देता है। इस पद्यकथन के लिए लोकपरंपरा के कथन का अंदाज भी इस समय के कवियों के आजमाया है। प्रवीण बादेकर, वीरधवल परब ने कोंकण प्रांत के दशावतार, इंद्रजीत भालेराव ने कहानियां और लोकगीत-ओवी, संतोष पवार ने ओव्या और लोकपरंपरागत कथन का प्रभावी उपयोग किया है।

आधुनिक कलादृष्टि का भी संबंध इस समय की कविता के स्वरूप पर भी हुआ है। विशेषकर यूरोप की चित्रकला, चित्रपट, शिल्प, वास्तु कला के कई संदर्भ इस कविता में हैं। उसी प्रकार संग्रह में भी कुछ पेंटिंग्स, चित्रशिल्प, रेखाचित्र देने की भी प्रवृत्ति आजकल पाई जाती है। संजीव खांडेकर ने अपनी कविता में ऐसा किया है। श्रीधर तिलवे ने 'स्त्री वाहिनी' में स्त्रीरूप में ही पूरी कविता कही है। पारंपारिक कविता का संकेतब्यूह नकारने की अथवा कविता का कवितापन ही नकारने का संकेत इस समय की कविता में निर्मित होना चाहता है। खांडेकर की एक कविता का शीर्षक है, 'रंप' (सिक्वेन्स नोट्स) और उसका उपशीर्षक है, 'ही कविता नव्हे' अर्थात् यह कविता नहीं है।

नाटक की परिभाषाओं का भी उपयोग इस समय की कविता में हो रहा है। दिनकर मनवर और वीरधवल परब की कविताओं में इस तकनीक का विपुल मात्रा में उपयोग किया गया है। 'मम म्हण'

में वीरधवल परब ने कोंकण के दशावतार संकासुर के संभाषित का प्रयोग किया है। उसी समय वह कथनरूप में भी आता है। नांदी, भरतवाक्य और विधान ऐसी आख्यानकथनों में भी वर्तमान निहारा है। इस समय की कविता में हिंस्रता की, आक्रमण की, खरोंचने की, प्रतिमाएं बारंबार प्रकट होती हैं। स्वरूप की दृष्टि से इस समय के रचना प्रकार में लंबी कविता के रूपबंध में कई कवियों ने कविताएं लिखी हैं। अरुण कोलटकर, श्रीधर तिलवे, संजीव खांडेकर, मंगेश नारायण काले, सलील वाघ और इंद्रजीत भालेराव, संतोष पवार, अजय कांडर, प्रवीण बांदेकर की लंबी कविता का काव्यरूप वैविध्यपूर्ण पाया है। आस-पास के उत्तर आधुनिक समाज की दिशा और भीड़ भरी चिह्नसृष्टि की समझ व्यक्त करने के लिए, लंबी कविता का रचनाबंध आया है। सामाजिक आशय बताती लोक परंपरा की पद्य कहानियों से नाता कहती कुछ लंबी कविताएं पाई जाती हैं। उसी प्रकार गद्य कथा कथन का समायोजन भी इस रचना प्रकार में पाया जाता है।

नव-औद्योगिक नव-पूँजीवादी सायबर प्रभावित विश्व का और सर्जनक्रिया की भाषा के सहसंबंध के विषय में चंद्रकांत पाटील ने एक बहुत अच्छी टिप्पणी दर्ज की है, 'हमारा समय औद्योगिकता के अनियंत्रित विकास का समय है। औद्योगीकरण और वैश्वीकरण के संयोग से अंतरिक्ष का विस्तार भी उसकी अंतिम सीमा तक पहुंच गया है। आकाश के इस तरह के विस्तार से आज का कवि संभ्रम में है। वह विचित्र समस्याओं में उलझ गया है। आकाश भारी होने से उसका ध्यान समय से उचट गया है। समय की अनुभूति उसे निरर्थक प्रतीत हो रही है। समय से संबोधित व्यवस्था और विद्रोह भी उसे असंगत लगने लगा है। कालातीत होकर नियम और सिद्धांतों का यथार्थ शोध करने की कल्पना भी वह नहीं कर सकता। अंतरिक्ष के विस्तार ने उसकी भाषा को पंगु बना दिया है। अंतरिक्ष से जूझने का सामर्थ्य पारंपरिक भाषा में नहीं है और नई भाषाई रणनीति स्वीकार पाना उसके लिए असंभव है।' (चंद्रकांत पाटील, कवितेसमक्ष, 173)

वैश्वीकरण के प्रभाव के समय में जिन कवियों का जन्म हुआ है, ऐसे नई पीढ़ी के युवा कवियों का प्रवेश मराठी कविता संस्कृति में हुआ है। ऐश्वर्य पाटेकर, रवी कोरडे, वीरा राठोड, सत्यपाल सिंह राजपूत, विनायक येवले, बालिका ज्ञानदेव, संदीप जगदले, सुशील शिंदे, महेश लोंडे, जयप्रभू कांबले, अनिल साबले, शर्मिष्ठा भोसले जैसे कवि नई कविता की नई लिपि गढ़ रहे हैं, जिनकी आयु 30 से 35 के बीच है। नया संसार, नई संवेदनशीलता उनकी कविताओं में साकार हो रही है।

इक्कीसवीं सदी के महत्वपूर्ण कविता संग्रह इस डेढ़ दशक में प्रकाशित हुए हैं जिनमें अरुण कोलटकर का 'भिजकी वही', 'चिरीमिरी', नामदेव ढसाल का, 'निर्वाणा अगोदरची पीडा', वसंत आबाजी डहाके का, 'चित्रलिपि', अरुण काले का 'नंतर आलेले लोक', भुजंग मेश्राम का 'अभुज माड' के संग्रह प्रमुख हैं। सारांश में विगत डेढ़ दशक की मराठी कविता विपुल और वैशिष्टपूर्ण है। इस समय के दबाव से वह निष्पन्न हुई है। वैश्वीकरण प्रभावित काल में सायबर समाज के गढ़ने की प्रतिक्रिया स्वरूप वह निर्मित हुई है। उसमें एक ही साथ परस्पर भिन्न भावों का मिश्रण है। महानगरीय संवेदना से शहरी जीवन की समझ का वह प्रकटीकरण करती है। आधुनिकतावादी भाव से आधुनिकोत्तर समझ का चित्र उसमें है। भाषा की दृष्टि से नई चिह्नसृष्टि की वह संवाहक है। सायबर भाषा के विपुल चिह्न उसमें है। भविष्य की मराठी कविता की बुनियाद तैयार करने का श्रेय समकालीन कविता को ही दिया जाएगा क्योंकि, इतनी विविधता उसमें समाई हुई है।■

नवें दशक के बाद स्त्रीवादी काव्य

नीलिमा गुंडी

अनुवाद : सुनील देवधर

स्त्रीवादी काव्य - स्वरूप और विस्तार

सन् 1975 का वर्ष यूनाइटेड नेशन्स ऑर्गनाइजेशन ने अंतरराष्ट्रीय स्त्री वर्ष (और उसके बाद स्त्री दशक के) के रूप में मनाने का निर्णय लिया, जिसने मराठी काव्य में एक नए प्रवाह की दिशा तय की। इस काल खंड में आरंभ हुआ स्त्री-मुक्ति आंदोलन ने मराठी साहित्य विश्व में नई हलचल पैदा की। इस आंदोलन के कारण अन्य देश-भाषा के नए स्त्रीवादी विचार अनुवाद के माध्यम से लेखक और पाठक तक पहुंचे। आंदोलन के लिए लिखी गई प्रचार सामग्री से नई साहित्य विधाओं को गति मिली।

उदाहरणार्थ 'मुलगी झाली हो' (लडकी जनमी हैऽऽऽ) इस नुक्कड़ नाटक के पारंपरिक स्वरूप के स्त्री विषयक खेलों की छाप व ताल का इस्तेमाल कर लिखी गई ज्योति म्हापसेकर की कविताओं को याद करें। नारी मन से संवाद करते हुए उसकी, अनुभूतियों को जगाने वाली कविताओं का लचीला रचना स्वरूप, इस विद्या से निर्मित हुआ। स्त्री केंद्रित कविता लेखन को बड़ी मात्रा में गति मिली। ये सभी कविताएं स्त्रीवादी नहीं थीं, लेकिन इनसे ही धीरे-धीरे स्त्रीवादी कविता को प्रवाह और विस्तारित होने में मदद मिली। मलिका अमर शेख का काव्य संग्रह वालूचा प्रियकर (1979) ने अपने सांस्कृतिक विद्रोही स्वर और असांकेतिक कल्पना प्रवणता में प्रस्तुत स्त्रीवादी कविताओं के कारण अलग पहचान बनाई। हिरा बनसोडे का 'फिर्याद' (1984) रजनी परुलेकर का 'दीर्घ कविता' (1985), अश्विनी घोगड़े का 'स्त्री सूक्त' (1988) भी 1990 के पहले के महत्वपूर्ण स्त्रीवादी काव्य संग्रह हैं। 1990 के बाद स्त्री केंद्रित और स्त्रीवादी कविताओं के प्रवाह में वृद्धि, इसकी एकमात्र कसौटी नहीं है। महानगर से लेकर ग्रामीण स्तर तक, विविध आयु वर्ग की विविध सामाजिक स्तर की महिलाओं ने, इस प्रकार का लेखन किया है। स्त्रीवादी काव्य आशय-अनुगामी काव्य प्रकार है। स्त्री जीवन की पड़ताल करती ये कविता कभी परंपरा के अक्ष से, तो कभी विद्रोह के छोर पर से अपनी ही पड़ताल करती दिखती हैं। भिन्न कल्पना-शीलता, स्त्री पुरुष के नाते संबंध की प्रचलित मूल्य कल्पनाओं को शह, पुरुष सत्तात्मक, शोषणकारी समाज व्यवस्था के दांव पेंच समझने वाला पैतरा और परिवर्तन का दृढ़ निश्चय इस कविता की सामान्य विशेषताएं हैं। स्त्री-पुरुष समानता की स्थापना के लिए समाज में समझ और जागृति और मूल्य संक्रमण तैयार करने में, इस कविता की महत्वपूर्ण

भूमिका है। प्रस्तुत लेख में इस कविता के महत्वपूर्ण आशय सूत्रों के संदर्भ में विचार किया गया है। स्त्रीवादी काव्य के साथ ही स्त्री केंद्रित कविता में भी स्त्रीवादी अर्थ और विचार मिलते हैं, इस बात पर भी विचार किया गया है।

स्त्रीत्व की प्रतीति

स्त्रीवादी काव्य का आधार यह है कि इसके 'स्त्रीत्व' की संकल्पना में स्त्री मात्र प्रकृति से उपजी जैव स्वरूप की घटना होकर परंपरा की प्रदीर्घ व्यवस्था की संस्कार स्वरूप रचना है। स्वाभाविक ही है कि इस प्रतीति में कवयित्रियों का आत्मशोध भी उजागर हुआ है। यह यात्रा आत्मसंवाद, आत्मकलेश, स्वकरुणा, आत्म परीक्षण जैसे पड़ाव का अनुभव लेते आत्म-स्मरण (प्रतीति) तक पहुंचती है। सरिता पदकी लिखती हैं -

तीसरा अंक खत्म होते-होते, दिन समाप्त हो जाता है

शौक के लिए चढ़ाया रंग लिप जाता है

मूल रंग कौन सा, ये प्रश्न नहीं उठता,

तेल घी में चिपका हुआ मन, आकाश में नहीं उड़ता। ('लगन गंधार' 2006)

पहले की पीढ़ियों की पारंपरिक विचार की स्त्री अपनी ओर अतृप्त भाव से देखते हुए अपनी सीमाओं को पहचानने का, दृश्य इन पंक्तियों में है। कभी उसे परंपरा के प्रकाश में जागृति भी करनी है, तो इस रूप में -

ओ बाई जरा ध्यानु करो, बांसुरी कृष्ण के ही हाथ में होती है,

राधा के हाथ तो फुंकनी के सिवाय कुछ नहीं होता। ('सांगी' 2003)

अनुपमा उजगरे की उक्त पंक्तियां, पुरुष सत्तात्मक संस्कृति में स्त्री के हिस्से आई भूमिका की लक्ष्मण रेखा को सटीकता से इंगित करती हैं। स्त्री और पुरुष के बीच के ये दोहरे मापदंड ही स्त्री की प्रगति में बाधक सिद्ध हुए हैं। इस अन्याय की अनुभूति स्त्री को इन कविताओं से होती है। अश्विनी घोंगड़े की कविता 'पाण्याच्या जातीची' (पानी के नस्त की), स्त्रीत्व का रहस्य 'कुमारी मी युगा-युगाची' (मैं कुंवारी युग-युग की) के रूप में खोजती है और स्त्री मन पर निरंतर होने वाले बलात्कार के भय को उतार फेंकना चाहती है। ('अपौरुषेय' 1998)

नीरजा का काव्य संग्रह 'स्त्री-गणेशा', प्रज्ञा दया पवार का 'उत्कट जीव धेण्या धगीवर' कविता महाजन का 'तत्पुरुष', अश्विनी घोंगड़े का 'अपौरुषेय' सिसिलिया काव्होलो का 'दारातल्वा रांगोली चे रंग', अंजलि कुलकर्णी का 'बदलत गेलेली सही' सुनीता इनाड़े का 'कॉमन वुमन', 'वसुंधरा तारकरका', 'बाई माणसाच्या संज्ञेतून', ज्योत्सना। चांदगुड़े का 'तेजस्वला' प्रभा सोनावणे का 'अनिकेत' वैशाली मोहिते का 'ती' आदि अनेक काव्य संग्रहों से स्त्री के आत्मशोध की यात्रा के अलग-अलग पड़ाव जाने जा सकते हैं। कवयित्री मीरा लिखती हैं -

हजारों वर्ष तुम्हारे साथ, निर्वस्त्र रहकर भी उसके मन के भीतर एक जगह अब भी शेष है
कोरी करारी अनछुई ('आत्मनाद' 2007)

ऐसी अनुछुई भावनाएं इस कविता में मुखर हुई हैं। इससे उत्पन्न आत्मभान' को व्यापक स्तर पर व्यक्त करते हुए आसावरी काकड़े लिखती हैं-

'स्त्री होना यानी... स्त्री होने का अर्थ-यानी)संरक्षण करना अस्तित्व का अक्षांश रेखांश'

(‘स्त्री असव्याचा अर्थ’ 2005)

पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते लगाते अपना भी चक्कर लगाती है, इस वैश्विक सत्य पर आधारित कल्पना से नीलिमा गुंडी स्त्री को उसकी आत्मशक्ति का दर्शन कराती हैं - इस रूप में-

हे पृथ्वी
तुम्हारी ताल पर नाचने वाले
मेरे भी यहां के पग
अब ठिठके हैं थोड़े और
लेंगे अपनी ही आहट। (‘स्पर्श रेखा’ 1996)

और कवयित्री नीरजा लिंग-भेद से ऊपर उठकर केवल मानवीय संबंधों पर आधारित, भावी विश्व का स्वप्न प्रभाव पूर्ण रीति से शब्दांकित करती हैं। इस कविता में संघर्षपूर्ण आत्म-प्रतीति खुलकर सामने आती है -

स्त्रीत्व पुरुषत्व/ जैसे शब्द
उखाड़ फेंकने हैं
खून में समाई जड़ों सहित
सिर्फ स्वत्व के लिए
बना देनी है अब जगह

तुम्हारे मेरे रक्त में। (‘भी माझ्या थारोक्यात’ 2005)

स्त्री की आत्मशोध की इस यात्रा में उसे अपने जीवन के धीरे-धीरे खुलने वाले द्वार का भान कई रंगों वाले कैनवास के सदृश्य हैं। आत्म करुणा से लेकर विद्रोह तक के विविध रंग उसमें उभरते हैं। आज तक की स्त्री काव्य-परंपरा के संदर्भ में अपने स्त्रीत्व से संबंधित स्वतंत्र शरीर संवेदन विश्व, शब्दबद्ध करने का साहसी कदम, काव्य क्षेत्र में स्त्रीवादी कविता ने रोपा है। स्त्रीवादी कविता की संकल्पना के लिए ‘वाइल्डजोन’ का स्मरण करना होगा। स्त्री के ‘मौन’ लांघने की सांकेतिक अभिरुचि की सीमा निडरता से लांघना यहां जारी है। मल्लिका अमर शेख, अश्विनी घोंगड़े, श्यामला वनारसे, हेमा लेले आदि कवयित्रियों की कविताएं इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। रजनी परुलेकर स्त्री की इच्छा के विरुद्ध हुए विवाह के बाद आयोजित समागम का वर्णन करते हुए स्पर्श कल्पना प्रवण भाषा में लिखती हैं-

और चंद्रमौली छप्पर से सजोहरा गिरें
ऐसे दिन-रात,
अँधियारे के कतरे हुए टुकड़े
देह पर गिरते रहे। (दीर्घ कविता 1985)

कुल मिलाकर सांस्कृतिक अन्याय परंपरा की तरह ही काव्य क्षेत्र की सांकेतिक सांचेबंदी भी इस काव्य प्रवाह ने नकार दी है और ऐसा करते हुए इस कविता ने परंपरा में डूबी हुई और रति प्रतिमा में कैद रहने वाली सुंदर स्त्री का ‘मिथ’ भी अस्वीकार किया है। नई सौंदर्य दृष्टि का ध्यान रखते हुए प्रज्ञा दया पवार लिखती हैं -

अमित हैं चेहरे मेरे

पत्थर की तरह

सख्त

और दुलार से अधिक

असंख्य है मेरे विभ्रम। ('दृश्यांचा ढोब-समुद्र' 2013)

इतना ही नहीं प्रचलित कल्पनाओं को चुनौती देते हुए चलते बोलते 'नादान बाई मी' (मैं नादान औरत) का पैतरा भी वे लेती हैं। दूसरी ओर नीरजा अपने संग्रह 'वेणा' की कुछ कविताओं में परंपरा में निहित स्त्री की गौरवपूर्ण मातृप्रतिभा को झटककर उसके अंतर्मन को व्यक्त करती हैं। परिवर्तन के लिए, विद्रोह का स्वर भी, कुछ अवसरों पर आवश्यक होता है। इसकी प्रतीति स्त्रीवादी कविता में व्यक्त हुई जान पड़ती है।

परंपरा से द्वंद्वत्मक संबंध

स्त्रीवादी कविता के कारण स्त्री काव्य का क्षेत्र केंद्र में न होकर परिधि की ओर झुका है। सफेद-पोश मध्यमवर्गीय जीवन का प्रेम, पतिव्रत, वात्सल्य आदि मूल्य संकल्पनाओं के कारण अब तक की नारी जाति की घुटन और विविध सामाजिक स्तरों पर किनारे पर खड़ी स्त्री की दुर्दशा का चित्रण इस कविता में हुआ है। आज की दलित स्त्री की कविता फुले-अंबेडकर के विचारों से प्रभावित होकर आत्म-प्रतीति को व्यक्त करने वाली हैं। हिरा बनसोड़े, ज्योति लांजेवार, संध्या रंगारी, उषा हिंगोणेकर, प्रज्ञा दया पवार, छाया कोरेगांवकर आदि की कविताएं महत्वपूर्ण हैं। प्रज्ञा दया पवार के काव्य संग्रह 'मी भिड़वू पाहतंय समग्राशी डोल' (मैं आँख मिलाना चाहती हूँ समग्र से) दृश्यांचा ठोवल समुद्र (दृश्यों का उथला समुद्र) उत्कट जीव घेण्या धगी वर (उत्कट जानलेवा विकीर्ण उष्मा पर) की कविताओं में वंचित स्त्री को लेकर प्रस्तुत तड़प और न्याय के आग्रह के कारण अलग पहचान बनाते हैं। भाषा कविता के लिए प्रभावी और उत्तरदायी माध्यम है, इसकी अनुभूति भी उन्हें है। 'आरपार लयीत प्राणांतिक' इस लंबी कविता में तमाशा साम्राज्ञी पिठाबाई मांग नारायणगावकर के जीवन का चित्रण गहराई तक स्पर्श करता है। वे स्त्रीत्व के संदर्भ में वेदना से कराहकर लिखती हैं-

विठामाई/ मैं नहीं देख सकती तुम्हारी ओर ऐतिहासिक वस्तु संग्रहालय में रखे, किसी एंटिक पीस की तरह। (आरपार लयीत प्राणांतिक 2009)

मल्लिका अमर शेख ने मुंबई की अधोसृष्टि का चित्रण महानगर में किया है। इसी तरह वेश्याओं के जीवन का चित्रण भी कुछ कविताओं में है। संगीता वर्वे, अंजलि कुलकर्णी, सुजाता महाजन, अनुराधा पाटील, सुचिता खल्लाल, कल्पना दुघाल, बालिका ज्ञानदेव, माया पंडित की कविताओं में भी उपेक्षित और मध्यमवर्गीय चौखट से बाहर की स्त्री का जीवन स्पष्ट रूप से चित्रित है। इस कारण इस दृष्टि से परंपरा की ओर देखते हुए माया पंडित लिखती हैं -

प्लीज जरा, जबान संभालें

प्रेम वेम न बोलें

या माया और दया और करुणा

या फिर और भी ऐसा ही कुछ नर्म मुलायम

ये तो केवल रटी हुई ठंडी आहों को पोसना। (मिलून सारया जणी जुलाई 2015)।

ऋतुजा माने मुरली का जीवन चित्रित करने वाली कविता 'एक प्रश्न' में लिखती हैं -

(देवता का) भक्त

मुझे लेकर मंदिर में गया

तब से

मौसी मेरी सौत हो गई

सब कुछ ढांक डाला तब भी

पेट फूलकर ऊपर दिखने लगा

अब इस पेट का और

गहरी-गहरी होती भूख का मैं क्या करूं? (उमाला 2004)।

ग्रामीण स्त्रियों के जीवन उनकी किसानों और राजनीति से संदर्भित अनुभवों का चित्रण, नीलम माणगावे, कल्पना दुधाल, प्रतिभा इंगोले, सई ललिक, ललिता गादगे आदि कवयित्रियां कर रही हैं। इन कविताओं में विवेचन मात्र न होकर शोषण का संज्ञान भी लिया गया है।

उषा आत्राम और कुसुम अलाम जैसी आदिवासी कवयित्रियां, शासन और नक्सलवाद के दुहरे संघर्ष का मुकाबला करते हुए जीवन जीने वाले आदिवासियों की सिर्फ व्यथा को ही व्यक्त नहीं करतीं बल्कि उन्हें प्रतिकार के लिए भी तत्पर करती हैं।

बहुत हुआ सहना, उठो तेज-तेज जाएं

तीर कमान की धार अब लेखनी में लगाएं। (रानपाखरांची माय-2000)

यही उनके लेखन की प्रेरणा है। भटके विमुक्त समाज के कोल्हाटी जाति की सुषमा अँधारे का काव्य संग्रह 'शापित पैजण' प्रकाशित हुआ है। बालिका ज्ञानदेव के काव्य संग्रह 'मैगाझिनीतून सुरटेए गोली' (मैगजीन से छूट रही गोली) 2014 में पहली बार खाकी वर्दीधारी महिलाओं की व्यथा स्पष्ट हो रही है और अन्याय की सटीक पड़ताल भी की है। इस तरह अब तक की मूक ध्वनियां इस काव्य में मुखर हो रही हैं।

कामकाजी महिलाओं ने भी स्त्रीवादी कविताएं लिखी हैं। इस कारण भिन्न प्रकार के जीवनानुभव इस कविता में समाविष्ट हुए दिखते हैं। सीखचों के पीछे की व्यथा व्यक्त करने वाली कविताएं लिखने वाली शैला लोहिया ने एक कविता में अत्याचार-ग्रस्त भवरी बाई से संवाद किया है। साथ ही, 1995 की अंतरराष्ट्रीय महिला परिषद् में सहभागी के बतौर अपने अनुभवों को भी शब्दबद्ध किया है। सीमा साखरे का संग्रह 'बाई' और मेघा सामंत का काव्य संग्रह 'सखी' स्त्री-शोषण के चित्र कभी सीधे तौर पर तो कभी व्यंग्यात्मक शैली में चित्रित करते हैं :

खबरों का मसौदा बदल गया

लेकिन स्त्रियों को जलाना नहीं रूका

सच कहूं तो उनके जलने की

समाज को तपन भी नहीं लगी

कितनी जलीं और कितनी बुझाई गईं

इसका हिसाब ही नहीं किया

लेकिन मेरे भीतर जलने वाली औरत

कभी भी ठंडी नहीं हुई। ('बाई 2003')

डॉ. सीमा साखरे के उक्त भाव प्रतिनिधित्व करते हैं। इन कविताओं में एक और मध्यमवर्गीय स्त्रियों के मन की अतल गहराइयों के शब्द सुनाई देते हैं तो दूसरी ओर साहित्य जगत से अब तक दूर रहे समाज समूहों की स्त्रियों के शब्द भी प्रकट हो रहे हैं। दलित स्त्री-काव्य के संपादित संग्रह का शीर्षक है 'युगाचे हुंदके' (युग की ऊसांसे) (1998) इसे अनदेखा नहीं किया जा सकता।

भगिनी भाव

लिंग भेद भाव पर आधारित विषमता दूर करने की इच्छा रखने वाले स्त्रीमुक्ति आंदोलन की वैचारिक स्थापना है। भगिनी-भाव यानी कि स्त्रीवादी कविता भी एक विशेषता यह कि इन कविताओं से व्यक्त होने वाला समस्त स्त्री जाति विषयक भगिनी-भाव। अनुराधा पाटील के काव्य संग्रह 'माझ्या डोलयांसमोरून' (मेरी आँखों के सामने से) अपनी इस कविता में उन्हें पैरों में पत्ते बांधकर रास्ता तय करने वाली कोई भी स्त्री अपने से अलग नहीं लगती। कविता महाजन 'आपणच' (आप स्वयम्) कविता में अपनी ही छाया में बैठी स्त्री का चित्रण करते हुए लिखती हैं-

'हम स्वयम् पानी, हम स्वयम् नमी

अपने जीवन का, खुद को ही मोल' (तत्पुरुष 2005)

रजनी परूलकर न्यायाधीशों से कहती हैं -

'इन सारी स्त्रियों के मूक आक्रोश से

हवा के समूह भी (तप्त) संतप्त हुए हैं मीलॉर्ड' (पुन्हा दीर्घ कविता 1999)

उषाकिरण अत्राम गंभीर नेतृत्व की धुरी सम्हाले कहती हैं -

'लो ये जलती मशाल

में निकली-पीछे आप भी आएँ।' ('म्होरकी' 1997)

अंजलि कुलकर्णी लिखती हैं -

आस-पास के सगे संबंधियों को/ मदद करो उन्हें फूल गूंधने में

उनके अपने सिरपेंच खोंपने में

हाथ दो पहाड़ की चढ़ाई चढ़ने में। (बदलत गेलेली सही 2009)

वहीं स्त्री को उसके भीतर की चिंगारी का स्मरण कराते, मल्लिका अमर शेख कहती हैं-

में एक स्त्री/ग्रीक की/अमेरिका की/अफ्रीका की

क्या फर्क पड़ता है इससे/...

औरतें होती हैं एक अणु का कण

विश्व के महास्फोट का एक क्षण। (मानुषपन का चष्मा बदलने पर 2007)

समस्त महिला विश्व के रिश्ते को संबोधित करते हुए नीलिमा गुंडी लिखती हैं -

में लिखूंगी ही लिखूंगी

चक्की पीसते हुए, अब तक बचे हुए, मुट्टी भर दाने जिन्हें नहीं पीसा गया अभी कोमल मन से चुनती रहूंगी मैं लिखूंगी ही लिखूंगी। (प्रकाशाचे अंग 2005)

वहीं जागृत अनुभूतियों के साथ स्त्रियों के कल्पना चित्रों के प्रत्ययकारी भाव व्यक्त करते हुए नीरजा लिखती हैं -

आदिम अंधकार का अर्थ पहचानने वाली औरतें
लिखने लगीं तेजगति से
नए अक्षर

पुरानी दीवार पर (स्त्री गणेशा 2003)।

इस तरह स्थान और समय, जाति और धर्म की दीवारों को लांघकर उड़ाने भरते भगिनी-भाव के नए मूल्य स्त्रीवादी काव्य में आकार लेने लगे हैं। सामाजिक परिवर्तन के लिए स्वतंत्रता, समता, बंधुता आदि मूल्यों के विषय में हम हमेशा सुनते रहते हैं, अब उसमें भगिनी-भाव जैसे महत्वपूर्ण मूल्य का भी समावेश हुआ है।

समकालीनता का ज्ञान

मराठी की सौंदर्यवादी परंपरा के पहले की स्त्रीवादी कविता की अपेक्षा वर्तमान स्त्रीवादी काव्य की बुनावट अलग है। उसके यथार्थवादी रूप में समकालीन प्रश्नों की पड़ताल भी हुई है। स्त्री पर होने वाले बलात्कार अन्याय, हिंसा, दंगे, वैश्वीकरण के बाद विकसित भोगवाद और इस कारण स्त्री को वस्तु समझना, स्त्री-भ्रूण-हत्या, राजनीति में आरक्षित जगह से चुनकर आई महिला पर होने वाला अन्याय, किसानों की आत्महत्या, पर्यावरण विनाश, आदि अनेक प्रश्न इन कवयित्रियों के संवेदन विश्व में स्थान पाते दिखते हैं। इन प्रश्नों की ओर देखने का उनका दृष्टिकोण कभी धारदार तो कभी व्यंग्य के रूप में तो कभी भावना प्रधान भी होता है। मल्लिका अमर शेख हिंसा के संदर्भ में व्यंग्य करते हुए लिखती हैं -

हम सटीक, सिर्फ ऐसी ही पड़ताल करते हैं,

जिससे हम अपने को ही

सुविधा से, अलग-अलग तरीके समूल मार सकें

अखंड रूप से। (माणूसपणाच भिंग बदलल्यावर 2007)

नीरजा ने भी, हम खेलें खेल/ एक दूसरे को जिंदा जलाने का (निरर्थकाचे पक्षी-2010) कहते हुए हिंसा पर तीखा प्रहार किया है। साथ ही, इन दिनों जातीय और वर्गीय तनाव बढ़ाने वाला यथार्थ समस्त स्त्री जाति को फिर से चार-दीवारी में कैद कर रहा है। इस सत्य का बोध भी आज की कविता को है। खैरलांजी हत्याकांड में हुए घोर अन्याय पर प्रज्ञा दया पवार लिखती हैं -

कितनी दूर है अभी,

जाति भेद मिटाने का संघर्ष...

कितनी दूर है अभी,

लाइन में

खड़ा अंतिम आदमी,

कितनी दूर है अभी

लाइन में भी न आस की औरत। (दृश्यांचा ढोबल समुद्र 2013)

राजनीति में शामिल स्त्री की छटपटाहट पर नीलम माणगावे लिखते हैं -

अब जान गई हूं मैं

गल्ली से लेकर दिल्ली तक

कहीं भी जाओ
घर-गृहस्थी वाली औरत की राजनीति
ये एक सिल है
बाकी सब ओर बढ़ा है। (उद्ध्वस्तायन 2008)।
वृशाली किंहालकर सोनोग्राफिक मशीन से ही प्रश्न पूछती हैं -
तुम तो साक्षात्/ सूक्ष्म-ध्वनि लहरियों का कंपन
तब कैसे नहीं सुन पाती तुम/ कोमल बालिकाओं का स्पंदन (वारी.2004)।

वैज्ञानिक तकनीक अनुसंधान के कारण सरोगेसी, स्त्रीभ्रूण हत्या का इस रूप में, स्त्री शोषण, के विरुद्ध प्रखर स्वर भी कुछ कवयित्रियों की कविताओं का विषय है-उषा मेहता, प्रभागणोरकर, मनीषा साधू, कविता महाजन, अस्मिता गुरव, सारिका उबाले परलकर ने भी समकालीन स्त्री के व्यथाभरी कहानियों को अपनी कविताओं में स्थान दिया है। इन कविताओं में जागरूकता महत्वपूर्ण है।

वैश्वीकरण, समकालीन परिदृश्य में एक बड़ी समस्या है। उसका मुकाबला करने में होने वाली सांस्कृतिक चीख-चिलाहट को भी स्त्रियों ने ध्यान से सुना है और चिंता भी व्यक्त की है - नीरजा लिखती हैं -

कौन-सा ग्लोबल साबुन है आपके पास
जो करेगा साफ, बुद्धि पर चढ़ा मकड़जाल। (निरर्थकाचे पक्षी 2010)।

संध्या रंगारी ने संध्यारंग में दंगों की कविता आंदोलन की कविता इस तरह विभाग बनाकर, समकालीन यथार्थ की कविताओं को स्थान दिया है। इस ई जेड क्षेत्र, नेतृत्व से मिली निराशा, भ्रष्टाचार आदि उनके संदर्भ में ये कविताएं यथार्थ पर प्रहार करती हैं -

दंगों में, बंदूक की गोलियों की बारिश
दंगों के बाद सहायता की बारिश।
चुनाव में मतपत्रों की बारिश (संध्यारंग-2010)।

वहीं 'सिजर कर म्हणतोए माती' काव्य संग्रह की कवयित्री कल्पना दुधाल किसानों की आत्म-हत्या के विषय की अनुभूति कराते हुए मूल साहस के खोने के, इस समय के प्रति भी अपने नए काव्य संग्रह में, चिंता व्यक्त करती हैं-

पेड़ पर लटका हुआ आदमी
दिखे न इसलिए
चक्कर मारकर घर में जाएं।
तब भी पंखे, ओढणी, दवाइयां और ऐसा ही कुछ
दिखता है झट से
आँख पर पट्टी बांध लेने से पहले।(धग असतेच आस-पास-2016)

पास के यथार्थ की तरह ही दूर के विस्थापितों की वास्तविकता भी किसी कविता में, गहरी संवेदना के साथ समीप आई दिखती है। स्त्रीवादी कविता दूध से लिखी जाती है। उसमें करुणा का स्वर अनुस्यूत होता ही है। उषा मेहता 'आलेन' में पलायन के दरम्यान मृत्यु को प्राप्त सीरियन बच्चे

को माध्यम बनाकर लिखती हैं -

और अब ये आलेन

बोरहुम के तट पर मरा पड़ा

सारे विश्व की हताशा इस बच्चे की देह में

तडफड़ा रही हैं असंख्य मक्खियां प्रचंड-प्रचंड जाल में। (काटेसावर 2016)।

स्त्रीवादी कविता, केवल स्त्रियों के जीवन तक सीमित नहीं बल्कि आस-पास के समग्र को अपने सजग परिप्रेक्ष्य में स्वयम् की संवेदन दृष्टि से चित्रित कर रही है। मराठी कविता का प्रवाह, इस स्त्रीवादी कविता के कारण अपने भिन्नत्व में उजागर है।

उपसंहार

आज की तारीख में, स्त्रीवादी काव्य के आशय-अभिव्यक्ति में कुछ भिन्नत्व और प्रकार दृष्टव्य हैं, जिसे रेखांकित करना आवश्यक है। रजनी परुलेकर, नीरजा, मीनाक्षी पाटील, प्रज्ञा दया पवार, ने लंबी कविताओं के रचना कौशल को प्रभावी ढंग से निभाया है। मल्लिका अमर शेख का 'महानगर', नीलम माणगावे का 'कंदिल', 'काठी आणि तू' जैसे संग्रह मौलिक कविताओं के उदाहरण हैं। मंदा कदम का खण्डकाव्य 'सखी सावित्री' एक प्राचीन काव्य परंपरा की नए संदर्भों के अनुरूप रची गई काव्य रचना है। भोंडला की पारंपरिक गीत रचनाएं, स्त्री जीवन से संबंधित पारंपरिक खेलों की ताल पर आधारित गीत, वर्तमान यथार्थ से जोड़कर अभिव्यक्ति की अलग बुनावट करने वाली कविताएं भी इसमें हैं। सुमति लांडे की एक-एक शब्द की सजावट करने वाली 'खड़ी' कविता का एक अलग रूप भी इसमें है। अभी भी इस दिशा में अनेक प्रयोगशील रचनाओं की संभावना है।

इस स्त्रीवादी कविता की सीमाओं की भी चर्चा होनी चाहिए और यह कि इनमें बहुत सी कविताएं एकांगी प्रतिध्वनित होती हैं। इन कविताओं के विचार को काव्यात्मक चिंतन अधिक परिणाम में मिलना चाहिए। बहुत-सी कविताएं भाषा की पिछलगू जान पड़ती हैं। उनमें कहन, समान कथन जैसी सामान्य अभिव्यक्ति अधिक मात्रा में दिखाई देती है। मल्लिका अमर शेख, प्रज्ञा दया पवार, रजनी परुलेकर, कविता महाजन, नीरजा, कल्पना दुधाल आदि की कुछ कविताएं भाषा के नए मार्ग खोज रही हैं, लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है।

कुल मिलाकर 'स्त्रीवाद' अनेक कवयित्रियों की जीवन दृष्टि का अविभाज्य अंग, बनते जाने की राह पर है। विश्वास किया जाना चाहिए कि जैसे-जैसे इस दिशा में सफलता मिलेगी वैसे-वैसे स्त्रीवादी कविता अधिक गहरी, अधिक लक्ष्य केंद्रित होगी।

महत्वपूर्ण आधार ग्रंथ

1. भारतीय भाषांतील स्त्रीवादी साहित्य - सम्पादक : अश्विनी धोंगडे, महाराष्ट्र
2. साहित्य परिषद्, पुणे 2016
3. लाटाचे मनोगत - डॉ. नीलिमा गुंडी, पद्मगंधा प्रकाशन, पुणे 2008
4. स्त्री साहित्याचा मागोवा - खंड-चार (2001-2010) संपादक : डॉ. मंदा खांडगे, डॉ. नीलिमा गुंडी, डॉ. ज्योत्सना आफले, साहित्य प्रेमी भगिनी मंडल पुणे (2015) (सर्वधारा-जन-मार्च 2017 के अंक में प्रकाशित) ■

मराठी कथा : दशा और दिशा

निशिकांत ठकार

कथा की विधा प्राचीन है और अनंत है। वह दरअसल विविधा है। यह सर्वविदित है कि कथा का उद्गम स्थान भारत है। भारत में ही उसका विकास हुआ और कथा विश्व में फैल गई। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में कथा का भंडार भरा हुआ है। बृहत् कथा और कथासरित् सागर नाम सार्थक हैं। कथा के अनेक उद्देश्य बताए जा सकते हैं लेकिन रंजकता, श्राव्यता, न हो तो कोई रचना कथा नहीं हो सकती। विश्व साहित्य में अरेबियन रातें विख्यात हैं। कथा में से कथा निकलती जाती है इसका पूर्व रूप हमें भारतीय जातक कथा में भी मिलता है। एक सर्जक समृद्ध कथा परंपरा का मध्ययुग के समाप्त होते-होते हास हो गया और आधुनिक मराठी कथा को आरंभ उपनिवेश काल के साथ-साथ पाश्चात्य कथा को आदर्श मानकर चलने में हुआ।

आज मराठी की आधुनिक कहानी का इतिहास प्रायः सवा सौ वर्षों का बताया जाता है। 1890 में हरि नारायण आपटे ने अपनी 'करमणूक' (मनोरंजन) पत्रिका में 'स्फुट गोष्ठी' अर्थात् फुटकर कहानियों से आरंभ किया। मराठी की पहली कहानी के बारे में विवाद होता रहा है, लेकिन परंपरा का आरंभ आपटेजी से ही माना जाना जाता है। स्वयं श्रेष्ठ उपन्यासकार होने के बावजूद उन्होंने कहानी का महत्त्व जाना। कहानी को उन्होंने समकालीन बनाया। हजार के आस-पास लिखी इन कहानियों में उस जमाने की गतिविधियों, समस्याओं सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, मुद्दों को उठाया। आपटेजी स्वयं सुधारवादी थे और पत्रिका का नाम 'करमणूक' अर्थात् 'मनोरंजन' होने पर भी कहानियां उद्देश्यपूर्ण तथा प्रबोधनकारी थीं। यह भी कहना आनवश्यक है कि बहुत सारी कहानियां मध्यवर्ग के जीवन से संबंधित थीं और कुछ लंबी भी होती थीं। मराठी कहानी की मध्यधारा प्रायः मध्यमवर्गीय ही रही।

अंग्रेजी प्रभाव से मराठी कथा ने विधा का नामकरण शॉर्ट स्टोरी के आधार पर 'लघुकथा' किया और वह नवकथा के काल तक चलता रहा और अब पूरी तरह से छूटकर सिर्फ कथा पर पहुंच गया है। देखा गया है कि विधा के नामकरण का प्रभाव विधा के स्वरूप और विकास पर भी पड़ गया है। मध्यवर्ती कथा नई कहानी के आने और बाद में भी छोटी रही पत्रिकाओं की मांग भी इसका प्रमुख कारण रहा। आपटेजी ने सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ ऐतिहासिक रूपकात्मक, जासूसी आदि कई प्रकार की कहानियां लिखकर कथा विधा के विस्तार के द्वार खोल दिए। उन्होंने कथा भाषा की सहज

सुगमता की ओर भी ध्यान दिया कथा विधा के आधुनिक आरंभ में एक ही कथाकार द्वारा पहली बार विधा का स्वरूप निर्धारित कर विकास की संभावनाओं को दिशा देने का काम भारतीय कथा साहित्य में विरल ही कहा जाएगा। और वह भी उस कथाकार द्वारा जिसकी प्रतिष्ठा उसके श्रेष्ठ उपन्यासकार होने में निहित है।

मराठी कथा के विकासक्रम में काशीनाथ रघुनाथ मित्र संपादित 'मनोरंजन' पत्रिका का भी बड़ा योगदान है। पत्रिकाएं नहीं होती तो कथा का इतना विकास संभव नहीं होता। 'मनोरंजन' ने 1909 से दीपावली विशेषांक की परंपरा का सूत्रपात किया जिसका अनुकरण हुआ और यह विशेषांक परंपरा आज तक जारी है। करीब तीन सौ-साढ़े तीन सौ पत्रिकाओं के दीपावली विशेषांक प्रकाशित होते हैं और कहने की आवश्यकता नहीं कि इनका बहुत सारा साहित्य कथा रूप ही होता है। मराठी में शायद ही ऐसा कोई छोटा या बड़ा कथाकार होगा जिसकी एक भी कहानी दीपावली विशेषांक में प्रकाशित न हुई हो। पत्रिकाओं की मांग पर लोकप्रिय, साधारण कहानियों की भरमार स्वाभाविक थी लेकिन पत्रिकाओं के कारण प्रयोगशीलता को भी अवसर मिल गया। सभी प्रकार के आंदोलन के लिए इन विशेषांकों ने जमीन मुहैया कराई। श्रेष्ठ कहानीकारों की कहानियां भी पहले पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं और बाद में संकलित हुईं। कथाकार अपनी अच्छी कहानी दीपावली विशेषांक के लिए आरक्षित रखते थे। कला के लिए कला या जीवन के लिए कला यह मूलभूत द्वंद्व मराठी साहित्य और विशेष रूप से कहानी के विकास में बार-बार उभरता और नए रूप धारण करता हुआ नजर आता है। दूसरे विश्वयुद्ध और नई कहानी की उद्भावना से पूर्व वि. सं. खांडेकर और ना. सी. फडके इन दो कथाकारों ने क्रमशः जीवनवाद और कलावाद का साहित्य के सभी क्षेत्रों में जोरदार किया। दोनों पर्याप्त लोकप्रिय थे। दोनों सफल उपन्यासकार भी थे। आगे चलकर उपन्यास के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले वि. स. खांडेकर की आदर्शवादी बोधात्मक कहानियां बेहद लोकप्रिय हुईं और अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित होकर उनके पाठकों को इतनी आत्मीय प्रतीत हुईं कि वे उन्हें अपनी भाषा के लेखक ही मानने लगे। भारतीय कहानी की अवधारणा पर विचार करते समय हमें ऐसे तथ्यों की ओर ध्यान देना होगा। फड़के-खांडेकर युग को मराठी कथा का स्वर्ण युग माना जाता है लेकिन बेहतर कहानियां बाद में ही लिखी गईं।

नवकथा आंदोलन ने परंपरागत कहानी के ढांचे का पूरी तरह से बदल डाला। जब भी समाज की परिस्थितियों में बड़ा बदलाव आता है, आर्थिक, राजनीतिक संबंधों में परिवर्तन होता है तब कथा साहित्य में भी अनिवार्य रूप से बदलाव आ जाता है और इसे किसी भी भाषा के कथा विकास की यात्रा में देखा जा सकता है। देश की एक परिस्थिति से कथा का सघन संबंध होता है। नवकथा ने कथा प्रवाह में आई स्थिति-शीलता को तोड़ा और उसे नया मोड़ दिया। अरविंद गोखले, गंगाधर गाडगील, व्यंकटेश माडगूलकर और पु. भा. भावे की रचनाओं के कारण साहित्य में कथायुग अवतरित हुआ। कौन-से युग में कौन-सी विधा प्रबल होती है इस प्रवृत्ति का अध्ययन समाज की सांस्कृतिक अभिरुचि के साथ सामाजिक परिस्थिति में आए परिवर्तन से जोड़ने पर ही किया जा सकता है। नवकथा ने मानव मन की गुत्थियों को खोजना शुरू किया। समकालीन जीवन का अंत दर्शन कराया। अंतर्वस्तु के अनुसार भाषा को ढाला। नए बिंबों और प्रतीकों का प्रयोग होने लगा। साहित्य के आंदोलनों में दूसरी पीढ़ी प्रायः अनुकरण से ही आगे बढ़ती है। उसमें प्रतिभा का वरदान

हो तो ही कहानी में कुछ नयापन आ सकता है। दि. बा. मोकाशी, विद्याधर पुंडलिक, चिरमुले, जयवंत दलवी, ज्ञानेश्वर नाडकर्णी, मधु मंगेश कर्णिक आदि ने नवकथा को समृद्ध किया।

श्रेष्ठ कथा प्रायः मानव स्थिति के बारे में गहराई से सोचती है। परिस्थितियां कितनी भी बदलें, वह मानव अस्तित्व से संबंधित कुछ मूलभूत प्रश्नों से उलझती है। प्रश्न प्रायः सनातन होते हैं। इनसे संबंधित अनुभवों-अनुभूतियों को हम वैश्विक कहते हैं। देशकाल परिस्थिति को पार कर परे हो जाते हैं। सीमाओं को लांघते हैं, उनमें शाश्वत मूल्यों की प्रतीति होती है लेकिन उनकी संवेदनात्मक प्रतीति तो कथाकार की भाषा, सभ्यता और संस्कृति की मानवीय रिश्तेदारी से ही होती है जिसे शेक्सपीयर ने स्थानीय रंगत कहा है, वही कहानी को अपनी रंगत देती है। श्रेष्ठ कहानी इससे बाहर निकालती है हमें और ले जाती है बौद्धिकता की ओर। कथा के ऐसे अनुभव ही विश्व साहित्य की अवधारणा को मजबूत करते हैं। उसका तत्त्व नैतिक, मूल्यात्मक और विशुद्ध मानवीय होता है और स्वाद देशीय। कविता शायद हो न हो, कहानी अनुवाद के बाद भी बची रहती है।

जी.ए. कुलकर्णी को मराठी का श्रेष्ठ कथाकार माना जाता है। कथा समीक्षकों ने उनकी कथा को विश्व साहित्य के स्तर का माना है। मराठी कथाकार को विरलता से ही साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिल पाता है। संभवतः जी.ए. कुलकर्णी पहले कथाकार हैं जो इस पुरस्कार से सम्मानित हुए। उनके 'काजल माया' संग्रह को यह पुरस्कार प्राप्त हुआ। समकालीन सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्रण में भी उनकी विशिष्ट भाषा शैली का प्रयोग विलक्षण था। उनके जैसा फंतासी का 'सर्जनशील' प्रयोग पहले किसी ने नहीं किया था। नवकथा आंदोलन से हटकर उन्होंने कई गूढ, रूपक कथाएं, स्वप्न कथाएं लिखीं जिनमें नियतिवाद को आलंकारिक, बिबंधर्मी, आकर्षक और पाठक को अपने कब्जे में करने वाली भाषा में व्याख्यायित किया गया। नियति शरणता, शोकात्मभान, अटल दुःखभोग, जीवन की असंगतियां तर्क से मुक्ति जैसे सूत्र उनकी अंतर्वस्तु में मिलते हैं। हिंदी में 'नियतिदान' नाम से उनकी श्रेष्ठ कहानियों का अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

कथाविधा में प्रयोगधर्मिता और नयापन लाने के लिए तथा अपनी अंतर्वस्तु की मांग के कारण फंतासी तत्व का प्रवेश हो गया और सदानंद रेगे, प्र.ल.मयेकर, रत्नाकर मतकरी आदि ने सफलता प्राप्त की। कथाविधा के आरंभ में तिलस्मी कहानियां लोकप्रिय थीं किंतु धीरे-धीरे कल्पनाशीलता का सर्जनशीलता प्रयोग होने लगा और समकालीन कहानी की स्थिति ऐसी है कि यथार्थ और फंतासी में भेद करना मुश्किल हो गया है। रंगनाथ पठारे, भारत सासणे, श्याम मनोहर, मेघना पेठे आदि की कहानियों में इसकी प्रतीति मिलती है।

हम यहां मराठी कथा का ऐतिहासिक विकासक्रम प्रस्तुत करना नहीं चाह रहे हैं बल्कि कुछ ऐसे तथ्यों और मुद्दों को सामने लाना चाहते हैं जिससे कथाविधा की मीमांसा के लिए, कुछ अंतर्दृष्टियां प्राप्त हों।

नवकथा से समांतर दलित और ग्राम जीवन की कहानियां भी लिखी जा रही थीं लेकिन उनकी अलग से पहचान नहीं हुई थी। नवकथा से पूर्व युग में श्रीपाद महादेव माटे ने दलितों के जीवनानुभवों पर उपेक्षितों का अंतरंग संग्रह प्रकाशित किया था। बहुत ही करुण दरिद्र जीवन का सच्चा चित्रण करने वाली इन कहानियों का यथार्थ माटे के जीवन का हिस्सा था। हरिजनों की बस्ती में सवर्ण माटे काम करते थे लेकिन उन्हें दलित कथाकारों में नहीं गिना जाता। दलित कथाकार-जन्मना ही दलित

अनुभव पर कथा लिख सकता है। दलित कथा आंदोलन साठोत्तर काल में इसी सिद्धांत पर चल पड़ा। कथाकारों की एक नई पीढ़ी लिखने लगी। डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर की वैचारिक भूमिका और संविधान के मूल सूत्रों का आधार बनाकर। नवकथा के समांतर दलित जीवन पर लिखने वाले बाबूराव बागूल और अण्णाभाऊ साठे ने मुक्त अनुभव पर बेहतर कहानियां लिखीं। नवकथा के समीक्षक उनका जिक्र नहीं करते। विलक्षण बात यह है कि दोनों मार्क्सवादी आंदोलन से प्रभावित थे तब दलित संज्ञा का प्रयोग नहीं होता था। बाद के कुछ दलित कथाकारों ने मार्क्सवाद से संबंध जारी रखा लेकिन धीरे-धीरे वह समाप्त होता गया। वर्ग-संघर्ष पर वर्ण-संघर्ष का वर्चस्व स्थापित हो गया। दलित पैंथर आंदोलन का साथ दलित साहित्य ने दिया। दलित कथा व्यथा की कथा थी अन्याय, विषमता और उपेक्षा की कथा थी। आगे चलकर दलित समाज में शिक्षा का क्षेत्र बढ़ा। आरक्षण से नौकरियां मिलने लगीं। आर्थिक स्तर में सुधार आया। समाज में और राजनीति में प्रतिष्ठा-सत्ता प्राप्त होने लगी। परिणामस्वरूप दलितों में भी एक मध्यवर्ग और मध्यवर्गीय मानसिकता उत्पन्न हो गई। व्यथा का स्थान अवमानना ने ले लिया। नई समस्याएं उत्पन्न हो गईं। बौद्ध धर्म के स्वीकार ने नया बल दिया लेकिन जाति-अंत का डॉ. बाबासाहेब का सपना दूर ही रहा। यह सारी परिस्थितियां कथा के लिए उर्वर भूमि थी। केशव मेश्राम, दया पवार, वामन डांगले, अमिताभ, योगीराज वाघमारे, शरण कुमार लिंबाले, उर्मिला पवार, प्रज्ञा दया पवार आदि ने दलित कथा में योगदान दिया है। विद्रोह और निषेध उनका प्रधान महत्वपूर्ण स्वर था।

नवकथा के समानांतर दलित कथा को प्रस्तुत करने का लाभ डॉ. शंकरराव खरात ने भी किया था। दलित कथा में यथार्थ चित्रण के नाम पर घटना प्रधान कहानियां ही अधिकतर लिखी गईं। आंदोलन और साहित्यकार उसके होने वाले परिणामों का अध्ययन करने के लिए दलित कथा के स्वरूप का विश्लेषण किया जा सकता है। पिष्टपेषण, पूर्व निर्धारित भूमिका, पूर्वाग्रह, कल्पना के सर्जनशील प्रयोग की कमी, समकालीनता की सीमाओं को लांघने की कमजोरी आदि कारणों से अधिकांश दलित कथा उभर नहीं पाई। फिर भी कविता की तरह कथा के क्षेत्र में भी मराठी दलित कथा ने हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में नई कलम को प्रेरणा इससे इनकार नहीं किया जा सकता। शोषित वंचित पीड़ित जन को दलित कथा ने भूमंडलीकरण के अमानुष समय में केंद्रीय स्थान दिया है। दलित कथा की भाषा ने साहित्य की अभिव्यक्ति क्षमताओं को भी विकसित किया है। दलित कथा की दलित से मुक्ति पाने की लड़ाई जारी है।

एक समय था जब दलित और ग्राम जीवन की कहानियों में फर्क नहीं किया जाता था। नवकथा युग तक के दलित जीवन के चितरे ग्रामांचल का भी चित्र प्रस्तुत करते थे लेकिन धीरे-धीरे भूमिकाएं साफ होती गईं। सामाजिक जीवन में हो रहे परिवर्तनों के परिणामस्वरूप ही इनका भेद स्पष्ट होता गया। नवकथा प्रायः मध्यवर्गीय, मनोविशेषणात्मक और नागर थीं। नवकथाकार ब्यंकटेश माडगूलकर ने इस वर्गीय सीमा से बाहर आकर ग्रामजीवन को सहानुभव से देखा। उसमें दलित जीवन भी शामिल था। अपने ग्रामांचल चरित्रों का उन्होंने सजीव चित्रण किया। माटी की मूरतों की तरह। उनकी भाषा नवकथा की नई भाषा थी फिर भी उन्हें नई ग्रामीण कथा सूत्रपात करने का श्रेय दिया गया। इसके पूर्व भी ग्रामकथाएं लिखी जा रही थी लेकिन उनकी आंचलिकता अधोरेखित नहीं हो रही थी। माडगूलकर ने माणदेशी माणूस का चित्रण करते हुए रेखाचित्र और कहानी के बीच का अंतर मिटा

दिया। मागडूलकर की संवेदना मध्यवर्गीय होने के बावजूद स्वानुभव की सच्चाई, ग्राम जीवन से आत्मीयता यथार्थ की मजबूत पकड़ सर्जक भाषा और पारदर्शी अभिव्यक्ति के कारण ग्रामकथा कलात्मक हो गई। मात्र ग्रामीण भाषा से अच्छी ग्रामकथा नहीं लिखी जा सकती इसका भान हुआ।

कहानी के आरंभकाल से ही संभवतः ग्रामजीवन पर कहानियां लिखी जा रही थी लेकिन ग्रामीण संवेदना को महत्व देकर आंचलिक उपन्यासों के साथ-साथ आंचलिक कहानियां भी लिखी जाने लगी। ग्राम जीवन में सुधार और राजनीति के प्रवेश के साथ इनमें वृद्धि होने लगी। गांव तेजी से बदलने लगे और इसी जीवन से आए कथाकारों ने नए यथार्थ का अनुभव-सिद्ध चित्र प्रस्तुत किया। उद्धव शेलके, आनंद यादव, रा. रं. बोराडे, महादेव मोरे, सखा कलाल, द.ता.भोसले आदि कई कथाकार सामने आए। नवकथा के समय ग्रामीण कथा हास्य और व्यंग्य के लिए प्रयुक्त होती थी। उसने अब गंभीर रूप धारण किया।

नवकथा के समानांतर ग्रामजीवन की कथा भी चल रही थी। शंकर पाटील, र. वा. दिघे, ग. लि. ठीक आदि कथाकार जमीन तैयार कर रहे थे। साठोत्तर काल में ग्रामीण कथा का आंदोलन चल पड़ा। उसका शास्त्र भी रचा गया। सिद्धांत-समीक्षा के ग्रंथ भी प्रकाशित होने लगे। भूमंडलीकरण के आने तक मराठी कथा साहित्य में ग्रामीण कथाओं ने अपना स्थान बना लिया था। यह आंदोलन साहित्यिक था। दलित साहित्य आंदोलन की तरह इसकी कोई सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक भूमिका नहीं थी। यह बहुजन समाज का आंदोलन था। इस आंदोलन ने अनेक नए ग्रामीण कथाकारों को प्रेरणा दी। शिक्षा के प्रसार के कारण ग्रामजीवन में नई प्रतिभाओं को उभरने के अवसर मिलने लगे। सबसे महत्वपूर्ण कारण था ग्रामीण जीवन में होने वाले परिवर्तन। इसने कथाभूमि को उर्वर बना दिया। ग्रामीण कथा कृषि जीवन प्रधान होने लगे। प्रकृति और पर्यावरण की अपेक्षा बदलते हुए सामाजिक राजनीतिक सांस्कृतिक वातावरण से ग्रामीण मनुष्य-विशेष रूप से किसान के जीवन में आने वाले अंतर्बाह्य परिवर्तनों की ओर ध्यान दिया गया। गांधीजी ने गांव की ओर चलने का नारा दिया था। डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर ने शहर की ओर चलने का नारा दिया। शहरों का जहर गांव में फैलने लगा। कृषि जीवन में आने वाली विपत्तियां और दिक्कतें बढ़ती ही रहीं। धीरे-धीरे आंदोलन की हवा तो कम हो गई क्योंकि उसका कोई ठोस आधार नहीं था और किसानों के आंदोलनों से उसका संबंध भी नाममात्र ही था। जिसे भारतीय कथा कहा जा सकता है वह गांव जीवन की ही कहानी है इसमें दो राय नहीं हो सकती। भूमंडलीकरण के बाद उभरे उत्तम बंडू तुपे, सदानंद देशमुख, किरण गुरव, कृष्णात खोत, आसाराम लोमटे आदि कथाकारों ने ग्रामीण यथार्थ को समग्रता में देखने का प्रयास किया है। परिवर्तन के परिणामों को गहराई से देखा है। ग्रामीण बोली का सर्जनशील प्रयोग किया है। आनंद यादव, नागनाथ कोत्तापल्ले, वासुदेव मुलाटे ग्रामांचल के कथाकार भी थे और सिद्धांत-समीक्षा का आधार देने वाले साहित्यिक नेता भी थे और भास्कर चंदनशिव जैसे सक्रिय कार्यकर्ता भी थे। कथा साहित्य की मुख्य धारा को मध्यवर्ग और नागर सभ्यता से कृषि-संस्कृति की ओर मोड़ने का कार्य इनके द्वारा हुआ।

जीवन और जगत् अर्थात् यथार्थ को देखने-समझने के विभिन्न परिप्रेक्ष्य हो सकते हैं। कथा साहित्य में आने वाले आंदोलनों और भूमिकाओं के आग्रह पर आपत्ति नहीं की जा सकती। दलित, आदिवासी, मार्क्सवादी, गांधीवादी, स्त्री, आंचलिक, अंबेडकरवादी आदि वर्गीकरण सुविधाजनक होता

है। साहित्य समाज का दर्पण होता है लेकिन परिप्रेक्ष्यानुसार तस्वीरें अलग-अलग दिखाई देती हैं। इसमें किसी कथा को महत्वपूर्ण माना जाए?

कोई एक दूसरों के जीवन में आस्था और रस लेकर अपने अनुभव को उत्सुकता से या बेचैनी से तीसरे को सुनाता है और तीसरा उसे दिल से सुनता है वही कहानी है। कहानी का विकास चाहे जैसा हो कथातत्व ही मूलभूत रहेगा। इसे कथारस, बतरस, श्रवणीयता, कहन आदि कहा जाता है इसी को अब हम पठनीयता का गुण भी कहते हैं। कथा की भाषा में मौखिकता का भाव अध्याहृत होता है। भारतीय कथाओं का अंत नाटकीय और अनपेक्षित होता है। मुक्तिबोध की भाषा को उधार लेकर कहा जा सकता है कि खत्म नहीं होती कहानी कभी। मराठी के बहुत कम कथाकारों ने परंपरा प्राप्त कथाओं का सर्जनशील प्रयोग किया। नोबेल पुरस्कार प्राप्त ओरहान पामुक ने कहा है कि बचपन में पढ़ी भारत, अरब, ईरान से बहती हुई आई कथाओं ने अपने लिखने को नया आयाम दिया है। साने गुरुजी की मधुर कहानियों में यह आयाम अलग रूप धारण करता है। बाल-किशोरों की कथा का उन्होंने आदर्श प्रतिरूप प्रस्तुत किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में काशीताई कानिटकर और आनंदीबाई शिर्के ने स्त्रीकथा का आरंभ किया। यह अपने आप में एक साहसपूर्ण कदम था। जैसे-जैसे स्त्री शिक्षा का विकास हुआ, महिलाओं में अपने अधिकारों के लिए जागृति हुई जैसे-जैसे कथा का स्वरूप भी बदलता गया। मराठी की पहली महत्वपूर्ण कथा लेखिका विभावरी शिरूरकर को माना जाता है। पहली बार स्त्री जीवन के अंतरंग का उद्घाटन हुआ। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में संभाव्य सामाजिक विरोध के भय से उन्होंने व्याज नाम से कहानियां लिखी थी। उनके 'कळ्यांचे निःश्वास' के प्रकाशन से समाज में खलबली मची थी। बाद में बहुत सारी स्त्रीकथा फड़के-खांडेकर की छत्रछाया में अपने सीमित पारिवारिक घटनाओं में उलझी रही। नवकथा युग में कमल देसाई ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण शैली में कहानियों के लिए एक नई राह खोल दी। नवकथा की राहों पर ज्योत्स्ना देवधर, विजया राजाध्यक्ष, आशा बगे आदि लेखिकाओं ने कदम बढ़ाए। बदलती सामाजिक-राजनीतिक और विशेष रूप से सांस्कृतिक परिस्थितियों ने स्त्रियों में पहले आत्मभान जगाया और फिर आत्मसम्मान। इसके अनुसार अभिव्यक्तियों में भी परिवर्तन आया। विभावरी द्वारा आरंभ की गई आत्मशोध और आत्मसम्मान की लड़ाई को गौरी देशपांडे, सानिया, मेघना पेठे, प्रिया तेंडुलकर आदि ने आगे बढ़ाया। इन कथाकारों की मानसिकता प्रायः मध्यवर्गीय ही थी, पारिवारिक तथा रिश्तों की समस्याएं, पुरुषर्चस्व का मुकाबला आदि में उलझी इन लेखिकाओं का ध्यान शोषित, पीड़ित दलित समाज की स्त्रियों की तरफ नहीं के बराबर था।

स्त्रीवाद के आस-पास जाकर अधिक उग्र विमुक्त भूमिका का स्वीकार मराठी स्त्री कथाकारों ने नहीं किया। मोनिका गजेंद्रगडकर और नीरजा ने भी कुछ महत्वपूर्ण समकालीन अनुभवों पर आधारित कहानियां लिखी हैं। दलित स्त्री के दोहरे दुख को ज्योति लांजेकार उर्मिला पवार, प्रज्ञा दवा पवार की कहानियों में अनुभव किया जा सकता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद महानगरों का महत्व बढ़ता गया। इस जीवन में मानव जीवन की कई नई समस्याएं सामने आईं। नवकथाकारों ने इस पर कहानियां जरूर लिखीं किंतु इस प्रकार की कहानी का सबसे बड़ा कथाकार था-भाऊ पाध्ये। मंटो का समकालीन। मंटो का हमसफर। समकालीन

महानगरी जीवन यथार्थ का अंतरवेध भाऊ ने उस शहर की संवेदना और भाषा को पकड़कर बड़ी तीव्रता से किया। दिलीप चित्रे ने यही काम मध्य व उच्चवर्गीय जीवन के चित्रण में किया। मुंबई लेखकों में अब महत्वपूर्ण नाम जयंत पवार का है। उनकी अपनी अलग शैली है और यथार्थ में फंतासी का अनोखा संयोग है।

दिलीप चित्रे, विलास सारंग और श्याम मनोहर मराठी के ऐसे कथाकार हैं जिनकी कोई पूर्व परंपरा नहीं है और संभवतः न कोई उत्तर संप्रदाय। समकालीन अभिरुचि से हटकर अपनी स्वतंत्र, फिर भी समकालीन कथा उन्होंने लिखी। कथा से आगे की कथा कहा जा सकता है। इनकी जीवन दृष्टि चिंतनाधारित है। यथार्थ की रचना में कल्पना के समावेश से, सपनों से आभासी दुनिया से कथा के अर्थों का विस्तार होता है। समकालीनता से बंधी नहीं रहती कथा और विश्वात्मक होने का संकेत देती है। अस्तित्ववादी दर्शन, जीवन की एक्सिडिटी का अनुभव, काम प्रेरणा का गहरा प्रभाव, हिंसा की प्रवृत्ति, स्व का शोध आदि तत्वों ने इनकी कहानियों में अलग-अलग रूप धारण किया है और तदनुसार इनकी कथाभाषा भी उन्हें अद्वितीय बना देती है। कहानी के आगे की कहानी या कहानी का नया प्रतिरूप देखना हो तो इनकी कहानियां अनिवार्य है।

दो कथा संग्रहों के बाद श्याम मनोहर ने उपन्यास ही लिखना पसंद किया। कथा-उपन्यास आदि साहित्य को कथात्मक साहित्य या फिक्शन कहना उन्होंने पसंद किया और फिक्शन को ज्ञान की शाखा माना। अज्ञात का शोध यही उसका उद्देश्य होना चाहिए। स्थल काल पुनर्शोध सभ्यता की कथा होगी और इनके परे जाकर नए शोध की कथा संस्कृति की कथा होगी। व्यापक दृष्टि और विश्वात्मक अनुभूति के बिना शोध की क्षमता प्राप्त नहीं होती। श्याम मनोहर ने अपने कई वक्तव्यों और लेखों द्वारा कथात्मक साहित्य का नया विमर्श प्रस्तुत किया है। इस चिंतन को उन्होंने कई बार अपनी रचनाओं में भी उतारा या ढाला है। आधुनिक मराठी कथात्मक साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में इस पर बहस हो रही है।

प्रस्तुत आलेख में कुछ महत्वपूर्ण कथाकारों का जिक्र हुआ है किंतु इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक कथाकारों ने अपने विषय, आशय और अभिव्यक्ति के कारण अलग तरह की कहानियां लिखी हैं। कहानी के विकास में उनका भी योगदान है। जयंत नारलीकर जैसे सफल वैज्ञानिक ने मराठी विज्ञान कथा में मानवीय जीवन की आपत्तियों और समस्याओं की ओर कल्पनाशील संकेत किया। लक्ष्मण लोंडे, बाल फोंडके, निरंजन घाटे आदि ने विज्ञान-कथा को प्रशस्त किया। विज्ञान कथा की समीक्षा के निकष क्या-क्या अलग होंगे। उनका द्वंद्व यही रहेगा कि विज्ञान शाप है या वरदान। विज्ञानकथा के केंद्र में मानव और मानवीय आस्था न हो तो उसे नए-नए शोधों के पूर्वरूप या उत्तररूप के कारण महत्व नहीं दिया जा सकता।

औद्योगीकरण, महानगरीकरण के बाद भूमंडलीकरण, निजीकरण, उदारवाद, कारपोरेट संस्कृति, और नए संपर्क माध्यमों से दुनिया का चेहरा गति से बदलने लगा है। इस गति से अपने आप को जोड़ने में कथा संभवतः कुछ कमजोर पड़ने लगी है। नए विश्व मानव के सामने सबसे बड़ी चिंता संभवतः पर्यावरण के प्रदूषण और हास की है। संक्रमण के समय की अवधि विस्तृत हो गई है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक से परिवर्तन की प्रक्रिया ने मनुष्य के सामने कई समस्याएं प्रस्तुत की हैं जिनको पहले कभी सोचा भी नहीं गया था। जीवन अर्थप्रधान हो गया। व्यापार में लाभ, स्पर्धा, समझौते आदि

से मानवमूल्य का हास हो गया है। व्यक्तिवाद जोरों पर है और साथ-साथ धार्मिक, प्रादेशिक, जातिगत आदि अस्मिताओं की क्रूरता चरम पर पहुंच गई है। नवमध्य-वर्ग उपभोगवादी बन चुका है। राजनीति राष्ट्रवाद और सत्ता वर्चस्व के नए-नए रूपों में खेल-खेल रही है। ग्राम जीवन और नागरी जीवन समान रूप से दुष्प्रभावित है। इस बदलाव को चित्रित करने का प्रयास बड़ी ईमानदारी और जोखिम के साथ मराठी के कुछ कथाकार कर रहे हैं। वर्तमान सामाजिक यथार्थ में संघर्ष में शामिल स्वयं कार्य करने वाले, अध्ययन और चिंतन से उसे समझकर सकारात्मक दिशा में मोड़ लाने वाले अनुभवसिद्ध सर्जक कथाकार के रूप में मिलिंद बोकील का नाम लिया जा सकता है। व्यक्ति, समाज और पर्यावरण की एकात्मता में, पारदर्शी कथनशैली के कारण इनकी कथा विश्वसनीय बन गई है। प्रवीण पाटकर ने भी ऐसी अनुभव सिद्ध समाज कहानियां लिखी हैं। साहित्य अकादेमी के पुरस्कार साहित्य की प्रगति, प्रवृत्ति या अभिरूचि का संकेत करते हों ऐसा नहीं है लेकिन देखा गया है कि कहानी-विधा उपेक्षित ही रहती है। कई कारणों से ऐसा होना उचित भी कहा जाएगा। इस दशक में दो मराठी कथाकारों को साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्राप्त होना कथाविधा के नए विधान को, उसकी समकालीनता से सर्जनशील रूप से रूबरू होने को रेखांकित करता है।

जयंत पवार ने 'फिनिक्सच्या राखेतून उठला मोर। संकलन (2010) में महानगरीय कहानी को समकालीन मनुष्य के जीवनसंघर्ष के बहुआयामी चित्रण द्वारा जीवन सत्य की खोज की दिशा में ले जाती है। उसे मात्र महानगरीय कहना पर्याप्त प्रतीत नहीं होता।

आसाराम लोमटे ने 'आलोक' में ग्रामीण जीवन की स्थितियों को समकालीनता में ही बहुआयामी रूप से चित्रित करते हुए आत्महत्या के विरुद्ध मानसिकता को व्यक्त किया है।

दोनों कथाकारों ने लंबी कहानियां लिखी हैं और अनुभवों को समग्रता में ग्रहण करने का प्रयास किया है। दोनों को भूमंडलीकरण के बाद की बदली हुई स्थितियों की जानकारी ही नहीं एहसास भी है। दोनों कहानी विधा की संभावनाओं को सर्जनशील तरीके से खोजते हुए दिखाई देते हैं। अपनी-अपनी भाषा, अनुभव ग्रहण की शैली, अभिव्यक्ति की प्रणाली और व्यक्तित्व की विभिन्नता के बावजूद। शायद दोनों को पत्रकारिता ने समकालीन दुनिया का ऐसा साक्षात्कार कराया होगा कि विश्वदृष्टि की अनिवार्यता को उन्होंने महसूस किया होगा। आसाराम लोमटे ने कहा है, लेखक के रूप में मैं सोचता हूं कि यथार्थ के जिस टुकड़े पर मैं खड़ा हूं, वह दिग्भ्रमित करने वाला है... जब तक लोगों के जीने की कश्मकश जारी है, तब तक कहानी जिंदा रहने वाली है। मैं मन ही मन मानता हूं कि मेरी कथा का रिश्ता इस कहानी से है। ■

एकांक

भारत सासणे

अनुवाद : दामोदर खड़से

ड्राईंग रूम का दरवाजा खुला है। खिड़कियां भी खुलीं। भीतर, बंगले के भीतर बहुत खामोशी है। ज्यों वहां, उस दिशा में कोई नहीं रहता। इस दिशा में भी बहुत खामोशी है। क्यों न हो क्योंकि इधर-उधर कोई आवाज होने का कोई कारण ही नहीं है।

वह बैठा है; शांत घड़ी की ओर देखता हुआ। घड़ी चल रही है, पर आवाज नहीं। आधुनिक घड़ी है वह। उसका कांटा दौड़ता है, केवल दौड़ता है। अब पौन घंटा बीत गया है। सेठजी बाहर नहीं आए। वह उनकी राह देख रहा है। कोने में वह भी बैठी है। केवल बैठी है, मूर्ति की तरह। वह भी राह देख रहा है। बीच-बीच में दोनों का ध्यान जाता है एक-दूसरे की ओर परंतु, देखकर अनदेखा करना, दोनों का। वह चूड़ियों से खेल रही है। वह कॉपी खोलता है और बंद करता है। पर दोनों आवाज नहीं करते। खुली खिड़की से बाहर का, बंगले का दरवाजा दिखता है। रास्ता दिखाई देता है। बीच-बीच में बारिश आती है। पर उसका भी आवाज नहीं। परंतु, मंद-भीनी हवा भीतर आती है। वह सिहर उठती है। आंचल ओढ़ लेती है। उसके माथे की स्वप्निल जुल्फें उड़ने लगती हैं। फिर वे एक-दूसरे को देखते हैं। वह थोड़ा हँसता है। वह नहीं हँसती। वह कहता है,

काफी देर हो गई न?

उसका वाक्य विस्फोटक-सा लगा, दोनों को। दोनों चौंक जाते हैं। वह कुछ-कुछ मुस्काती है। वह फिर फुसफुसाता है,

काफी देर हां!

आप लोग मेरे पहले आए थे?

यहां?

हां, यहीं!

कुछ पहले!

वह भी फुसफुसाती है। फिर हवा। फिर बारिश की एक फुहार आपका कोई काम-उसका पहला ही एक सवाल उसके लिए। वह उठता है। खड़ा रहता है। दीवार का चित्र देखता है। अपने आपसे बोलते, फुसफुसाता-धीमे स्वर में कहता है, 'काम?...काम के बिना क्या कोई'

‘...यूँ ही बैठा तो नहीं रहेगा, यही न?’
 उसकी अनपेक्षित बोझिल पर ठोस आवाज। वह चौंकता है। घूमकर देखता है, उसकी ओर।
 फिर उसका खुलासा करना, कुछ धीमे आवाज में, ‘मुझे...आपके बारे में कहना नहीं था।’
 ‘सभी बाद में ऐसा ही कहते हैं।’
 ‘मुझे सचमुच।’
 ‘जाने भी दीजिए...। मैंने यूँ ही कहा...’
 ‘वह धीरे-धीरे चलता है, घूमता है, उसी ड्राईंग रूम में। फिर चित्र देखता है। फिर खिड़की से बाहर देखता है।’
 ‘पर आपकी कोई गलती नहीं। बाद में, सब ऐसा ही कहते हैं। यह सच है।... हम ही बैठे रहें।’
 वह कुतूहल से उसकी ओर देखती है। उसकी ‘मूडी’ हलचल की ओर। फिर धीमे स्वर में पूछती,
 ‘कितने नाटकों में काम किया है?...आपने?’
 ‘मैंने?’
 उसका रुकना, पलटकर देखना। थोड़ा मुस्काना। कुछ उसके करीब आना। भीतर दूर तक झाँक कर देखना।
 ‘एक भी नहीं।’
 ‘फिर?’
 ‘फिर क्या?’
 ‘यहां?...यहां कैसे...’
 ‘अच्छा। यह पूछना है? मैं नाटककार हूँ।’
 उसकी आँखों में कई उतार-चढ़ाव। चूड़ियों के साथ चल रहा उसका खेल थम जाता है।
 ‘नाटक...नाटककार? आप... आप नाटक लिखते हैं?’
 ‘नहीं।’
 ‘मतलब?’
 ‘मतलब नाटक लिखता हूँ बहुत, ऐसा नहीं।’...‘एक-एक नाटक मैंने लिखा है।’
 ‘पहला ही?’
 ‘पहला ही। ... वही दिखाने में...’
 ‘अच्छा।’
 उसकी आँखें फिर बुझ जाती हैं। ज्यों उसका कुछ भ्रम भंग होता है। वह निःश्वास छोड़ती है।
 गहरा। ज्यों अब बोलना अपरिहार्य हो गया, जिसे अब तक वह टालती आई है।
 ‘मतलब आप नाटक दिखाने आए हैं। पढ़कर सुनाने?’
 ‘यदि वे पढ़ने के लिए कहेंगे तो...’
 ‘यदि ना कहें तो?’
 ‘रख जाऊंगा।’
 ‘प्रति है? मतलब कॉपी?’

‘न...नहीं। एक ही है। हाथ से लिखा हुआ।... इसी कॉपी में वह रहस्यमय, अर्थपूर्ण हँसती है। ज्यों वह कुछ जानती है, ज्यों उसे कुछ मालूम है।’

‘फिर, गुम गया तो?’

उसका बेचैन होना। कॉपी को कसकर उसका पकड़ना।

‘सच है, यह भी। पर फिर क्या करें? आओ बोले थे।... देखता हूँ कहा था, इसलिए आया।’
‘मैं भी।’

‘आप भी... क्या मतलब?’

‘मुझे जरूरत है, मुझे नाटक में काम करना है।’

‘अच्छ।’

उसका कुछ कुतूहल से उसकी ओर देखना, नई नजर से।

‘आप नाटक में काम करती हैं?’

‘करती हूँ... थोड़ा... थोड़ा... परंतु, मुझे ब्रेक चाहिए। मुझे जरूरत है।... मुझे रोल चाहिए...। मुझे भी आओ बोले... देखता हूँ, कहे थे।... इसलिए आई...’

उसकी पहली बार ही इतनी लंबी बात। उसकी आवाज बहुत बारीक है।

‘काफी देर से बैठी है?’

‘बहुत समय से नहीं। पर हां... वैसे तो काफी समय हो गया है।’

उसका फिर ‘मूड़ी हो जाना। हिचकिचाना। घूमते रहना। धीरे-धीरे वह उसकी ओर देखती है, देखते-देखते कहती है,’

‘क्या नाम है?’

‘मेरा...?’

‘नाटक का...। नाटक लिखा है न आपने?’

उसका अचानक उसके पास आकर बैठ जाना। थोड़ा उत्तेजित होना।

‘नाटक का नाम ही तय नहीं हो पा रहा है।... आपने अच्छा प्रश्न पूछा है।’

‘मैंने यूँ ही पूछा है।... पर नाटक क्या है?’

‘नाटक? नाटक अलग है।... इन्होंने यदि इसे बनाया तो... तो अच्छा होगा।’

‘क्या है नाटक?’

उसकी बेचैनी, अधीरता बढ़ती है। उसका उठकर खड़ा रहना। भीतर झांकना। बाहर देखना। कोई आवाज नहीं। हलचल नहीं। माथे पर लहराती स्वप्निल, जवां जुल्फें।

‘पढ़ना नहीं होगा क्योंकि फिर पढ़ना पड़ेगा, ऊंची आवाज में आरोह-अवरोह के साथ...। उन्हें पसंद आएगा कि नहीं... नहीं मालूम क्योंकि उन्हें पढ़कर सुनाना है न।’

मतलब मुझे पढ़कर नहीं सुना सकेंगे।... ठीक है। पर क्या... नाटक क्या है?

उसकी टीस भी, उत्सुकता भी, अधीरता भी पूछना भी। उसकी आँखें कुछ निखर आई हैं। कुछ हलचल है। उसकी उत्सुक आँखें उस तक पहुंचती है।

‘धीम सुनाने से... मैं... उसके दृश्य ही सुनाता हूँ।... ताकि मैंने क्या लिखा है यह मालूम होगा।...’

‘सुना रहे हैं?’... सुनाइए।... और उसमें स्त्री पात्र है न?

‘है... और नहीं भी।’

‘क्या मतलब?’

‘सुनाता हूँ... आपको पता चल जाएगा।’

काँपी पर उसके हाथ का कसाव। दूर पहुंची आँखें ज्यों वे दृश्य देख रही हों कोई तो। नाटक का। किसी कोई मंच का। नाटक ज्यों साकार हो रहा है, ज्यों वहां, उस अंतरिक्ष में। शांति से। नाटक वहां अवतरित हो रहा है। उस अवतरित होने वाले नाटक को देखने के लिए उसकी उत्सुक आँखें। वह उसे देखती है। सच तो यह है कि उसके पार देखती है। स्तब्धता देखती है। वह दृश्य सुना रहा है। दृश्य साकार हो रहा है...

‘स्टेडियम है एक।’

‘स्टेडियम?’

‘फुटबॉल का मैदान। नायक खिलाड़ी है, फुटबॉल का... पर उसे टीम में नहीं लिया गया है। वह यहां कोच से मिलने आया है।... यदि वह कोच को कुछ विश्वास दिला पाया...’

‘विश्वास?’

कॉन्फिडेंस।...वह यह विश्वास दिला सका तो उसे टीम में स्थान मिल सकेगा। यह उसके जीने-मरने का प्रश्न...’

‘पर स्टेज पर मैदान...’

‘स्टेडियम की कुर्सियां दिखती हैं। अर्धवर्तुलाकार। नायक चबेना खाते-खाते प्रवेश करता है...धीरे-धीरे...।’

बिना आवाज की दूर बिजली कौंधती है। खिड़की से दोनों पर प्रकाश क्षण भर के लिए। चमकता-बंद होता। दृश्य साकार होता है, नाटक का, दोनों की पुतलियों के भीतर।

‘जीवन-मरण का प्रश्न।’

‘वही।... वैसे ही।... उसे टीम में प्रवेश चाहिए ही...जिद है।’

वह सिहरती है। ठंडी हवा है। खिड़की खुली है। दूर आवाज करने वाली बारिश है। भीतर, भीतरी हिस्से में खामोशी है।

अब नाटककार का रूपांतर उस पात्र में हो गया है। वह पात्र यानी नायक। खिलाड़ी नायक। धीरे-धीरे नायक आता है। चबेना खाते-खाते। उसने खिलाड़ी की पोशाक पहन रखी है। वह कुर्सियों के बीच से चल रहा है। उसकी नजर चकरा रही है। उसे ‘कोच’ तलाश करना है। ‘आईसप्रूट की कैंडी’ बेचने वाला लड़का हसन पैर पसारकर आराम से बैठा है। उसका ध्यान नायक की ओर जाता है। वह जीभ निकालता है। हँसता है-

नायक क्या रे?

हसन कुछ नई बाप।

नायक टाइगर को देखा क्या?... अपने कोच साब को?

हसन नई। वैसे दिखा था उधर।

नायक केवल एक मौका।... एक मौका...एक बार मेरा चयन हो गया कि बस...

हसन चयन? काहे के लिए?
 नायक इसके बिना टीम में खेल सकूंगा?... में योग्य हूं। पर मौका नहीं है। सिफारिश नहीं है।

हसन सिफारिश?... मेरे पास भी सिफारिश नहीं है। मेरे पास ये है... आइसफ्रूट।
 नायक (निःश्वास छोड़कर) मेरे पास यह भी नहीं है।... पर बॉल के पीछे में चीते की स्फूर्ति से दौड़ता हूं। वह जोर मेरे पास है। (विश्वास) पर सिफारिश नहीं। आइसफ्रूट की कैंडी नहीं।...

हसन जा के बोलने का उसकू।
 नायक अरे, मैंने क्या उसे कहा नहीं होगा?
 हसन मस्का लगाने का S
 बवंडर आता है। आवाज भी आती है उस बवंडर की। माथे की स्वप्निल जुल्फें उड़ने लगती हैं।

‘मंच पर बवंडर कैसे दिखाएंगे?’
 अब यह मेरी समस्या नहीं। डायरेक्टर को यह समस्या सुलझानी होगी, है न?
 अच्छा फिर आगे? वह स्त्री पात्र...

फ्लैश बैक। अर्धवर्तुलाकार कुर्सी की एक ओर एक ‘लेवल’ है। काल कपड़े से ढंकी हुई। भागते हुए वह वहां पहुंच गया है। ‘फुटबॉल कोच’ आता है। ऊंची कदकाठी, मोटा-ताजा। खेल की पोशाक। गले में सीटी लटकी हुई। वह नायक को देखकर तुच्छता से हँसता है। हाथ बांधता है, विवेकानंद स्टाइल। दूर देखता है।

नायक (शोकमग्न) मुझे लीजिए जी टीम में S। मुझे लीजिए न S।
 टाइगर क्यों, तुम्हें क्यों लें?
 नायक मैं अच्छा खेलता हूँ...
 टाइगर तो क्या हुआ? बहुत सारे अच्छा खेलते हैं।
 नायक पर आप मुझे चुनें। आइ कैन किक गुड...
 टाइगर बट आई कैन किक यू S।

पैरों के पास बैठने नायक को टाइगर लताड़ता है। नायक लड़खड़ाता हुआ गिरा पड़ता है। हसन उसे संभालता है। एक कैंडी निकालकर देता है। दोनों कैंडी खाते हैं। चल रहे हैं, धीरे-धीरे।

हसन बहोत बुरा... मगर बोलने का S
 नायक वही। इसीलिए तो।
 ‘पर फिर स्त्री पात्र...’
 ‘है। आगे है।’
 ‘आगे है?... वैसे भी सब कुछ आगे ही तो होता है S। ... आश्वासन, प्रतीक्षा S।... आगे ही होते हैं।’

उसका धीरे-धीरे चक्कर लगाना। धीमे, दबे स्वर में कथानक सुनाना। उसका सुनना। उसकी उत्सुक नजर। बाहर से बिना आवाज के बरसता पानी। भीतर की खामोशी। भीतर किसी भी प्रकार

की हलचल नहीं।

‘यहां उसकी एंट्री...’

‘कौन वह? नाम?’

नीचे घास में पड़ा फुटबॉल नायक उठाता है। थोड़ा लताड़ता है, थोड़ा हाथों में उछालता है। हसन भी आस-पास, हँसता है।

नायक (दुखी होकर) उन्हें मुझे शामिल करना चाहिए, है न?

हसन बोलो उसको... जाके बोला।

नायक कहने के लिए ही तो आया हूँ न मैं यहां...। पर टाइगर है कहां?

फुटबॉल में से वह आती है। यह उसकी स्फूर्तिदेवी है। यह प्रेक्षकों को दिखाई देती है। नायक को दिखाई देती है। जलता-बूझता दिया जलता है और ‘फुटबॉल’ में से उसका ‘प्रवेश’।

नायिका हाय!

नायक अच्छा हुआ आई।... मैं कितना निराश होने लगा था...

नायिका उससे मिलने से पहले ही? निराश होकर कैसे होगा?... यू शूड...

नायक पर मैंने उससे कहा था S...

नायिका कहा था। भूतकाल।... अब फिर मिला, फिर उससे बात कर।

नायक तेरे आने के बाद अच्छा S लग रहा है।... ऊर्जा मिल गई हो जैसे।

नायिका प्रयत्न छोड़ना मत।... लोग झिड़केंगे... बुलाकर बैठा रखेंगे।...तुम कर सकोगे? यू कैन डू इट।

नायक तू मेरी चेतना, मेरी शक्ति है...तू मेरी इच्छा, आकांक्षा, महत्वाकांक्षा है... तू मेरी प्यास, भूख, मेरी नींद...मेरी प्रेरणा...कुछ कर दिखाने की मेरी अभिलाषा ...प्रयोजना।

नायिका अब यह ज्यादा हो रहा है।

नायक नहीं...नहीं। ज्यादा कैसा?... तू ही देवी। तू ही आंतरिक शक्ति। (आवेग से) मैं तो ऐसा। और तू?

मंत्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वरि
यत्पूजितं मया देवि परिपूर्णं तदस्तु मे॥

हसन अकेले किसी से बात कर लै रे बाप

नायिका नहीं...नहीं। यह ज्यादा हो रहा है।

नायक (आवेग से) ज्यादा कैसे?...

या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

नायिका (डरकर) यानी मैं...

नायक हां। तू S। तू SS। तू ही SS।

उसकी आराधना मुद्रा। हसन उसे देख नहीं सकता। वह तंग आ गया है। अंगुली से कान खुजला रहा है।

नायिका यानी मैं नैं ही हूं। और फिर टाइगर?... वह कौन है?
 नायक टाइगर? वह को ऽ च?... उससे मिलकर मैं...
 नायिका यही तो कह रही हूं मैं। ...तू उससे मिलकर...
 हसन टाइगर तो इधर नहीं है बाप।
 नायिका ये क्यों बीच-बीच में आता है?
 नायक वह आइसफ्रूट वाला है... उसके पास इतना तो है।...मेरे पास सिफारिश नहीं।
 वह भी नहीं...आइसफ्रूट की सप्लाई भी नहीं।
 नायिका तू उसे खोजना चाहिए। तू उससे मिलना चाहिए।... तू उसे...
 नायक टाइगर। टाइगर कहां हो?
 नायिका अंगुली से दिखाती है दू ऽऽ र। नायक हसन को उस दिशा में जाकर
 तलाश करने के लिए कहता है।

‘इंटेरेस्टिंग।.. फिर?’

‘सारा ही नाटक कैसे बताऊं? पढ़कर ही सुनाना चाहिए...’

उसकी छोटी-सी शिकायत। उसकी नजर में नाराजगी। हवा थोड़ी आती है, थरथराहट। पर शांति
 ही चारों ओर चुप्पी। उसका फुसफुसाना। कहना,

‘पर पढ़कर सुनाना नहीं आता न। पर आगे क्या...? अगला दृश्य? मिलता है टाइगर?’

‘उधर हसन जाता है और इधर नायक अपने मन की स्फूर्ति-देवी से कहता है, मन की इच्छा।’

‘यह भूमिका मैं करूंगा...’

‘अं?’

‘मैं करूंगा।... और मुझे तो जरूरत भी है।’

‘तो, इधर ये दोनों बोल रहे हैं, उधर टाइगर घास में मरा पड़ा है, कब का...’

‘मरा पड़ा है?’

उसे धक्का लगा है। ज्यों उसने किसी परिचित की खबर सुनी ली है। छाती पर उसके हाथ
 रखना। पलकें फड़फड़ाना, खोलना-बंद करना। वह कुछ ठसक से खड़ा ज्यों वह घटनाओं का निर्माता
 होता है। ज्यों उसके हाथों में सूत्र हैं किसी बात के।

‘इधर इनकी चर्चा और वह उधर...’

‘मरा पड़ा है?’

‘हां।’

‘फिर आगे नाटक कैसा होगा?’

‘यह सब कैसे बताया जा सकेगा?’

‘मैं सारा नाटक सुनाने के लिए कह रहा हूं क्या? दृश्य तो साकार होना चाहिए न।...अगला
 दृश्य क्या है?’

दृश्य आगे जारी रहते हैं। ज्यों किसी फिल्म की रील चल रही है। दृश्य प्रकट होता है। उसकी
 पलकों के भीतर। इसकी पलकों के भीतर। उसकी आवाज में। उसकी सांसों में। पर इतने आहिस्ता
 से, ज्यों फूल खिला हो क्योंकि बाकी सब खामोशी ही है। बारिश अब खिड़की पर धड़धड़ा रही है

परंतु उसकी आवाज भी कुछ खास नहीं।... और भीतर से भी खामोशी ही है।

फिर दृश्य दिखाई देता है। पिछले साइक्लोराम पर तितलियां दिखाई देती हैं। नायक तितलियां पकड़ने की कोशिश करता है। फुटबॉल उछालता है। झेलता है। हँसता है। उसे अपने मुक्त जीवन की याद आती है।

‘मतलब फिर फ्लैशबैक?’

‘नहीं...यहां वह स्वागत कहने वाला है...’

‘और नायिका?... वह है न?... और नायक संस्कृत में कैसे बोलता है? वह चलेगा?’

‘यह आत्म संवाद है, इसके लिए भाषा की रुकावट क्यों?’

‘अच्छा, तो?’

‘फिर क्या?’

‘आगे नाटक सरकेगा कैसे? टाइगर तो मर गया...।’ ...उसका भूत था क्या नाटक में?

उसका अचानक खूब उत्तेजित हो जाना। तपाक से उसके पास जाकर बैठना। आश्चर्य से देखना, उसकी ओर। उसकी भी उत्सुक नजर।

‘ये मुझे नहीं सूझा। पर यह बहुत ब्रिलिएंट आईडिया है। यदि भूत स्टेज पर ला सकते तो।
स्साला ऽ’

‘सूझा ही नहीं।’

‘पर वह तो वहां मरा पड़ा है?... मरकर?’

‘हां।... मरकर।’

उसका उदास हो जाना। वह भी उदास होता रहा। दोनों का दूर निहारना। उस दीवाल पर के चित्र की ओर या खिड़की के बाहर के फाटक की ओर। बारिश की ओर। उसका उदास होना।

निःश्वास छोड़ना।

‘आदमी मरे पड़े रहते हैं, यह सच है।’

‘सच है?’

‘मेरे पिता भी... ऐसे ही मरे पड़े थे।’

‘अं ऽ’

‘दरवाजे में।... किसी के ध्यान में नहीं आया।’

‘सुनाइए... सुनाएंगे?’

नाटक आप सुना रहे हैं न? टाइगर मरा पड़ा है। हसन उसे देखने गया है। इधर नायक-नायिका...

दृश्य साकार होता है। उभरता है। मंद रोशनी। धूमिल। बहुत व्यवस्थित नहीं। दुखमय। अस्पष्ट। दुखपूर्ण। यादों में कैद। नायिका आईने के सामने बाल काढ़ती है। अपने आपको देखती है, पर हँसती नहीं। गंभीर है। आईने का पारा उतर चुका है, मां और मौसी उसकी ओर देखते हैं। बैठी हैं।

नायिका मैं काम करूंगी, नाटक में।

मौसी ना...नहीं...

नायिका नाटक बुरा नहीं है।
मां और वह द्वारका?
नायिका द्वारका भी बुरी नहीं। वह तो अच्छे रोल कर रही है।
मां और कुछ भी कर।... नाटक
नायिका खराब काम है क्या? कला है।... पैसे मिलते हैं... 'तमाशा' नहीं।
मौसी पैसे?... पैसे देते हैं?
मां द्वारका नाटक में काम करती है...तू भी करेगी क्या?
नायिका फिर क्या करूं?... मैं पढ़ना चाहती थी, तो मुझे पढ़ाया नहीं। हमेशा पैसे की कमी।
मां शादी करनी है।
नायिका किसके साथ?... वो?
इधर पिता दरवाजे पर मरे पड़े हैं। किसी को मालूम नहीं आने-जाने वाले सहज देखते हैं। उन्हें लगता है, सोए हैं, दरवाजे पर, चबूतरे पर।
मौसी नाटक...नाटक...नाटक। काहे का नाटक की?...जनम का सब बेकार है।
नायिका मुझे नाटक में काम करना ही है। हीरोइन का रोल मिलने वाला है।
मौसी (माथे पर हाथ रखकर) फूटी तकदीर। हीरोइन मतलब?
नायिका हीरोइन। हीरोइ S न।
मौसी कोई तो जाएगा री।... नहीं...ना।
मौसी की सहज और असभ्य-सी प्रतिक्रिया। उसका निष्कर्ष। मां का डर जाना। विरोध करना। उसका ध्यान जाना। पिता का मरा पड़ा होना। कंदील का भभकता। धुएं का उठना। धूमिल, अंधकारपूर्ण दुखद दृश्य। अनपेक्षित। असभ्य नाटक में नहीं चलेगा। (उसका कहना) पर सुसंस्कृत चलेगा। तो यह भी चलेगा (शायद)
उसका स्तब्ध होना। बेचैन होना। दूर की खामोशी उन दोनों से लिपटी हुई। हवा भी और उसके पीछे बारिश बाहर। आवाज बिलकुल नहीं।
'आपको नाटक में काम करना है?'
'रोल चाहिए।... अच्छा।... वैसे काम किया है मैंने। पर अच्छा रोल...'
'अच्छा रोल... अच्छा नाटक... यह कौन तय करेगा?...वे?'
'वे कौन?... वे ही।... जो दूर मरे पड़े होते हैं। इधर नायक-नायिका बातें कर रहे हैं न। टाइगर वहां मरा पड़ा है... यानी तय उन्हें करना है, जो मरे पड़े हैं।'
'आपको कुछ कहना है?'
'हां।...पर यह मेरे नाटक के ही बारे में है।'
दृश्य उभरता है। यह भी दुखी, चुभने वाला है। घुटन भरा है। दृश्य फिर उनके शब्दों में। दृश्य फिर उनकी पलकों से। दृश्य उभरते समय आवाज नहीं आती। निर्ध्वनी साकार करना, अवतरण होना दृश्य का। साइक्लोराम पर फिर तितलियां उड़ती दिखाई देती हैं, पीली-पीली। नायक 'माईम' करता

है। स्लो-मोशन में दौड़ रहा है। नायक मिमिया रहा है। मना रहा है। मिन्नतें।

नायक मुझे इस तरह मत झिड़किए जी। मुझे शामिल कीजिए। मैं अच्छा खेलता हूं।
टाइगर मेरे पीछे मत आओ। चल जा... भाग यहां से।

कोहरा। दृश्य ओझल होता है। चर्मवाद्य से 'ढम्म' का आवाज कोहसे से सूट-बूट में एक व्यक्ति कुर्सी लेकर आता है। कुर्सी रखता है। नायक कुर्सी पर बैठता है। सूट-बूट के व्यक्ति के पीछे दो-तीन लोग आते हैं। उनके प्रश्नोत्तर के दृश्य साकारते हैं। ज्यों यह एक कोई 'जांच' हो। या कोर्ट हो। या आरोप-पत्र का वाचन हो। या 'कोर्ट मार्शल' है। नायक कुर्सी पर बैठे-बैठे ही नमस्कार करता है।

पहला नायक बुरा नहीं है, पर...

दूसरा कब लिखा नाटक?

नायक कल।... कल पूरा हुआ।

तीसरा कल? और आज वाचन? नाटक को अचार की तरह कुछ दिन पड़े रहना देना चाहिए।

पहला इसमें हूक नहीं, पंच नहीं।... मैंने एक फिल्म देखी थी... उसका नाम 'डेविल्स एडवोकेट'।

नायक फिर?

पहला उसमें दृश्य है कि शैतान का वकील बाथरूम में जाकर हाथ धोता है।

नायक मेरे नाटक में...

पहला सुनिए...। तो यह हाथ धोता है, जैसे पाप धो रहा है। और आईने में देख रहा है। देखते-देखते उसका सब कुछ बदल जाता है... ऐसा पंच चाहिए।

दूसरा आपका नाटक...

नायक मेरा नाटक खून से लिखा गया है। वह एंबस्ट्रेक्ट है ही... पर समझ आ जाए ऐसा है। साइक्लोराम पर तितलियां हैं... स्फूर्ति-देवी पात्र के रूप में आती है। .. हां S, टाइगर का भूत मैंने नहीं लाया। यह सच है, पर इससे क्या?

तीसरा इसमें मनोरंजन भी चाहिए। चलना चाहिए, नाटक चलना चाहिए।

नायक मैंने नाटक पसीने से लिखा है...

पहला नो... नो...S... ना SSS।

दूसरा (घृणा से) पसीSSना?

नायक आंसुओं से लिखा है...।

तीनों नो... नो...S...नो...SS।

नायक (चिल्लाकर) अच्छा है... मेरा नाटक अच्छा है।

कोहरा घना हो जाता है। दृश्य घुलते जाते हैं। उसका बेचैन चक्कर लगाना जारी है। बीच में ही उसका रूकना। उस युवती द्वारा उसे देखना।

वह अब उठ खड़ी हुई है। वह उसके पास जाती है। धीरे से स्पर्श करती है। बिजली चमकती है। हवा बहती है। बारिश हो रही है, फिर खिड़की पर।

‘और कौन मरा पड़ा है?’
 ‘इधर मेरे नाटक पर चर्चा हुई उसी समय मेरे पिता मरे पड़े थे...। कोई जान ही नहीं पाया।’
 ‘मुझे लगा ही।’
 ‘कैसे?... आपको कैसे मालूम हुआ?’
 ‘ऐसे ही। ... फिर?’
 ‘उन्हें विदेशी नाटककार दिखाई दे रहे थे... उन हरामखोरों को। किसी को उसमें सामाजिकता कम दिखी।... एक ने कहा, बौद्धिकता कम है अर्थात् यह चर्चा-नाटक हो यह उनका कहना था। उसी समय...’
 ‘पिता...।’
 ‘हां।’
 ‘फिर?’
 ‘किसी ने सुझाया, सेठजी से मिलिए।... अब उन्हें कुछ समझ में नहीं आता।... पर मिलकर उसकी बुझती, मंद से मंद होती जाने वाली स्वयं में सिमटने वाली आवाज। खिड़की से बाहर उसका देखना और भीतर की खामोशी सुनना। वह शायद उसे समझ लेती है। स्तब्ध खड़ी रहती है।
 ‘नाटक लिखना हुआ उसके दूसरे ही दिन।... इधर चर्चा और उनकी झिड़की और उसी समय पिता का...’
 ‘नाटक।... आगे क्या होता है?’
 ‘नाटक में? आगे... सब कुछ पढ़ना ही पड़ेगा न...’
 ‘पूरा हो गया? अंत हो गया?’
 ‘नाटक का अंत कभी नहीं होता। नाटक होता है। से ही रक्त से आता है। रक्त।’
 ‘आपको कैसे मालूम हुआ?... मेरा मतलब है यह वाक्य नाटक में है मेरे, इसीलिए पूछा।’
 उसका निःश्वास। सिहरन। उसका ज्यों स्वगत। वह होंठ काटती कहती है, ‘मन में, रक्त...रक्त।’
 उसका बयान धीमे-धीमे। दृश्य साकार होता है, उतरता है, उतर जाता है।
 नायक अब... अब आगे?
 नायिका आगे?... आगे? और आगे ही जाना पड़ता है। आगे होता है, भविष्यकाल।
 सदैव सैनिक... आगे बढ़ो।...
 नायक पर वह तो मरा पड़ा है। घास में। उलटा। खून भी है।
 नायिका तो क्या हुआ? नया कोच आएगा। उससे कहेंगे... गेम जीतकर बता।
 नायक तू ही है, मेरे जीवन की शिल्पकार।... मेरी प्रेरणा S
 दृश्य पिघलता है। उसका थरथराना। शायद उत्तेजना से, शायद ठंड से। अब उसकी बेचैन हलचल।
 ‘यह भूमिका मैं करूंगी’
 ‘अं?’
 ‘मैं...। मैं ही।’

‘वे नाटक समझ ही नहीं पाए। यह उस नायक की आंतरिक यात्रा है।... और तितलियों का उड़ना... उन्मुक्त इच्छा का प्रतीक।’

उसकी आँखें तितलियों की तरह फड़फड़ाती हैं। उसके मन में कुछ दुखद प्रसंग जीवंत होते हैं। वह बताती है। दृश्य साकार होते हैं। खिड़की के कांच पर बारिश झपटती है परंतु खामोशी भंग नहीं होती।

नायिका मुझे ऐसा ही मुक्त उड़ना था।

मां मौसी कहती है, वैसा ही हुआ न?

नायिका उसे मेरी महत्वाकांक्षा समझ में ही नहीं आई?

मां (एक तमाचा जड़कर) यह नाटक नहीं है क्या... यहां जिंदगी का नाटक हो गया है...

नायिका (बचते हुए) मारो मत।

मां अब? आगे

नायिका अब? अब तो काम छोड़ूंगी ही नहीं। मुझे पैसे कमाना है, जीना है, शानदार। नाटक में काम करना है।

मौसी (माथा मारते हुए) अरे फूटी तकदीर। वो कौन भडुआ... गया क्या अंत में S

नायिका (गुस्से से) मौसी।... वैसा कुछ भी नहीं।

धुआँ और भभकता कंदील और सस्ती सादे नाटक की स्क्रिप्ट्स। उसमें छोटी-मोटी भूमिका और झगड़े। और खुद का ध्यान रखना। सारी बुरी यादें। मौसी कहती है, वह वैसा ही हो गया था और वह भाग भी गया था, उसका बयान था। असभ्य नाटक में चलता नहीं इसलिए सारा नहीं बताएंगे, यह भी उसका कहना था।

दृश्य का घुलते जाना परंतु पीछे-पीछे नायक का तितली की तरह पीछा। पीली तितलियां साइक्लोराम पर ढेर सारी। नायक का स्लो मोशन में छोड़ना। नायिका भी तितलियों के साथ उन्मुक्त उछल-कूद कर रही है। पर दोनों एक-दूसरे की ओर नहीं देखते। दोनों को ज्यों एक-दूसरे की खबर ही नहीं। या एक-दूसरे के अस्तित्व का बोध ही नहीं परंतु, दोनों एक-दूसरे के पास-पास ‘उड़ते-उड़ते आ रहे हैं। उनका एक-दूसरे के करीब आना दर्शकों को महसूस हो, पदन्यास कुछ ऐसे ही था।

‘फिर? आगे?’

‘आगे? नाटक में?’

‘क्या हुआ आगे?’

वह अब खिड़की के सामने तनकर खड़ा है। उसकी नजर दूर तक। उसकी ओर उसकी पीठ है। हाथ पीछे उलझे हुए। सामने बारिश। निध्वनि बारिश। आहिस्ता-आहिस्ता उतरने वाला। बाहर हलचल नहीं। आवाज नहीं। भीतर आवाज नहीं। ‘वेटिंग रूम’ में इन दोनों की सांसें, फुसफुसाहट और धीमी आवाज में दोनों का बोलना। और अदृश्य में से दृश्य का साकार होना।

धुआँ या कोहरा वह छंटा और कुर्सी पर बैठे सेठजी दिखे। दसों अंगुलियों में अंगूठियां। गले में सोने की माला। नायक कोहरे में से आता है। पीछे साइक्लोराम पर पीली पतंग दिखाई देती है। उड़ने वाली। मध्यस्थ पीठ किए खड़ा है हाथ पीछे बांधकर। नायक नमस्कार करता है।

सेठजी ये नाटककार हैं क्या?
 नायक हां।
 सेठजी ये क्या नाटक लिखेंगे? नाटक चलना चाहिए न।
 मध्यस्थ पढ़कर तो देखिए, सेठजी, प्रतिभावान नाटककार है।
 सेठजी मैं? और पढ़ूं? इसे पढ़कर सुनाना चाहिए।
 नायक हां, पढ़कर सुनाऊंगा न।
 सेठजी मैंने उनसे पूछा है। पर ठीक है। चौतीस तारीख को पच्चीस बजे आइए...
 सुनेंगे आपका नाटक।

नायक जाता है, नायिका आती है, विरुद्ध दिशा से। मध्यस्थ उसी तरह खड़ा है। अब पतंग कट गई है। नीचे-ऊपर उड़ रही है। वहां अब फूल दिखाई देता है।

नायिका मुझे जरूरत भी है। मुझे नाटक में काम करना है।
 सेठजी तेरी क्या बात है? तुम्हें हिरोइन बना देंगे। (हँसते हैं)
 मध्यस्थ प्रतिभा संपन्न अभिनेत्री है।... मुलाकात के लिए समय तो दीजिए... अच्छा काम करेगी।

सेठजी ठीक है। अमुक तारीख को अमुक बजे।

मध्यस्थ और सेठजी नाचते हुए निकल जाते हैं।

‘वो तो ठीक है, पर आगे, नाटक में? ये तो इधर मरा पड़ा है और...’

‘एक मुश्किल समय है। पर सच कहूं? अंत में मैं अड़ गया। नाटक का अंत नहीं होता, ये बात मैंने इसी के लिए की।’

‘प्रसंग कौन सा?’

अब वह उसकी ओर मुड़ा। उसके होंठ तने हुए हैं। आँखों में उलट-फेर ज्यों वह वही भूमिका जी रहा है, अपने ही नाटक की। नसें तन गई हैं। दृश्य साकार हो रहा है, उसके बयान के साथ-साथ।

मैदान। वर्तुलाकार कुर्सियां। नायक फुटबॉल लेकर खड़ा। हौले से फुटबॉल फेंकता है। आइसफ्रुट की कैंडी मुंह में रखी है। पुलिस आती है। हसन आता है।

पुलिस उधर...उधर से किसी को भागते हुए हसन को देखा है। आप यहां कब आए?

नायक थोड़ी देर हुई है। ये तो था ही यहां...क्यों भई?

पुलिस इसके पहले ध्यान में नहीं आया। वह खिलाड़ी ही था। भागने वाला।

नायक फिर।

पुलिस वहां आपका कोच मरा पड़ा है। तूने उसे मारा है।

नायक मैंने?

पुलिस उसने तुम्हें निकाल दिया था... तुम्हारा उस पर गुस्सा था। तूने उसे मारा है।
 इसने देखा तुम्हें भागते हुए...

नायक नहीं...नहीं...वो मैं नहीं था।

नायिका (प्रकट होकर, रुआंसी होती) यह वो नहीं है। ये यही था कब से। चाहे तो मैं गवाही दूंगी।

नायक तू उन्हें दिखाई नहीं दे रही है।
 पुलिस किससे बात कर रहे हो?
 हसन मैंने एक को भागते देखा...
 नायक मुझे?
 हसन क्या मालूम?
 नायक अजी वो मैं नहीं...
 पुलिस चुप्प। नाटक करता है?
 नायक क्या नाटक? यहां भी नाटक? अरे भगवान। नाटक में नाटक। (माथा ठोंक लेता है)
 पुलिस फिर नाटक करता है?
 नायक फिर वही।
 पुलिस चलो। तू ही खूनी है। च 5 ल।

उसकी स्फूर्ति देवी गवाही देना चाहती है, चिल्लाना चाहती है, पर वह किसी को दिखाई नहीं देती। नायक हसन की ओर गुस्सेल नजर फेंकता है। हसन कांधे उचकाता है। आइसफ्रूट की कैंडी खाता है। पुलिस नायक को ले जाती है। दृश्य पिघलने लगता है।

‘आगे कोर्ट-रूम ड्रामा है। स्फूर्ति-देवी गवाही देती है। जज को कुछ सुनाई नहीं देता पर दर्शकों को सब मालूम हो जाता है।... नायक का स्वागत।’

‘मैं ही करूंगा यह भूमिका।’

उसकी नसें तनी हुई हैं। ज्यों उसे पुलिस खींचते हुए ले जा रही है। उसे विरोध करना है। उसे निरपराध सिद्ध करना है। उसे जीना है। उसने किसी को नहीं मारा, क्योंकि वह नायक है। उसका उसे देखना, उसे सुनना। उसका नाटक को अपना लेना ज्यों वे एक और एकमेव वास्तविकता हों।

‘उन्हें नाटक समझ में ही नहीं आया... उन्होंने नाटक को मार डाला। नाटक का खून किया।’

‘अं...?’

उसका भयभीत होना। उसके कुछ करीब आना। भरपूर नजरों से उसे देखना। दृश्य साकार होने लगता है।

पहला नाटक ऐसा नहीं होता... पर लिखिए आप। मुझे आपको डिस्करेज नहीं करना है।

दूसरा नाटक कैसा होता है? वह चलना चाहिए, समझ में आना चाहिए। इसमें क्या है? फुटबॉल? रहने दीजिए। पर ड्रामा?

नायक है, उसमें ड्रामा है...

पहला सार्त्र और कामू...

दूसरा गडकरी और तेंडुलकर

पहला आपके पसंदीदा नाटककार कौन?

दूसरा वे तितलियां और पतंग बार-बार आप दिखाना चाहते हैं? वो क्या नाटक है?

पहला-दूसरा (एक साथ) नाटक! नाटक! नाटक!
सूटबूट में एक आदमी आता है। कुर्सी रखता है। दोनों जाने लगते हैं। साइक्लोराम पर घड़ी दिखाई देती है, पर उसमें आंकड़ें ही नहीं हैं। सेठजी कुर्सी पर बैठ जाते हैं।

नायक नमस्कार।

सेठजी क्या नाटककार? आपके नाटक में क्या है?

नायक एक खिलाड़ी पर यह नाटक है।

सेठजी खिलाड़ी? इंटरेस्टिंग। उसमें क्या है? फुटबॉल?

नायक हां।

सेठजी पर उसमें तेंडुलकर और गडकरी नहीं हैं...

नायक मतलब?

सेठजी उसमें सार्त्र और कामू नहीं है शायद...

नायक नाटक अच्छा है।

सेठजी यह कौन तय करेगा? हमारे एक्सपर्ट...

नायक आपके एक्सपर्ट? उनको क्या पता है?

सेठजी इससे पहले एक नाटककार आते थे। कहते, मेरा नाटक लीजिए। नमस्कार करते...

नायक नमस्कार?

सेठजी एक बार मैं पिया हुआ था। वे आए। बैठे। किसी भी विषय पर नाटक लिखते हैं, पर बोल लीजिए। 'बंधीधर नाटक' मंडली की ओर से नाटक मंचित करना है, तो चलना चाहिए। मैंने कहा तो कि मैं अभी कभी एक औरत के थन पर तिल देखा था। मैंने कहा थन की तिल पर लिखो नाटक, नाटककार। लिखा पढ़े ने।

नायक क्या हुआ उस नाटक का?

सेठजी बूट पॉलिश भी करने की तैयारी थी। करेंगे आप?

नायक नहीं।

सेठजी नहीं? फालतू नाटक लिखते हैं... तितलियां और पतंग...और आइसफ्रूट की कांडी। फालतू...फालतू नाटक है आपका। और औरत भी नहीं नाटक में।

नायक मैं आपका खून कर दूंगा। हरामखोऽर। मेरा नाटक फालतू नहीं है। उसे समझने की जरूरत है। आपको इसमें कुछ समझता है?

नायक झपटकर आता है। उसकी सारी नसें तनी हुई है। थ्रोब लाइट का उपयोग। थोड़ी भागमभाग-छीना-झपटी। सेठजी अपने चारों ओर चक्कर लगाता है। गिर पड़ता है।

नायक (दर्शकों को) मैंने इसे नहीं मारा...आपने मारा है। मतलब आप लोग जिम्मेदार हैं। यह रक्त उनका भी नहीं...शायद आपका होगा। इसने नाटक का खून किया है... मेरे नाटक का खून किया है। (गुस्सा) मैंने इसे नहीं मारा...टाइगर को मैंने नहीं मारा। जो जो भाग्यविधाता हैं वे इसी तरह अचानक मरे पड़े होते

हैं। दूऽर। पिता भी... टाइगर भी... ये भी।
जाता है। पर दृश्य पिघलता नहीं। दृश्य उसी तरह स्थिर रहता है। क्षण दो क्षण। नायक वापस आता है। सेठजी की ओर देखकर कहता है,
नायक ऐसा नाटक होता है राजाऽ
जाता है। तुरंत सूट-बूट का आदमी आता है। साइक्लोराम पर की घड़ी हट जाती है। अब कैलेंडर फड़फड़ाता है। आदमी सेठजी को उठाता है। सेठजी उठते हैं। कपड़े हैं। कपड़े झाड़ते हैं। कुर्सी पर बैठते हैं। सूट-बूट वाला काला आदमी घोषित करता है,
आदमी अमुक बजे... अमुक दिन।
जाता है। नायिका आती है। इधर-उधर देखता है। रूमाल से पसीना पोंछता है।
सेठजी आइएऽ। सुना है, आपको नाटक में काम करना है?
नायिका नमस्कार। हां। मुझे जरूरत भी है और नाटक में काम करने की इच्छा भी है।
सेठजी अच्छ बोलती है। जुबान भी अच्छी है। उस हिट और हॉट नाटक में आपने काम किया था न?
नायिका हां।
सेठजी उस नाटक में ब्लाउज बदलने का सीन था न?
नायिका हां।
सेठजी इस नाटक में करेंगे ऐसा?
नायिका नहीं।
सेठजी नहीं? क्यों नहीं?
नायिका नाटक में वैसी आवश्यकता नहीं।
सेठजी पर मुझे आवश्यक लगता है। बड़ा रोल है। हीरोईन का। आइए। इधर आइए। पास आइए।
छीना-झपटी, श्रोब लाइट का प्रयोग। साइक्लोराम के कैलेंडर के पन्ने फड़फड़ाते हैं।
नायिका- छोड़ो। छोड़ो। नहीं तो...
सेठजी अपने चारों ओर गोल-गोल घूमता है। गिरता है। खामोशी। काफी देर। नायिका पसीना पोंछती है। तुच्छतापूर्ण निगाहों से देखती है, नीचे गिरे हुए सेठजी को।
नायिका- खत्म हुआ। यह खत्म हुआ, ऐसा लगता है।
(दर्शकों की ओर मुखातिब होकर) इसे मैंने नहीं मारा इसे आपने मारा है। मतलब आप इसके जिम्मेदार हैं। यह रक्त शायद आपका। रक्त...रक्त। इसने मेरी आत्मा का खून किया है।...इसलिए वह इस तरह मरा पड़ा है। जो जो भाग्य विधाता होते हैं, वे इसी तरह मरे पड़े होते हैं। पिताजी भी। यह भी।
जाता है। दृश्य पिघलता है। परंतु, नायिका फिर आती है। उसके हाथ में एक कार्ड-बोर्ड है। वेंटिंग रूम उस पर लिखा है। वह बोर्ड लगाती है। कुर्सियां लगाती है। कुर्सी पर बैठती है। प्रतीक्षा करती है, काफी समय। शांत। स्थिर। वह किसकी प्रतीक्षा कर रही, यह नहीं बताती। पर वह बैठी है, अब कुर्सी पर प्रतीक्षा कर रही है।

फिर नायक आता है। माथे पर स्वप्निल जुल्फें। नाटक की कॉपी छाती पर कसकर रखी है। उसे देखता है। बैठा रहता है, राह देखता है। फिर प्रारंभ में घटा ठीक वैसा ही प्रसंग घटने लगता है, वही संवाद उभरते हैं।

‘काफी देर हो गई, है न?’

उसका वाक्य स्फोट की तरह लगा दोनों को। दोनों चौंकते हैं। वह थोड़ी मुस्काती है। वह फिर फुसफुसाता है-

‘काफी देर...’

‘हं।’

‘आप मुझसे पहले आए न?’

‘यहां?’

‘हां, यहीं?’

‘कुछ समय पहले।’

‘वह भी फुसफुसाती है। हवा, फिर हवा। बारिश, फिर बारिश बाहर। बाकी सभी ओर खामोशी। यहां बाहर और भीतर भी। घड़ी की टिक-टिक जोर से सुनाई दे रही है। दृश्य घुलता जाता है।

दोनों की आँखों में डर। उसकी भी, इसकी भी।

‘यानी?’

‘मुझे मेरा नाटक पूरा करना है। ऐसा कुछ अंत हो जाएगा, ऐसा लगा नहीं था...’

‘हम अंत लिखेंगे... फिर नए सिरे से। नाटक का’

‘वाचन...’

‘आप वाचन करें नाटक का। मैं सुनता हूँ। हम सुनेंगे।’ ‘नाटक’

‘हम मंच पर लाएंगे। करेंगे हम नाटक। वह भूमिका तो मैं ही करूंगी। मैं ही।’

‘कहां पढ़ें?’

‘मैदान पर? तितलियों के साथ? अन्यथा सागर किनारे। बारिश होते में। आड़ में। आप पढ़ें। मैं सुनूंगी... मैं ही सुनूंगी...’

‘चलिए, चलो जाएंगे हम।’

उसका कुछ-कुछ हंसना पहली बार ही, उन्मुक्त इस तरह। उसकी भी कुछ मुक्त हँसी इस तरह परंतु, इस कारण खामोशी भंग नहीं होती। उसका उठकर खड़ा हो जाना। दोनों का बाहर आना। उनका, बारिश में पिघलते जाना। घड़ी घंटा पूरा होने की टन-टन की आवाज दे रही है। टन-टन की आवाज शायद पचीस है, फिर भी खामोशी नहीं टूटती। बारिश में उनका चलते रहना। नाटक की कॉपी भीग न जाए, इसलिए लड़की ने नाटक को सीने की ऊष्मा दी है। भुलक्कड़ टेक्नेशियन ज्यों नाटक में विलंब से पार्श्व संगीत दिया हो, ठीक वैसा।

दूर संस्कृत में देवी-स्तुति सुनाई देती है। पर सुनने वाला कोई नहीं। यहां भी। भीतर भी। कहीं कोई नहीं। खामोशी उसी तरह। स्तब्धता वैसी ही। निर्ध्वनी बिजली चमकती है। हवा तेजी से बहती है। बारिश का घना बरसना और बारिश में उन दोनों का घुल जाना। पर दृश्य घुलता नहीं। स्थिर रहता है। वैसा ही रहता है। ■

लेखक की मौत

जयंत पवार

अनुवाद : गोरख थोरात

आईने

कभी न कभी यह होना ही था। लोगों ने आपस में तय किया और सारे आईने तोड़ डालें। ध्यान रहे, यह ऐसा समय है जो छोटी-छोटी बातों से बड़ी-बड़ी बातों की तरफ बढ़ रहा है। लेखकों को लघुकथा से दीर्घकथा की तरफ बढ़ना चाहिए। कवियों को टुकड़ा-टुकड़ा काव्य जोड़ने के बजाए खंडकाव्य लिखना चाहिए परंतु आईने ही तोड़ डालने से उनका निरूपाय हो गया।

यह होना ही था। आईनों का निर्माण ही ऐसा बेशुमार हो गया कि उनके खिलाफ ऐसी प्रतिक्रिया कभी न कभी होनी ही थी। आईनों के निर्माण का दौर देश के इतिहास में छोटी-छोटी बातों का दौर है। *अत्यंत रमणीय या रोमांटिक पीरियड* नाम से साहित्य ने उसकी सुधि ली है लेकिन आईने इतनी बड़ी संख्या में बनने लगे कि लोगों की आजादी खतरे में पड़ गई। बार-बार ऐसा होने लगा कि हम बड़ी तल्लीनता से किसी आईने के सामने खड़े हैं और उसी समय पीछे से कोई आदमी उसके अपने सामने के आईने में झांक रहा है और आगे-पीछे से उसका अक्स हमारे आईने में घुस रहा है। केवल पीछे ही नहीं, बल्कि दाँए-बाँए के आईनों में झांक रहे लोग भी हमारी तल्लीनता को भंग करते हैं। बाद में तो, न केवल पड़ोसी, बल्कि सीधे, आड़े-तिरछे, वक्राकार सभी ओर से आईने में झांकते लोग दिखाई देने लगे। आईना-फैक्ट्री के मालिकों ने फर्श ही नहीं, छत भी आइने के बना डाले। आखिरकार मामला इतना बढ़ गया कि आईने में देखने की सार्थक क्रिया लोगों को निरर्थक लगने लगी और उन्होंने खुद आगे बढ़कर आईने तोड़ डाले। लोग ऐसे परेशान और क्रुद्ध हो गए थे कि कहीं भी देखने की उनकी इच्छा नहीं हो रही थी। उन्होंने सबसे पहले लेखकों की दुकानें बंद की। अनेकों ने आगे बढ़कर दुकानों के पट्टे बंद किए। कुछ नामचीन लेखकों के मॉल थे। वहाँ दाखिल होने पर ऐसा जान पड़ता था मानो शीशमहल में आए हों। कई रंग-बिरंगे दिए, झूमर, छवियों को प्रतिबिंबित करनेवाली कलात्मक वस्तुएं वगैरह की एक दमकती दुनिया वहाँ साकार हो गई थी। लोगों ने इन मॉलों में आग लगा दी और सभी को वहाँ से खदेड़ दिया।

एक लेखक अकेला था। उसकी न बाहर कोई दुकान थी और न ही मॉल में। वह दिन भर घूम-फिरकर आने के बाद अपने घर में ही बैठकर लिखता। सुना है, उसकी कलम की स्याही में पारा मिला हुआ था। उसने इस आईने-तोड़ आंदोलन को रोकने की भरसक कोशिश की। बीच रास्ते में

खड़ा होकर वह जोर-जोर से समझाने लगा लेकिन यह उसका पागलपन था, जिसका नतीजा तुरंत उसे भुगतना पड़ा। लोगों ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और भरे चौक में उसे फेंक दिया।

सारे आईने तोड़ डालने के बाद लोग खामोश हो गए। अब वे एक दूसरे का मुँह भी नहीं देखना चाहते थे लेकिन बाद में इन खामोश लोगों में अपने ही चेहरे देखने की इच्छा जगने लगी परंतु अब अपना चेहरा देखने के मात्र दो ही विकल्प बचे हुए थे। एक था दूसरे की आँखों में देखना और दूसरा पानी में। अनेकों की आँखें सुर्ख, लाल या सफेद पड़ चुकी थीं। कड़ियों की आँखों की पुतलियां स्थिर नहीं हो पा रही थीं। कड़ियों की आँखों पर झपकियां थीं। कड़ियों की पलकों के बाल झड़कर आँखों में घुस गए थे, जिससे उन्हें खुजली हो रही थी।

फिर सभी ने पानी के जगहों; नदियों, कुओं, नालों और तालाबों की तरफ रुख किया। आजकल अनेक गिरोह जगह-जगह झुक-झुककर पानी में झांकते दिखते हैं लेकिन जो भी खुद को देखना चाहता है, उसे अपना अक्स दूढ़ने में परेशानी आ रही है।

जहां के कुएँ, तालाब, नदियां सूख चुके हैं, ऐसे अकाल पीड़ित इलाके के लोग क्या करेंगे? उद्योग-कारखानों के कारण जिनके शहरों में नाले गंदले हो चुके हैं, वे लोग क्या करेंगे? अतिवर्षा के इलाके के बाढ़-पीड़ित लोग क्या करेंगे? ऐसे कई सवाल खड़े हो गए, जिनके जवाब अभी तक नहीं मिले।

उपकथा

उपर्युक्त कथा की एक उपकथा है। दरअसल, ऐसी उपकथाएं असंख्य हैं, जिन्हें परस्पर जोड़ने से कोई बृहत् कथा रची जा सकती है; लेकिन असल सवाल यह है कि जब सारे लेखक पलायन कर गए हैं, तो इसे लिखेगा कौन! मैं तो एक अदना-सा लेखक हूँ और कूल्हे से पैर लगाकर भागने की नौबत मुझ पर कभी भी आ सकती है इसीलिए चलते-चलते संक्षेप में यह कथा दर्ज कर रहा हूँ।

आगे कहानी यह है कि जिस लेखक को टुकड़े-टुकड़े करके भरे चौक में फेंक दिया था, उसके प्राण काफी देर तक छटपटाते रहे। भीड़ के चले जाने के बाद कुछ क्रुद्ध लेखक वहां इकट्ठा हुए और कहने लगे कि यह मरेगा नहीं दुबारा जिंदा होगा और लिखेगा क्योंकि लेखक भी कहीं मरता है!

और कैसा आश्चर्य! लेखक जो सात टुकड़े किए गए थे, वे सारे टुकड़े दुबारा जिंदा हुए। आज के युग में इसे एक महान चमत्कार ही कहना होगा। इसे देखकर लेखक कृतार्थ हुए और गर्दन हिलाते हुए अपनी-अपनी राहों से चले गए। अब उस लेखक के टुकड़ों से पुनर्जीवित हुए सात लेखक खड़े हो गए लेकिन वे ज्यादा देर तक खड़े नहीं हो पा रहे थे क्योंकि उनकी हड्डियां नर्म-मुलायम और लचीली थीं। वे बोल भी नहीं पा रहे थे। एक दूसरे को पहचान भी नहीं रहे थे फिर कुछ देर बाद वे रेंगते हुए अलग-अलग सात राहों पर चले गए।

इसका वीडियो क्लिप मेरे पास है। उसे वायरल किया जाए तो हुडदंग मचेगा लेकिन मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि इससे फायदा किसका होगा?

जलना

आपने सुना होगा कि परसो एक लेखक ने खुदकुशी की। वह मेरा दोस्त था। बेचारा जलकर मर गया। मतलब, उसने खुद को आग लगा ली। आपको याद होगा कि पुराने जमाने में लोग

अग्निदिव्य किया करते थे; खुद को निर्दोष साबित करने के लिए। मेरे मित्र को ऐसा कुछ नहीं करना था। मृत्यु से पहले उसने चिट्ठी लिखकर रखी थी और उसमें साफ-साफ लिखा था कि वह अपनी मर्जी से मर रहा है और उसकी मौत के लिए किसी को भी जिम्मेदार न ठहराया जाए। इसके अलावा उसने अपने अंतिम क्रियाकर्म के लिए जरूरी पैसे भी एक लिफाफे में डालकर बिस्तर पर तकिए के नीचे रखे थे और इसे भी उसने चिट्ठी में दर्ज किया था।

दरअसल, यह लेखक बहुत ज्यादा खुश नहीं था, पर खास दुखी भी नहीं था। वह हमारे बीच रहता था। हँसता था, बोलता था और कई बार हमारे बीच होता भी नहीं था। कई बार वह अपनी ही धुन में अकेला घूमता नजर आता। न कोई उसका दुलारा था और न वह किसी का दुलारा था, फिर भी जब भी वह घूमने निकलता, तब उसके आगे-पीछे पांच-छह आवारा कुत्ते हमेशा घूमते हुए नजर आते। इन आवारा कुत्तों को वह बिस्कुट खिलाया करता। बदले में वे उसे चाटने का प्रयास करते और वह भी अपना तलुवा, कलाई उनके सामने धर देता।

जिस दिन लेखक मर गया, उससे पहले की रात वह हमारी महफिल में शरीक था, जहां गपशप और पीना-पिलाना हुआ था, लेकिन दूसरे ही दिन तड़के उसने खुद को जला लिया, इसलिए हमें यह बहुत भयानक लगा था।

नींद पूरी हो जाने पर हमेशा की तरह वह उठा और इत्मीनान से बाथरूम गया। उस दिन वह केरोसिन से नहाया और इत्मीनान से जलती हुई तिली अपने पूरे बदन पर फेरी। चमड़ी धू-धू जलने लगी लेकिन इसने जरा भी चूँ तक नहीं की। वह जल रहा था। धुआँ खिड़कियों की दरारों से बाहर छिटकने लगा और बाहर इमारत से सटे सोए कुत्ते जाग गए। पता नहीं, उन्हें लेखक की चमड़ी की गंध आई या क्या हुआ, पर उन्होंने भौंक-भौंककर ऐसा हो-हल्ला मचाया कि पूरी इमारत जाग गई। आग के संदेह में सभी दौड़ पड़े। उन्होंने लेखक के कमरे का दरवाजा तोड़ डाला। भीतर घुसकर बाथरूम का दरवाजा उखाड़ डाला और अधजले लेखक को बाहर निकाल लाए। उस पर पानी की बाल्टियां उड़ेलीं। उसकी देह को चादर में लपेटा। एंबुलेंस को बुलाया और उसे अस्पताल ले गए। वहां अनेक डॉक्टरों ने उसकी जान बचाने का भरसक कोशिश की; लेकिन वह झुलस चुका था कि आखिरकार दोपहर में चल ही बसा।

उस शाम हमारी महफिल सजी थी। मैं अपने डॉक्टर से पूछ रहा था, 'झुलसने के बाद कितनी यातनाएं होती हैं'?

डॉक्टर बोला, 'चमड़ी जलने के बाद आग हड्डियों तक पहुंचने तक दर्द होता है, लेकिन उसके बाद कुछ भी महसूस नहीं होता लेकिन अधूरा जलने से असह्य छटपटाहट होती है।

मतलब, कहीं ऐसा तो नहीं कि उसे बचाने वालों ने उसकी छटपटाहट को बढ़ा दिया? शांति से, धैर्य से मौत का मुकाबला करनेवाले मनुष्य को बचाने की बेवकूफ कोशिश कर इन लोगों ने उसकी पीड़ा को बढ़ा दिया और अपनी इस कोशिश की कथा को मिर्च-मसाला लगाकर बयान कर अपनी पीठ ठोक ली। जिन्होंने जिंदगी भर इस लेखक के बिस्कुट खाए थे, वे कुत्ते भी इस आखिरी पल में बेईमानी पर उतर आए। दरअसल, हम सभी बेअकल हैं। जब मैं यह कह रहा था, तभी मेरे गिलास में पेग उड़ेलते हुए डॉक्टर बोले 'यू आर राईट!'

मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि इस बात से क्या मतलब निकाले; लेकिन लेखक होने के नाते

हर बात से कुछ मतलब निकालने का जो रहेमानी कीड़ा मुझमें है, उसका क्या करें?

दिल्ली

‘लेखक मर चुका है’, यह उसने लिखा, तभी लोगों को उसकी मौत का पता चला।

प्रकाश

बरसाती रात, बिजली गायब, ऐसी सड़क पर वह घने अँधेरे में अकेला जा रहा था। बेतहाशा तूफानी हवा के साथ धुआंधार बारिश के तीरों की सट्ट-सट्ट चेहरे पर, बदन पर बौछार से वह सुन्न हो गया था। उसे अहसास भी नहीं था कि वह एक हाइवे पर चल रहा है। बीच-बीच में सूँड-सूँड आवाज करती और उजाले का रेला फेंकती गाड़ियों की मौजूदगी भी उसे महसूस नहीं हो रही थी। मन के तहखाने में असंख्य कल्पनाएं कुलबुलाती पड़ी थीं। ऊपर उठने के लिए उन्हें जलाला ही नहीं मिल रहा था। अखंड बेचैन दशा में वह उस असीम अँधेरे में भीतर-भीतर धँसता चला जा रहा था कि अचानक दिनों के उजालों का तेज रेला उससे टकराया। उस दिव्य तेज का वह रेला उसकी आँखों से ऐसा आर-पार हो गया कि उसका पूरा अंतरंग निखर उठा। सि साक्षात्कारी पल की वह प्रतीक्षा कर रहा था, वह क्षण अकस्मात् आकर उससे टकराया; लेकिन इसके बाद वह नहीं रहा।

एक भारी ट्रक उसे लौंघकर घरघराता हुआ आगे निकल गया।

लेखक बचाओ

आखिरकार, सरकार को अहसास हुआ कि लेखक का जिंदा रहना जरूरी है, उनका मरना ठीक नहीं। यह प्रजाति खत्म हो गई तो संस्कृति के विकासक्रम को बाधा आएगी। इस समस्या के निवारण के लिए एक बृहत आपात बैठक बुलाई गई, जिसमें मंत्रीगण, लोकप्रतिनिधि, सरकारी अधिकारी पुलिस, विशेष सुरक्षा दल, आपदा प्रबंधन विशेषज्ञ, भोजन विशेषज्ञ, मनोचिकित्सक, वकील, न्यायमूर्ति, इंजीनियर, तकनीकी विशेषज्ञ, साधु, महंत, ज्योतिषी, व्यापारी, उद्योजक वगैरह कई मान्यवरो का समावेश था। बैठक में असंख्य सूचनाओं, उपसूचनाओं, प्रस्तावों, योजनाओं की बौछार हुई, जिन्हें यहाँ दर्ज करना संभव नहीं। परंतु जो अंतिम मसौदा बनाया गया, उसकी मुख्य बातें बताना आवश्यक है।

उदाहरणार्थ, लेखकों को धीरज बंधानेवाली, उन्हें प्रोत्साहित करनेवाली तख्तियां जगह-जगह लगाई जाएं। तख्तियों की रचना ऐसी हो कि जिसमें प्रोत्साहन देनेवाले लोग कौन हैं कितने बड़े हैं और उनके मन में लेखकों के प्रति कितनी आस्था है, यह साफ-साफ उजागर हो। अपने लेखन से विवाद अथवा गलतफहमी उत्पन्न होने का आदेश होते ही लेखक पहले ही पुलिस में खबर करें, जिससे तुरंत उनकी सुरक्षा का प्रबंध किया जा सके। इसके लिए पुलिस महकमे में अलग सेल बनाकर लेखकों की सुरक्षा के लिए सिपाही तैनात किए जाएंगे, जो शिकायत दर्ज होने के बाद आधे घंटे के भीतर लेखक की दहलीज पर उपस्थित होंगे। हथियारबंद सिपाही परछाया की तरह लेखक के साथ रहेंगे और उसकी हर बात को स्वयं जांचेंगे। उसकी गतिविधियों पर नजर रखेंगे और आवश्यक होने पर हस्तक्षेप भी करेंगे। उदाहरणार्थ, लेखक को आए पत्र वे खुद पढ़ेंगे और यह तसल्ली होने के बाद ही लेखक हो सौंपेंगे कि लेखक को कहीं धमकाया तो नहीं गया है। लेखक जहां जाएगा, सिपाही उससे पूर्व वहां पहुंचेंगे और वहां की तलाशी लेंगे। सभी लेखकों के घरों के दरवाजों और खिड़कियों में जालियां लगाई जाएंगी।

लेखक सुरक्षा के लिए चलाए जा रहे इस महाअभियान में लेखक भी अपने आचरण से सहयोग दें। उदाहरणार्थ, वे सदा प्रसन्न रहें। साफ और सौम्य रंग के कपड़े पहनें। नियमित नाखून और बालों की देखभाल करें और चेहरा हमेशा मुस्कुराता रखें। बेवजह उत्तेजना बढ़ाने वाली तामसी पदार्थों का सेवन न करें। लेखकों के लिए बनाई गई सात्विक भोजन की सूची के ही व्यंजन खाएं क्योंकि यह सर्वश्रुत है कि सात्विक भोजन से विचारों में भी सात्विकता आती है। इससे अभिव्यक्ति में नरमी आती है। लेखक-सभ्यता के संवाहक होते हैं। अतः उन्हें यह अहसास होना चाहिए कि इस सभ्यता को समाज में रिसाने का अभी से प्रारंभ होना चाहिए। दरअसल, लेखक समाज के आदर्श हैं। समाज लेखक को प्रेम देता है, उसका आदर करता है, इसलिए उसे समाज का लिहाज करना चाहिए। लिहाज करना सभ्यता का अंग है। डर भी मानवीय उत्क्रांति का सबसे उपयोगी गुणधर्म है। डर के कारण ही मानवीय समाज का विकास होता गया और उसने सुरक्षा की नई-नई व्यवस्थाएं ईजाद कीं। समाज में लेखक के वजूद की समस्या उग्र हो रही है। स्वाभाविक है कि जहां लेखक के वजूद की समस्या उग्र हो रही है, वहां डर उन्हें नष्ट होने से बचा सकता है। शरीर में डर की मात्रा को बढ़ाने के लिए विशिष्ट संप्रेरक तैयार किए गए हैं। लेखक चुपचाप उनका टीका लगा लें। लेखक उन्हें दिए जाने वाले सरकारी पहचान पत्र जी-जान से संभालकर रखें और ऐसे पहचान पत्र धारकों के लिए बनाई गई रियायत योजना, पुरस्कार योजना आदि का लाभ उठाएं। लेखक उदात्त विचार करें। दिव्य सपने देखें। वे समाज की महान विभूतियों की तलाश कर उनके जिंदा रहते ही उनके चरित्र लिखें। जो विभूतियां लेखकों को ढूंढती हुई उनके पास पहुंचेंगी, उनका सम्मान करें। 'प्यार दो, प्यार लो; प्यार से प्यार बढ़ता है' जैसे सूत्रों को ध्यान में रखकर अपनी रुचि का परिष्कार करें फिर भी यदि सामाजिक बातों से चित्त में विचलन आता हो तो, ध्यान धारण करें। अमंगल विचार मन में आते हों तो उपवास करें। टंटा-बखेड़ा न करें। हमेशा संतुष्ट रहें। लेखक स्वप्नलोक में रहते हैं। उन्हें कल्पना का वरदान प्राप्त होता है। इस वरदान से लाभ उठाते हुए वे यथार्थ को अनदेखा करें और अपने अंतःचक्षुओं को भीतर की दिशा में मोड़ दें और सभी के लिए आदर्शवत् लगने वाले काल्पनिक मनोराज्य का निर्माण करें। हमारी परंपरा में ऐसे कई उदाहरण हैं, जिसमें लेखक एक जनम में कई जनम लेता है। इससे साफ हो जाता है कि लेखकगण स्वर्गलोक, मृत्युलोक और पाताललोक-तीनों लोकों का भ्रमण कर सकते हैं। वे यही करें। राजा-रानी, परी अप्सरा वगैरह की दिव्यता, शृंगार की कहानियां बनाकर उनके भव्योदात्त त्याग पर सर्गों की रचना करें। (ध्यान रखें, शृंगारिक कहानियों के इलाके में लेखिकाओं का प्रवेश निषिद्ध है) इसके लिए बार-बार निद्रादेवी की आगोश में प्रविष्ट होकर अपना कल्पना का साम्राज्य जागृत करें। लेखक कलियुग का मोह त्यागकर द्वापर-त्रेता-सत्युग में जाएं। प्रभु का गुणगान करें। ■

उलझन

सदानंद देशमुख

अनुवादक : भगवान वैद्य 'प्रखर'

शाम हो चुकी। खेत में काम करने वाले मजदूरों को छुट्टी मिल गई। वे घर लौट आए। अब तक सुनसान पड़ी पगडंडियां, रास्ते, लोगों के आवागमन से गुलजार हो गए। ऐसे ही एक दल में रखमा भी थी। उसके सिर पर तसला था। काम करते में समय निकालकर उसने उसमें अरहर की फलियां तोड़कर रखी थीं। मालिक की नजर बचाकर। रात की सब्जी के लिए! वे कपड़े में छिपाकर रखी गई थीं।

वह खेत की पगडंडी से होकर गांव में आई और अपने घर की ओर देखा। वह चकित हो गई। आंगन में टूटी खाट बिछी हुई थी। उस पर शेंदले वाले और लावणे के, ऐसे दोनों दामाद बैठे हुए थे। दोनों पुत्रियों के पति एक साथ कैसे आ धमके। उसके कुतूहल हुआ। सिर पर हरी घास को बोझा होने के समान भार महसूस हुआ। मेहमानों का एकदम भार ही हो गया।

दीपावली का त्योहार हाल ही में संपन्न हो चुका था। त्योहार पर ही दोनों बेटियां मायके में आई थीं। आज उन्हें लेकर जाने के लिए ही तो कहीं दामाद नहीं न आए? पर दोनों एक साथ.. उसके कदमों को ठोकर-सी लगी। चप्पल का पट्टा टूट गया। चप्पल निकालकर हाथ में लेनी पड़ी। वह शर्मिंदा हो गई। अर्थात् दरवाजे में मेहमान बैठे हैं। वे भी दामाद! और मैं इस प्रकार हाथ में चप्पल पकड़कर जा रही हूं। वह बुरी तरह लज्जित हुई।

मुँह आंचल से ढंक लिया। मेहमानों से बचते-बचाते जल्दी-जल्दी चलकर भीतर चली गई। पुत्रियों ने अभी-अभी चूल्हा जलाया था। उसमें लगाए गए कड़ें धुआँ उगल रहे थे। अभी ज्वाला फूटी न थी। इस कारण उस झोपड़ीनुमा मकान में जबर्दस्त धुआँ भर गया था पर किसी के लिए भी वह कष्टप्रद न था। सुबह-शाम उसकी आदत जो हो गई थी।

रखमा के घर में प्रवेश के साथ ही उसे नन्हीं ने जकड़ लिया। उसे गोद में लेकर रखमा ने आंचल खिसकाया। दिन भर स्तनों में रूका हुआ दूध भरभराकर झरने लगा।

'कब आएंगे दामाद?' उसने मायके में आई और चूल्हे में सिर खपा रही अपनी बड़ी बेटी से प्रश्न किया?

'अभी-अभी ही आए हैं।' कहकर बेटी फिर से चूल्हा जलाने में जुट गई।

'सुमन कहां गई?'

‘चाय शक्कर लाने के लिए दुकान पर गई है।’ कहते हुए वह फिर अपने काम में जुट गई। उसकी आँखें आंसुओं से सराबोर थीं।

रखमा को कुल मिलाकर पांच पुत्रियां। पुत्र की प्रतीक्षा में हर बार पुत्री ने ही जन्म लिया। तब क्या करें? देखते-देखते लगातार पांच पुत्रियां हो गईं। इस कारण रखमा त्रस्त हो गई।... पति त्रस्त हो गया। इसके अलावा, हर बार डिलेवरी की तकलीफ। साथ ही, जन्म लेने वाली प्रत्येक पुत्री के साथ उसके शादी की चिंता भी पैदा होती।... बढ़ती महंगाई, कम-कम होती, अधूरी पड़ती कमाई!...! खेत में काम करते समय किसी ने सलाह दी... ‘क्या पुत्र की राह देखती बैठी हो?... कर डालो ऑपरेशन... नहीं तो, ऐसे में दस-पंद्रह लड़कियां हो जाएंगी और तुम्हारी हालत पतली हो जाएगी। मर जाओगी किसी दिन...। सारी पुत्रियां बिन-मां के पंछियों की तरह बे-सहारा हो जाएंगी। जरा अपनी हालत तो देखो... खाया-पिया सब निकल जा रहा है...।’

‘पर हम सोच रहे हैं, लड़का हुआ तो बढ़ापे में सहारा हो जाएगा। तो ऐसे मर कर कहीं भी पड़े रहेंगे तो पता भी नहीं चलेगा...। और क्या वंश चलाने के लिए दीपक नहीं चाहिए? उसी के लिए यह उत्पात!... अब लड़की हो गई तो अपनी संतान के प्राण भी तो नहीं ले सकते...।’

ये क्या वंश का ‘दीपक-राग’ अलापते बैठी हो रखमा...। देखे नहीं क्या रायभान पवार के हाल...दो बेटे हैं। पर, दोनों अलग हो गए। अंधा रायभान भीख मांगता फिरता है, अब। बीत गया वो माया-ममता का जमाना। अब मनुष्यों के भी जानवरों की तरह हाल होने लगे। जानवर, पंछी कितनी आत्मीयता जतलाते हैं, अपने बच्चों के प्रति। खुद भूखे रहकर उन्हें बड़ा करते हैं। और वे बड़े हो गए कि अपने मां-बाप को पूछते भी नहीं...। मनुष्य का भी वैसा ही शुरू हो गया है, अब। राह देखते बैठने में कोई सार नहीं है, बहना। जाओ, जो हो गया, सो हो गया। पूरा जनम इन बच्चों की खातिर मिट्टी हुआ जा रहा है, तुम्हारा।’

रखमा की समझ में बात आ गई और उसने ऑपरेशन कर लिया। पुत्र होने की प्रतीक्षा नहीं की। मन में विचार किया, पुत्र होने की राह देखो और पहले जैसी ही कन्या हुई तो! और...आजकल लड़के भी कहां खोज-खबर लेते हैं मां-बाप की, बुढ़ापे में? तब उसने पुत्र होने की आशा ही छोड़ दी और नसबंदी का ऑपरेशन करा लिया। डिलेवरी की जानलेवा पीड़ा से मुक्ति मिल गई। पुत्र न होने का दुःख तो था ही। कांटे की तरह जीवनभर सालता हुआ। मकड़ी के जाले के समान जकड़ लेने वाला। उसने कभी जकड़ लिया कि पति-पत्नी दोनों मायूस हो जाते।

अब दो पुत्रियों के ब्याह हो गए। तीन के बाकी हैं। लटकती तलवार की तरह यह चिंता थी ही। इस चिंता के कारण उसे रात-रातभर नींद नहीं आती थी। दिनभर काम का भार... और के ये ऐसे जागरण! उस कारण पति-पत्नी दोनों सिंचाई के अभाव में कुम्हला गई फसल के समान हो चुके थे।

सुमन के चाय-चीनी की पुड़िया लेकर घर में प्रवेश किया। अब बड़की ने चूल्हे में सायसा आग जला ली थी। सुमन ने चाय उबाली। एक कप-प्लेट पड़ोस से मांगकर ले आई। एक घर में थी। दोनों मेहमानों के लिए दो कप-प्लेट में चाय भरकर वह बाहर गई। मेहमानों के बाद रखमा ने भी चाय ली। छटाक भर दूध में सात कप चाय!..लाल भड़क! पर मेहमानों ने पी ली। क्योंकि न उनकी भी यही स्थिति थी। उस कारण उन्होंने असामान्य ऐसा कुछ महसूस नहीं किया।

घर में गेहूं का आटा न था। वह सोचने लगी। घर में मेहमान के रूप में दामाद पधारे...उन्हें क्या जुआर की भाकरी और अरहर के दानों की पतली साग खिलाना? लाख खाते होंगे वे अपने घर में, इसी प्रकार का। पर, अपने घर तो वे मेहमान के रूप में आए हैं न! और वे भी, सादे मेहमान नहीं...दामाद की जात! क्या किया जाए, कुछ सूझ नहीं रहा था, उसे।

कोई आटा उधार देगा क्या, यह तलाशने के लिए वह बर्तन लेकर घर के बाहर निकली। चार घर गई। पर कहां कोई देता है? किसी ने नहीं दिया। वह खाली बर्तन लेकर घर वापस आ गई। ... लोग भी आखिर कितना उधार देंगे? एक बार उधार लिया कि लौटाने का नाम नहीं! दोबारा कोई दरवाजे में खड़ा भी नहीं करता। ... आसपास की सारी आबादी भी मजदूरों की ही। किसके घर मिलता है, गेहूं का आटा? हर किसी की अपनी गृहस्थी उधार लेकर, लाचार-बेकार होकर खड़ी हुई...

खाली हाथ ही घर लौट आई रखमा। उसके पीछे-पीछे नारायण भी बैलों का चारा-पानी करके मालिक की हवेली से लौट आया। दोनों दामादों को दरवाजे पर बैठे देखकर वह भी रखमा की तरह चिंतित हो गया। अभिवादन किया। पल भर उनके साथ बैठने का स्वांग किया और उठकर झोपड़ी-नुमा घर के भीतर चला गया। वहां बच्चियों के कारण पहले ही भीड़ थी। पति को घर आया देख रखमा ने जरा राहत महसूस की। अर्थात् एक का बोझा दो ने शेअर किए समान!

‘दामाद आए हैं...दोनों भी एक ही समय!’

‘हां, कोई चिट्ठी-पत्री नहीं...खब-बात नहीं। अचानक ही आ गए। हमें मालूम होता तो तैयार करके न रखी होती...?’

पुत्रियां पास बैठी थीं। माता-पिता की बातें सुन रही थीं। उनमें से, ‘लावणे’ में दी हुई सुमन काफी बातूनी थी। दोनों दामाद एक साथ कैसे आए, इस बात का वह पता लगाकर बैठी थी। इस कारण वह कहने लगी- ‘बाबा, सुनों...! दोनों की मुलाकात ‘मोले’ की यात्रा में हुई। दोनों के मन में कुछ न था। ऐन समय पर तय किया और आ गए, दोनों।’

‘तो ये बात है!’

‘लिवा लेने के लिए आए हैं, वे हमें। कल चलने की तैयारी करने को कहा है, दोनों को भी।’

कोई कुछ नहीं बोला। नारायण ने बुझाकर रखी हुई आधी बीड़ी जेब से बाहर निकाली। जरा-सा आगे खिसककर चूल्हे के कंडों की आंच पर जलाया। मुँह में लेकर सुटकने लगा। धुआँ बाहर छोड़कर, उसे ध्यान से देखने लगा। कोई किसी से नहीं बोल रहा था। रखमा की गोद में की छुटकी अब तुप्त होकर घुटनों के बल रेंगने लगी थी। रखमा उसे अनदेखा कर रही थी।

‘इस प्रकार बैठे रहने से कैसे चलेगा, मम्मी? उनके भोजन की तो कुछ व्यवस्था करनी पड़ेगी न!’ सुमन ने खामोशी बैठी रखमा को स्मरण कराया। इसी के साथ रखमा ने नारायण की ओर और नारायण ने रखमा की ओर, एक ही साथ, देखा।

‘क्या पकाओगी, मेहमानों के खाने के लिए?’ नारायण ने अपने मन की बात रखमा के समक्ष प्रस्तुत की।

‘क्या पकाऊं?’ वह उसी से पूछने लगी।

‘गेहूं का आटा देखो कहीं उधार मिलेगा तो? रोटी और बेसन पकाना...।’

‘कौन देवाल है, गेहूं का आटा? आ गई मैं चक्कर लगाकर... कोई नहीं देता। जो देने वाले

हैं, उनका पहले से उधार है, अपने पर।’

बातचीत बंद हो गई। पुत्रियां खाना पकाने के लिए बाट जोहते बेठी थीं। क्या करें, उन्हें सूझ नहीं रहा था। मां-बाप घर आने पर भी खाना का कोई उपाय सूझ नहीं रहा था।

...क्या पकाया जाए, मेहमानों के खाने के लिए? अपनी हमेशा की बात अलग है। है ही, अरहर के दाने की उसल। मिरची की चटनी के साथ या नमक के साथ भी भाकरी खाई जा सकती है। पर दामाद के सामने क्या भाकरी और चटनी परोसी जाए? अपने घर में भले ही वे यही खाते होंगे। पर, हमारे यहां वे दामाद के रूप में आए हैं। लड़कियां ससुराल जाएंगी तो उन्हें ताने देते रहेंगे। सब काम बिगड़ जाएगा, ऐसे से...।

रखमा सोच-सोचकर थक गई। सिर में तरह-तरह के विचार आने लगे।

नारायण के मालिक के घर निश्चित ही आटा मिल गया होता। पर, रखमा ने वहां जाना जानबूझ कर टाल दिया था। कैसे जाना? पिछली बार उनके घर से आटा लाया था। वह अभी लौटाना बाकी है। इसके अलावा, उनकी हवेली पर गए कि उनके यहां की निकम्मी औरतें दुनिया भर के काम बतलाते रहती हैं। बरतन मांजो, झाड़ू लगाओ, अनाज बीनों, तब कहीं देती हैं, छटाक भर! काम कर-करके पहले ही कमर दुख रही है। उस पर उनकी बिगार...। ‘नहीं तो मैं ऐसे करता हूं...।’

‘कैसे...?’ नारायण की बात सुनकर उसने कुछ राहत महसूस की।

‘पाव-आधा किलो मछली ही देखता हूं, उधार मिल जाए तो। यानी फिर भाकरी भी चल जाएंगी। गेहूं का आटा खोजने का काम नहीं। तुम मसाला पीसकर रखो। भाकरी भी बना लो। रामा कहार लाया ही होगा, आज मछलियां। वह दे देगा उधार...।’

कहते हुए, वह खूंटी पर का पुराना, मैला-सा दुपट्टा कंधे पर रखकर बाहर चला भी गया। रखमा का समूचा शरीर दिन भर के काम से दुखने लगा था। उस पर, मेहमानों के भोजन की चिंता भूत के समान गर्दन पर सवार हो गई थी। यह सब भूलकर वह काम में जुट गई। भाकरी बनाने के लिए उसने थाल में आटा निकाला। पुत्रियां ‘रहने दो... रहने दो...हम कर लेंगी...कहती जा रही थी। पर, उसने उनकी एक न सुनी। वे हैं, मायके की मेहमान...आज हैं...कल लौट जाएंगी। ससुराल जाने पर उन्हें भी कहां मिलता है, आराम!... इन विचारों से उसका दिल भर आया।

उसने भाकरी बनाई। नारायण भी खाली हाथ न लौटा था। उसने मछली लाई थी। दो रूपयों का गरम मसाला भी लाया था। मछली पकी। भोजन संपन्न हो चुका। मेहमानों के साथ इधर-उधर की गप्पें हो गईं। उसके उपरांत दोनों दामाद गांव में व्ही.डी.ओ. देखने चले गए। इसी के साथ पति-पत्नी विचारों में खो गए। चिंता के कारण खाना भी भरपेट नहीं हुआ था। मन में बेचैनी थी।

दीपावली के त्योहार पर बेटियों को लिवा लाया था! अब क्या उन्हें बिना कुछ नए कपड़े-वपड़े खरीदे वापिस भेजा जा सकता है? साड़ियां खरीदनी होंगी। ब्लाउज-पीस खरीदने होंगे। इस सबकी से कल्पना थी ही। उसने वैसी व्यवस्था भी कर रखी थी। वर्तमान मालिक का काम वह छोड़ने जा रहा था। दूसरे के पास मासिक वेतन पर नियुक्त होकर वह उससे हजार रुपए अग्रिम लेने वाला था। हजार रुपए अग्रिम उसमें से पुराने मालिक का दो-सौ रुपए उधार चुकाना था। बगैर उसके, उसने काम पर से मुक्त न किया होता। बाकी पैसों से बेटियों की विदाई करना। साड़ियां, ब्लाउज-पीसेज् खरीद देना। गांव के कुछ दुकानदारों की उधारी थी, वह चुकाना। इसके अतिरिक्त कुछ और लोगों

से लिए हुए पैसे चुकाने थे। इस प्रकार सारी योजना बनाकर रखी थी पर, इस सबके लिए उसके हिसाब से अभी दस-पंद्रह दिन बाकी थे। फिलहाल वह जिस मालिक के यहां काम कर रहा था उसका महीना पूरा होने को अभी पंद्रह दिन बाकी थे। महीना पूरा हुए बगैर मालिक काम से मुक्त करने को तैयार न था। और काम पर हाजिर हुए बिना, नया मालिक अग्रिम देने को तैयार न था। बड़ी मुश्किल में पड़ गया था वह।

उस पर आज अचानक घर में मेहमान हाजिर हो गए। बारिश को अभी देर है, यह मानकर घर छाने के लिए टालना और उसी समय बारिश शुरू होकर पूरा घर अस्त-व्यस्त हो जाना, ऐसा हो गया था। पर, कुछ न कुछ तो उपाया करना ही पड़ेगा। मन में विचार-चक्र शुरू था...

अच्छा मेहमानों को खाली हाथ लौटाना भी उचित नहीं दिखाई देता। आखिर दामाद हैं वे! दामाद की तो हर हाल में तरफदारी करनी होती है। कितना भी करो...कम ही होता है। लौटा दो तो बेटियों को ससुराल में ज्यादाती का शिकार होना पड़ सकता है।...तुम्हारे बाप ने हम दामाद लोगों का अपमान किया। हम लोगों को खाली हाथ लौटा दिया। कहते हुए दोनों दामाद रुष्ट हो जाएंगे। दोनों का भी मिजाज तेज है। आजकल समय भी बड़ा खराब चल रहा है। जब देखो, बहुओं पर ज्यादाती करके उनकी हत्या करने के समाचार सुनने को मिलते हैं। कहना चाहिए, अपनी किस्मत 'अच्छी है'... बाकी लोगों के दामाद की तरह अपने दामाद पैसों की मांग तो नहीं करते न।... और मांग भी लें तो अपने पास है क्या, उन्हें देने के लिए?

नारायण ने ठंडी सांस छोड़ी। उसके कारण सामने के आले में रखे दीपक की लौ कांप उठी। घर में फैली धीमी रोशनी पर प्रहार करके जैसे उसके टुकड़े कर दिए गए। पूरे घर की ही बेचैनी बढ़ गई थी। रखमा ने भी लंबी सांस छोड़ी। दीपक फिर से फड़फड़ाया और पांव फिसलने वाले आदमी ने अपने आपको संभाल लिए सामान फिर स्थिर हो गया। गोद में सोई हुई छुटकी को उसने गुदड़ी पर लिटा दिया और तमाकू की चंची लेकर वह उसके सामने बैठ गई। बाएं हाथ के पंजे पर चुटकी भर तमाकू लेकर वह दाएं हाथ से मलते हुए बोली- 'तो अब कैसा क्या किया जाए?'

'काहे का?'

'काहे का' क्या पूछते हो? दोनों बेटियां कल अपने पतियों के संग जाने को कह रही हैं। वैसा बतलाया है, दोनों दामाद ने उन्हें। उन्हें विदा नहीं करना पड़ेगा? दीपावली के त्योहार के लिए लाई हुई बेटियों को क्या ऐसे ही भेज देंगे खाली हाथ? पूरी बिरादरी में बोंब कर देंगे, ससुरालवाले...।'

'वही तो विचार कर रहा हूं मैं भी। कहां से करें पैसों का जुगाड़? पांडू भालेराव भी अभी अग्रिम देने को तैयार नहीं है गणेशराव बापू भी महीना पूरा हुए बगैर छोड़ने को तैयार नहीं। अच्छा, गणेशराव बापू का काम छोड़कर पांडू भालेराव के काम पर चले जाओ तो पता नहीं वे क्या करेंगे। मेहमान भी तो ऐसे समय आ टपके कि बस्स...।' वह व्याकुल हो उठा।

'वे कभी आएंगे। उनकी बेटियां हैं, वे चाहें जब जाएंगे। हम उन्हें कैसे मना कर सकते हैं? और मान लो, हमने अपनी अड़चन के कारण कहा कि आठ दिन और रहने दो।...और बाद में, वे लेकर ही नहीं गए बेटियों को, तब...? जवान लड़कियों को किन पंखों के नीचे छिपाकर रखना? अपने पंखों की तो पहले ही ये इस प्रकार धज्जियां उड़ चुकी हैं। बच्चियों को क्या हम जीवन भर पाल, पोस सकेंगे?'

‘तो क्या मैं ऐसा कह रहा हूँ कि बच्चियों को यहां रख लो?...कुछ भी बकने लगी हो, पागल की तरह। क्या मैंने ऐसा कहा कि बच्चियों को ससुराल मत भेजो?’

‘मैंने सहज ही कह दिया...। ऐसे ही निकल गया मुँह से...।’ कहते हुए उसने दाढ़ में तमाकू भर ली।

इस बीच आंगन में बैठी हुई दोनों बेटियां भीतर से आ गईं। आते ही सुमन बोली, ‘भाई, मेरा आदमी तो इस साल खाली हाथ जाने को तैयार नहीं है। दो साल हो गए शादी को। गांव में सारे दोस्त हँसी उड़ाते हैं उनकी।’

‘ऐसा भला क्यों...? सुमन क्या कह रही है, समझ में नहीं आ रहा था।’

‘क्या दीपावली बाकी नहीं है, आपकी ओर! इसी कारण वे कह रहे हैं, इस साल बिना कपड़े लिए नहीं जाएंगे और अगर गया तो कहते हैं, दोबारा ससुराल का मुँह नहीं देखूंगा...।’

‘क्या...?’ सुमन की बात सुनकर दोनों के मुँह से चीख-सी निकल आई।

सुमन की बातों से लक्कड़ पर कुल्हाड़ी के वार करके उसकी किरिचें निकाल समान उनके कलेजे की किरिचें निकल आईं। पर, उसकी बात भी सही लग रही थी। सुमन की शादी को दो साल और कमल की शादी को तीन साल हो गए। पर, रिवाज के अनुसार दीपावली-त्योहार पर दामाद के लिए खरीदे जानेवाले कपड़े नहीं खरीदे गए थे। इस साल खरीदेंगे...अगले साल खरीदेंगे-ऐसा करते-करते टलते जा रहा था। आने वाला प्रत्येक साल, बीते साल की तुलना में अधिक तंगी वाला आ रहा था। इस साल भी पिछले वर्षों की तरह टल जाने वाला ही था। पर, सुमन की बातें सुनीं और वे असमंजस में पड़ गए।

‘और मेरा आदमी भी इस साल बिना कपड़े लिए, जाने को तैयार नहीं है। हमारी शादी को भी तीन साल हो चुके हैं। अब तक कपड़े नहीं लिए गए उनके लिए। इस साल अगर कपड़े नहीं लिए गए तो तुम्हें डाइवोर्स ही देता हूँ, ऐसा कहा है, उसने।’

अबोल कमल की बातों ने आग में घी का काम किया। नारायण तो स्तंभित रह गया! रीढ़ पर लाठी का वार पड़े नाग के समान उसकी कमर टूट गई।

...दोनों दामाद ऐसे रूठकर बैठ गए हैं। पांच-छह सौ रुपयों का खर्च है और पास में तो एक रुपए की भी नोट नहीं। दुबले में दो असाढ़ कहते हैं- वो ऐसा! रखमा और नारायण जैसे अ-समय हुई वर्षा की चपेट में आ गए थे।

...अधियारा घना होते जा रहा था।

वीडियो देखकर आए दामाद सो चुके। मायके में आई बेटियां सो चुकीं। छटपटाकर पस्त हुई रखमा भी मुँह खुला रखकर सो चुकीं पर, नारायण की आँखों में नींद न थी। ...लगातार नए कपड़े ...कपड़ों की दुकान...दामाद...बेटियां...उसके सिर में चक्राकार घूमने लगे। पैसे...पैसे...कम-अज-कम पांच सौ रुपए तो चाहिए ही। क्या कहीं चोरी करूं? मालिक के पैसे पेटी में रहते हैं। चुपचाप जाना और पेटी उठाकर ले आना। ताला तोड़कर नोट बाहर निकालना।... पर, उसके बाद पुलिस-स्टेशन! फिर जेल...! तीन बेटियों की शादियां कौन करेगा? वे इसके-उसके साथ भाग जाएंगी। रखमा शॉक से मर जाएगी। इस विचार से वह आंधी की चपेट में आए वृक्ष-सा दहल गया। उसे कंपकंपी छूट गई।

बाहर अँधेरा अधिक घना हो गया था। जुगनुओं की आवाज का बढ़ता शोर लगातार सुनाई दे रहा था।...आसपास सब कुछ नीरव...भयावह लग रहा था। आधी रात बीत चुकी। घर में सब शांत था। पूरा घर गहरी नींद में सोया हुआ। पर उसकी आँखों में नींद न थी। मन में चक्कर चल रहा था। चिंता सता रही थी।

बीच में उठकर वह पेशाब के लिए जाकर आया। बीड़ी की जोरदार तलब आ गई। पर, जब में बीड़ी न थी। घर में बीड़ी रखने के समूचे स्थान-आले, टोकरियां आदि सब-खोज लिए पर बीड़ी का एक टुकड़ा भी हाथ न लगा। उस कारण वह उदिग्ध हो गया। नीचे बैठ गया। घर में सोए हुए हर किसी का चेहरा देखने लगा। विपुल जल से सिंचित फसल के समान दामादों के चेहरे,...पति लिवा-लेने के लिए आए हैं इस कारण लिखे हुए मोगरे के समान पुत्रियों के चेहरे...बाहर और आठ साल की बच्चियों के निश्चिंत और मासूम चेहरे...मां के निचुड़ चुके स्तन को अपने पतेले होंठों से दबाकर सोई हुई नन्ही का लुभावना चेहरा और सोई हुई रखमा के चेहरे की ओर वह काफी समय तक देखता रहा। भग्न, भयाक्रांत चेहरा। उसकी भौहों में विचित्र हलचल हो रही थी। माथे पर की लकीरें नींद में भी सक्रिय थीं और बंद भौहों के भीतर आँखों की पुतलियां इधर से उधर और उधर से इधर ऐसी घूम रही थीं। होंठ खुले हुए थे। कितने दिन हो गए, उसकी ओर इस प्रकार जी भरके देखा ही नहीं! वह धीरे से कमर के भरो से आगे खिसका। उसके मुँह की ओर टकटकी लगाकर देखता रहा। कितना श्रम करते रहती है, बेचारी। इस गृहस्थी की गाड़ी को चलाने के लिए। खाते-पीते घर में होती तो और भी कितनी आकर्षक दिखती! पर उसके नसीब में था, मैं...। गोरा रंग था। खासे लंबे केश थे। गदराए आम-सी मांसल देह थी पर मुरझा गई। उसके गले में मेघ घुमड़ आए। उसके चेहरे पर से घुमाने के लिए हाथ आगे बढ़ाया पर फिर पीछे खींच लिया। छोड़ो...जान-जवान लड़कियां घर में हैं उनमें से कोई जाग गई और मुझे इस हाल में देख लिया तो...! नहीं तो कोई दामाद ही उठ जाए...।

वह उठकर खड़ा हो गया। इसी के साथ, बीड़ी की तलब तेज हो गई।

कहीं से बीड़ी मिलनी ही चाहिए। उसकी इच्छा तीव्रतर हो गई। उसने फिर खोज आरंभ की, घर में। बीड़ी खोजते-खोजते उसका पांव सुमन के पांव पर पड़ गया। वह नींद में बुदबुदाई...‘अरे-अरे, आज नहीं...घर जाने के बाद...।’ नींद में बड़बड़ाते हुए उसने करवट बदल ली। उसे लगा होगा, पति ही अपने हो जगा रहा है।

पर उसके इस प्रकार नींद में बड़बड़ाने से नारायण मन-ही-मन बहुत लज्जित हुआ। लगा, अपने हाथ से अपनी कनपटी में लगा देना फिर किसी के शरीर पर पांव न पड़े, यह सोचकर वह बीड़ी की खोज बंद करके चुपचाप बिस्तर में आकर सो गया। जुगनुओं की आवाजें आ ही रही थीं। इस कारण सिर भन्ना गया था। नारायण को लगा, जो सोए हैं वे कितने सुखी हैं! उन्हें किसी की आवाज नहीं कि कुछ नहीं...बढ़िया सोए हैं बेचारे!

गांव के ऊपरी हिस्से से नागपुर-पुणे हाइवे गया था। इस निरंतर आवागमन वाले प्रमुख मार्ग से बड़ी तेज गति से ट्रक आते-जाते थे। पर, वातावरण शांत होने पर उनकी कर्कश आवाजें यहां तक आती थीं। इस कारण और भी सिर भन्ना गया था। ट्रकों का आवागमन जारी था। एक के बाद दूसरा...। पुनः दो-एक मिनट में तीसरा...ट्रक के इंजिन का, टायर का...गियर बदलकर चढ़ाव पर

चढ़ने का। इतनी दूरी से भी रोऽऽ रोऽऽ आवाज आ रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे पास ही है। इसके पूर्व कभी इस प्रकार की चिंता न करनी पड़ी थी। जागना न पड़ा था। दिन भर खेत में काम करने के बाद रात को बिस्तर पर आकर लेटे कि तुरंत मुर्दे समान नींद आ जाया करती थी। शायद इसी कारण आज पहली बार यह पता चला कि डामर-रोड से रात में इतने ट्रक गुजरते हैं। इसके पूर्व इस बात का इतना अहसास नहीं हुआ था। आज यह एक नई जानकारी प्राप्त हुई थी।

...वह सोचने लगा...ऐसा क्या लेकर जाते होंगे इतने ट्रकों में भर कर और कहां? किसलिए लेकर जाते होंगे...लेकर जाते होंगे गेहूं, जुआर!...स्साला, कभी ऐसा हो जाए कि एक ट्रक और वह भी गेहूं से भरा हुआ, मुझे मिल जाए... तब क्या मजा आएगा! आटा उधार मांगकर लाने का काम नहीं... उलटा अपने घर मांगने आएंगे लोग...।

एक के बाद दूसरा...तीसरा...चौथा...पांचवां, कितने ही ट्रक भयानक आवाज करते हुए भागे चले जा रहे थे। ट्रक गांव के समीप आया कि आवाज एकदम तेज हो जाती थी। फिर धीरे-धीरे कम-कम...। ट्रकों की आवाजाही के कारण आवाज का कम-अधिक होना जारी था। उसने आवाज से संख्या का अनुमान लगाने का प्रयास किया। पर, संभव न हुआ। बीच में ही कहीं संख्या गलत हो गई और उसकी समझ में आ गई कि यह अपने बस की बात नहीं है। इस प्रकार हिसाब में गलती होने से उसका सिर दुखने लगा था। इसके अलावा, आने-जानेवाले ट्रकों की गिनती करके अपना कोई फायदा होनेवाला नहीं है, यह भी, देर से ही सही, उसकी समझ में आ गया। उसके बाद उसने वैसा करना छोड़ दिया। पर, अब क्या? वह सोचने लगा। बिस्तर में बेचैनी महसूस करने लगा। नींद आने का नाम न था। बिदा कैसे करें? इसी उधेड़बुन में था वह। नींद आई ही नहीं। रातभर छटपटाहट...जब बिन मछली की तरह।

गांव की मस्जिद में सुबह की अजान हुई। बिठोबा के मंदिर में भक्तिगीत की रेकार्ड लगाई, आत्माराम कुटे ने। शनै...शनै पूरा गांव नींद के आगोश से उबरने लगा। सब ओर बड़-बड़ सुनाई देने लगी। उसे तो नींद आई ही न थी। चिंता-मुक्ति का कोई उपाय सूझा न था। उलझन जस की तस थी। बिना सुलझी...।

...पर ट्रकों की गिनती किसलिए कर रहा था मैं? किस कारण गिनते बैठा था रोड़ से आने-जाने वाले ट्रक! मैं कहीं पागल तो नहीं न हो गया? यह विचार आते ही वह भयभीत हो गया। सराफा का पगला भम्या सड़क पर बैठकर गिनते रहता है आने-जाने वाले लोग। दिन भर बैठा रहता है, सड़क के किनारे। लोगों के मुँह की ओर उंगली दिखाकर एकऽऽ दोऽऽ... कहता रहता है और गिनती का आंकड़ा गलत हो गया कि बाल नोंचते हुए इधर से उधर भागता रहता है। कहीं मैं भी...! मैंने भी रात भर वही किया। कहीं मैं भी थोड़ा-सा पागल तो नहीं न हो गया! आज तक ऐसे भयानक प्रसंग आए...गए। पर ऐसा कभी नहीं हुआ। तब रात को ही क्यों हो गया ऐसा? आखिर क्यों?

जागरण के कारण आँखें लाल हो चुकी थी। सिर भारी-भारी हो गया था। चक्कर आए समान लग रहा था। 'तो अब क्या किया जाए?' रखमा ने चाय की कप-प्लेट थमाते हुए उससे कहा। लाल कड़क चाय, बगैर दूध की।

वह कुछ नहीं बोला। चुपचाप आँखें बंद करके चाय सुड़क ली। उसके बाद गोबर-सानी के लिए मालिक की हवेली की ओर चला गया।

रखमा अपने पति की बेचैनी महसूस रही थी।... अच्छा ही हुआ जो देर से ही सही पर ऑपरेशन कर डाला और संख्या बढ़ने न दी। नहीं तो लड़के की आस में फटाफट दस-बारह लड़कियां ही पैदा हो जाती। तब कैसी मुसीबत होती। दो लड़कियों के ब्याह हो जाने के बाद बावजूद उनकी परेशानी दूर नहीं हुई। अभी तो और तीन बाकी हैं। उनकी परेशानी है ही। अपना जनम क्या इस प्रकार परेशानियों के बीच ही बीत जाएगा! चिंता के कारण पहले ही छाती में दर्द होते रहता है। किसी रात छाती में मरोड़ उठेगी और मर जाऊंगी...।

नहीं अभी सोकर उठी न थी। बीच की दोनों पुत्रियां प्यालों में चाय लेकर बैठी थीं। एक दूसरे के हाथ के 'पांव' के टुकड़े के लिए लड़ती जा रही थीं। हर किसी को लग रहा था, दूसरी के हाथ का टुकड़ा बड़ा है। उसके कारण विवाद हो रहा था। शादी-शुदा और दीपावली पर मायके आई हुई, आंगन में खाट पर बैठी थीं। अपने-अपने पति के साथ खूब हँस-बोल रही थीं। उन्हें अपने माता-पिता की चिंता का जरा भी अहसास न था। बहुत दिनों की गैप हो गई थी इस कारण संभव है, ससुराल जाकर पति की बाहों में समा जाने की दोनों की इच्छा बलवती हुई हो। उनकी ओर देखकर रखमा को मन ही मन क्रोध आ गया। यह क्रोध कहीं और फूट पड़ा। 'पाव' के लिए लड़ रही पुत्रियों पर। उनकी पीठ पर धौल बैठीं। वे चिल्लाने लगीं। रोते हुए उधर रास्ते पर चली गईं। 'पाव' के टुकड़े, और चाय के प्याले हाथ में ही थे।

सुबह के दस बज गए। धूप तेज होने लगी। पर, नारायण सुबह ही निकल गया था। वह अब तक लौटा न था। घर उसकी प्रतीक्षा कर था। मेहमान लौटने के लिए जल्दी मचा रहे थे। रखमा बाट जोहने लगी। ग्यारह बज गए होंगे। घर मेहमान आए हैं। खाने-पकाने की किसी प्रकार की व्यवस्था न की। कुछ नहीं...पुत्रियों के लिए साड़ियां, ब्लाउज के कपड़े नहीं लाए। दामाद भी दीपावली के कपड़े मांग रहे हैं...। इस आदमी को कैसे, कोई चिंता नहीं हो रही होगी या इस ताप से संतप्त होकर कहीं भाग गए? कि आत्महत्या कर ली?...यह विचार आते ही वह घबड़ा गई। सारे काम छोड़कर जल्दी-जल्दी मालिक की हवेली पर गई।

'ये कहां गए हैं?' उसने आंगन में से ऊपर के बरामदे में अखबार पढ़ते बैठे मालिक से पूछा। 'यही तो मैं भी तुमसे पूछने वाला था। उसने केवल गोबर साफ किया, सुबह आकर और तब से जो गायब हुआ तो अब तक पता ही नहीं उसका। खेत में जाना है। गेहूं के लिए खेत में हेंगा जोतना है। ये सब छोड़कर कहां जाकर बैठा है, किसे पता? निश्चित होकर! मुझे लगा, मेहमान आए हैं इस कारण छुट्टी मार दी शायद आज! तुम आ गई पूछने के लिए। कहां गया होगा पढ़ा।'

इसी बीच मालिक का स्कूल गया हुआ बच्चा घर लौटा।

'किसकी, नारायण दा की बात चल रही है क्या?' उसने नेता ऊपर खींचते हुए पूछा।

'हां, क्या तुमने देखा है उन्हें?'

'हां वो सुबह से ही उनके पड़ोस में रहने वाले बोचरे गुरुजी के साथ हैं। हमारी स्कूल में भी आए थे।'

'बोचरे गुरुजी से भला क्या काम है, उसे?'

'मुझे नहीं पता'- कहते हुए बच्चा भीतर भाग गया।

'ये कहीं बोचरे गुरुजी के यहां तो नहीं रहने वाला है, मासिक वेतन पर? ये मास्टर लोग भी

अब किसानों से आगे बढ़े चले जा रहे हैं। बोआई के समय वेतन का पैसा होता है, इनके पास। खूब खर्च करते हैं। और दन्न कमाई करते हैं। स्साला, किसान के घर में दूध, घी नहीं। इन मास्टरों के घर में हैं। वानखड़े, भांगरे, गालफाड़े,...ये सारे मास्टर संपन्न किसान हो गए...और असल किसान भूखा मर रहा है...इन की तो...। ऊपर से कोई कार्रवाई भी क्यों नहीं होती इन मास्टरों पर...होनी चाहिए। कहना चाहिए, एक तो खेती करो या मास्टरी करो।

मालिक इस प्रकार अनाप-शनाप बड़बड़ाता रहा। पर, इससे रखमा यह जान न पाई कि उसका पति कहां चला गया। वह व्याकुल हो गई। घर वापस लौट गई।... अब ये आदमी, उस मास्टर के संग भला क्यों कर घूम रहा होगा। घर में मेहमान हैं, उनकी व्यवस्था करना छोड़कर...बड़बड़ाते हुए रखमा उस पर कुपित हुई।

वह घर लौट आई। घर आते ही बेहद चकित हो गई। नारायण घर आ चुका था। पहनी हुई धोती ढीली-ढाली करके बैठा था। उसके इर्द-गिर्द पूरे घर के सब उसे घेरकर बैठे हुए... सारी पुत्रियां उसे घेरकर चिड़ियां की तरह 'चिंव-चिंव...' कर रही थी। सामने नए कपड़े फैले हुए थे। साड़ियां, ब्लाउज-पीसेज, पैंट-शर्ट के, पॉलिस्टर के महंगे नए कपड़े और किराना माल...दर्जन भर केले...आदि पता नहीं क्या-क्या वह बाजार से लेकर आया था। पुत्रियां कुतूहलपूर्वक नए कपड़े देखती जा रही थीं। रखमा तेजी से आती हुई दिखाई दी तो बीच की दोनों शोर मचाते हुए उठ खड़ी हुई।

'मम्मी, देखो तो बाबा कितना सामान लेकर आए हैं... साड़ियां, कपड़े, केले...और भी क्या-क्या लाए हैं...।'

रखमा ने सामान छोड़कर नारायण की आँखों में गहरे देखा। वह थका-सा, चेहरे का सारा तेज खोकर उसके बदले वहां कमाल की उदासीनता छाई थी। कालिमा छाई थी। वह धंसी हुई आँखों से उसकी ओर टक-टकी लगाए देखने लगा। भौंहे चढ़ाकर उसकी ओर देखते हुए रखमा ने पूछा, 'कहां से लाए हो, ये सब?'

'मार्केट में से!' वह हँसा पर, लगा जैसे रो रहा है।

'वो जानती हूँ मैं! मार्केट से नहीं तो श्मशान से थोड़े ही न लाया जाता है, ये सब।'

'जानती हो न, तुम चुपचाप बैठो। फिर-फिर मत करो।' वह बौखलाया।

'पर, पैसा कहां से आया, यह पूछ रही हूँ मैं...।'

उसकी इन बातों से वह और भी निचुड़ गया। खिन्न हो गया। उसके प्रश्न का उत्तर उसने फिर टाल दिया।

'ज्यादा कुछ पूछते मत बैठो तुम। मेहमान जाने की हड़बड़ी में हैं। केले लेकर आया हूँ उनका कलेवा बनाओ। किराना सामान लेकर आया हूँ। गेहूँ लाए हैं...जरा बढ़िया खाना पकाओ... काफी कुछ लेकर आया हूँ। मुझ से उठायो न जा रहा था तो पुंज्या हमाल को साथ लेकर आया... मजे उड़ाओ... मेहमान कहां चले गए? उन्हें बुलाकर ये कपड़े दिखाओ...सबको खुश हो जाने दो। कोई भी नाराज नहीं दिखना चाहिए। गंगा, तुम पायली भर गेहूँ बिनकर पिसाकर ले आओ... सुमन और कमल... तुम तब तक बाकी खाना पकाना शुरू करो... चलो... काम शुरू करो...।'

पुत्रियां उठीं। उत्साह से काम में जुट गईं। पर रखमा जस की तस जमी रही। पति ने पैसों का जुगाड़ कहां से किया, इसका जवाब अभी उसे नहीं मिला था। उसे बिना, लाए हुए सामान से

ही समाधान मिलने वाला न था। उसके बार-बार पूछने के बावजूद वह जवाब दे नहीं रहा था। वह उसके प्रश्नों से तंग आ गया।

‘बतलाओ तो, कहां से भिड़ाया पैसों का जुगाड़?’

‘लेकर आया नए मालिक से अग्रिम...कोई चोरी थोड़े ही न की है मैंने...तुम भी न कमाल की हो! बे-मतलब की बात लेकर बैठ जाती हो...कोई चिंता मत करो...’ कहते हुए उसने बात संवार ली।

‘पर नया मालिक तो बगैर काम पर हाजिर हुए पैसे देने वाला न था।’

‘कपड़े उसके पांव...। दया करके आखिर दे ही दिए उसने। लड़कियों को विदा जो करना था। ऐसे वक्त इस प्रकार भीख मांगनी ही पड़ती है। कोई इलाज नहीं है, इसका।’

इस पर वह कुछ न बोली। संतुष्ट हो गई। उठकर वह भी पुत्रियों के साथ घर के काम में जुट गई।

दामादजी हाजिर हो गए। कपड़े देखकर खुश हो गए।... प्रसन्नतापूर्वक मेहमानवाजी संपन्न हो गई। दोनों पुत्रियां ससुराल विदा हो गईं।

अब पुत्रियों की चिंता न थी। उनके पति अब उन्हें तलाक देने वाले नहीं थे। दोस्त-भाई उनकी हँसी उड़ाने वाले न थे। सब कुछ व्यवस्थित निपट गया था...। उसका मन प्रसन्न हो गया था।

मेहमानों द्वारा खूब अनुरोध के बावजूद उसने उनके साथ भोजन नहीं किया था। झूठ-मूठ कह दिया कि पेट दुख रहा है पर सही कारण यह था कि कहीं दामाद और पुत्रियों को कम न पड़ जाए।

पुत्रियों की विदाई के उपरांत घर में तूफान गुजर जाने के बाद की-सी अकुलाहट महसूस की जा रही थी। पुत्रियों के हल्ले-गुल्ले से गुलजार घर एकदम शांत लग रहा था। उदासी-सी छा गई थी। बिना कोई बात किए वे दोनों बे-मन से भोजन कर रहे थे तभी द्वार पर खटका हुआ।

‘कौन है?’ उसने निवाला रोकते हुए कहा।

‘मैं हूँ, बोचरे मास्टर!’

‘कहते हुए बोचरे मास्टर ने द्वार पर चप्पलें उतारी और घर में प्रवेश किया। सीधे नारायण की थाली के पास आकर बैठ गया। उसके हाथ में ग्लूकोज-पाउडर और बिस्किट के पैकेट्स थे। मोसंबी थी। नारायण की थाली में केले का कलेवा, रोटी, भजिए आदि देख और वह जोर से चिल्लाया, ‘अरे ये क्या है, नारायण? दो दिन हलका भोजन लेने के लिए कहा था न मैंने तुम्हें? और तुम ये खाना खा रहे हो? तबीयत खराब हो जाएगी न ऐसे से...।’

‘कुछ फर्क नहीं पड़ता’, नारायण ने उकड़ू बैठते हुए जवाब दिया।

मास्टर की बात रखमा समझ न पाई। उसके हाथ में ये बिस्किट के पैकेट कैसे? और वो ये पैकेट इन्हें क्यों कर दे रहा है?

कभी न आने वाला यह मास्टर आज अपने घर किस कारण आया होगा? इस सब बातों का मतलब क्या है? कहीं इसने शराब तो न पी रखी है?... वह कुछ भी समझ नहीं पा रही थी।

‘क्या हुआ मास्टरजी, ये पागलाए जैसे क्या बोले जा रहे हैं आप?’ वह बोली।

‘क्या नारायण ने कुछ बतलाया नहीं, अब तक।’

‘नहीं तो...।’ वह उसके और मास्टर के मुँह ताकने लगी। बेचैनी बढ़ गई। उसने देखा, पति

उससे नजर चुरा रहा है। 'इसका सुबह ही नसबंदी का ऑपरेशन किया गया है। मुझसे खुद ही आकर मिला। पिछले दिनों, मैंने यूं ही कह दिया था, कोई 'केस' मिले तो खबर करना। तो आज खुद ही प्रस्तुत हो गया। आजकल 'केस' की खोज में गांव-गांव घूमना पड़ता है। लोगों की खुशामदें करनी पड़ती हैं। ज्यादा रकम की लालच में लोग भी जल्दी तैयार नहीं होते। पर, सुबह-सुबह मेरे घर पहुंच गया। बड़े उपकार हो गए, मुझ पर, नहीं तो मेरा तबादला तय था। बड़े अधिकारियों ने परेशान कर रखा था पर नारायण परमेश्वर की तरह मिल गया। इस कारण बोलते बराबर इस आठ-सौ रुपए दे दिए मैंने। पैसों की बात नहीं...नौकरी बनी रहे और वह भी गांव में...यह महत्वपूर्ण है। खेत भी जोत सकते हैं...।

मास्टर की बात सुनकर उस पर मानों मनो पानी गिर गया। उसके सारे बदन में कंपकंपी छूट गई। वह अवाक हो गई थी। मास्टर की बातें जारी थीं, मग्न होकर कक्षा में पढ़ाये समान...। पर वह उन्हें सुन नहीं पा रही थी। वह लगातार नारायण की ओर देख रही थी। और वह, माटी के पुतले के समान घुम्म...चुप्प!...चुप्प!! उसकी नजर से बचने की कोशिश किए जा रहा था।

'अरे पर ऑपरेशन तो पिछले दिनों मैं कर चुकी थी न! तब तुम्हें फिर करने की भला क्या जरूरत थी?'

उसने कर्कश आवाज में उससे पूछा।

उसने कोई जवाब नहीं दिया।

वह बार-बार पूछती रही।

पल भर के लिए उसके होंठ थरथराए पर फिर स्थिर हो गए। आँखों की कोरो से आंसुओं की लहरें उमड़ने लगीं। वह अश्रुपूरित नैनो से उसकी ओर देखने लगा। आँखों से निकालकर अश्रु सामने की थाली में टकपने लगे। इस कारण उसे वह अब धुंधली-सी दिखाई देने लगी थी। ■

तोहमत

आसाराम लोमटे

अनुवाद : निशिकांत ठकार

दिन ढल जाने के बावजूद धूप की मार कम नहीं हो रही थी। नेहरू-कमीज पहनकर घर से बाहर निकल पड़े श्रीधराव मालीपाटील सड़क पर जोर-जोर से चले जा रहे थे। ढलते सूरज की आग बदन को सिझाए जा रही थी। हाथ की धोती से छोर से चेहरे को पोंछते हुए वह और भी तेजी से कदम उठाकर चलने लगे। आस-पास कहीं भी लोगों का नामोनिशां नहीं था। कहीं भी पेड़ का पत्ता तक हिलने का नाम नहीं ले रहा था। गांव के बाहर निकलकर दोराहे की सड़क पर चल पड़े तो उन्हें महसूस हुआ कि लंबी राह पर अपने सिवा और कोई नहीं है तब पैर गर्म रेती पर चलने की तरह अपनी जगह पर ही धंसने लगे। हवेली की बैठक में में बैठने को जरा भी जी नहीं कर रहा था। मानो जगह ने ही बाहर फेंक दिया हो इसलिए बाहर निकलना पड़ा, पसीने-पसीने होकर वह दोराहे पर पहुंच गए। वहां इकलौती एक चाय पानी की गुमटी थी। लोग यहां आकर थोड़ी देर के लिए सुस्ताते। माली पाटील गुमटी पर पहुंचकर एक बेंच पर बैठ गए। घासफूस की बनी गुमटी के कोने में ताश के पत्तों का खेल परवान चढ़ा था। मालीपाटील के देखते ही लड़के सकपका गए। सारा खेल समेटने की तैयारी करने लगे।

आरारा S... चलने दो तुम लोगों का। मैं बस थोड़ी देर के लिए बैठने वाला हूं। क्यों अपना खेल बिगाड़ते हो? उन्होंने कहा। लड़कों में से किसी ने कुछ नहीं कहा। लेकिन खेल बिगड़ गया तो बिगड़ गया। फिर लड़के कोने से उठकर बाहर हवा में आ गए। माली पाटील ने गुमटी वाले भगवान से चार-पांच कप चाय बनाने के लिए कह दिया। उसने स्टोव जलाया। दोपहर के सन्नाटे में स्टोव की भरS-भरS आवाज कुछ ज्यादा ही आने लगी। लड़के कुछ बिखरने लगे। राह पकड़ने लगे तब माली पाटील ने कहा, अरे, हमने तुम लोगों के वास्ते चाय कह दी है और तुम कहां जाने लगे। बैठो तो जरा।

उनके बोलने पर लड़के जहां थे वहीं पर ठिठक गए। आम तौर पर माली पाटील किसी से हिल मिलकर नहीं रहते। दोराहे पर भी कभी नहीं आते। गांव के अन्य बुजुर्ग कभी-कभार यहां आते हैं लेकिन श्रीधर राव कभी नहीं। कहीं बाहर गांव जाना हो तो ही आते। उनके कहने पर लड़के थम गए। दूसरे बेंच पर बैठ गए। कब से बैठे हो तुम लोग यहां? उन्होंने लड़कों से पूछा।

दो-एक घंटे हो गए होंगे। उनमें से एक ने कहा। उनकी समझ में नहीं आया कि वह क्यों पूछ रहे हैं।

वो बुधवाड़े का आनंद आया था क्या यहां किसी को साथ लेकर? उन्होंने पूछा। कुछ देर बाद लड़कों ने कहा, नहीं और हम इस टट्टी के पीछे बैठे थे तो वहां से क्या दिखेगा?

माली पाटील की बेचैनी बढ़ गई। धूप तो काफी चढ़ी हुई थी। लगता है हम कुछ ज्यादा ही सीझ गए हैं। चाय छानते-छानते भगवान सबकुछ सुन रहा था। उसने कहा, तात्या, वो लोग तो कब के चले गए बस से।

माली पाटील को पलभर के लिए लगा कि बिजली चमक गई। भीतर ही भीतर धक्के महसूस किए। कौन-कौन थे? पूछते हुए भी वह हांफने लगे।

एक तो आनंद था। अपने गांव की वह आंगनवाड़ी की औरत और उनका वह छोटा बच्चा। ऐसे तीन चार लोग गए।

भगवान के बोले जाने के बाद माली पाटील कुछ हड़बड़ा गए। फिक्रमंद हो गए कि आगे क्या-क्या परोसा जाने वाला है? सोचा, और एक दो घंटे दोराहे पर रुकेंगे तो उनको देख सकेंगे, लेकिन क्यों हम ही छेड़कर मामले को बढ़ावा दें? आगे जो होगा देखा जाएगा। हम सिर्फ एक कान इधर देंगे। कुछ भी हो तो उसकी खबर हमें तुरंत मिल जानी चाहिए। भगवान ने कांच के गिलासों में चाय उंडेलकर लड़कों को दी। सबकी नजरें माली पाटील के चेहरे पर गड़ी हुई थी। उन्होंने जब नजर उठाई तब उन्हें पता चला कि लड़के आते-जाते अपनी तरफ ही देख रहे हैं तो उनका चेहरा भीतर खींच गया। एक लड़के ने पूछा, क्या झमेला है तात्याजी? जो कुछ हुआ है उसका पता तो सबको हो गया होगा, तात्याने सोचा लेकिन वह सही नहीं था। यहां लड़कों को पता नहीं है देखकर उन्होंने जरा राहत महसूस की। मतलब बात अभी गांव भर फैली है। भांडा फूटकर पानी सब तरफ नहीं फैला है। जल्दी से दोनों हाथों से पानी को रोकना होगा। सोचने लगे। फिर लड़कों ने ही याद दिलाई।

तात्याजी, इधर दोराहे पर कैसे आए आप, वह भी ऐन दोपहरी में?

बिना वजह मामला पीछे पड़ गया। मानो, घर बैठे आफत को न्योता दे दिया हो। उन्होंने कहा और लड़के उधेड़बुन में पड़ गए।

कल दिन डूबने के टैम पर बुधवाड़े का एक छोकरा आया था छोटा, यही कोई आठ-दस वर्ष का। बाड़ के दोनों तारों के बीच से बाग में आया। एक पेड़ से मुसम्मी तोड़ ली और अपने पास के कपड़े में बांधने लगा। मैं यू ही मेंढ पर घूम फिर रहा था। मुझे देखते ही लगा भागने। बाड़ के दो तारों के बीच फंस गया। मैं पास गया। उसे बाहर निकाला और लगा दिए दो झापड़ कान के नीचे। जहां खड़ा था वही फटाकू से मूत पड़ा। उसने वहीं पर शोर मचाना शुरू किया। मैंने छोड़ दिया लेकिन बाग से जाने के ऐन टैम पर माँ-बाप हाजिर। बच्चा भागते हुए गया था और उनको लेके आया था। हो गई कुछ तू-तू मैं-मैं। गलती से उस औरत को भी कुछ गलत बोल गया। दोनों औरत-मर्द ने वहीं पर हंगामा खड़ा कर दिया। उनको निकाल बाहर किया बाग से। फिर रात में क्या हुआ कुछ पता नहीं। किसने कान फूंक दिए क्या मालूम। अब दुपहर में सुना कि आनंद को लेकर दोनों औरत-मर्द तहसील गए हुए हैं। सुना है हम पर केस दायर करने वाले हैं। किया करेंगे वो और उसके बावजूद गुनहगार हम।... माली पाटील ने कहा।

जाने दीजिए ना तात्याजी, जो होगा सो होगा। आदमी को मुकाबले के लिए तैयार रहना चाहिए। एक ने कहा।

वो तो रहेंगे ही भाई, लेकिन यह हमारी ही तकदीर में क्यों? मुझे तो लगता है कि यह गांव के ही किसी आदमी की साजिश है। किसी के तेल-डाले बगैर बत्ती इतनी नहीं जलने वाली।

उनकी इस बात पर लड़के चौंक पड़े। किसकी होगी साजिश? सोचने लगे। इतने में एक ने कहा, किसकी है यह तो पता नहीं लेकिन हमारे लड़कों में से किसी ने यह नहीं किया है। आपके बराबरी के ही किसी आदमी का यह काम होगा। आम आदमी क्यों इस झंझट में पड़ेगा?

तात्या के सामने दो-चार चेहरे दिखाई देने लगे। ये लोग अब और कहां-कहां हम पर घात लगाए बैठे होंगे पता नहीं। वह बड़ी हवेली का मुंडासिया। कोसले का साफा इस शान से पहराता है कि लगता है कीर्तनिया महाराज है। सारे काम ऐसे ही। किसी को सुख से जीने नहीं देगा। वो सरपंच तो मीठी बानी का लुच्चा। रास्ते में रोककर बात करेगा। मानो जान का जानू हो। असल में उसे अपना कुछ भी नहीं सुहाता। ग्राम पंचायत उसके कब्जे में गई तो सोसायटी अपने कब्जे में आ गई। वह सोचता है कि गांव में और कोई सियासत न करे। सबको इसी की अंजुरी से पानी पीना चाहिए। इन दो-तीन लोगों में से ही कोई एक होगा पर्दे के पीछे।... माली पाटील सोचने लगे। धोती के झोल से हवा लेने लगे।

तात्याजी, कुछ तकलीफ हो तो हमें बताइए। आप जैसे आदमी का इस कदर बेचैन होना कुछ अजीब-सा लगता है। आखिर क्या होने वाला है? कोई केस ही न? उसे इतना क्या घबराना? एक ने ढाढ़स बांधा।

मैं भला क्या घबराने वाला? जो होगा सो देखा जाएगा लेकिन यह लेना और देना। अपने ही पांव तले निकल आई यह मुसीबत। ऐसा कुछ हुआ तो गांव में बेकार की बातें करते हैं लोग। कोई भी आता है और पूंछ उठाकर देखता है इसीलिए लगता है कि न हो ऐसे झमेले। और हां, हम तो आप लड़कों जैसा सीधा उधम तो नहीं मचा सकते ना?

आप भला क्यों मंचाएं? हम हैं ना। सोसायटी के टैम पर कैसा हमने बराबर कर लिया था ना, तात्याजी। क्या आपको कुछ करना पड़ा? सुनकर माली पाटील को कुछ धीरज बांधा। देखते ही देखते पसीने का झरना थम गया और जरा-सी खुली हवा चलने से कुछ खुलापन महसूस हुआ। ये लोग तहसील गए हैं इतनी बात तो पक्की है। गांव से इतनी दूर आने का इतना तो लाभ हुआ। सिर्फ जानकारी मिली। कुछ काम पड़ा तो लड़कों को बताया जा सकता है लेकिन अब हमें होशियार रहने की जरूरत है। आगे जो कुछ होगा उस पर नजर रखनी होगी। मालीपाटील ने नेहरू-कमीज की बगलवाली जेब में हाथ डाला और चाय के पैसे दे डाले। ताश का खेल छोड़कर लड़के चले गए। अब फिर अकेलेपन लगने लगा। लड़कों की बातों से बल मिला था। अब उनके चले जाने पर फिर धूप की गर्मी सताने लगी। गुमटी वाले भगवान से कुछ देर तक टूटी-फूटी बातें करते रहे।

लेकिन तात्याजी, दो-चार मुसम्मी के वास्ते आपने बच्चे को बेकार ही पीट दिया फिर कहते हैं कि उसकी मां को गालियां भी दी। बात तो यूं ही हो जाती है लेकिन फिर उसकी फिक्र लगती रहती है।

भगवान के इस तरह बोलने से माली पाटील और भी चिंतित हो गए। इतनी छोटी-सी बात

के लिए हमने क्यों पीटा उस बच्चे को? सिर्फ मुसम्मी ले ली इसलिए या उसने पलटकर जवाब दिया इसलिए?... फिर उसके मां-बाप ने आकर हमें ही गालियां दी, क्या इसलिए हम इतना आपे से बाहर हो गए? लेकिन घटना तो घट चुकी है और अब बेकार में ही फिक्र लगी हुई है।... पैर के तलुवे में छिपे कांटे के कुरेदने की तरह तात्या सोचते रहे। जो होना है वह तो होता रहेगा; लेकिन अब हमें घर जाना चाहिए, नहीं तो उन सबकी और हमारी यहीं पर मुलाकात हो जाएगी। उन्होंने ऐसा सोचा और धोती का झोल हाथ में पकड़कर निकल पड़े। धूप अब भी चमक रही थी। आँखें छोटी करके देखना पड़ता था।

दिन डूबकर चारों ओर अँधेरा फैलने लगा। अँधेरे का पतलापन अभी कम नहीं हुआ था। घना अँधेरा छाने से पहले लोग अपने-अपने घरों के सामने बैठे हुए। बुधवाड़े के हर एक घर में चूल्हे जलने लगे। बच्चों का शोरगुल, रोना धोना चल रहा था। तहसील से लौटकर आई ग्वालन बाई चूल्हे से खट रही थी। बाहर आंगन में घर वाला और आनंद बोरिया बिछाकर बैठे हुए बातें कर रहे थे। रोटी थापने की थप्-थप् की आवाज के बावजूद ग्वालनबाई का कान उनकी बातों की ओर लगा हुआ था। छोटा बच्चा बाहर कहीं खेलने के लिए गया हुआ था।

अपनी कोई बात नहीं, लेकिन उस नासपीटे ने ग्वालन को गाली नहीं देनी चाहिए थी। क्या हुआ अगर बच्चे ने दो-चार मुसम्मी ले ली तो। इतना हो हल्ला मचाने की जरूरत नहीं थी। अंकुश बोल रहा था।

बात मत कर। उसने अपनी मां-बहन को निकाला है तो अब उसके कहने में कैसे जाएंगे? अब समझौता नहीं बोले तो बिलकुल नहीं। अंकुश की बात पर आनंद चल पड़ा। उसके जाने के बाद अंकुश घर आया और दीवार के पास बैठ गया। चूल्हा धू-धू जल रहा था। घरवाली की लंबी परछाई दीवार पर पड़ी हुई थी। उस हिलती परछाई पर उसकी नजर लगी हुई थी। चूल्हे का काम होने वाला ही था लेकिन पता नहीं बच्चा कहां गया हुआ है? ग्वालन को फिक्र हुई। बच्चा कुछ नटखट ही था। कितना भी समझाओ, समझता ही नहीं। मारने-पीटने पर चुप बैठता है। लेकिन उसकी आदत जाती नहीं। कहीं न कहीं से झगड़ा मोल ले आता है। अब बच्चे जैसी चीज को पीटे तो भी कितना पीटे? माली पाटील ने कल पीटा तो बेटा मवेशी की तरह रोता चिल्लाता आया। हम मारते हैं तो मामूली चपत; लेकिन यहां इसके गाल पर उंगलियों के निशान पड़े हुए। तार के खरोंच से भी लहलुहान हुआ। बदन की कमीज भी पीठ पर फटी हुई। उसे देखा तो तलुवे की आग माथे में पहुंच गई। घरवाले को साथ लेकर बाग में गई तो माली पाटील भौंचक। हम उसकी बहू-बेटी जैसी लेकिन वह पागल जैसा गालियां बकने लगा। हमने भी कुछ उल्टी-सीधी बातें की और घर आ गई लेकिन माथा भड़का तो भड़का ही रहा। आज दोपहर तहसील जाकर उस पर केस दायर किया। आगे जो होगा सो होगा। हमें पेट पालने के लिए नौकरी है। किसी के दर पर जाने की जरूरत नहीं। ग्वालन बाई रसोई का काम समेटते-समेटते सोचने लगी। अंकुश ने पूछा, सुरेश नजर नहीं आ रहा है। अब क्या करें भाई इस बच्चे का। जरा देख आऊं उसे। अब निवाला निगलने का टैम हो गया तो भी इसका कहीं ठिकाना नहीं।

घरवाली ने सिर्फ 'हूँ' कहा। दीवार को पीठ देकर बैठा हुआ अंकुश उठा और घर के बाहर चल पड़ा। ग्वालन सब समेटकर आंगन में आ बैठ गई। उसकी नौकरी के तीन-चार वर्ष हो चुके हैं। गांव

की आंगनवाड़ी में सहायक पद पर। आंगनवाड़ी के सारे काम करने पड़ते थे। सुबह स्कूल जाकर झाड़ू लगाना। छोटे बच्चों को खिचड़ी पकाकर खिलाना। फिर दोपहर घर आने पर कोई काम नहीं था। घरवाला खास कुछ नहीं करता था। आनंद बुधवाड़े के लोगों के काम करता है उसके साथ घूमता फिरता है। कभी तहसील जाना हो तो आनंद घरवाले को ले जाता है। यूँ ही साथ में। बुधवाड़े के सारे लोग आनंद को लीडर ही पुकारते हैं।

किसी का राशनकार्ड बनवा देना, किसी को कर्ज मुहैया करा देना, किसी की कहीं पर अर्जी पहुंचा देना जैसे काम उसके पास होते हैं। कल मालीपाटील के बाग के वाकये के बाद ग्वालन घरवाले के साथ गुस्से में ही घर आई। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें। जल भुन गई थी। बिच्छू के काटने जैसी आग आग हो रही थी। आज तक कभी किसकी ऐसी बातें नहीं सुनी थी। शाम को घरवाले ने आनंद को बता दिया तो उसने पुलिस केस की बात बतादी। माली पाटील से मुकाबला करने की ताकत तो अपने में नहीं है तो क्या हुआ? आनंद ने कहा कि हम कानून से मुकाबला करेंगे तो घरवाला राजी हो गया। सुबह आंगनवाड़ी जाना पडता है इसलिए काम हो जाने पर सुरेश को साथ लिए और सब दोपहर तहसील गए। अब आगे क्या होगा? ग्वालन सोचने लगी। पुलिस उसे पकड़ कर ले गए। उलझाए अच्छी तरह से रुपये लेकर छोड़ न दे। अक्ल ठिकाने आनी चाहिए उसकी।... वह यूँ सोचने लगी। हमने केस दायर की फिर भी आनंद ने हमसे दो सौ रुपये लिए। कहा कि पुलिस को देने पड़ते हैं। उसके बिना ठीक दफा नहीं लगाते। कहा कि माली पाटील पर एट्रोसिटी लगाने को कहूंगा। हमने तो जो बताना था वह पुलिस को बता दिया। सुरेश ने भी जो पूछा था साफ-साफ बता दिया। कागज पर दस्तखत कर दिए। अब आगे क्या होने वाला है उसका पता तो चल ही जाएगा। घड़ी भर में लगा कि माली पाटील अपनी नौकरी में कुछ बाधा पैदा करेगा। उसने अगर अदावत पकड़ ली तो जहर मिलाने में क्या टैम लगेगा? लेकिन जो होना था सो हो गया। अब उसकी फिक्र क्यों करें? ग्वालन बढ़ते अँधेरे में डूबती सी सोचने लगी। नजर सड़क पर लगी हुई। दरवाजे पर उसने घर वाले के साथ सुरेश को आते हुए देखा तो कलेजे को ठंडक पहुंची।

बाग में झींगुरी की आवाज से अँधेरा कुछ और घना ही लगने लगा। छोटे-बड़े पेड़ इस अँधेरे में अजीबोगरीब परछाइयों जैसे दिखाई देने लगे। अँधेरे में राह निकालते हुए यहां तक पहुंच गए लेकिन बाग से गांव की तरफ ऐसे अँधेरे में लौटना तो बेहद मुश्किल होगा। आनंद ने सोचा। सरपंच का चेहरा धुंधला-धुंधला सा और हम उसके सामने किसी के पकड़कर लाए हुए जैसे। आनंद को लगा कि सरपंच की बातों में संतोष टपक रहा हो। उन्होंने फिर पूछा, वो अंकुश सुलहबाजी तो नहीं करेगा न? आजकल लोगों का कोई सरोसा नहीं। आनंद ने सरपंच को बार-बार भरोसा जताया। उन्होंने फिर पूछा दफा कौन सी लगाई?

मारपीट गाली गलौज की तो है ही लेकिन माली पाटील पर एट्रोसिटी कर दी है। आनंद के कहते ही सरपंच दिल में बाग बाग हो गए। सिगरेट सुलगाने के लिए उन्होंने तीली जलाई तो उनका चेहरा बहुत खुश नजर आया। गांव में खुलकर मिल नहीं सकते। कोई रात में मिलने आता तो कानाफूसी बढ़ती इसलिए आनंद को इधर बाग में ही आने को कह दिया था। उन्होंने आनंद से पूछा, खाना खा लिया? उसने नहीं कहा। सरपंच ने नौकर को आवाज दी। कुछ मटन वगैरह बचा है रे? पूछने पर नौकर ने 'हां' कहा।

मटन बनाया था। तुम्हारे आने से कुछ पहले ही मैंने खा लिया। नौकर ने भी खाया है। भीतर जाकर खाना खा ले। सरपंच के कहने पर आनंद उठा। बड़े पेड़ के नीचे से नौकर के पीछे बस्ती पर पहुंच गया। झोपड़ी में कम रोशनी वाला झीरो का लट्टू छतपर टंगा हुआ सा लगा। नौकर ने आनंद को परोसा। तेज मिर्चवाला शोरबा मुंह में जाते ही पहले ही निवाले पर हुचक पड़ा। आँखों में पानी आया और माथे पर भर-भराकर पसीना छूटा। कुछ देर बाद उसे अच्छा लगा। भूख जोर से लगी हुई थी। वह खाना खा रहा था तभी अँधेरे से उठकर सरपंच वहां पहुंच गए। भरपेट खाना खा लो। झोपड़ी के मुहाने पर खड़े होकर सरपंच ने कहा। हाथ में जलता सिगरेट। सरपंच के आते ही उसे कुछ अकड़न सी हो गई। निवाले की गति मंद पड़ गई। चक्की में पिसान रुकने जैसा हुआ। सरपंच झोपड़ी के किवाड़ से हट गए और उसने पूरी रोटी थाली में चांप दी। खाना खाने के बाद गटागत पानी पी लिया और बाहर आ गया। हवा की लहर से मानो उसे नई ताकत मिल गई।

धुंधली रोशनी में पैरों तले कुछ तो दिखाई दे रहा था लेकिन फिर यह रोशनी भी कम हो गई। सरपंच जहां बैठे हुए थे उस जगह पर आने पर तो वह फिर से अँधेरे में डूब गया। खाने से पेट फूल गया था। पैर उठाने को जी नहीं कर रहा था। लगता था कि सीधे पसरा जाए। आँखें बोझिल हो गई थी। आँखें पूरी तरह से खुली होने के बावजूद अँधेरे की वजह से बंद ही लग रही थी। गांव तक जाना जान पर बन आया था। तभी सरपंच ने पूछा; तो फिर चलेंगे गांव की तरफ?

उसने हां कहं दिया। उन्होंने मोटरसाइकिल निकाली। आनंद को सहसा अच्छा लगा।

चलो, तुम्हें कुछ पहले छोड़ देता हूं उन्होंने कहा। उनकी मोटरसाइकिल पर आनंद बैठ गया। रात के अँधेरे में गाड़ी की आवाज की खरोंच उठी। रास्ते के गड्ढों को टोलते हुए गाड़ी सरपट गति से भागने लगी। पूरे सगवारे में जैसे गाड़ी की आवाज ही गूंज रही थी। आनंद ने सोचा, कल ही इस बाग में आए; लेकिन आते वक्त अँधेरे में पैदल ही आना पड़ा। कल अंकुश का माली पाटील से झगड़ा होने की भनक पड़ते ही हम शाम में ही उससे मिले। केस दायर कर माली पाटील को सबक सिखाने के लिए कहा। उसके साथ बात होने पर घना अँधेरा हो जाने के बाद यहां सरपंच के बाग में आ गए। कल रात ही सरपंच ने केस दायर करने के लिए कहा था। आज काम हो जाने पर हम उनसे मिले। क्या चाल है पता नहीं; लेकिन हम पहले से ही सरपंच की तरफ खिंचे हुए हैं। वह भी हर काम में अपनी तरफ खींचता है। चुनाव के जमाने में बुधवाड़े में कुछ भी करना हो तो उसका भरोसा हम पर ही होता है। हमें पूछे बगैर कुछ नहीं करता। अब बहुत दिनों बाद हम उसके काम आए हैं। माली पाटील पर एट्रोसिटी दायर होने से सरपंच भी खुश। और हमें भी तो गांव में किसी का आधार तो चाहिए ही इसीलिए हमने सरपंच को पकड़ रखा है। आंधी-बवंडर में आधार के लिए किसी पेड़ के तने को पकड़कर रखते हैं उसी तरह कभी भी काम पड़ने पर हमारे लिए सरपंच का आधार हैं। ऐसा कुछ हुआ तो फिर उसे हमारी जरूरत पड़ती है।... आनंद मन ही मन सोच रहा था। सरपंच कुछ बोल नहीं रहे थे। रात के अँधेरे में बोला हुआ साफ सुनाई देता है। गाड़ी की आवाज के बावजूद इसलिए उनका ध्यान गाड़ी की रोशनी में सामने दिखाई देने वाले गड्ढों की ओर था। देखते ही देखते गांव की लाइट दूर से ही चमकने लगे। गांव के पास आने पर गाड़ी की आवाज कम हो गई। उन्होंने कुछ पहले ही गाड़ी को ब्रेक लगाया। आनंद उतर गया। सरपंच ने अपनी नेहरू-कमीज की बगलवाली जेब में हाथ डाला। दो नोट निकाले और मुट्ठी में बंद कर आनंद की

जेब में ठूस दिए। उसने अपनी पैंट की जेब में हाथ डाला। उसने अपनी पैंट की जेब में हाथ डाला। सरपंच की गाड़ी ने फिर से गति पकड़ ली। आनंद बुधवाड़े की सड़क पर चल पड़ा। धुंधली रोशनी में राह बनाते हुए उसके कदमों में कुछ अलग ही ताकत का संचार हुआ था। जेब में हाथ डालकर दोनों नोटों को टटोलकर देखा। बुधवाड़े के कोने पर लाट के खंबे के नीचे वह खड़ा रहा। जेब से नोटों को निकालकर फिर हाथ में लिया। रोशनी में देखा तो एक-एक नोट पांच सौ का। कुत्ते के भौंकने से वह होश में आया। फिर घर की राह चल पड़ने पर उसने सोचा, आज हमने पकाने के लिए डाल दिया, अब कल गर्म होने लगेगा, फिर धीरे-धीरे उबलने लगेगा।

...सारा बुधवाड़ा खामोश सोया हुआ। राह चलते हुए आनंद के कदम भारी हो गए थे। खाने की सुस्ती अभी गई नहीं थी। उसने इधर-उधर देखा, सारे बुधवाड़े में सन्नाटा था। अंकुश के घर के सामने से जाते हुए उसका कलेजा फिरर मेंढ़की की तरह कांप उठा। माली पाटील पर केस दायर करने के बाद गांव में क्या हो गया इसे जानने की बेताबी थी। उफान आए बर्तन का ढक्कन थड़-थड़ करता है जैसे उसकी हालत हो गई।

फिर दूसरे दिन गांवभर में खबर फैल गई। माली पाटील पर एट्रोसिटी दायर कर दी गई है। दिन निकलने के पहले ही हाथ में लोटा लिए हुए लोग कोने-कोने पर खड़े होकर कानाफूसी करने लगे। तब तक पहले ही चुके झगड़े के बारे में किसी को पता नहीं था। पहले एट्रोसिटी की खबर मालूम हुई और बाद में झगड़े का पता चला। गांव से आने-जाने वाले लोग माली पाटील के घर की तरफ देखने लगे। यूं तो रात में ही बात का पता चल गया होगा; लेकिन लोग सुबह बात करने लगे। सरपंच ने नौकर को ऐसे ही भेज दिया, जरा माली पाटील के घर का चक्कर तो लगा आ, देखना, घर पर ही है या तहसील चला गया है। उन्होंने कहा।

इधर बुधवाड़े में भी बात देखते-देखते घर-घर के चूल्हे तक पहुंच गई थी। उसी दिन सबको पता चल गया था कि ग्वालन के घर का और माली पाटील का झगड़ा हुआ है; लेकिन इस केस की खबर किसी को नहीं थी। एक-दो ने अंकुश से पूछा, क्यों करते हो केस, बेहतर हो कि समझौता ही क्यों नहीं कर लेते? इस बात पर अंकुश भड़क पड़ा, कल कोई भी आए और हमें पैरों तले रौंद डाले क्या हमें चुप बैठना चाहिए? कुछ ने कहा कि जो हुआ सो अच्छा ही हुआ। गांव के किसी का बच्चा मुसम्मी तोड़ने घुस गया होता तो क्या उसको इतना बदहाल बना दिया होता? इनकी नजरों में तो हमारे लोग ही चुभते हैं, इसलिए अंकुश ने माली पाटील पर केस दायर किया तो अच्छा ही हुआ, कुछ लोगों का ऐसा भी कहना था। पड़ोसन के घर से अंगार लाकर चूल्हा जलाने की तरह देखते ही देखते यह बात एक घर से दूसरे घर पहुंच गई।

दिन कुछ और ऊपर निकल आया। धूप रेंगते-रेंगते पास आने लगी। हवेली के चौक की परछाइयां कुछ दूर जाने लगी। यूं तो माली पाटील के कान पर इस केस की भनक पड़ चुकी थी कल ही इसका भी पता कल ही लग चुका था कि अंकुश, उसकी बीबी और उनका बच्चा तीनों तहसील गए थे और साथ में आनंद को भी ले गए थे। वे देर से लौटे होंगे। पता नहीं कब लौट आए; लेकिन बात पक्की है कि हम पर केस दायर हो चुका है। माली पाटील ने सोचा कि अब बहुत देर तक गांव में रहने में कोई मतलब नहीं। अब और गांव में रुकेंगे तो पुलिस हवेली पर आ जाएगी। बेहतर होगा कि हम ही तहसील चले जाए। तो अपने भाग में होगा उससे तो निपटना ही पड़ेगा। हार

मानकर नहीं चलेगा। घरवाली ने भी उनसे पूछा, क्या सच है कि हम लोगों पर केस दायर किया गया है?

हम लोगों पर नहीं, हम पर... आपको क्या करना है इस झमेले में, कहते हुए उन्होंने झिड़क दिया। घर के दोनो लड़के जवान लेकिन पूछने की हिम्मत किसी की नहीं हुई। उन्होंने जल्दी से नहा लिया। नहाने के बाद गांव के मारुति के दर्शन के लिए जाने का रिवाज था लेकिन आज रिवाज टूट गया। नहाए और घर के देवघर के सामने झुक गए। हवेली के चौक में आकर मारुति मंदिर की दिशा में मुंह किया, हाथ जोड़े। रोटी खाने की इच्छा ही नहीं हुई। पहले पुलिस थाने जाने के सिवा और कोई विकल्प ही नहीं था।

तहसील आने पर उन्हें सूझा कि सीधे पुलिस थाने जाने में कोई मतलब नहीं। पहले वकील के घर पहुंचना चाहिए। फिर आगे का सोचा जाएगा। वकील के कहने के अनुसार बातों को अंजाम दिया जा सकता है। सुबह-सुबह ही रिश्ते के एक वकील को पकड़ लिया। जो हुआ वह सारी बात बता दी। उनके पूछे सवालों के जवाब दिए अब घबराओ मत, जो हुआ सो हुआ अब अपने घर से ही पुलिस थाने जाएंगे। वहां से सब निपट लेंगे। कोर्ट के सामने हाजिर होने के बाद जमानत के बारे में देखेंगे। वकील साहब ने ऐसे कहा जैसे आसानी से नसैनी चढ़ रहे हो। माली पाटील को कुछ धीरज बंधा लेकिन लगा कि हाथ पैर कांप रहे हैं। धूप काफी गर्म हो चुकी है और अपना पेट तो खाली है। याद आया कि सुबह बिना कुछ खाए ही निकल पड़े थे। हाथ-पैर ठंडे पड़ रहे हैं। लगा कि जहां बैठे हैं वहीं जकड़ लिए गए हैं।

माली पाटील वकील के साथ पुलिस थाने गए। पानी-पीने के लिए ही पहले कुछ खा लिया। पुलिस थाने आने पर सामने वाले नीम के पेड़ के नीचे छाया में बैठ गए। वकील ही भीतर चले गए। उन्होंने दारोगा से राम-राम किया। यह भी बताया कि माली पाटील अपने गांव के इज्जतदार आदमी हैं, कैसे गलती हुई पता नहीं लेकिन उन्हें बिला वजह रगड़िए मत। वकील साहब और दारोगा का रोजाना का रिश्ता। आवाज को कुछ छोटा करते हुए बोले, साहब, लेने-देन के बारे में जो है, वह देखा जाएगा; लेकिन इस सारे मामले को हलके हाथ से देखिएगा।

दारोगा का चेहरा तन गया। तजुर्वेकार होने से उन्हें पता था कि इस धंधे में शुरू में ही सुलह-समझौता नहीं किया जाता। पहले सख्ती से बात करना, सामने वाले को जितना हो सकता है उतना झुकाना। इसके बिना कारोबार ढंग से नहीं चलता। यह उनका अनुभव था। शुरू में ही उंगली पकड़ने दी तो लोग पहुंचा पकड़ लेते हैं, इसलिए पहले ही आस-पास आने नहीं देने की उनकी रीत थी।

ऐसे केस में ज्यादा कुछ समझौता करने नहीं आता। एकबार अपराध का पंजीकरण हो गया तो कुछ होने का सवाल ही नहीं उठता। अगली सारी बातें उपविभागीय हाकिमों के हाथ होती है। फिर सामाजिक संगठनों का दबाव भी होता है इसलिए हम जैसों को ज्यादा ढील देना नहीं आता। उन्होंने कहा।

वकील साहब के लिए इसमें नया कुछ नहीं था। 'साहब, आप अपनने हाथ में जितना है, उतना करवा लीजिए। कहना सिर्फ इतना ही है कि देखिए कि उनकी बेइज्जती न हो। दस्तावेज में कैद दिखाइए। अदालत में कब हाजिर करना है बताइए, मैं दस्तावेज तैयार करता हूं। जमानत मिलने

पर वे चले जाएंगे। फिर जब भी जांच-वांच करनी हो तो मुझे फोन कीजिए, आधी रात में हाजिर हो जाएंगे। बस इतना देखिए कि गांव में सिपाही भेजकर उन्हें तकलीफ मत दीजिएगा। गांव की राजनीति बहुत बुरी होती है, साहब लोग बात का बतंगड बना देते हैं। वकील साहब धीमी आवाज में यह बता रहे थे। दारोगा ध्यान से अपनी बात तो सुन रहे हैं लेकिन उनकी दोनों आँखें अपनी ओर ऐसी लगी हुई मानो कड़ा पहरा दे रही हो। वकील साहब ने उनसे आँखें चार की और अपनी बात पूरी की।

कहां है वो माली पाटील? दारोगा ने पूछा।

बाहर बैठे हुए हैं। नीम के पेड़ तले। बुलाता हूं मैं आपको। कहते हुए वकील साहब उठे। छांव में एक पत्थर पर बैठे माली पाटील को उन्होंने आवाज दी। माथे पर हाथ उठाकर घुटने पर जोर देते हुए, धोती से पसीना पोंछते हुए उठ गए। भीतर आकर दारोगा को राम-राम किया। वकील साहब बैठ गए। बैठे कि न बैठे इसी सोच में खड़े रह गए।

क्यों माली पाटील अच्छा हो गया आप आ गए वर्ना हम दो सिपाहियों को आपके गांव रवाना करने वाले ही थे। गुनाह तो कल ही दाखिल हुआ; लेकिन रात में यहां कोई नहीं था, इसलिए सोचा कि सुबह ही आपकी तरफ देखा जाए।

दारोगा की बात से माली पाटील कुछ दहशत में आ गए। अपनी राम-राम की तो इस बाप ने खबर ही नहीं ली। सामने कुर्सी पर बैठने के लिए भी नहीं कह रहा है। उसकी बात पर हम क्या बोल सकते हैं? उलझन में पड़ गए। पहले जब हम घूमते-फिरते थे तब तहसील के हाकिमों से जान-पहचान रहा करती थी। अब गांव के सारे सूत्र सरपंच के पास हैं। वह कभी-कभार तहसील के हाकिमों को बाग में आने का न्योता देता है, पार्टी करता है। इस दारोगा से तो हम पहली बार ही मिल रहे हैं।... आखिर जाकर उसके बैठे कहने पर माली पाटील कुर्सी पर बैठ गए।

पाटील, क्या इस तरह के झमेले अच्छे लगते हैं? आप जैसे आदमी को इज्जत से रहना चाहिए तो चले नंगे के साथ होली खेलने, दारोगा की बात पर उन्होंने कुछ नहीं कहा। वकील साहब ही बीच में आ गए।

जाने दीजिए ना साहब, जो हो गया सो हो गया। अब इसे दस्तावेजों में बराबर कर लीजिए। कल ही देर में हम अदालत चलेंगे, वहां भी टैम लगने वाला है वकील साहब के बोलने के बाद दारोगा ने फिर कुछ बढ़ाया नहीं। सारे काम झटपट हो गए। माली पाटील पूरे सकपका गए थे। उनके ध्यान में नहीं आ रहा था कि सुबह से वह क्या कर रहे हैं। उन्हें लग रहा था कि कोई उनसे ये काम करवा रहा था। अदालत में आने पर भी उनका मन ठिकाने पर नहीं था। इस सारे झमेले से पार होते होते दिन ढल गया। सिर भन्ना रहा था। बात मामूली नहीं रही। हमें न कभी पुलिस थाने का पता था न कभी अदालत की सीढ़ियां चढ़नी पड़ी थी। ऐसे हुआ जैसे सावधान नहीं थे और प्रहार हुआ। इससे किसी तरह बाहर तो निकलेंगे ही लेकिन अब चुप नहीं बैठेंगे। गांव में जाने पर कोई न कोई कुछ न कुछ तो कहता रहेगा। बदनामी होती रहेगी। इससे बेहतर हो कि इस दांव को उलटा दिया जाए। गांव के दो-चार लड़कों को पकड़कर कुछ हंगामा किए बिना नहीं चलेगा।... अदालत के कामों से निपट गए। माली पाटील वकील की गाड़ी पर बैठकर उनके घर आए। पूछना चाहा कि कितने देने हैं, लेकिन उसकी जरूरत ही नहीं पड़ी।

वकील साहब ही बोले, पाटील, अभी सिर्फ पांच हजार रुपये दीजिए। दारोगा का भी मैं देख लेता हूँ। फिर आगे जैसे-जैसे लगेंगे, मैं आपसे कहूँगा।

माली पाटील ने नेहरू कमीज के बगलवाली जेब में हाथ डालकर रुपये गिना दिए। हाथ से गिनते वक्त पेट में जैसे गड़ढा पड़ रहा था। घर बैठे आफत आती है वैसा हुआ लेकिन काम तो हो गया सो ठीक हुआ। पत्थर के नीच से हाथ निकला। अब आगे के काम करने होंगे। माली पाटील मन ही मन योजना बनाने लगे। गांव में आते-आते शाम हो गई। ढोर-डंगर लौटने लगे थे। खेतों में काम करने वाली औरतें सिर पर बोझ उठाकर सड़क के किनारे से जा रही थी। अभी अँधेरा नहीं हुआ था। दोराहे पर उतरकर माली पाटील ने इधर-उधर देखा ही नहीं। सीधे चल पड़े वे। वे समझ गए थे कि एस.टी. से उतरते ही गांव के लोग अपनी तरफ अलग नजर से देख रहे हैं। गांव में घुसते ही एक ने पूछा, तात्याजी आप?

क्या हुआ? क्या मैं गांव में नया हूँ? मुझे तो पहचानता होगा न? फिर इस तरह मुंह उठाकर क्यों पूछ रहा है?

ऐसा नहीं, सोचा, कहीं किसी गांव से तो नहीं आ रहे हैं?

मुझे कुछ हुआ नहीं है और न कुछ होगा। तू क्यों पूछताछ कर रहा है? अपनी धो नहीं सकते और चले लोगों की धोने।

माली पाटील को गुस्सा आया। सोचा कि आज रात ही लड़कों को बुला ले। करेंगे कुछ खर्च। सब कुछ उन्हें ही बताएंगे। उस खूसट को सबक सिखाना ही पड़ेगा। इस तरह होता रहेगा तो मुश्किल होगा गांव में। कोई भी आए और धोती में हाथ डाले। उनके दिमाग की हालत ऐसी हो गई जैसे किसी भली हबेली में घूस लगे और वह खोदी हुई मिट्टी को निकाल बाहर डाले।

देखते ही देखते माली पाटील के गांव में आने की खबर फैल गई। सरपंच को नया लगा। अंकुश को किसी ने बताया। शाम को वह सड़क पर ही बोलते हुए खड़ा था। फौरन आनंद के पास गया।

अरे, वो आया ना छूटकर, उसके पूछने पर भी आनंद की समझ में कुछ नहीं आया।

तो तुमने क्या सोचा? उसे तुरंत अंदर कर देंगे? आज उसे जमानत मिल गई होगी। उसे थोड़े ही तुरंत-फुरत सजा देंगे, चक्राकार घूमने वाली गिरागिरी रुक जाने जैसा कुछ अंकुश के दिमाग में हुआ। उसे अचरज हुआ कि आनंद ऐसे बोल रहा जैसे उसे सब कुछ मालुम है। डरो मत। वह नहीं छूटने वाला इस केस से। कहते हुए आनंद ने धीरज बंधाया फिर भी अंकुश निराश-सा हुआ। रास्ते में रुकना उसे अच्छा नहीं लगा। घर जाकर घरवाली को बताने के लिए वह चल पड़ा। घरवाली को पहले ही किसी ने बता दिया था। उसका चेहरा तो पूरा उतर गया था। यह ऐसा कैसा काम है? तुरंत जाना और तुरंत आना। यहां मेरे बच्चे को मरते दम तक मारा फिर भी उस मुका बाल भी बांका नहीं हुआ। भूनी मिर्च की तरह तेज बोल रहा था। मैं उसकी बेटी जैसी तो मुझे भी कुछ उल्टा-सीधा बोलने लगा। ऐसा तो कोई भी कुछ भी करेगा और छूट जाएगा। उसकी जबान चल रही थी। अंकुश घरवाली को समझाने लगा।

अरी, फिर होगी उसको सजा। अभी तो वह सिर्फ जमानत पर छूटा है।

ऐसे कैसे छूटा? अब कल ही वह सीना तानकर गांव में घूमेगा? उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि ग्वालन को कैसे समझाए।

अच्छा सुरेश कहां गया है?

बच्चे का सारा बदन ठनक रहा है। तार के खरोंच पड़े हैं पीठ पर तो पूरी पीठ चिल्ले जैसी हो गई है। यही कही बाहर बैठा होगा। ग्वालन उसे बहुत नाराज दिखाई दी। दोनों सुरेश पर जान छिड़कते थे। इकलौता एक होने से बेहद लाडला था। कहने को तीसरी कक्षा में था लेकिन स्कूल जाता ही नहीं था। उसके रोज के झगड़ों टंटों से परेशान थे फिर भी दोनों उसे जान से प्यारा मानते थे।

इस पुलिस केस का कुछ न कुछ तो होगा, उस दिन बुधवाड़े के पांच-सात लोगों को ले जाकर उसका हिसाब चुकता किया होता तो अच्छा होता। अंकुश ने कहा लेकिन ग्वालन को लगा, सांप तो चला गया अब जमीन को पीटने से क्या होगा? और सांप ऐसे थोड़े ही गया, हमने उसे छोड़ा है। सांप को देखते ही उसे कुचल डालते तो ठीक था। अधूरा मारने पर तो अब अपनी ही जान को खतरा... ग्वालन के मन में सारे विचार सांप के ही आने लगे।... सांप को छेड़ने पर अब सुख से कैसे सोया जा सकता है?... वह इसी के बारे में सोचने लगी।

एक दिन ऐन दोपहर में ही दोराहे पर माली पाटील का संदेशा आया। संदेशा पहुंचाने वाला इतना चालाक था कि बिलकुल सही आदमी से उसने कानाफूसी की। ताश का खेल परवान पर पड़ चुका था। खेल को तोड़ा गया। विलास, मोतीराम, महादू जैसे लडके तडाकू से चल पड़े। दोपहर होने से दोराहा सुनसान था। भीड़ नहीं थी। दोपहर होने से गांव की सड़कें भी सुनसान थीं। सड़क पर जहां छांव थी वहां उसके नीचे दो-एक बूढ़े बैठे हुए थे। लड़के मालीपाटील की हवेली पर पहुंचे तो सामने वाला बड़ा दरवाजा बंद था। इतने में पीछे से आकर नौकर ने संदेशा दिया कि तात्याजी गायबाड़े में बैठे हुए हैं, वही पर बुलाया है। लड़के फौरन गायबाड़े में पहुंच गए। तात्या का गायवाड़ा काफी लंबा-चौड़ा। मवेशियों को एक तरफ बांधा जाता है। दूसरी तरफ कडबी की राशि, एक कोने में ईंधन की लकड़ियों का ढेर।... सोसायटी के चुनाव के वक्त लड़के कई बार यहां बैठे थे। मतदाताओं की फेहरिशत लेकर एक-एक नाम पर बहस की थी। यही पर चाय, यहीं पर खाना। मतदान के पहले के दिन यहीं से शराब की बोतलें बांटी गई इसलिए यह बाड़ा नया नहीं था उनके लिए। तात्याजी अपनी हमेशा की जगह पर लकड़ी की मेजपर कंबल बिछाकर बैठे हुए थे। लड़कों ने आ जाने पर उन्होंने अपने आस-पास उनके लिए जगह बना दी। लड़के कुछ संवरकर उनके पास ही बैठ गए।

बात का पता तो तुम्हें चल गया ही होगा। बुधवाड़े के उस अंकिया ने कल हम पर केस दायर की थी। उसे हमने तो निपटा लिया लेकिन अब उसका कुछ तो हिसाब करना पड़ेगा। उन्होंने आरंभ किया।

उसका हिसाब करने के लिए उसके पास है ही क्या? नंगे के पास उघड़ा गया और रातभर ठंड से मर गया, जैसी बात। उसका हम क्या कर सकते हैं तात्याजी? विलास ने पूछा। तात्या होशियार हो गए।

वह आवारा है। उसको क्या कर सकते हैं। खाली-पीली भटकता रहता है उस आनंद के साथ। महादू ने कहा। तात्या चुपचाप सुनते रहे। पहले उन्होंने सबकी बात सुन ली। हमें उसका कुछ नहीं करना है। उसकी घरवाली आंगनबाड़ी में सहायक है। बहुत घूमती-फिरती है मास्टरनी की तरह। कुछ

तो तोहमत रचनी होगी जिससे की उसकी नौकरी चली जाए। सीधे गोड़ाई करने को चली जाए। फिर यह भी कैसे आवारा घूमता रहेगा। उसे भी घरवाली के साथ खेत पर जाना पड़ेगा। कितने दिन बैठकर खायेगा? अभी तो घरवाली के तनखे पर जीता है। क्या करना है देखिए लेकिन यह बिसात बिछानी होगी। माली पाटील ने अपने मनन की सारी बातें खोल दी।

तात्याजी, सरपंच ने विधायक की सिफारिश से उस औरत को काम पर लगाया है। हम उसमें क्या कर सकते हैं? कल हमने कुछ भी किया तो सरपंच ही आएगा संभालने। मोतीराम ने अपनी आशंका जता दी। तात्या के ध्यान में आया कि लड़के हिम्मत हार रहे हैं। उन्हें उत्तेजित करने के लिए तात्या ने कहा, मां की, अरे तुम सब लोग बाघ जैसे और अब हिम्मत क्यों हार रहे हो? हम सब के एक हो जाने पर सोसायटी के चुनाव में हमने उनको पछाड़ दिया था ना?... यह भी कोई मुश्किल काम नहीं है। पहले आप इसे मन में ठान कीजिए। सरपंच डरता है तुम लोगों से। कल हमें और भी कई बातें मिल जुलकर करनी हैं। माली पाटील ने लड़कों पर भरोसा जताया। हर एक के चेहरे के भाव पढ़ने लगे। उन्हें पता था कि यह चार-पांच लड़के ठान लेंगे तो कुछ भी कर सकते हैं। अब भी दौराहे पर ताश का खेल चलता है। कोई उनसे कुछ नहीं कहता। बीट जमादार के साथ इनका मेल-जोल तो हमेशा ही चलता रहता है। गांव में सरपंच की ताकत है जरूर लेकिन वह भी इनसे डरता है। सरे राह पर ये लड़के क्या बोलेंगे कुछ कह नहीं सकते। उन्होंने फिर से कहा, तुम लोग अगर ठान लोगे तो किसी की भी थाली को उलटा सकते हो। हमारे लिए इतना तो भी करो। और कुछ जरूरत पड़ी दरमियान तो हमारे पास हक से जाना।

लड़के उठने वाले ही थे कि चाय आ गई। चलते वक्त विलास ने कहा, तात्याजी, देखते हैं अब क्या करना है। आप इतनी आत्मीयता से कह रहे हैं तो कुछ न कुछ तो करना हो पड़ेगा।

लड़कों के चले जाने पर भी माली पाटील की बेचैनी कम होने का नाम नहीं ले रही थी। लकड़ी की मेज पर कंबल को ठीक कर उन्होंने पैर पसारे। आँखें मूंद ली। फिर भी उस दिन का झगड़ा दिखाई देने लगा। उन्होंने सोचा, केस से तो किसी तरह निपटा लेंगे लेकिन अन्य बातें तो अपने हाथ से छूट जाएंगी। इससे गांव की प्रतिष्ठा पर आंच आ जाती है। एक बार किसी ने शुरूआत की तो बाद में बाकी लोग राह बना देते हैं। कल कोई भी सोचेगा कि माली पाटील पर केस करना तो आसान बात है। फिर सरपंच तो पच्चड़ ठोंक देने के लिए तैयार। बुधवाड़े के लोगों को बताएगा, माली पाटील का बर्ताव ठीक नहीं है, क्या जरूरत थी औरत जात को गाली-गलौज करने की? इससे बुधवाड़े के लोग लेने-देने के खिलाफ हो जाएंगे। ऐसी एक नहीं कई बातों से तात्या की बेचैनी और भी बढ़ गई। लगा कि खोपड़ी में कोई धक्के मार रहा है। पहले गांव के लोग अदब से पेश आते थे लेकिन अब ऐसा नहीं रहा। गांव बदल गया है। अब कोई किसी से ऐसी बातें नहीं करता। बिना काम कोई सीधी बात नहीं करता। अब किसी ने किसी का मान-सम्मान करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। यह गांव के लड़के तो किसी के साथ भी सीधी बात नहीं करते। हमने उन्हें संभाल रखा है इसलिए अपने साथ अच्छा सलूक करते हैं। हम अपने बड़प्पन को ऐसे संभाले हुए हैं जैसे पुराने चीथड़ों को बदन पर सजाया हो। लेकिन ऐसा कुछ वाकया हो जाता है और अपने चीथड़े और भी ज्यादा लटकने लगते हैं। इस सब को फेंक देना भी अपने से नहीं होता... माली पाटील आँखें मूंदकर सोचते रहे। उस दिन का वह छोटा बच्चा नजर के सामने आकर हमें छेड़ने, सताने, तंग करने, फिर

से गालियां देने आ गया है।... फिर ग्वालन और अंकुश अजीब तरह हाथ उठाकर झगड़ा करने आए हैं। अपने को बिलकुल पोतेरा समझकर बर्ताव कर रहे हैं ऐसा महसूस हुआ और फिर जैसे सारा खेल ही खराब हो गया हो। तन-बदन जल उठा। कनपटियां गर्म हो गईं। छटापटाहट हो रही थी कि उठकर बाहर निकल पड़े लेकिन जहां बैठे थे वहीं पर चुलबुलाते हुए कंबल पर लेटे रह गए।

दो-तीन दिन के बाद की बात। ग्वालन सुबह सब कुछ समेटकर आंगननवाड़ी की तरफ निकल पड़ी। स्कूल के एक कमरे में ही आंगनवाड़ी चलती थी। साथ में खिचड़ी पकाने का बड़ा भगोना ले लिया था। बुधबाड़ा पार कर स्कूल के रास्ते आई। कोने पर उसे विलास और मोती रा दिखाई दिए। दोनों ग्वालन से कुछ नहीं बोले लेकिन आपस में ही पूछा, कितने बजे रे?

सवा नौ हो चुके।

आंगनवाड़ी का टैम कितने का है?

सुबह नौ का?

तो फिर वक्त का कुछ अता-पता है या नहीं? कोई किसी को पूछने वाला नहीं है इस गांव में। हर कोई चुपचाप अपना-अपना खाए जा रहा है।

अब इसके बाद आंगनवाड़ी खुलेगी तो कल्याण हो गया समझो। लोग अपने-अपने बाल बच्चों को लेकर आएंगे और आंगनवाड़ी का ताला खुलने का इंतजार करते रहेंगे। चाबियां अपने पास रख लेने का और लोगों को बिठाया रखने का। ऐसा है सारा कार्यक्रम।

दोनों इस तरह आपस में बोलते रहे। ग्वालन रुकी नहीं। आज निकलने में कुछ देर हो गई थी। गलती अपनी ही थी लेकिन बोलने वालों को उतना ही मौका मिल गया। अब इसके आगे जरा होशियार रहना होगा। निमित्त के लिए बेकार ही कारण न हो।... उसने तय किया और जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाने लगी। दोनो आपस में जरूर बोल रहे थे लेकिन इतनी बड़ी आवाज में बोल रहे थे कि ग्वालन को सुनाई पड़े। अपनी ही गलती थी तो क्यों खामखा झगड़ा मोल ले? और कहां-कहां तक परेशान होते रहे? अब अपने आवारे से कुछ कहे तो फिर भड़का उड़ेगा। पहले से ही हमें देर हो चुकी है और माली पाटील से टंटा भी हो चुका है। लोग कहेंगे इस औरत को क्या झगड़े करने के सिवा कोई काम नहीं है? मन ही मन ऐसा सोचकर उसने कुछ नहीं कहा।

घर आने पर अंकुश के कान पर डाला। उसने सोचा, जो होना है सो होगा लेकिन पहले इन लड़कों से जाकर बोलना होगा। उनका क्या वास्ता? वह कौन होते हैं ग्वालन से पूछने वाले? लेकिन उसी ने अंकुश को रोका। यह नौकरी है इसलिए पेट को पेट भर मिल जाता है। नहीं तो बेकार बन-बन भटकना पड़ता। इस तरह रोज ही बखेड़े होते रहे तो उनसे निपटने में ही सब कुछ चला जाएगा। उसने अंकुश को समझाया। उसकी तसल्ली नहीं हो रही थी।

मां के, टुच्चे साले। न इनके बाल न बच्चे और इन्हें फिक्र है आंगनवाड़ी की? औलादी के अब हमें रोटी भी सुख से तोड़ने नहीं देंगे। वह कह गया।

ग्वालन दहशत में आ गई। उसकी जान को परेशानी होने लगी कि अब कभी-कभार ऐसी तकलीफें तो नहीं होती रहेंगी?

लड़कों ने माली पाटील से कह दिया। अब कहीं चूल्हा सुलगाया है। कल ही हमने देर से आने के लिए ग्वालन को ताना मारा। सीधे उससे बात नहीं की लेकिन तीर बराबर निशाने पर लगा।

लड़कों ने कहा, हम उसके खिलाफ निवेदन देंगे लेकिन माली पाटील ने मना कर दिया। इतनी छोटी सी बात के लिए निवेदन देना ठीक नहीं दिखता। अभी हमारा काम इतना ही है कि उस औरत को मानसिक कष्ट देना। रोने की नौबत आनी चाहिए। गांव में पूरी जिंदगी में हमसे किसी ने सिर उठाकर बात नहीं की और यह केस दायर करती है? लोग तो हमें बस घास-फूस समझने लगे। अब वह रोटी को खाये या रोटी उसे खाए।... माली पाटील ने मन ही मन कहा। उन्होंने लड़कों से कहा, अब दूसरा कुछ देखो।

माली पाटील गांव में घूमते-फिरते तो कोई न कोई जानबूझकर बात निकालता, क्यों तात्याजी, वो आपका मामला सुलझ गया क्या? उन्हें गुस्सा आता। लोगों को क्या दूसरे काम नहीं है? एक दिन बड़ी हवेली के बाबूरावजी मिले। कोसले का साफा ठीक-ठाक करते हुए माली पाटील से पूछा, क्यों तात्याजी, सुना है आजकल आप अंटसंट बोलने लगे हैं। आप जैसे आदमी के साथ क्या झगडा-टंटा शोभा देता है? जाने दीजिए न, लेकिन अब अच्छी तरह से निपट लीजिए।

तात्या पहले से ही बाबूराव से खफा थे। यह आदमी कोसले का साफा पहनकर गांव में घूमता-फिरता है। रहता है जैसे कोई महाराज हो लेकिन दिनभर लगाई-बुझाई करते रहता है। बात टालने के लिए तात्या ने कुछ कह दिया लेकिन उससे बाबूराव की तसल्ली नहीं हुई। आप बेकार ही चूड़ियां पहन बैठे। आपको भी उस पर केस करना चाहिए था। आपके ही बाग में आकर आप को ही गालियां देना। बहुत हो गया। बात को नजरअंदाज करेंगे तो सीने पर चढ़ बैठेंगे, तात्याजी!

बाबूराव की बातों से मालीपाटील को नफरत होने लगी। इस आदमी से अपना कुछ भी देखा नहीं जाता। अब ही ऐसे दिखा रहा है जैसे इसे हमारी बहुत फिक्र हो। हर बात में राजनीति देखता है। गांव के मंदिर की आलमारी की चाबी इसकी जेब में। आलमारी में पखावज और मंजीरे रखे हुए होते हैं। गांव वालों ने एकबार किसी दूसरे महाराज का कीर्तन इसको बिना जानकारी दिए आयोजित किया था। इसे गुस्सा आया। जानबूझकर उस दिन दूसरे गांव चला गया। गांव की कीर्तन मंडली शाम हो जाने पर इसे ढूंढने लगी। इसका कहीं पता नहीं। घर के लोग भी कुछ बताने को तैयार नहीं। मंदिर की आलमारी की चाबियां लेकर यह पट्टा गायब हो गया। अब कीर्तन कैसे हो? मंडली परेशान, आखिर दौड़-धूप करके दूसरे गांव से पखावज मंजीरे लाए गए। फिर जाकर कार्यक्रम आरंभ हुआ। पखावज, मंजीरे की आवाज मंदिर में गूंजने लगी तो थोड़ी देर बाद टपक पड़ा। कहा कि कीर्तन के लिए ही दौड़ते भागते आ गया। मेरी वजह से कार्यक्रम न रुके इसलिए आया तो क्या देखता हूं कि यहां तो दूसरे गांव से पखावज, मंजीरे लाए गए हैं और कीर्तन शुरू हो गया है। सब कुछ अपने गांव में होते हुए दूसरों के सामने क्यों हाथ फैलाना। इस तरह की बातें करने को तैयार। माली पाटील को लगातार लगता रहा कि बाबूराव की और अपनी गांठ कुछ ज्यादा ही पक्की है। अपने साथ बर्ताव करते वक्त यह एक कदम बाहर रखकर ही बात करता है। लगता नहीं कि कभी अपने साथ ईमानदारी से बात की हो। वह सरपंच वैसा तो यह ऐसा। इसीलिए हमने गांव के लड़कों को पकड़ रखा है। ये लड़के ही अपने काम आएंगे। माली पाटील ने तय किया कि लड़कों को ढीला नहीं पड़ने देंगे।

एक दिन विलास स्कूल आया। आंगनबाड़ी के कमरे में छोटे बच्चे कतार में बैठे हुए थे; लेकिन रंगोली की बिखरी बिंदियों जैसे आसपास शोर मचाते हुए। दीवार के पास ग्वालन बच्चों के लिए

खिचड़ी पका रही थी। विलास उन बच्चों की कक्षा के सामने से चला गया। स्कूल के पास वाले खेत में जा बैठा। तब तक मोतीराम भी उसे दूँढते हुए पहुँच गया। थोड़ी देर बाद दोनों फिर आंगनवाड़ी के सामने आए। ग्वालन बच्चों को उनके डिब्बों में खिचड़ी भरकर दे रही थी। खिचड़ी लेकर बच्चे फिर खुली जगह में जाकर बैठते थे। विलास के रिश्ते का एक बच्चा था। विलास ने उसका डिब्बा हाथ में लेकर मुआयना किया। काफी देर तक गोंजता रहा। फिर पड़ोस के दूसरे बच्चे का डिब्बा हाथ में लिया। दो-चार बार ऐसी हरकतें की। मोतीराम पास में ही खड़ा था। ग्वालन भी देख रही थी लेकिन वह कुछ बोल नहीं पाई। उन्हें यहां क्यों कर आना चाहिए। उसके सामने यही सवाल था लेकिन पूछे तो कैसे? एक डिब्बे को गोंजते हुए विलास चिल्लाया, आरारा... नन्हों को मार डालना है क्या? ए, कोई भी मत खाओ वह बोलने लगा तो भी बच्चों का खाना जारी ही था। वे कुछ नहीं समझे। मोतीराम विलास के पास गया। अपने डिब्बे को हाथ में लेकर देखा। बाप रे! कीड़े! उसके चिल्लाते ही ग्वालन के पांव के नीचे की जमीन खिसक गई। खिचड़ी पकाने से पहले हम एक बार तो चावल धो लेते हैं। फिर आज यह कैसे हुआ? उसने सोचा, गलती से एकाध कीड़ा चावल में गया होगा शायद। ग्वालन ने पूछा, कहां है? दिखाईये भैया लेकिन विलास ने सुना नहीं। तुम्हें दिखाने से क्या लाभ बाई? हमारे बच्चे पढ़ने आते हैं यहां। तुम्हें क्या? अपने बच्चों को थोड़े ही ना खिलाना है? उसे तो मुसम्मी चाहिए न। विलास ने कहा। ग्वालन के तन-बदन में आग लग गई।

नजर से छूट गया होगा लेकिन आपको टेढा-मेढा बोलने की जरूरत नहीं है। मेरे बच्चे से आपको क्या लेना-देना है। उसने चिढ़कर कहा। विलास तेजी से स्कूल गया। मोतीराम को गांव में भेजकर और दो-तीन लोगों को बुलाने के लिए कहा। स्कूल में जाकर उसने दो-तीन शिक्षकों को वह डिब्बा दिखाया ग्वालन बाई अकेली ही आंगनवाड़ी की सीढ़ी पर दुचिता होकर बैठ गई। अब किसे बुलाए? घरवाले का एक ठिकाना नहीं होता। गया होगा कहीं उस आनंद के साथ। अब क्या करें? उसका चेहरा मुरझा गया। मास्टरजी ने स्कूल में बुलाया। अपने हाथ का डिब्बा उसे दिखा दिया।

बाई, यह देखा क्या?

उसने पास जाकर देखा तो जीरे जैसे- दो-तीन कीड़े। रोज चावल सावधानी से धोने के बावजूद ये कीड़े नजरों से छूट गए। तब तक मोतीराम भी माली पाटील को ले आया। माली पाटील ने कक्षा में कदम रखते ही कहा, देखिए मास्टरजी देख लिया ना, अब आप ही बताइए क्या किया जाए। गांव के नन्हे-मुन्ने क्या अब कीड़े-मकोड़े खाएंगे?

लड़कों और माली पाटील के दबाव में मास्टरजी कुछ बोल नहीं पाए। फिर भी उन्होंने कहा, जाने दीजिए पाटीलजी गलती से रह गए होंगे। बाई ने जान बूझकर थोड़े ही डाले होंगे और चावल डालते हुए दिखाई देते तो क्या बाई ने निकाले नहीं होते? कोई जान बूझकर थोड़े ही करता है।

विलास ताव में आ गया, सच है कि जान बूझकर कोई नहीं करता, लेकिन फिर किसी भी बात की नहीं है न। उन्हें लगता है कि कोई हमारा क्या बिगाड़ सकता है। अब कैसी मुश्किल आन पड़ी। मास्टरजी अब आपके सामने ही पंचनामा कीजिए और सब के दस्तखत लीजिए।

मास्टरजी सोचते थे कि सारा मामला शांति से सुलझ जाए। बाई ने जान बूझकर तो गलती नहीं की है लेकिन नौजवान सुनना नहीं चाहते थे। उन्होंने बाई की तरफ देखा। जवानों की नजरें आते-जाते उसकी तरफ तरेरकर देख रही थी। वह रूआंसी हो गई थी। मास्टरजी को लगा कि अब

कुछ भी हो गया तो यह रो पड़ेगी। पूरे कमरे में सन्नाटे का माहोल छा गया। इतने में माली पाटील ने कहा, मास्टरजी कागज लाइए सामने। बाईने पल्लू मुंह में ठूँसा और सिसकी निकल पड़ी। उसी हालत में ग्वालनबाई कक्षा के बाहर चल पड़ी। बरामदे में एक लोहे खंबे के सहारे खड़ी हो गई।

पाटीलजी, जाने दीजिए। क्यों गरीब के पेट पर पांव रखते हो। आप जैसे बड़े लोगों को दया दिखानी चाहिए। एक छोटी सी बात का इतना शोर क्यों हो?

मास्टरजी दया की बात नहीं है। अभी दया दिखाएंगे तो भी फिर यह औरत और उसका घरवाला हम पर ही गुर्राएंगे। जाने दीजिए। क्या करना है इसे आप हमें मत बताइए। आप बस कागज पर लिख लीजिए और हमारे दस्तखत लीजिए। बात को ज्यादा देर क्यों चलाना। माली पाटील ने कहा। मास्टरजी ने अपने हाथ से सब लिखा। जवानों और माली पाटील के दस्तखत लिए। अपने दस्तखत किए और कागज अपने पास रख लिया। जवान लड़के कागज अपने पास देने के लिए कह रहे थे लेकिन उन्होंने बताया कि कल तुम्हे इस कागज की जेरोक्स दे दूंगा। लड़के और माली पाटील स्कूल से ऐसे बाहर निकल पड़े मानो कोई मुहिम पूरी हो गई हो। निकलते हुए देखा, ग्वालन पल्लू से आँखें पोंछ रही थी। इनके चले जाने पर बाई फिर से मास्टरजी के पास आ गई। मास्टरजी ने समझाया, बाई, फिक्र की कोई बात नहीं है। कोई बड़ा अपराध नहीं हुआ है तुमसे। ऐसे मामलों में कुछ नहीं होता। उन्हें जो करना है करने दो।

ग्वालनबाई बोलते वक्त हकलाने लगी। मास्टरजी, ये लोग बिना वजह हाथ धोकर पीछे पड़े हैं। उस माली पाटील ने मेरे बच्चे को पीटा, बच्चा नींद में भी चिल्लाता है। बाग के तार के खरोंचों से उसकी पूरी कमीज फट गई। पीठ छीलकर लहलुहान हो गई। मैं और घरवाला पूछने गए तो हमें अंटसंट कुछ भी बोलने लगा। उस पर केस किया उसका इस तरह बदला ले रहा है।

ग्वालनबाई की बात से मास्टरजी को सारा खुलासा होने लगा। तुम अब जाओ। काम पूरा करो और घर जाओ उन्होंने कहा। वह फिर आंगनवाड़ी के कमरे के पास आ गई। बच्चे अपनी जगह पर बैठे हुए थे। भगोने के पास खिचड़ी का जूठन पड़ा हुआ था। भगोने की सारी खिचड़ी को एक जगह समेट लिया। फेंक देने को जी नहीं करता था। वक्त हो जाने पर भगोना लेकर घर की ओर चल पड़ी। आंगनवाड़ी के कमरे में रखने पर चोरी जाने का डर था। दूसरा भगोना कहां से लाएंगे? और फिर चोरी की तोहमत अपने पर ही आ गई तो? शाम को देर से अंकुश घर लौटा। आते ही उसने सब कुछ उसे बता दिया। घरवाली की बात सुनकर वह सहम उठा। बात अकेले से दबने वाली नहीं थी। एक दो की बात होती तो झगड़ा मोल ले सकते थे। इतने लोगों को कैसे झेला जा सकता है? बैठा था वहीं पर आँखों के आगे अँधेरा छा गया। बेटा कभी नहीं तो अभी सलेट लेकर बैठा हुआ था। दिन भर बुधवाड़े के बच्चों के साथ खेलता रहता है। घर पर मां-बाप को फिक्रमंद देखकर मायूस बैठा हुआ था। शाम होने पर भी ग्वालन ने रसोई में हाथ नहीं डाला था। स्कूल से लाई गई खिचड़ी खाकर ही तीनों ने हाथ धो लिए। ग्वालन को लगा कि कहीं अड़ोस-पड़ोस में जाकर दिल की बात करे लेकिन उठने को जी नहीं कर रहा था। बुधवाड़े में समाज मंदिर के सामने की बत्ती जल उठी। मैदान की रोशनी में लोग बैठकर बतियाने लगे। अंकुश को घर पर बैठना मुहाल हो रहा था। ग्वालन को बताकर वह उठकर घर के बाहर चल पड़ा। मीठी मार पड़ी हो वैसी दशा हो गई। समाज मंदिर के मैदान में आने पर वह रोशनी से ही डरने लगा। सोचा कि सारे लोग अपनी तरफ ही देख रहे

हैं। बूढे ग्यानु ने उसे आवाज दी।

आज स्कूल में क्या झगड़ा हुआ रे? मां की सारी जिनगानी इसी तरह झगड़ा-टंटा करने में ही गुजारनी है क्या? तुम्हारा और उस माली पाटील का इतना क्या दुश्मन-दावा हो गया कि एक दूसरे के साथ धुर जन्म का झगड़ा हो? अब कहीं तो समझौता होना चाहिए।

ग्यानुदा अपने पास कहां टैम है उससे झगड़ा करने के लिए। उसकी लेन-देन अपने पीछे पड़ी है। परछाई की तरह। गांव के लड़कों के हाथ उसने लुकड़ी थाम दी है, उसे हम क्या करें? अंकुश ने कहा। वहां पर थोड़ी देर अटका रहा। सोचा अब यहां पर रुकना नहीं चाहिए। एक-एक आकर ऐसे ही मिट्टी खोदते रहेंगे। उसकी नजर आनंद को दूँद रही थी। समाज मंदिर की बाजू की गल्ली में वह घुस गया। आनंद के घर के सामने आवाज देने पर वह बाहर आ गया। अंकुश को तसल्ली हुई। अब इसको कुछ तो बताया जा सकेगा। कुछ राय ले सकेंगे। दोनों बाहर आकर चबूतरे पर बैठ गए।

आनंदा, मां की, इस माली पाटील के साथ के झगड़े बुझने का नाम नहीं ले रहे हैं। वह बहुत ही हाथ धो के पीछे पड़ा हुआ है। कहते हुए सारी बातें उसे सुना दी। आनंद ऐसे सुनता रहा जैसे उसे कुछ भी मालूम नहीं।

क्या करें अब? या उसे अब ठीक-ठाक ही करले। फिर जो होगा सो होगा। वो ही हमारी थाली में मिट्टी मिलाने को तुला है, तो हम भी कहा तक खामोश बैठे। अंकुश की बात पर आनंद कुछ देर के लिए चुप रहा। अब एक बार हमने उस पर केस दायर किया है। बार-बार वही झमेले कितनी बार करते रहेंगे। इससे तो अपनी ही हँसी हो जाएगी। अच्छा, मारने-पीटने की बात करनी हो तो हम कैसे उसका मुकाबला कर पाएंगे? किसी को बीच-बचाव के लिए कहकर देखते हैं। आनंद ने उसे उपाय सुझाया। फिर भी अंकुश को नहीं लगा कि इससे बाहर निकल सकेंगे। खोपड़ी में कोई नाली अटक गई हो जैसा हो गया। देखेंगे हम, करेंगे कुछ न कुछ अब तुम कल मिलो। कहते हुए आनंद ने उसे रास्ता दिखाया। अंकुश बूचे तने की तरह बेजान हो गया। घर लौटते हुए कदम रास्ते में ही डगमगाने लगे। समाज मंदिर के सामन वाले मैदान में चार छह लोगों के बीच आने पर भी वह अकेलापन महसूस करने लगा। सरपंच के पास जाए तो पता नहीं हमें धीरज बंधाएगा या नहीं। अपना काम उसने रुपये लेकर ही किया; लेकिन काम हो जाने के बाद पिछले दो-तीन वर्षों में हम उससे कुछ खास मिले भी नहीं। ऐसे ही राह चलते कभी मिले होंगे। अब मिलेंगे तो कहेगा, इतने दिनों में याद नहीं आई और अब ही कैसे आई? पहले भी उसने हमें दो-एक बार टोका था।... अंकुश ने सोचा कि पहले इस समाज मंदिर की रोशनी से हटना चाहिए। लगा कि कही अँधेरे में जाकर छिप जाना चाहिए। कदम अपने आप घर की तरफ खींचने लगे।

देर रात आनंद और सरपंच की मुलाकात हो गई। वह तीन-चार दिन बाहर गांव चले गए थे। उन्हें पता नहीं था कि माली पाटील पर केस दायर होने के बाद क्या हुआ था। आनंद ने उन्हें सब-कुछ बता दिया। माली पाटील अब लड़कों की मदद से ग्वालनबाई को परेशान करने लगे हैं। वह एक दिन आंगनवाड़ी में देर से पहुंची तो लड़कों ने उसे ताने मारे। खिचड़ी में एक-दो छोटे कीड़े निकले तो लड़कों ने और माली पाटील ने मास्टरजी के सामने पंचनाम करने लगाया। सरपंच ने सब कुछ सुन लिया।

वो अंकिया अपने काम भी कहां आता है? छोड़ो। अपनी मौत से मर जाएगा वो। उसकी फिक्र क्यों करें? बहुत कुछ सुन लेने के बाद सरपंच डक्कार देने की तरह बोले।

फिर उसे सीधे माली पाटील से माफी मांगने के लिए बोलकर क्या मामले को रफादफा कर ले? आनंद ने पूछा।

उसे माफी मंगवाने की बात अब क्यों करते हो? आग लगती है तो लगने दो। तुम क्यों बुझाने पर तुले हो? सरपंच ने कहा।

इससे उस औरत की नौकरी चली जाएगी, मालिक यह लोग कदम कदम पर कांटे बिछा रहे हैं।

जाने दो न। हमने उसे रोजगार दिलाया वो अंकिया अब हमें पहचानने को तैयार नहीं और उसके घरवाली की नौकरी जाती है तो क्या हुआ? तुम्हारी घरवाली को वहां लगा देंगे। सरपंच ने कहा और आनंद के सीने में संतोष की एक लहर आकर लौट गई।

हमें मालीपाटील को परेशान करना था, सो हमने किया। अब अंकिया को भटकने दो जहां-जहां भटके। सरपंच के बोलने के बाद आनंद को पूरे बदन पर जैसे मीठे रोमांच खड़े हो गए हो। सरपंच के पास से उठा तो लगा कि आसमान छू लिया हो। लंबे-लंबे डग भरते हुए वह बुधवाड़े पहुंच गया।

ग्वालनबाई किसी बीमारी से उठी हो जैसी सुबह ही निकल पड़ी। अंकुश घर पर ही था। उसे चिंता हुई कि अपने पीछे लगी हुई यह बला और कितने दिनों तक रहने वाली है। कल लिखे गए पंचनामे के कागज का आगे क्या होगा समज में नहीं आ रहा था। खाली भगोना लेकर वह भीतर से टूटी-सी चलने लगी। बेटे को तैयार कर पहले ही स्कूल भेज दिया था। गांव में रोज इस तरह की बातें होने लगी इसलिए उसने घरवाले को गांव में ही रहने के लिए कह दिया था। वह घर पर ही बैठा था।

बुधवाड़े से बाहर निकल ही रही थी कि आनंद से मुलाकात हो गई। उसने सोचा, सीधे आनंद से ही पूछा जाए कि भाई कुछ तो रास्ता निकाल इसमें। वह रुककर बोलने लगी तो आनंद ने कहा, मुझे अंकुश ने सब कुछ बता दिया है। हम निकालेंगे कोई-न-कोई रास्ता लेकिन भाभीजी आप जरा संभलकर ही रहिए अब।

मतलब?

ऐसा कुछ नहीं। इतना ही कि काम करते वक्त जरा सी भी गलती न होने देगा। गांव के लोग अब निशाना साधे ही बैठे हैं।

मैं तो जितनी हो सकती हूं उतनी सावधानी तो बरतती ही हूं। सोचा, कि आंगनबाड़ी का ताला तोड़कर कोई भगोना न चुरा ले इसलिए मैं रोज इसे घर ले जाती हूं। इतनी फिक्र करने के बावजूद अपनी तकदीर में परेशानी।

भगोना लाती हो, लेकिन और क्या होता है आंगनबाड़ी में?

कुछ नहीं अब चावल की एक पोटली है।

तो फिर उसे भी क्यों रखती हैं? कल उसकी भी चोरी हो सकती है और तोहमत आप पर आ सकती है। इससे तो यह ठीक होगा कि भगोने में चावल भी ले आइए। पोटली कहो तो पंद्रह-बीस किलो की तो होगी। इस भगोने में समा जाएगी।

आनंद के कहने से ग्वालनबाई को जैसा सहारा मिल गया। सोचा, इतना अपनेपन से क्या कोई कहता है? आनंद चल पड़ा और ग्वालनबाई आंगनवाड़ी की तरफ निकल पड़ी। आज खिचड़ी पकाने से पहले उसने तीन बार चावल पानी से धोए। चार-चार बार छान लिए। खिचड़ी पकाने के लिए रख दी। काफी देर तक बाहर बैठी रही। कक्षा में मास्टरजी आए हुए दिखाई पड़े। स्कूल के पांच-छह कमरे पार कर वह मास्टरजी के पास पहुंच गई। उनके सामने जाकर सीधे खड़ी रह गई। मास्टरजी ने ऊपर देखा। क्या है? जैसा भाव उनके चेहरे पर था।

कुछ नहीं। कल वाले उस कागज का क्या हुआ? उसने चिंता के स्वर में पूछा।

इतनी जल्दी क्या होगा, लेकिन कल माली पाटील ने मेरे पास आकर उस पंचनामे की कॉपी ले ली। जेरॉक्स कराकर मूल कॉपी मेरे पास रख दी। वह अब तहसील जाकर दे देंगे। फिर अधिकारी पूछताछ कर जो कुछ कार्रवाई करनी है, करेंगे।

मास्टरजी का बताया, सब कुछ तो ग्वालनबाई की समझ में नहीं आया; लेकिन इतना भरोसा हो गया कि आज की आफत कल पर टल गई। वह फिर आंगनवाड़ी के कमरे के पास आ गई। अंदर मास्टरजी बच्चों को कोई गाना सुना रही थी। उसने खिड़की से झांका। थोड़ी देर बाद सब बच्चों में खिचड़ी बांट दी। डालते वक्त हर एक के डिब्बे में बार-बार देखा। फिक्र लगी हुई थी कि परोसते वक्त आज गांव का कोई आदमी तो नहीं आएगा; लेकिन कोई नहीं आया। सबको खिचड़ी परोसने के बाद भगोने को स्कूल के नल पर ले गई, अच्छी तरह से मांज लिया। आंगनवाड़ी के कमरे में आकर चावल की पोटली को भगोने में खाली कर दिया। भगोना बड़ा था इसलिए पूरा नहीं भरा था। आधे के कुछ ऊपर था। टैम हो गया। सब बच्चे अपने-अपने घरों की ओर चल पड़े। कुछ बच्चों के घर के लोग ले जाने के लिए आए हुए थे। बच्चे ऐसे बिखर गए मानो मुरमुरे का थैला खुल गया हो। सारे बच्चे जब नजर से ओझल हो गए तब ग्वालनबाई ने ताला लगाया। भगोना सिर पर उठाया और चल पड़ी। चावल का बोझ कुछ भारी लग रहा था। इसका असर गर्दन पर पड़ रहा था। पल्लू को ठीक-ठाक कर वह चल पड़ी। कदम भारी हो रहे थे। स्कूल का मैदान पार कर वह रास्ते पर आ गई। बड़ी नाली लंबी टांग से लांघकर वह कोने पर आई नहीं तो बड़ा शोरगुल हुआ। सहसा वह सहम गई। पांच-छह लड़के आगे बढ़ गए मानो उसकी राह रोक रहे हैं। उसकी समझ में कुछ नहीं आया कि क्या हो रहा है। भगोने पर दोनो हाथ जोर से कांपने लगे। लगा कि भगोना हाथ से फिसल तो नहीं आएगा। उसने मजबूती से पकड़ रखा। धांधली ऐसी मच गई कि कुछ देर के लिए पता ही नहीं चला कि कौन क्या बोल रहा है। वह खड़ी की खड़ी रह गई। लड़कों की गड़बड़ी देखकर सड़क से आने-जाने वाले लोग भी रुक गए।

ऐ, भगोना पहले नीचे रख दे, मोतीराम ने डांटने के सुर में कहा।

किसलिए? क्या हुआ वह कुद समझी नहीं। वह घबरा गई।

चावल चुराकर घर ले जा रही है क्या? पहले भगोना नीचे रख दे। उसके माथे पर बिजली कड़क पड़ी हो जैसा। ऐसा लगा कि पहाड़ के माथे से लुढ़कते ही सीधे नीचे जा रहे हैं। क्या कैफियत देंगे हम और कौन सुनेगा इतने बड़े शोर में। धूल का बवंडर उठ गया हो जैसे। उसे लगा कि जमीन फट जाए और उसे पेट में समा ले। यहीं के यहीं मौत आ जाए और पत्थर बनकर पड़े। पूरा बदन चुनचुना उठा। उसकी आगे से चीखने को जी करने लगा। देखते ही देखते सड़क की भीड़ बढ़ गई।

आने-जाने वाला हर कोई आदमी रुकने लगा। कोई कुछ, कोई कुछ जो मन में आए बोलने लगा। उसने घबराकर कांपते हुए भगोने को नीचे रखा। रास्ते के सारे औरत मर्द भगोने की तरफ देखने लगे।

कैसी री ये दुनिया। अब किस पर भरोसा रखे?

इनको नौकरियां भी दो और इस तरह अडम्-धडम् लूटने की इजाजत भी दो।

इतने बड़े स्कूल में भगोने में चावल रखने के लिए क्या जगह भी नहीं है?

देखा ना, नीचे मुंडी पाताल दूंदी।

नीचे सिर झुकाकर बैठी ग्वालन को एक औरत ने कह दिया। इतने में दो-तीन समझदार लोगों ने जरा भीड़ को कम करने की कोशिश की। जरा सब्र करके उससे पूछने के लिए कहा।

स्कूल से चावल चोरी हो जाएंगे इसलिए मैं इन्हें घर ले जा रही थी। इसका एक कण भी मेरी गिरस्ती के लिए नहीं चाहिए। इसमें से कुछ खाया तो मेर बंस डूब जाएगा।

ग्वालन जी तोड़कर बोलने लगी। उसे लगा कि अपना कलेजा फाड़कर दिखाए लेकिन भीड़ बढ़ती ही गई और उसकी बात कपूर की नाई हवा होने लगी। बात अंकुश के कानों पर पहुंच गई। वह दौड़ते भागते वहां पहुंच गया। अब यह क्या बला नसीब में आ गई। भीड़ देखकर तो उसका बेहोश हो जाना बाकी था। उसे पूरा भरोसा था कि ग्वालन ऐसा कुछ नहीं कर सकती। आते ही आते उसने घेरा तोड़कर ग्वालन को बाहें पकड़कर उठाया।

देखा न, इसमें अपना क्या गुनाह है? किसने कैसे नसीब में मिट्टी मिला दी? कहते-कहते वह उठ गई। वह उसे भीड़ से बाहर ले आया।

ए, चलो रे लड़को, ले चलो वह भगोना ग्राम पंचायत की तरफ। उनको जाने दो जहां जाना है। मां के, दिनदहाड़े चोरी करने लगे है। विलास की आवाज आई। उसी ने भगोना सिर पर उठाया। चलो रे सब, एक निवेदन करेंगे। भीड़ के सब लोग चलो। एक भी इधर-उधर न जाए। और पुलिस थाने चोरी की एक शिकायत दर्ज करो। सड़क पर का यह खेल अब बस हो गया फिर मोतीराम की आवाज गूंज उठी। कुछ लोग बिखर गए। लेकिन बाकी सब ग्राम पंचायत की तरफ निकल पड़े। आगे आगे भगोना उठाए हुए विलास।

घर आने तक ग्वालनबाई की आँखों से बह रही धारा थमने का नाम नहीं ले रही थी। घर आते ही बिछोना पसरकर वह लेट गई। माथे में जैसे मथानी घूम रही थी। अंकुश तो सफेद फक हो गया था। बुधबाड़े के लोग आते-जाते देख जाते थे। लोगों की नजरों का कांटा चुभने लगा था। छोटे बच्चों को खबर नहीं थी कि क्या हुआ है। गली के छोटे-छोटे बच्चों के साथ सुरेश भी चबूतरे पर बैठा हुआ था। शाम हो जाने पर भी लोग आते रहे। आने वाले हर एक को अंकुश बताता रहा कि उसका कोई गुनाह नहीं है। ये लोग हम पर नाहक तोहमत लगा रहे हैं चाहे जैसी। गला बैठने की नौबत आ गई। गीलापन सूख जाने से मुंह सूखा-सूखा हो गया था। घर पर चूल्हा नहीं जला था। अँधेरा बढ़ने लगा। ग्वालन ने सोचा कि इस अँधेरे में हम हमेशा के लिए डूब जाएंगे तो कितना अच्छा होगा। अँधेरे में कुछ सुकून मिल रहा था कि घरवाले ने लाइट शुरू की। वह उठी। उठकर पेट भर पानी पी लिया। अंकुश उठकर बाहर आ गया। बाहर की हवा लगने से उसे कुछ ठीक लगा। कदम अपने आप आनंद के घर की तरफ चल पड़े। समाज मंदिर के सामने की भीड़ को उसने एक नजर से

देखा। आनंद दिखाई नहीं दिया। वह तुरंत आनंद के घर चला गया। तन में कोई ताकत नहीं बची थी लेकिन उसे अचरज हुआ कि पैरों में बल कहां से आया। उसने आनंद को बाहर बुलाया।

आनंद अब यह तो बहुत ज्यादा हो गया। ऐसे में जिएं तो कैसे जिएं? अब तुम ही एक बार उस माली पाटील से कह दो। हम दोनों औरत-मर्द उनकी माफी मांगेंगे, अंकुश ने पूछा।

समझ में नहीं आ रहा है कि अब ये पासे कैसे पड़ रहे हैं। लगा था कि यह बुझ जाएगा लेकिन फिर से जलने लगा है। अब हमें जरा रुकना पड़ेगा। अभी कुछ करने में कोई मतलब नहीं। मेरी तो समझ में कुछ नहीं आ रहा है। आनंद की बात पर अंकुश तो ठंडा ही पड़ गया। खड़े-खड़े ही उसे लगा कि रहंट झूले में बैठा हुआ है। होश खो बैठने की नौबत आ गई। हिम्मत जुटाकर उसने पूछा,

फिर अब कैसे?

अब जो होता है उसे देखते रहना। हमने तो हार मान ली भैया। आनंद की बात से अंकुश का माथा चकराने लगा। वह फिर ज्यादा देर वहां रुका नहीं। एक दो जगह ठेस खाई। रुकते-ठिठकते ही घर पहुंच पाया। घर के सामने पत्थर था। रोज आते-जाते उससे बचता था लेकिन आज उसी से ठेस खाई। मरने जैसी टीस पहुंची। उसी दशा में चलता रहा। ग्वालन ने सुरेश के लिए चूल्हा जलाया। औरत-मर्द की भूख-प्यास ही गायब हो गई थी।

रात में सुनसान होने के बावजूद आँख नहीं लग रही थी। अब भगोने को लेकर लड़के कहां गए होंगे? क्या इतनी रात गए पुलिस घर आएगी? चोरी का गुनाह दायर हो जाने पर क्या नौकरी चली जाएगी? नौकरी चली जाए तो कोई बात नहीं; लेकिन लोग कहेंगे, सगे संबंधी बोलेंगे, चावल चुराने की वजह से नौकरी चली गई। दोनों सोचते हुए जागते रहे। सुरेश की आँख लग गई थी। अंकुश ने ग्वालन से कहा

क्यों न हम माली पाटील के पास चले जाएं?

अभी? इतनी देर बाद? ग्वालन ने पूछा।

जाकर दोनों सीधे माफी मांग लेंगे। चक्की के पाटों में दरदराने की तरह कितने दिन दम घुंटे रहेंगे? आज यह चोरी की तोहमत लगाई है। पहले क्या तो खिचड़ी में कीड़े हैं। अब हमें सहारा भी तो किसका है? उसे जो कुछ बोलना है बोलने दो। अंकुश ने कहा। ग्वालन ने बड़ी हिम्मत से काम लिया। बाग में सुरेश को पीटा तब पगलाए सांप की तरह चिढ़कर माली पाटील दौड़ा आया। हम तो बस इतना ही कह रहे थे बच्चा नादान है। इतना तो भी आपको समझना चाहिए था।

बाई, अपने नन्हे को बांध पीठ पर और भटकती फिर सारी दुनिया में। यहां क्या तेरे बाप ने सोना गाड़ रखा है? क्या दूसरों के खेतों को लूटने के लिए औलादें पैदा की हैं? माली पाटील की इस तरह की बातें अब भी कानों में गूंजकर कनपटियों को मसलने लगीं। फिर भी उसने पूरे धीरज से काम लेकर आगे की बात सोची। ठीक है, चलिए। उसके मुंह से शब्द निकल पड़े। सुरेश बिछौने पर सोया हुआ था। रात में रास्ते सुनसान हो गए थे। दोनों अँधेरे में चलने लगे तो कुत्ते एक सुर में भोंकने लगे।

माली पाटील की हवेली की पत्थर वाली सीढ़ियों पर दोनों पहुंच गए। अंकुश को लगा कि अपने कदम लड़खड़ा रहे हैं। उसके पीछे-पीछे निचली सीढ़ी पर ग्वालन खड़ी। दरवाजे की सांकल को

धीरे से बजाकर अंकुश ने आवाज दी। भीतर से आवाज आई कौन है? मैं हूँ, तात्याजी अंकुश बड़ी मुश्किल से निकली आवाज में बोला। हवेली का बड़ा दरवाजा खुल गया। सामने माली पाटील को देखकर दोनों का दिल बैठ गया।

क्या है रे भाई? उन्होंने पूछा।

तात्याजी, हाथ जोड़कर माफी मांगता हूँ। हमारी बरबादी क्यों देखिएगा। अंकुश ने कहा।

मालिक, आपको बच्चे की कसम। गलती हो गई इसे भूल जाइए। गुस्से में हो गया होगा हमसे। ग्वालन बोली।

तुम लोग क्या बोल रहे हो, मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा है। माफ करने वाला मैं कौन होता हूँ? और माफी आप लोग किस बात की मांग रहे हैं? माली पाटील सहसा रूखे सुर में बोलने लगे। दोनों ने सोचा कि अब और कितना झुके, कितना गिरकर बोले जिससे कि इस आदमी का दिल पसीजे। कुछ देर तक कोई कुछ भी नहीं बोला। खौफनाक सन्नाटा छा गया। अंकुश को लगा कि माली पाटील की हवेली की रोशनी दरवाजे से बाहर आकर धावा बोल रही है। रोशनी में माली पाटील ने दोनों के चेहरे को जलती हुई नजर से देखा और धडाम् से दरवाजा बंद होने की आवाज आई। ग्वालन को आभास हुआ मानो बिजली की जलती हुई लपट अपने बदन पर गिर गई हो। उसकी मार में आ गई हो जैसी वह कांप उठी। इधर-उधर सहारे के लिए हाथ बढ़ाया लेकिन कुछ भी हाथ नहीं आया। लकवा मार गया हो जैसे वह सहसा नीचे बैठ गई। बंद दरवाजे को छिपकली की तरह चिपका हुआ अंकुश उसे सहारा देने के लिए झुक गया तो उसे लगा कि सारा अँधेरा ही हमें निगलने जा रहा है फिर दोनों की एक-दूसरे को सहारा देने की छटपटाहट सारे अँधेरे को बिलोड़ती रही। ■

रत्नप्रभा जाधव का अखबारी खबर बन जाना

नीरजा

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

नाम : रत्नप्रभा जाधव

व्यवसाय : निवृत्त होने तक नगर निगम में सेविका

जन्मतिथि : कोई सबूत नहीं

पता : कुछ भी लिखिए

रत्नप्रभा जाधव की घड़ी में सवेरे पांच चालीस का अलार्म तो लगा होता है, किंतु वह साढ़े पांच बजे ही बिस्तर से बाहर आ जाती है। उसने जान-बूझकर घड़ी दस मिनट आगे रखी है। यानी दस मिनट देर से और सही समय पर जाग जाने का सुख एक साथ जो मिलता है। सवेरे उठते ही बिस्तर में हाथ जोड़कर वह वंदन करती है तथा तांबे के लोटे में रात ही से रखा लगभग एक लीटर पानी पी जाती है। उसकी श्रद्धा है कि इससे स्वास्थ्य ठीक रहता है और आपदा-विपदा से शर्तिया मुक्ति मिलती है। उसके बाद हमेशा की तरह स्टोव जलाना... आदि। जैसे तो उसके घर में गैस भी है किंतु गैस के चूल्हे पर वह पानी गरम नहीं करती। आम तौर पर नए-तुले और किफायती अंदाज में ही वह हर काम करती है इसीलिए वह ध्यान रखती है कि गैस का सिलिंडर कम-से-कम दो महीने तो चले। रत्नप्रभा सुरक्षा का भी पूरा एहतियात बरतती है। जैसे जरूरत न होने पर वह गैस का नॉब बंद रखती है। जैसे भी रात में सोते वक्त, बाहर जाते वक्त या घर में होने पर भी रसोई का काम होते ही वह नॉब बराबर बंद रखती है। उसका मानना है कि लापरवाही से सावधानी बरतना बेहतर होता है। इसीलिए सिलिंडर के धमाके से किसी के मौत जैसी अखबारी खबरों से वह विचलित नहीं होती।

स्टोव जलाने के बाद उस पर वही पुराना, बेलौस पिचका-बिगड़ा सा बर्तन वह धर देती है। उसमें पानी रात में ही भरा रहता है। सुनियोजित तरीके से काम करना उसे बेहद पसंद है। इससे समय की बचत होती है और सुकून से काम होता है। इसकी सिफारिश भी वह हर किसी से करती है।

विगत कई वर्षों से हर रोज पानी गर्म करने के इस सिलसिले में उसने खलल नहीं पड़ने दी। गर्मियों में बदन से पसीना चू रहा हो, तब भी नहीं। जीवनक्रम में बहुत ज्यादा हेराफेरी उसे पसंद नहीं। नाक की सीध में चलने की आदी है वह इसीलिए पास-पड़ोस में हो रही तब्दीलियों से वह

बेअसर रहती है। यही वजह है कि बरसों से वन-रूम-किचन वाले फ्लैट में रहते हुए रत्नप्रभा के गुसलखाने में गीजर नहीं है। बिजली के उपकरणों से वह बहुत ज्यादा कतराती है। नतीजतन गीजर, प्रेस, मिक्सर, फ्रिज, वॉशिंग मशीन के चंगुल से वह अभी भी बची हुई है। उसे टी. वी. मजबूरन लेना पड़ा क्योंकि ऊबाऊ जिंदगी में रंगीनी लाने का और कोई विकल्प भी तो नहीं।

बिजली के उपकरणों से उसके इस कदर कतराने की कोई वजह है। असमय सिर पर आन पड़ी जिम्मेदारी ही यह वजह है! बहुत छोटी थी वह। पिताजी ने बड़े ही नाजों से हीटर लगवाया था, जो मां-बापू दोनों को एक साथ निगल गया। पानी की बाल्टी में हीटर लगा था। पानी यथावश्यक गर्म हो जाने की पुष्टि करने के उद्देश्य से मां ने पानी में हाथ क्या डाला, बिजली का जोरदार झटका लगने से वह तिलमिलाई। उसे बचाने के लिए बापू दौड़ पड़े और दोनों का कारुणिक अंत हुआ। उनकी चीखें, छटपटाहट और तिलमिलाना वाकया याद आते ही रत्नप्रभा का दिल आज भी दहल उठता है। मासूम रत्नप्रभा का भयाक्रांत चेहरा... उस वक्त के अपने ही अक्स उसे तार-तार कर देते हैं। उसी मासूम चेहरे वाली रत्नप्रभा पर आनन-फानन में छोटे भाई-बहन की जिम्मेदारी भी असमय आन पड़ी। इसी वजह से स्टोव पर पानी गरम करना ही उसे रास आता रहा और आज भी अपने उसी इरादे का निर्वाह वह बराबर कर रही है।

यानी कि सही मायने में उसके दिन की शुरुआत ही स्टोव जलाने तथा पानी गर्म करने से होती है। उसके बाद उसका महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम होता है तंबाकू सेंकना, जिसे मशेरी सेंकना भी कहते हैं। कोलगेट, क्लोजप के जमाने में भी मशेरी से मंजन करना ही रत्नप्रभा को अधिक भाता है। अलस्सुबह तवे पर सेंके जा रहे तंबाकू की महक समूचे परिवेश में तैरने लगते ही रत्नप्रभा तसल्ली से सांस लेती है किंतु कॉलोनी के लोग तंबाकू की कड़वी-तीखी गंध से परेशान होकर खांसने-छींकने लगते हैं। यह समूची प्रक्रिया अब इस कदर नित्य-नेमी हो गई है कि कॉलोनी के लोगों ने घड़ी में अलार्म लगाना ही बंद कर दिया है। हर रोज सवेरे निर्धारित समय पर खांसने-छींकने का यह दौर बिला नागा शुरू हो जाता है। इस प्रकार रत्नप्रभा पर हर रोज लानत-मलामत के फूल बरसते हैं। इस दौर से निपटकर ये लोग इत्मीनान से बिस्तरे में उठ-बैठने तक रत्नप्रभा की मशेरी बनकर तैयार हो जाती है। तंबाकू का महीन चूर्ण दांतों पर मलते हुए रत्नप्रभा आए दिन एक नए आध्यात्मिक शिखर तक पहुंच जाती है। उसके बाद स्टोव बंद कर रत्नप्रभा नित्यकर्म से निपटती है।

गर्म पानी का आधा हिस्सा अपने लिए लेकर बाकी आधा हिस्सा वह मीनाक्षी के लिए रख छोड़ती है। नहाने जाते समय रत्नप्रभा आवाज देकर मीनाक्षी को जगाती है।

मीनाक्षी जाधव रत्नप्रभा की छोटी बहन है। सबसे छोटी वही है। फिलहाल महाविद्यालय में पढ़ती है। वैसे तो बारहवीं के बाद मीनाक्षी नौकरी करना चाहती थी किंतु रत्नप्रभा अपने छुटकों को उच्च शिक्षित देखने की कायल है। उनके माध्यम से वह अपने अधूरे सपनों को साकार करना चाहती है। इसीलिए वह अपने छुटकों को सदा प्रोत्साहित करती रहती है। शिक्षा ही खुशहाल जिंदगी का मूलाधार है यह बुजुर्गों की सीख उसके दिल-ओ-दिमाग पर छाई हुई है। उसकी उत्कट इच्छा है कि मीनाक्षी मामूली सी चपरासी कतई न बने अपने दफ्तर के बड़े बाबू (हेड क्लर्क) अथवा सॅनिटरी इंस्पेक्टर जैसी किसी बड़ी कुर्सी में वह मीनाक्षी को देखना चाहती है। रत्नप्रभा की इस इच्छा से मीनाक्षी को कोई लेना देना नहीं। काली कलूटी, बेतरतीब दंतपंक्ति वाली तथा रंगीन रिबन से चुटिया

बांधनेवाली, भोंडी सी रत्नप्रभा से वह खुद को कई गुना खूबसूरत समझती है। अतः किसी-न-किसी राजकुमार को फांसकर राजा-रानी की तरह जिंदगी बसर करने की आस वह पाले हुए है। ऐसा कोई राजकुमार कॉलेज में ही सामने आ सकता है, इसी उम्मीद से उसने कॉलेज में दाखिला लिया है। अभी तक तो ऐसे किसी शहजादे से उसका वास्ता नहीं पड़ा, किंतु उसे पूरा विश्वास है कि किसी-न-किसी दिन वह उससे टकराएगा, उसके हाथ से किताबें नीचे गिर पड़ेंगी और दोनों मिलकर किताबें समेटने में पहल करेंगे, इसी दौरान यकीनन उनकी आंखें चार हो जाएंगी। इसीलिए वह अपनी किताबें पर्स अथवा प्लास्टिक की थैली में रखने के बजाय हाथ में थामे रहती है। हर रोज इसी नई उम्मीद से कॉलेज जाने वाली मीनाक्षी को रत्नप्रभा की अनचाही टेर के जवाब में बेमन से क्यों न हो, बिस्तर छोड़ना ही पड़ता है... मजबूर होकर।

मीनाक्षी की अंगड़ाइयां पूरी होकर उसके मुस्तैद हो जाने के बाद ही रत्नप्रभा नहाने के लिए जाती है। उसके बाद मीनाक्षी अपने लिए तथा गौतम के लिए लाई क्लोज-अप की ट्यूब का ढक्कन खोलती है। भरपूर झागवाली पेस्ट से ब्रश करने के बाद ही उसे 'फ्रेश' लगता है। और मुंह से बदबू भी नहीं आती। तभी तो कॉलेज में लड़कों से खिलखिलाते हुए बातें करने में कोई संकोच नहीं होता उसे यह तथ्य टी.वी. के विज्ञापनों से उजागर हुआ था, जिसे वह सौ फीसदी सच मानती है।

रत्नप्रभा के बाद मीनाक्षी गुसलखाने में जाती है। तब रत्नप्रभा गैस पर अदहन चढ़ाती है चाय के लिए। रत्नप्रभा को बेड टी की आदत नहीं है, न ही मीनाक्षी को है। नहाने के बाद भगवान का वंदन किए बिना चाय की प्याली को हाथ नहीं लगाना चाहिए। मां की इस सीख की वह अनुगामी है और घर में सभी को उसने ऐसी ही आदत डाली है। फिल्मी हीरो-हीरोइनों की देखादेखी यदाकदा मीनाक्षी बेड टी की जिद तो करती हैं, किंतु रत्नप्रभा कतई उसे इसकी छूट नहीं देती लेकिन गौतम पर भी उतनी ही कड़ाई से वह इस निर्बंध को लागू नहीं कर पाती। इन दिनों गौतम ने बेड टी का सिलसिला शुरू कर दिया था तथापि एकसाथ तीनों की पारिवारिक चाय की आग्रही है रत्नप्रभा। अतः मीनाक्षी के स्नान के बाद रत्नप्रभा जबरदस्ती उसे जगाती है और उसे मजबूरन बिस्तर छोड़ना ही पड़ता है।

रत्नप्रभा से दस साल छोटा, उसका प्रिय लाडला भाई। तीन बार अनुत्तीर्ण होने के बावजूद फिर एक बार टी वाय वी.ए. की परीक्षा देने को उत्सुक गौतम रत्नप्रभा का लाडला भाई होने के साथ-ही-साथ अपनी बहन का एकमात्र विरोधक भी है। वह यथासंभव रत्नप्रभा के सामने जुबान नहीं खोलता बल्कि रत्नप्रभा को शिकायत है कि गौतम के जुबान खोलते ही कहा-सुनी शुरू हो जाती है। रत्नप्रभा को अपने भाई से काफी उम्मीदें हैं, किंतु उसे इसकी कोई चिंता नहीं। पढ़ाई में उसकी रुचि कभी की खत्म हो चुकी है। अब तो मीनाक्षी के जरिए रत्नप्रभा को पता चल चुका है कि अवांछित लोगों की सोहबत में वह रहता है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इन दिनों वह श्याम बेनेगल की 'क्रांति', (गर्म हवा) जैसी सामाजिक सरोकारोंवाली फिल्मों में अधिक दिलचस्पी ले रहा है तथा साम्यवादी किताबों में भी उलझा रहता है। रत्नप्रभा को उससे कई शिकायतें होने के बावजूद वह अपने भाई को नाराज नहीं करना चाहती क्योंकि इस बात का उसे पक्का अहसास है कि वही बुढ़ापे का उसका एकमात्र सहारा है, इसलिए उससे हर हालत में जुड़े रहना ही उसकी अनिवार्यता है।

यानी इस प्रकार तीनों एक साथ बैठकर रत्नप्रभा की बनाई मीठी-सी चाय पीकर मीठे-मीठे अंदाज में ही दिन की कार्रवाई शुरू करते हैं। फिर भी, पता नहीं क्यों, उसका दिन बेहद मनहूसियत में ही बीतता है।

रत्नप्रभा के दफ्तर में ऐसा कोई नया वाकया नहीं होता, जिसका रत्नप्रभा की जिंदगी पर कोई असर पड़ता हो क्योंकि उसके होने में रत्नप्रभा का कोई योगदान नहीं होता। सभी घटनाओं की मूक गवाह भर बनी रहती है वह। इसीलिए पूरा समय वह टेबलें साफ करना, बाबूओं को पानी पिलाना, फाइलें लाना-ले जाना आदि कामों में ही व्यस्त रहती है। इस बीच थोड़ा समय मिलते ही अधीनस्थ श्रेणी की महिला कर्मचारियों से तनिक बतियाती तो है लेकिन केवल अपनी उपस्थिति दर्ज करने की सीमा तक ही वह उनमें शामिल होती है। बेमतलब की उखाड़-पछाड़ तथा नुक्ताचीनी से उसे नफरत है। अपने परिवार यानी गौतम और मीनाक्षी के बारे में भी वह किसी से कुछ कहती नहीं। उसका अपना शौहर बच्चे-कच्चे न होने के कारण महिलाओं की आपसी लफ्फाजी में वह शामिल नहीं हो सकती। यदा-कदा गपशप का दौर खत्म होने के बाद वहां इकट्ठा सभी महिलाएं समेकित स्वर में रत्नप्रभा को 'लकी' घोषित करती हैं। शादी किए बिना भी कोई औरत 'लकी' कैसे हो सकती है? इस सवाल का जवाब वह ढूंढने का प्रयास तो करती है, किंतु सवाल अनुत्तरित ही रह जाता है लेकिन इस उधेड़बुन में समय तो अच्छा कटता है और किसी हद तक बोरियत भी दूर हो जाती है। इसीलिए इस दौर से बराबर गुजरना रत्नप्रभा को रास आता है।

मीनाक्षी को क्लास में बैठने में कोई दिलचस्पी नहीं है। क्लास के बाहर उन्मुक्त रूप से चहक रहे पंछियों-तितलियों में उसकी जान अटकी रहती है। तब वह अनमने भाव से कागज पर यूं ही कुछ गिचपिच लकीरें खींचती रहती हैं। हाथ में हाथ डाले, सटकर खड़े जोड़ों के रेखाचित्र बनाना उसे बहुत पसंद है। चित्र में उन दोनों को अधिक-से-अधिक सटकर खड़े दिखाने का वह पूरा प्रयास करती है। अधिकाधिक सटकर खड़े ऐसे युगल-चित्रों की एक मालिका सी बन जाती है और अंततः वे सभी युगल इतने करीब, इतने करीब आ जाते हैं कि बेंच पर बैठी मीनाक्षी की धमनियों में इतनी तेजी से खून बहने लगता है मानो किसी भी क्षण कोई धमनी फट जाएगी। अपने अकेले होने के अहसास से मीनाक्षी विचलित हो जाती है और एक दिन यूं ही गंवा देने की व्यथित मानसिकता के साथ घर लौटती है। सपनों के राजकुमार को यकीनन प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा उसके मन में बराबर विद्यमान है और इसी उम्मीद से वह नए दिन का स्वागत करते हुए फिर से कॉलेज के लिए चल देती है।

गौतम बेशक अपनी मर्जी का मालिक है। अपनी तरह से वह जीता है। उसने कॉलेज से मुंह फेर लिया है। एड़ी चोटी का जोर लगाकर इस साल परीक्षा उत्तीर्ण करनी है इसी दृढ़ निश्चय से वह अर्थशास्त्र के नोट्स रटने में लगा हुआ है, जबकि उसकी अपनी जिंदगी का अर्थशास्त्र चौपट हो जाने की कगार पर है। बाकी समय वह टी. वी. के सामने बैठा रहता है। नक्सलियों द्वारा की गई गोलीबारी की टी. वी. खबरें देखते हुए उसे लगता है कि वह खुद उन्हीं नक्सलियों में से एक है। उनसे मिलने, उनके साथ काम करने की तीव्र इच्छा उसके मन में पैदा होती है। बीच-बीच में, अपने दोस्त द्वारा दिए गए नक्सलवाद संबंधी पुस्तक के पन्ने भी वह उलटता-पुलटता है। लेनिन से ज्यादा स्टालिन उसे अधिक प्रभावित करता है। वैसे तो हिटलर-मुसोलिनी भी उसे आत्मीय प्रतीत होते हैं बल्कि उसे

तीव्रता से महसूस होता है कि अर्थशास्त्र के बजाय इतिहास का अध्ययन वह करता तो ज्यादा बेहतर होता। उसे और भी बहुत कुछ महसूस होता है। इस हबड़-दबड़ में उसे अभी तक यही नहीं पता चल सका कि हकीकत में उसे क्या चाहिए। गंतव्य निर्धारण की इसी जोड़-तोड़ के क्रम में वह गली के नुक्कड़ पर बैठे लौंडों के ठिठ्ये में शामिल होकर वहां से गुजरनेवाली लड़कियों को घूरते हुए समय बिताता है।

कुल मिलाकर ऊबाऊ दिन बिताने के बाद रोजाना वे तीनों घर लौटते हैं। रत्नप्रभा सब्जी की थैली लेकर जब घर पहुंचती है तो मीनाक्षी खिड़की के सामने खड़ी मिलती है। सामने की दुकान पर सौदा लेने आए हर लड़के पर उसकी निगाहें तनी होती हैं। मीनाक्षी द्वारा बनाई चाय पीने से पहले रत्नप्रभा अच्छी तरह से अपना मुंह खंगाल लेती है और अपनी बेतरतीब दंतपंक्ति के बरक्स नए लक्स की टिकिया के प्रयोग से त्वचा की श्यामलता में प्रत्याशित निखार आने की संभावनाओं का जायजा लेते हुए शीशे के सामने कुछ समय बिताती है किंतु शीशा तो नाक-भौंह सिकोड़कर उसकी ओर से मुंह फेर लेता है मानो। फिर भी, निराश हुए बिना वह चेहरे पर हल्के से पाउडर पोत लेती है। अब उसके बदन में तनिक सिहरन सी होती है। इसी खिले, मदमाते माहौल में वह चाय पी लेती है। इस तरह, दिन भर मनहूसियत झेलने के बाद अपनी शाम और रातें खुशगवार बनाने का पूरा प्रयास वह करती है।

चॉल में जो दडबा था। उसे छोड़कर इस नई जगह में आए भी एक अर्सा हो चुका है। रत्नप्रभा ने यहां के सभी निवासी परिवारों से अपना परिचय करवा लिया है। लोगों से घिरे रहना उसे बहुत पसंद है। और अब उसकी यह आदत सी बन गई है। खासकर अपनी बिल्डिंग के सभी सफेदपोश, सुसंस्कृत परिवारों में जाने-आने का सिलसिला बराबर जारी रहना चाहिए। इस मामले में वह पूरी सावधानी बरतती है क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास है कि ऊंचे तबके के लोगों के संपर्क में रहने से अपने व्यक्तित्व में निखार आता है तथा जीवन स्तर में भी सुधार आता है। इसीलिए घर लौटने के बाद शाम के समय और छुट्टी के दिन पूरा समय वह दरवाजा खुला ही रहने देती है। इससे शुद्ध हवा भी घर में आती है और पड़ोसी धर्म का अनुपालन भी हो जाता है। वैसे तो यहां सभी लोगों से उसके अच्छे संबंध हैं। यहां के सभी परिवारों में उसकी उन्मुक्त आवाजाही जारी रहती है और वह चाहती है कि वो लोग भी उसके घर उतनी ही सहजता तथा अनौपचारिक रूप से आते-जाते रहें। साथ ही यह भी वह अच्छी तरह से जानती है कि हम जैसा सोचते हैं हमेशा वैसा होगा ही इसकी कोई गारंटी नहीं होती।

इस इमारत के निवासियों में से कुलकर्णी परिवार को वह सर्वाधिक पसंद करती है इस परिवार से उसके आत्मीय संबंध हैं और इस बात पर वह इठलाती भी है। स्वयं कुलकर्णीजी, उनकी पत्नी, बेटा-बहू और नन्हा-मुन्ना पोता...यानी खुशहाल परिवार है। उनकी सुखी गृहस्थी देखकर वह मन-ही-मन कहती है। वाह! क्या बात है! परिवार हो तो ऐसा। अपने हिस्से की जिंदगी भले ही वैसी न हो, किंतु उनकी खुशहाली देखकर वह खुद भी सराबोर हो जाती है। ऐसे परिवारों से पाला पड़ने के बाद उसकी अपनी मनहूस, ऊबाऊ, काईदार, संकरी सी जिंदगी का नूर ही धीरे-धीरे बदलने लगता है और यही वह चाहती भी थी। वह हर रोज बिला नागा, दिन में एक बार उनके घर में अवश्य हो आती है। शुरू-शुरू में वह सोच में पड़ जाया करती थी कि कुलकर्णी परिवार की खुशगवार जिंदगी

का रहस्य आखिर क्या हो सकता है? लेकिन अपने इस सवाल का जवाब अब उसे मिल गया है। यानी कुलकर्णी काका-काकी ने ही यह रहस्य रत्नप्रभा के सामने उजागर कर दिया है। उन्होंने बताया कि बापू की वजह से ही उनके परिवार का प्रत्येक सदस्य हमेशा प्रसन्न और खिलखिलाता दिखाई देता है। बापू को लेकर कुलकर्णी परिवार के दिल में क्या-क्या धारणाएं नहीं हैं? इसे वे शब्दों में भले ही बयान न कर पाते हों, किन्तु मन के भाव उनके चेहरे से घृत-पंचामृत की तरह अनायास झरते दिखाई देते हैं। इन दिनों अत्यधिक व्यस्तता के कारण रोजाना न सही, पर सप्ताह में एक बार तो वे बापू के दर्शन करने अवश्य जाते हैं। भविष्य में उन्हीं के आश्रमवासी होने का उनका इरादा है। जब वे बापू का प्रवचन सुनने गए होते हैं, उस दिन रत्नप्रभा खुद को बहुत ही तनहा महसूस करती है। जब वे सदा के लिए बिछुड़ जाएंगे, तो भला क्या हाल होगा उसका?

बापू की याद आते ही कुलकर्णी परिवार के सदस्य उनकी तस्वीर के सामने नतशिर खड़े हो जाते हैं तथा रोजाना उनकी आरती भी उतारते हैं। परिवार के सदस्य दावे के साथ कहते हैं कि ऐसा करने से उन्हें बेहद संतोष होता है तथा सुकून भी मिलता है। नींद भी अच्छी आती है। इसके अलावा एसिडिटी, अपच, रक्तचाप, हृदय विकार जैसी प्राकृतिक बीमारियों से भी मुक्ति मिलती है। इसके बावजूद यदि कोई बीमारी उनके पास भटकने लगे तो कुलकर्णी बापू द्वारा निर्मित भभूत के पहाड़ में से चुटकी भर भस्म हथेली पर रखकर फुंफकारते हैं। उस भस्म की ताकत ही ऐसी है कि कोई भी बीमारी उलटे पांव भाग खड़ी होती है और समूचे बदन में नई शक्ति संचरित होती है। बापू की महिमा अपरंपार है। इस प्रकार परिवार के सदस्यों के चेहरों की सदाबहार प्रसन्नता फिर से लौट आती है... और खुशियां भी।

उनकी सदाबहार, खुशहाल जिंदगी के अक्स देखकर रत्नप्रभा अभिभूत हो जाती है बल्कि अपनी प्रत्येक सफलता, यशस्विता, कार्य-कुशलता और संपन्नता का सारा श्रेय जब वे बापू को देते हैं तो रत्नप्रभा निहाल हो जाती है। उनकी यह परात्म वृत्ति उसे खूब भाती है। कोई भी इनसान हरदम 'यह सब तुम्हारा ही करिश्मा है' कहता हो तो उसकी महत्ता वादातीत होती है इस हकीकत से वह भली भांति परिचित है। इसीलिए रत्नप्रभा कुलकर्णी परिवार के प्रति बहुत ज्यादा सहृदय है। जब भी वह उनके परिवार के किसी भी सदस्य के मुंह से 'यह तो उन्हीं की असीम कृपा का फल है' जैसा कोई वाक्य सुनती है, वह उसके सामने श्रद्धावनत हो जाती है। उसे ऐसा सुनना अच्छा लगता है। अपनी इस सराबोर मानसिकता के दौर में उनकी तारीफ के पुल बांधने में नहीं अघाती वह और कई तरह के सवाल भी उनसे पूछती है। जैसे- आपसी तनातनी के बावजूद आप कितने प्रसन्न रहते हैं। आपके बेटे को प्रमोशन मिला? चलो, अच्छा हुआ। आपकी बहू नेक लड़की है। आपको मां-बाप की तरह पूजती है। पोते को भी अच्छे अंक मिले। बहूरानी का पैर भारी है लगता है? हाय राम, एबॉर्शन कराने की वजह?... आदि आदि।

रत्नप्रभा को कुलकर्णी खूब भाते हैं, अतः बापू भी अच्छे लगते हैं उसे राम-लक्ष्मण-जानकी की तरह आधुनिक रामायण के बापू की तस्वीर भी कुलकर्णी के घर की दीवाल में टंगी है। कमी है तो रामभक्त हनुमान की। रत्नप्रभा को यह न्यूनता काफी अखरती है। तब उसे तीव्रता से महसूस होता है कि कुलकर्णी तो बापू के अन्यतम भक्त हैं। उन्हें हनुमानजी की भूमिका बेशक निभानी चाहिए। किंतु इस मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा है कि कुलकर्णी ब्रह्मचारी नहीं हैं। तो क्या हुआ, गौतम जो है!

वह ब्रह्मचारी है। हनुमान के रूप में खूब जचेगा वह... उन्हीं की तरह बलवान तथा परिपुष्ट! वह गौतम से जिक्र करती है तो वह उखड़ जाता है। कहता है कि- मैं बापू-बापू को नहीं मानता। मेरे आराध्य तो फुले, आंबेडकर, बुद्ध एवं मार्क्स हैं। खैर! रत्नप्रभा इसी में खुश है कि कोई तो उसका आराध्य है तथापि, उसकी दिली इच्छा है कि उस पंक्ति में गौतम बापू को भी बिठाए तो अच्छा होगा।

रत्नप्रभा अपनी घिसी-पिटी, सर्वहारा जिंदगी से ऊब चुकी है इसीलिए अब वह खुशियां बटोरना चाहती है। मशेरी से मंजन करने से लेकर रसोई बनाने तक की हर कृति से वह आनंद पाना चाहती है बल्कि उसने अपने मन को इस बात की चेतावनी भी दे रखी है। रात के सपनों से भी वह आनंद निचोड़ने का पूरा प्रयास करती है। अब तक तो ऐसा लगता नहीं कि अपने प्रयासों में वह सफल हो पाई है। इसके बावजूद, सपनों में वह इस दिशा में हमेशा कूद-फांद करती रहती है। वह किसी मुकाम तक पहुंचना चाहती है, लेकिन नहीं पहुंच पाती क्योंकि उस मुकाम का अता-पता ही उसे नहीं मालूम। वह तो सिर्फ दर-दर की खाक छानना जानती है लेकिन उसकी इस कारगुजारी के दौरान आसपास के सभी लोग उसे चहकते-महकते दिखाई देते हैं। वह भी उस खुशगवार हुजूम का हिस्सा बनना चाहती है। अपनी खुशियों को वह उनके साथ बांट लेना चाहती है किंतु निरंतर दौड़ते रहने से मिल-बैठकर खुशियां बांटने का मौका ही नहीं मिल पाता उसे अतः मजबूरन दूर से ही महसूस करना पड़ता है, जैसे चलती गाड़ी की खिड़की में से हम बाहर की खूबसूरत प्रकृति का आनंद उठाते हैं।

यदा-कदा सपने में वह खुद को कई पुरुषों से घिरी पाती है लेकिन उनके चेहरे उसे दिखाई नहीं देते। उसके बहन को छूनेवाली उनकी उंगलियां भी उसे दिखाई नहीं देती; न ही उसकी श्यामल विवस्त्र काया को घूरती आंखें। आभासी पुरुषों की पुलक भरी छुअन से वह रोमांचित होती रहती है। वह उनके चेहरे ढूँढना चाहती है। उनकी आंखें, उनके हाथ, उंगलियां, उनका बदन... और उनकी पुरकशिश अदाएं भी। पुतलियां तानकर वह उनकी छवि पाने का प्रयास करती है। सपने के यथार्थ तक पहुंचने की उसकी यह कशमकश उसे थका देती है। यदा-कदा एकाध चेहरा धुंधला सा नजर आने लगे तो उसे कुलकर्णी का खुसुर-पुसुर कर रहा बेटा वहां दिखाई देता है। कभी तो उसके दफ्तर का बड़ा-बाबू डांट-फटकार के साथ उसकी खूब मरम्मत करते उसे दिखाई देता है। यदा-कदा कुलकर्णी के घर की दीवाल पर सजी आधुनिक रामायण की तस्वीर में से वह चेहरा अखंड रामकथा सुनाते दिखाई देता है और कभी-कभार कर्ण जन्म से लेकर द्रौपदी के चीर-हरण तक अखंड महाभारत तक के स्वर उसकी कानों में गूंज रहे होते हैं। इस पूरी आपाधापी से वह हांफने लग जाती है, किंतु उसकी तेज रफ्तार कदमताल बदस्तूर जारी रहती है। सवेरे उठते ही उसे बड़े जोरों की पेशाब लगती है तिस पर बिना वजह उसे अपराध-बोध होने लगता है। ऐसा होना नहीं चाहिए। इस तरह के सपने देखना ही गलत है... कहकर वह अपने दिल को कोसती है और उसके बाद महीन, कपड़छन मशेरी से मंजन करने लगती है, रगड़-रगड़ कर... पूरी तसल्ली हो जाने तक।

हाल के दिनों में रत्नप्रभा के मुंह से बदबू सी आने लगी है। उसे लगता है, शायद इसी वजह से हीन अभिरुचि वाले सपने उसका पीछा करने लगे हैं लेकिन रात में सोने से पहले तंबाकू-मशेरी से मंजन करना वह हरगिज नहीं भूलती। लगभग घंटे भर का उसका यह कार्यक्रम बराबर चलता है। फिर भी सपनों का सिलसिला टूटने का नाम नहीं लेता। अतः अब तंबाकू के बजाय कोलगेट

से ब्रश करने का निर्णय उसने कर लिया है। महज निर्णय करना ही तो काफी नहीं होता। आदतें जाती नहीं और सपने पीछा नहीं छोड़ते।

हो सकता है, बापू इस समस्या का कोई उपाय बताएंगे, इस उम्मीद से कुलकर्णी की बहू को वह पूरा वाक्या सुनाती है; ताकि बात बापू तक पहुंच जाए। किंतु मजे की बात यह है कि बहू के पास ही इसका कारगर नुस्खा है। उसने फौरन सलाह दी, 'वक्त निकल गया है। शादी कर लो जल्दी से।' सुनकर रत्नप्रभा हकबका जाती है। कुलकर्णी परिवार का एक सदस्य बापू की आज्ञा के बिना आनन-फानन में बेबाक सलाह देता है। ग्रेट! कुलकर्णी की बहूरानी का कद उसे बापू से भी अधिक ऊंचा प्रतीत होने लगा। अब वह अपनी सभी समस्याओं का दुखड़ा बहूरानी के सामने ही रोती है। रत्नप्रभा ने महसूस भी किया कि इन दिनों बहूरानी उसे टालने लगी है लेकिन रत्नप्रभा गहरी सूझ-बूझ वाली औरत है। वह जानती है कि बड़े घरों के दुख-दर्द सामान्य जनों से अलग हुआ करते हैं इसीलिए मौका देखकर ही अब वह बहूरानी के दर्शन करती है।

कुलकर्णी परिवार यदा-कदा बापू के बिना ही तफरीह करने निकल पड़ता है। तब रत्नप्रभा खुद को बहुत तनहा महसूस करती है लेकिन इसका उपाय भी उसके पास है। ऐसी स्थिति में वह बिल्डिंग के अन्य सह निवासी सावंत, म्हात्रे, शहा, पटेल आदि के दरवाजे खटखटाती है। इन सभी घरों में बाबा, मां, बापू, दादा, नाना इत्यादि के नामों से आरती सत्र चल रहा होता है, तो रत्नप्रभा को तनिक राहत सी मिलती है। आरती के बाद देसी घी में बने हलुए का प्रसाद बांटा जाता है, जो बड़े चाव से खाती है रत्नप्रभा। उस रात उसके सपने में आने वाले बे-चेहरों वाले मर्दों के बदन से देसी घी की खुशबू आने लगती है। उनकी आँखें, उंगलियां भले ही न दिखाई देती हों किंतु पांवों में पहने जूते उसे बराबर इशारा कर रहे होते हैं। सपनों के बदलते अंदाज भी रत्नप्रभा को हैरत में डालते हैं। खासकर इन पुरुषों चेहरा न हो, तो भी उनकी आवाज, गंध-तिलक और भेस भी बदलता है। यह तनिक अटपटा तो लगता है किंतु यह बदलाव रत्नप्रभा को खूब भाता है। एक ही मर्द के साथ पूरी जिंदगी बिताने वाली औरतों के बजाय मेरी हरफनमौला जिंदगी कितनी ही बेहतर है। विशेषतया सपने के इस यथार्थ से बाकी लोगों को अवगत कराने के लिए उसका जी मचलता तो है, पर वह किसी को कुछ बताती नहीं। एक इत्ता सा रहस्य बड़ी हिफाजत से अपने दिल के एक कोने में संजोकर रख देती है और विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि बे-चेहरे के ये लोग रत्नप्रभा से कुछ उम्मीद भी तो नहीं रखते-इससे उसे काफी सुकून मिलता है। खाना बनाना, उसे डिब्बों में भरना, दिन-रात उनकी आज्ञा का मुस्तैदी से पालन करना, शाम को उसके घर लौटते ही हँसते-मुस्कुराते उसका स्वागत करना, उसे चाय-नमकीन पेश करना, टी. वी. पर अच्छी सी कोई फिल्म दिखाई जा रही हो तो भी उसके लिए रसोई में अच्छी सी सब्जी बनाने में पहल करना तथा दिन भर की उसकी थकान का लिहाज किए बिना रात में उसे और ज्यादा थका देना... कोई भी तो झंझट नहीं। एक ना दो, कितनी ही शिकायतें गिनाती हैं उसकी सहेलियां लेकिन रत्नप्रभा के हिस्से में ऐसी कोई मुसीबत नहीं थी बल्कि उसकी इच्छा हो, तो ही सपने में भी कोई मर्द उसके करीब आने की जरूरत कर सकता था। न कोई डांट-डपट, न तानाशाही ये स्थितियां रत्नप्रभा को अजीब सी प्रतीत होती थी। सपने में भी मर्द उसकी दर पे आता था, उसे कहीं जाने की जरूरत नहीं पड़ती थी। पिछलग्गू बनकर सपने में किसी मर्द का खिंचे चले आना किसी अजूबे से कम नहीं था इसीलिए हाल के

दिनों में रत्नप्रभा को सपनों का यह खेल खूब रास आने लगा था। बीच के समय में तो उसने कोलगेट को अपने पास फटकने तक नहीं दिया। इस पिछलग्गू मर्द को गौतम से भी अधिक तेजी से दौड़ते देखकर वह सकपका गई। हृद से गुजरने की यह बात रत्नप्रभा को नागवार गुजरी। अतः कोलगेट को फिर से आजमाने का विचार उसके दिमाग में आया किंतु ऐसा अवसर दोबारा आया ही नहीं।

अंबेडकर की प्रतिमा को अपवित्र करने की वारदात को लेकर हुए दंगे में गौतम की सक्रिय भूमिका को देखते हुए उसे हिरासत में ले लिया गया। यह खबर रत्नप्रभा के लिए किसी सदमे से कम नहीं थी अतः उसके सपनों का सिलसिला एक अर्से तक टूट-सा गया और हकीकत को झेलने में ही वह रीतती रही। अंततः कुलकर्णी की सलाह पर रत्नप्रभा ने पहली बार बापू के दरबार में कदम रखा। शर्ट पैंट जैसे बहु प्रचलित लिबास में सामान्य कद-काठीवाले मुच्छड़ बापू रत्नप्रभा के दिल पर छा गए लेकिन उस वक्त उनकी ओर निगहबान होने का समय नहीं था। उसके पास क्योंकि गौतम की हिरासत का मामला उसके लिए ज्यादा महत्वपूर्ण था। बापू ने नुस्खा बताया- दिन में तीन बार उनकी आरती उतारी जाए तथा पोथी-पारायण अलग, वह भी जल ग्रहण किए बिना, प्रिस्क्रिप्शन लेकर रत्नप्रभा घर आई। इस बीच गौतम घर आ गया था। कुलकर्णी ने टिप्पणी की। देखा, बापू के केवल दर्शन मात्र से समस्या हल हो जाती है। सुनकर रत्नप्रभा गदगद हो गई! बापू की शरण में जाओ तो बेड़ा पार! अपनी समस्याएं खुद ही हल करने में छक्के छूट जाते हैं। यह जिम्मा बापू को सौंप दो और निश्चित हो जाओ गौतम ने कहा, मुझे भाई ने रिहा करवाया, उसे मुझ जैसे अँकितव युवकों की आवश्यकता है और मैं उनकी सेवा में हाजिर होने जा रहा हूँ। रत्नप्रभा की इच्छा थी कि बी.ए. पूरा करने के बाद यदि वह भाई के ग्रुप में शामिल होता तो अच्छा हो जाता लेकिन गौतम ने उसे समझाया कि भाई से वित्तीय सहायता की कोई गुंजाइश न होने से भाई के साथ रहकर ही पढ़ाई पूरी करनी होगी इसीलिए गौतम को वहाँ भेजने के लिए रत्नप्रभा राजी हुई। हींग लगे न फिटकरी... गाहे...बगाहे गौतम की गाड़ी ठिकाने लग जाने से उसने भाई का और बापू का भी लाख-लाख शुक्रिया अदा किया।

उम्र में अपने से छोटे, कमसिन लड़कों को कॉलेज में देखने के बाद जी उचट जाने के कारण मीनाक्षी ने पढ़ाई छोड़ दी। अब वह खिड़की के सामने खड़े होकर नाके पर मटरगश्ती कर रहे युवकों को घूरती रहती है। उस टोली में गौतम के न होने से निःसंकोच टकटकी बांधने में कोई व्यवधान भी नहीं था। अतः जी में आते ही खिड़की खोलकर आँखें गड़ाना आसान हो गया था। बाकी समय में यथावकाश प्राइवेट ट्यूशन के जरिए थोड़ी बहुत कमाई भी कर लेती है-मौका लगे तो वह शादी भी कर लेना चाहती है लेकिन इस गति से कितना रुपया इकट्ठा हो सकेगा और शादी भला कब हो जाएगी! इसी चिंता से वह बेचैन भी हो जाती है। उसे मन-ही-मन लगता है कि इस दिशा में रत्नप्रभा तनिक सोचे और कुछ इधर-उधर करे तो अच्छा होगा लेकिन रत्नप्रभा को न उसकी जोड़-तोड़ में कोई रुचि है न अपनी शादी के बारे में कोई दिलचस्पी। अब अपनी उम्र ढलने लगी है, डाइविटीज की भी परेशानी है... सो मेरी देखभाल मीनाक्षी करे तो बेहतर होगा ऐसा रत्नप्रभा को लगता है। सालों साल मैंने उसे पाला पोसा। अब वह मेरा ध्यान रखे, खाना-वाना बनाकर खिलाए... आदि बातें वह मीनाक्षी को सुनाती है बल्कि रत्नप्रभा चाहती है कि उसका आर्थिक बोझ भी मीनाक्षी हल्का करे। मीनाक्षी की दिशा एक बार तय हो जाए तो वी.आर.एस. लेने का उसका इरादा है। बहरहाल हकीकत

यह है कि दोनों के सपने पूरे न हो पाने के कारण भीतर-ही-भीतर दोनों घुटती रहती हैं अतः पुरजोर कोशिशों के बावजूद वे दोनों प्रसन्न चित्त नहीं रह पाती। अब तो स्थिति यह है कि खाली समय में दोनों एक-दूसरे को कोसती रहती हैं और यदा-कदा गाली-गलौज पर भी उतर आती हैं।

लेकिन दूसरे ही क्षण रत्नप्रभा को चिंता होने लगती है कि मीनाक्षी और गौतम दोनों एक साथ दूर चले जाते हैं तो उसकी देखभाल कौन करेगा? सपनों में आने वाले बेचेहरों के मर्दों में से कई मर्द आसपास मंडराते रहने के बावजूद वक्त-जरूरत झांककर देखते भी नहीं। यह बात उसे बेहद अखरती है और उसका खून खौलने लग जाता है। ऐसी स्थिति में दरवाजे में बैठकर वह मीनाक्षी, गौतम और सभी मर्दों को तबीयत से कोसती है। अपना हालचाल पूछने के लिए किसी को भी आगे न आते देखकर अब उसका ध्यान बाहर खेल रहे बच्चों पर जाता है। बच्चों से नजदीकी बढ़ाने की कोशिश में अब वह लगी रहती है। उन्हें गोदी में उठाकर चूमने को उसका दिल करता है। बच्चों के बाप के होंठों से होंठ भिड़ाने को भी जी मचलता है उसका लेकिन बच्चे उसके करीब आने से कतराते हैं... और उनके बाप भी। उससे कन्नी काटनेवाले बच्चों को अब वह जानबूझकर डराने पर आमादा हो जाती है। उसकी बेतरतीब, पीली-पीली, कथई दंत पंक्ति बच्चों को डराने में सहायक सिद्ध होती है इसका उसे गुरुर भी है अन्यथा मुझ जैसी मच्छर छाप औरत से भला कोई क्यों डरने लगे? अपने दांतों के इस करिश्मे पर उसे नाज है। मीनाक्षी पर भी वह इसी फार्मूले को आजमाना चाहती है, किंतु मीनाक्षी उसे घास नहीं डालती उलटा उससे खीझती है और गौतम की ही तरह घर से दूर कहीं चले जाने की धमकी भी देती है। ऐसे में खुद रत्नप्रभा ही डर सी जाती है।

रत्नप्रभा स्वस्थ एवं प्रसन्न-चित्त रहना चाहती है पर मीनाक्षी उसे वैसा नहीं रहने देती। कुलकर्णी परिवार भी अब उसे घास नहीं डालता। बापू की कृपा में धनपति बने उनके बेटा-बहू दोनों अब एक बड़े से, नए मकान की तलाश में हैं। उनके स्थानांतरित हो जाने पर मेरा साया चला जाएगा; फिर मैं क्या करूंगी? कहाँ जाऊंगी? इस विचार से वह परेशान हो जाती है। बापू की शरण में जाने का उसका इरादा तो है किंतु अभी पक्का निर्णय नहीं हो पाया है। अब तो दफ्तर में भी वह अनमनी सी रहने लगी है। उसे नए कर्मचारियों से शिकायत है कि वे उसे बहुत सताते हैं। वह बता नहीं सकती कि वे किस तरह उसे सताते हैं। इसी वजह से नव नियुक्त, नटखट लड़कियों के खिलाफ कोई कार्यवाही भी नहीं की जा सकती। कुल मिलाकर उसकी मानसिक घुटन दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है।

दफ्तर में नटखट लड़कियाँ, घर में मीनाक्षी और रक्त-शुगर की मात्रा बढ़ोतरी इन तीनों मोर्चों पर लड़ते-लड़ते रत्नप्रभा परेशान हो गई है। शरीर में गर्मी बढ़ जाने से बदन पर छाले आने लगे हैं और डाइबिटीज की वजह से उनका और भी बुरा हाल बनने लगता है। परिणामस्वरूप रत्नप्रभा अब और ज्यादा बदसूरत दिखने लगी है।

मीनाक्षी यथासंभव रत्नप्रभा का पूरा ध्यान रखती है तथापि, रत्नप्रभा खुद को बेहद तनहा महसूस करने लगी है। अतः खुशियाँ अब उसकी जिंदगी से हवा होती नजर आ रही है। शादी न करके भी औरत चैन-सुकून से नहीं रह सकती यह हकीकत शादीशुदा औरतों के गले से नीचे कैसे उतारी जाए? यह सवाल अब हरदम उसके दिमाग को कुरेदता रहता है।

रत्नप्रभा अब पैंतीस पार कर चुकी है अतः उसकी त्वचा का रंग अब और अधिक गहराता जा

रहा है। शुष्क त्वचा पर सनसिल्क लोशन अथवा फेयर ऐंड लवली चुपड़ लो... फिर भी उसमें निखार न आने के कारण अब नुक्कड़ के लौंडे आँख उठाकर उसकी ओर देखते भी नहीं। यह अप्रिय यथार्थ अब धीरे-धीरे मीनाक्षी भी समझने लगी है। रत्नप्रभा की तरह वह खुद भी अब सपनों में खोने लगी है तथापि, वह बापू को नहीं मानती। उसकी धारणा है कि बापू उसकी समस्या का समाधान नहीं दे सकते। सपनों का राजकुमार ही सुचारू रूप से इसका इलाज कर सकता है। अतः उसे उत्कटता से महसूस होता है कि रत्नप्रभा को अभी मैदान नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि रत्नप्रभा ने अब हथियार लगभग डाल दिए हैं। यह बात तो रत्नप्रभा के दिमाग में कभी आई ही नहीं कि उसकी जैसी लड़की को शादी-ब्याह के बारे में सोचना ही नहीं चाहिए। बदसूरत लड़कियों को तो अपने भाई-बहनों की परवरिश में ही व्यस्त रहना चाहिए और सपनों में खुशगवार जिंदगी जीना ही उनकी नियति होती है। इस संबंध में अब उसे कोई शक नहीं रहा इसीलिए मीनाक्षी को चाहिए कि वह भी अपनी बहन की देखभाल का जिम्मा उठाए और सपनों की दुनिया में ही जी लगाए रखे।

रत्नप्रभा अब मीनाक्षी की आँखों में खटकने लगी है। मजबूरन वह उसके साथ गुजारा कर रही है, बस फुरसत के क्षणों में शीशे के सामने वह बैठी रहती है। अपना शीशाई प्रतिबिंब उसे खूब भाता तो है किंतु पकड़ में नहीं आता। उसका दिल खट्टा हो जाता है। उसे पूरा विश्वास है कि रत्नप्रभा ही उसके दुःख की जड़ है; इससे भी आगे बढ़कर वह जी भरके उसे कोसती है बल्कि यदा-कदा उनमें नोक-झोंक भी होती है, नोच-खसोट भी एक-दूसरे की खाल खींचकर एक-दूजे का असली रंग अपनी आंखों में समा लेना चाहती हैं, वे किंतु त्वचा के भीतर का अंतरंग भी मटमैला ही होने से दोनों उसांस छोड़कर देखते ही रह गई, और धीरे-धीरे शांत भी हो गई।

इस बीच गौतम पूरी तरह से भाई के रंग में रंग गया है। रत्नप्रभा की श्यामल त्वचा गौतम की काली करतूतों से पूरी स्याह हो चुकी है। गौतम की सभी किताबें उसने रद्दी में बेच डाली। मार्क्स-अंबेडकर भी कगार पर खड़े हैं। इन पुस्तकों के पन्ने पलटने का वक्त ही कहां है अब गौतम के पास। धन्ना सेठों के पासबुकों के पन्ने पलटने और उनका हिसाब-किताब रखने में ही अब उसका पूरा समय खर्च हो जाता है। बहनों की खोज-खबर लेने का भी वक्त कहां है उसके पास तथापि, रत्नप्रभा को पूरी तरह भूला नहीं है वह। समय मिलने पर पूड़ी-पकौड़ी का पैकेट उसके लिए वह जरूर लाता है लेकिन रत्नप्रभा तक पहुंचने से पहले ही मीनाक्षी अपनी स्वप्न-पूर्ति के लिए उस पर कब्जा जमा लेती है। बहरहाल रत्नप्रभा ने अपने घर का दरवाजा अब गौतम के लिए बंद कर दिया है। अपनी बेदाग प्रतिमा पर वह आंच नहीं आने देना चाहती इसीलिए वह खुले आम सभी पर वह आंच नहीं आने देना चाहती। वह खुले आम सभी से कहती है कि गौतम से उसका कोई सरोकार नहीं रहा।

बापू की कृपा से कुलकर्णी अब बड़े मकान में रहने चले गए हैं। उनके पुराने मकान में अब एक नव-दंपति की रिहाइश है। खासकर नववधू बदसूरत रत्नप्रभा से डरी हुई है। अतः उसके घर के पाट कभी-कभार ही खुले होते हैं। बंद दरवाजे की चारदीवारी में वे मस्ती से जी रहे होते हैं। उनकी खुशी का राज जानने की तीव्र उत्सुकता रत्नप्रभा को है, और मीनाक्षी को भी इसीलिए वे पूरा दिन अपने घर का दरवाजा खुला रखकर बैठी रहती है। इस बीच उनका दरवाजा खुलता है तो दूसरे ही क्षण धड़ाम से बंद भी हो जाता है। रत्नप्रभा अपना संपर्क क्षेत्र बढ़ाने की फिराक में है, जबकि वे

लोग घास नहीं डालते उन्हें। इसके बावजूद रत्नप्रभा अपने अभियान में डटी रहती है।

रत्नप्रभा ने अब तंबाकू-मशरी से मंजन करना छोड़ दिया है। अब उसने क्लोज-अप से दोस्ती गांठ ली है, जो मीनाक्षी की देन है। निवृत्ति के बाद भी उसकी घड़ी की अलार्म बेल सवेरे पांच बजकर पैंतालीस मिनट पर ही बजती है। अभी उसकी पेंशन शुरू नहीं हुई है। इधर मीनाक्षी घर की जिम्मेदारी से तंग आ चुकी है। वह रोजाना अखबार में 'वांटेड' स्तंभ में आए विज्ञापन ध्यान से पढ़ती है। सपनों का राजकुमार तो सामने आने का नाम नहीं ले रहा इसलिए वह खुद ही राजकुमार को खोजने के अभियान पर निकलने की योजना बना रही है। उसे तो बस मौके का इंतजार है।

गौतम से रत्नप्रभा के संबंध लगभग समाप्त हो चुके हैं। किसी जमाने में रत्नप्रभा ने वन-रूम-किचन फ्लैट बड़े ही चाव से लिया था। उसका हुलिया अब पूरी तरह से बिगड़ चुका है। परखचे उड़ी दीवारें अब टूठ बनी खड़ी हैं। उनकी स्थिति ठीक मीनाक्षी और रत्नप्रभा जैसी ही हो गई है। मीनाक्षी को पूरा एतबार हो चुका है कि इस घर में रहना बेकार है क्योंकि यह बंद गली का आखिरी मकान है। अतः देर से ही सही, अपनी आँखें खुल जाने से उसने घर त्याग दिया है। किसी विधुर के घर में काम करने के लिए पूर्णकालिक महिला की आवश्यकता होने का विज्ञापन उसके लिए वरदान साबित हुआ है। घर से विदा लेने की बात उसने रत्नप्रभा को तो बताई नहीं, किंतु कुलकर्णी काकी को जरूर बता दी है।

इस तरह, रत्नप्रभा के लिए मीनाक्षी भी अब मर चुकी है। विधिवत् उसकी बरही तो उसने नहीं की, किंतु मीनाक्षी की तस्वीर के सामने पूरे बारह दिन जलता दीपक रख रखा था। वह हर रोज उसे बाकायदा माला भी पहनाती थी और अब अकेली ही शून्य में आँखें गड़ाए दरवाजे के सामने बैठी रहती है। रात-बेरात उसके घर का दरवाजा खुला ही होता है। मर्दों अथवा चोरों का डर अब उसे नहीं रहा बल्कि वह चाहती है कि कोई इस वीराने में आए और यहां की उदासी को बांट ले, लेकिन वहां किसी के भी आने की आहट नहीं आती। तब मजबूरन वह किवाड़ उड़का लेती है। यदा-कदा वह दरवाजे में कुंडी लगाकर अँधेरे में ही चल देती है। बाजार में स्टेशन पर अथवा बस स्टॉप पर मिले पूर्व परिचित लोगों को मीनाक्षी की राम कहानी अत्यंत उद्विग्नता से कहती है। हाथ-पांव में रिसते घाव उन्हें दिखाती है। उसे अनदेखा कर आगे निकलो, तो उन्हें कोसती है। गालियां भी देती है।

कुल मिलाकर दिनों-दिन रत्नप्रभा की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। यह खबर यदा-कदा कुलकर्णी परिवार के कानों तक पहुंच जाया करती है। उन लोगों को रत्नप्रभा की ऐसी दुर्दशा पर मलाल भी होता है। वे चाहते हैं कि उसकी हालत में सुधार लाने के लिए बापू कुछ करें तो बेहतर होगा। अतः वे बापू से गुजारिश भी करते हैं लेकिन बापू रत्नप्रभा के मामले में कुछ नहीं कर पाते। वैसे तो वे चाहें, तो बहुत कुछ कर सकते हैं। रत्नप्रभा के मामले में बापू की अनिच्छा को कुलकर्णी परिवार हजम नहीं कर पाता लेकिन उसकी जिंदगी में होने जैसा अब कुछ बचा ही नहीं, तो बापू भला क्या करेंगे। कुलकर्णी ऐसा ही समझते हैं तथा औरों से भी यही कहते हैं।

रत्नप्रभा को मलाल है कि जिंदगी में उसने कुछ भी कमाया नहीं और गंवाया भी कुछ नहीं। ऐसे में, वह अपनी बीती जिंदगी का जायजा लेती रहती है। रीती-बीती-निष्क्रिय जिंदगी की जुगाली करने का चस्का ही उसे लगा है मानो। अपने अतीत को तटस्थता से उलीचते रहने के दौरान उसे

कई बातों का पता चला है। पूरी तरह से अ-घटित रही अपनी जिंदगी से अब उसे कुछ नहीं चाहिए। उल्टे, अपनी ऐसी जिंदगी के गणित को समझने का प्रयास वह नए सिरे से करने लगी है और उसे महसूस हो रहा कि है ऐसी ही तटस्थता से वह चीजों को देखती, समझती रही तो वह भी किसी दिन बापू या मां-अम्मा अवश्य बनेगी। अतः अब उसे भीड़ के सपने आने लगे हैं... कि वह अखंड बोल रही है और बहुत बड़ा हुजूम चाव से उसे सुन रहा है, अभिभूत हो रहा है शहर की दीवारों पर उसके विरूप किंतु स्वप्नदर्शी चेहरेवाले पोस्टर लगे हैं। नामी-गिरामी अखबारों में भी उसकी तस्वीरों तथा वक्तव्यों के साथ आधे-आधे पृष्ठों के इशतहार छपे देखकर सपने में ही वह फूले नहीं समा रही है। सपने से बाहर आने के बाद भी अखबारों में अपनी तस्वीर और नाम छपे देखने की तीव्र लालसा उसे होने लगी है। यह लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाए... इसी उधेड़बुन में वह हरदम पाई जाती है। क्या वास्तव में वह जीते-जी अखबारों में अपनी छवि देख पाएगी? यही सवाल उसे दिन-रात कुरेदता रहता है। बाद में अपने दिल से वह समझौता कर लेती है कि मृत्यु के बाद भी छपे तो भी पर्याप्त है। बापू की तरह हर हफ्ते न सही, किंतु एकाध बार छप के आए तो भी उसे काफी राहत मिल सकेगी। जिंदगी में भव्य-दिव्य कुछ कर गुजरने वाले व्यक्तियों की तस्वीरें तो अखबारों में छपती ही हैं; जैसे ही ऐसे लोगों की भी तस्वीरें छपनी चाहिए जो जिंदगी को सिर्फ ढोते रहे हैं। अतः अब उसने निश्चय कर लिया है कि अपनी मंशा पूर्ण करने के लिए वह एड़ी-चोटी का जोर लगाएगी।

अब वह दिन में दो-तीन बार यथासंभव माउथ वॉश का प्रयोग करने लगी है। उसे विश्वास है कि इससे उसका दिमाग तेज चलने लगेगा, वाणी को ओज प्राप्त होगा तथा वह अखंड धारा-प्रवाह बोल सकेगी। अब वह पलंग पर नहीं सोती। जमीन पर ही चित लेटकर पंखे की ओर टकटकी लगाए घूरती रहती है। पंखे की गति से अपने मस्तिष्क को दौड़ाने की फिराक में है वह। विचारों को चालना देनेवाला माउथवॉश और विचारों को गति प्रदान करने वाला पंखा अब उसके प्रिय पात्र बन गए हैं। यानी कि उन पर वह एक तरह से रीझ गई है। जिंदगी में पहली बार उसे किसी चीज से इतना अधिक प्यार हो गया है। एक विशिष्ट अंतराल से माउथवॉश करना तथा पंखे को घूरते हुए चित लेटे रहना... यही उसकी दिनचर्या बन गई है अब पूरा समय इसी शौक को पूरा करने में वह लगी होती है। बाकी बचे समय में चौका-बरतन, अखबारों के पन्ने पलटना इत्यादि काम वह करती रहती है किंतु अब धीरे-धीरे इसमें भी शिथिलता आने लगी है। खान-पान में भी अब उसकी रुचि नहीं रही। अखबार भी कई-कई दिनों तक जैसे-के-वैसे पड़े रहते हैं... रद्दी बनकर। और इसी रद्दी में वह खुद को विलीन कर देना चाहती है। हर पल वह अपने दिल से पूछती रहती है कि क्या करने से उसे आध्यात्मिक क्षमता प्राप्त होगी और इसका उत्तर भी अब उसे प्राप्त हुआ है... कि इस मायावी संसार के मोह-लोभ से ऊपर उठकर परात्म भाव से सोचना-विचारना चाहिए। जमीन से ऊपर उठकर पंखे की सवारी करते हुए उसी की गति से गतिमान हो जाने से वह क्षमता प्राप्त होगी, ऐसी उसकी धारणा है। वह दरवाजा भीतर से बंद कर लेती है। अपने कद से अधिक ऊंचाई पर पंखे की गति से घूमने के इस रहस्य को वह किसी के भी सामने उजागर नहीं होने देना चाहती। पंखे पर सवार हो जाने का उसका प्रयास स्टूल की सहायता से कर लेने के बाद भी कामयाब नहीं हो पाता और वह लड़खड़ाकर धड़ाम से गिर पड़ती है लेकिन दूसरे ही क्षण पूरे जोश के साथ फिर उठ बैठती है। अब एक नया विचार उसके दिमाग में कुलबुलाने लगता है। पंखे पर सवार होना भले ही मुमकिन

न हो, किंतु उसके साथ-साथ उसी की गति से तो घूमा ही जा सकता है। इस दृष्टि से अपने हाथ ऊपर उठाकर वह पंखे से लटकती है किंतु पैरों के जमीन को छूते रहने से वह घूम नहीं पाती। अतः फंदे में गर्दन को फंसाकर वह सीधे पंखे से ही लटक गई और मस्ती से घूमती रही शुरू-शुरू में, लेकिन धीरे-धीरे आध्यात्मिक मदहोशी की गिरफ्त में वह आ जाती है। ऐसी स्थिति में बचपन के वो दिन उसे याद आते हैं जब वह बरगद की डाली से बंधे झूले पर उन्मुक्त रूप से हिंडोलती थी। अब वही मस्ती भरे दिन लौट आए हैं, ऐसा सोचकर शुरू-शुरू में वह काफी सिहरती-मचलती है। मदहोशी के इसी आलम में वह पूरी रात घूमती-घूमती रही... और बस! अंततः वह पूर्णतया आनंदमय हो गई।

सवरे दूधिए ने दरवाजा खटखटाया पर कोई जवाब नहीं मिला। अखबार वाले के साथ भी ऐसा ही हुआ, दरवाजा खुला ही नहीं। सवरे की शुद्ध ठंडी हवा में सांस लेने के लिए भी रत्नप्रभा बाहर नहीं आई। पड़ोसी धर्म को बरकरार रखने की दृष्टि से भी उसकी ओर से कोई हलचल नहीं दिखाई दी। दूध की थैली और अखबार-दोनों अनाथ से दहलीज पर ही बैठे रहे। दूसरे दिन एक और थैली तथा अखबार का उसमें इजाफा हुआ। अब तक मस्ती में झूम रही रत्नप्रभा तीसरे दिन ठेठ अखबारों के तीसरे पन्ने पर स्थान पा गई। रत्नप्रभा के झूले की तस्वीर के साथ ही छपी उसकी खबर तहलका मचा देती है।

समाचार पढ़कर कुलकर्णी हक्के-बक्के रह जाते हैं। अखबार के पन्ने की खबर बनने जैसा कोई भी कारनामा उसने नहीं किया था। न उसे बुकर पुरस्कार मिला था, न ही शेयर मार्केट में भूचाल आया था। न वह देश की प्रधानमंत्री थी, न किसी धार्मिक स्थान की तोड़-फोड़ करने वाले संस्कृति-रक्षकों की पुरोधा थी। न महापौर, न साहित्यकार अथवा कलाकार या गायिका-संगीतकार, न कोई मॉडल बल्कि वह कोई बापू-बाबा या भाई-दादा भी नहीं थी। यानी कि इनमें से कुछ भी न होने के बावजूद उसे अखबार के पन्ने पर तीन कॉलम का स्थान भला कैसे स्थान मिल पाया होगा? यही सवाल कुलकर्णी को अब हर घड़ी कुरेदने लगा है। इस सवाल का कोई जवाब उन्हें मिल ही नहीं रहा। इन सभी सवालों को अनुत्तरित रखकर ही रत्नप्रभा अदृश्य हो गई। उसे इस हद तक पहुंचाने वाली स्थितियों अथवा लोगों के प्रति कटुता भरा कोई भी व्यक्त किए बिना रत्नप्रभा ने विदा ली।

रत्नप्रभा की मृत्यु का प्रमाणपत्र अब आ तो गया है, पर अब उसका क्या अचार डालेंगे? गौतम या मीनाक्षी को खबर भी है? रत्नप्रभा की यह आत्महत्या है या कि नैसर्गिक मृत्यु? ऐसे कितने ही सवालों से कुलकर्णी परेशान हैं। उन्हें डर है कि सवालों के इस गुंजलक में कहीं उनकी सांस घुटने न लग जाए। रात-बारात कभी भी उनकी नींद उचट जाती है और हड़बड़ाकर वे उठ बैठते हैं। उनकी इस बेचैनी से घर के लोग भी चिंतित हो जाते हैं। उन्होंने भी अखबार पढ़ना धीरे-धीरे बंद कर दिया है। उक्त प्रश्नों के सही उत्तर पाने के लिए वे प्रयत्नशील तो हैं। पर कोई जानकार आदमी मिले तब न? बापू से वे अपनी समस्याओं का जिक्र नहीं करते। उनके मन में बापू के प्रति जो श्रद्धा भाव है उसमें दरार आने का खतरा अब उन्हें दिखाई देने लगा है। यह सही है कि रत्नप्रभा के मामले में किसी को भी कुछ करने की गुंजाइश नहीं थी। कुलकर्णी भी इसका अपवाद नहीं था। किंतु यह अपराध बोध निरंतर उन्हें कचोटता रहता है। बाकी लोगों को इस मामले में अपनी सरोकारहीनता का कोई मलाल भले न हुआ हो, किंतु कुलकर्णी का संवेदनशील मन उन्हें बार-बार झकझोरता रहता

है। बापू की मानसिकता के बारे में तो वे अनभिज्ञ थे किंतु इस बेचैनी ने जैसे उनकी नींद ही चुरा ली है। यदा-कदा रत्नप्रभा पर भी उन्हें बेहद गुस्सा आता है। रत्नप्रभा यदि बीच में रोड़ा बनकर न आती तो बापू के मार्गदर्शन में उनकी अपनी जीवन नैया तो सुचारू रूप से आगे बढ़ रही थी। ऐसे में रत्नप्रभा उन्हें अखरने लगती है। किसी अनजान भय का साया उनके दिल-ओ-दिमाग पर छा जाता है। इससे निजात पाने के उपायों के बारे में सोचते-सोचते पंखे की ओर देखते हुए वे घंटों बैठे रहते हैं। अखबारों की खबर बनने में उन्हें, कोई दिलचस्पी नहीं। फिर भी वे पंखों की ओर टकटकी बांधे क्यों बैठे रहते हैं? कोई नहीं जानता...बापू भी नहीं। कुछ प्रश्न ऐसे ही अनुत्तरित रह जाते हैं, रत्नप्रभा की जिंदगी की तरह! ■

बहुवचन त्रैमासिक

(अक्टूबर-दिसंबर-2018)

- मराठी साहित्य विशेषांक प्राप्त करने के इच्छुक पाठक 150/-रुपए +25/- डाक खर्च सहित कुल 175/- विश्वविद्यालय के बैंक खाते में जमा कराकर घर बैठे यह अंक प्राप्त कर सकते हैं।

चहुं दिस पानी उदधि के

मेघना पेटे

अनुवाद : प्रकाश भातम्ब्रेकर

हमारी नई कॉलोनी की अस्थाई वेलफेयर समिति की स्थापना करनी थी इसलिए मार्च महीने के पहले रविवार को ठीक नौ बजे तीन नंबर बिल्डिंग की छत पर सब लोगों का मिलना तय हुआ था। धीरे-धीरे दस बजे तक पच्चीस-तीस सदस्यों का जमावड़ा छत पर इकट्ठा हो चुका था नेरूरकर ने अपनी मोटी सी, भर्राई आवाज में बैठक की कार्रवाई शुरू क्या की, इस के साथ अब तक मेरे साथ हँसी-ठिठोली कर रही सुभद्रा यकायक बैठक में विलीन हो गई, नुक्कड़ पर चल रहे कंस्ट्रक्शन के नीचे चाय टपरी चलाने वाला मुसलमान चाचा चाय की प्याली सबों को पेश करते-करते मेरे सामने आ ठिठके। उसकी थाली में से एक प्याली मैंने उठा ली और परिचित-सी मुस्काई भी। छत की जगह से टेककर मैं खड़ी रही। इलायची की महकवाली मसाला चाय की गरमा-गरम चुस्की लेते हुए मैंने चारों ओर निगाहें दौड़ाई। सातवीं मंजिल पर, रविवार की पुरसुकून सुबह, मार्च की धूप में निखर रही हमारी कॉलोनी की ओर देखते हुए मेरे दिल में खुशी की एक हिलोर सी उठी।

कितना खूबसूरत सा लग रहा था नजारा हमारी कॉलोनी का। समान ऊंचाई वाली छः इमारतें, बरामदे काले-काले ग्रिल और लाली-लाल रेलिंग दूधिया कांचवाली खिड़कियों के क्रीमी फ्रेम। इमारतों के बीच में सजे हरे-हरे सु-व्यवस्थित एवं तिकोनी ईंटों के घेरे में निबद्ध लॉन। बीच में लाल कलियों वाली कदली, हल्की सी सियाही मिले ललछैं रहे, कंतरे-संवरे पत्तों वाले पौधों की गाछ। लॉन के किनारे-किनारे सजी पीली, कल्थई, हल्के जामुनी कलगी वाले गुच्छेदार फूलों की फुलवारी, उनमें से एक-अकेले फूल की कोई वक्त नहीं लेकिन हवा की हिलोरों से हिलते-डुलते फूलों के गुच्छ तनिक ऊंचाई से देखो, तो अत्यंत मनुहारी प्रतीत हो रहे थे। केबिन के बाहर गुनगुनी धूप संकेते हुए, अखबार के पन्नों में गड़ा, खाकी वर्दीधारी चौकीदार तथा काले पाइप की गेंडली को खींचते-समेटते हुए लॉन को सींचनेवाला, अधलुंगी पहना सांवला माली साइकिल की घंटी घनघनाते हुए परिसर में प्रवेश करने वाला, अखबार बेचने वाला लड़का तथा दूध के खाली कैन हिचकोलते, सिर से लपेटे गमछे से पसीना पोंछते हुए रास्ता नाप रहे दूधिए, कॉलोनी की अपेक्षित जरूरतों को पूरा करने के लिए धीरे-धीरे बनती जाती व्यवस्था के चलते-फिरते संकेत चिह्न मानो, भेनजी, गिलास चायवाले लड़के ने मुस्कुराते हुए कहा तो मेरी तंद्रा भंग हुई। गिलास उसे सौंपते हुए मैंने चुटकी ली, 'आज तो चाय में सिर्फ इलायची का जायका ही नहीं, इलायची भी मिली...बहुत खूब' वह खुश हुआ और

बाकी लोगों से भी गिलास समेटने चला गया।

यहां संबंध स्थापित करने हैं। ग्रासर को नया कैलेंडर देना है। कूड़ा-कचरा उठानेवाले लड़के को यदा-कदा चॉकलेट-चिऊड़ा देते रहना। आते वक्त गेट के पास ही महकती रजनीगंधा के गुच्छ को हाथ से थामकर सूंघना। जाते समय मॉर्निंग वॉक से लौट रहे सुभद्रा के पिताजी को 'गुड मॉर्निंग' कहना शाम को वापसी में मुसलमान चाचा से चाचाजी, खैरियत तो है कहना।

मुझे यकायक अपना पुराना मकान याद आया-काईदार, परखचे उड़ी, बेलौस दीवाल्लों का, भाड़े का मकान, जहां बरसों-बरस कोई रहा था और जो काफी इस्तेमाल हुआ था। उसके बाद मेरे हिस्से में आया मकान... वहां से निकलना है यही सोचकर एक-एक पल, दिन रात गुजरते रहे जड़हीन घास जैसी एक जिंदगी।

वहां जड़ पकड़ने का कभी मन हुआ ही नहीं बल्कि खुद मैंने ही वहां जड़ जमाने की इच्छा और उसकी परवर्ती संभावना को पनपने नहीं दिया। वहां से चलते वक्त डालडा का टिन, दो बड़ी सी बोतलें और थाली-स्टैंड से लटक रही एक धूसर रिंग... बस, इतनी सी चीजें रख छोड़ी थीं वहां। छोड़कर जाते वक्त मकान तलाकशुदा शौहर सा प्रतीत होता है गमगीन और घायल। जाहिर है कि जिसे छोड़ने का ख्याल दिन-रात दिमाग पर छाया रहे तो हकीकत में छोड़ा हुआ मकान छोड़े हुए आदमी जैसा ही लगता है।... मर्माहत और लाचार। मगर कुछ बात है कि जिसे छोड़ने का ख्याल दिन-रात हम पर हावी उसे छोड़ने के ऐन पल पर वह भी हमें उतना ही मर्माहत कर देता है।

नए मकान की खुशियों को, छोड़े हुए मकान का एक ठनकता दंश है, उस पीड़ा को सहते हुए ही मैं यहां आई हूं। शिशिर ऋतु में सारे पत्ते झड़ जाने के बाद श्वेत चंपा जिस तरह सिर्फ खिले हुए सफेद फूलों से ही भर जाता है... ठीक उसी तरह मेरी एकल जिंदगी में ख्वाहिशें और उम्मीदें पनपने लगी है। यहां की नई आबोहवा, नए परदे, काठ के नए फर्नीचर से लहराती एक खास किस्म की कठुआ खुशबू तथा उन्हीं के साथ लाया हुआ डेजर्ट रोज का पौधा। पौधे को धूप दिखाना, सींचना, खाद-मिट्टी डालना, उसकी परवरिश का समुचित ध्यान रखना...यानी इस जिम्मेदारी से बंध जाना और इस बहाने घर से बंध जाना, क्या किसी तरह से जिंदगी से जुड़े रहने के लिए ही इनसान बच्चे पैदा करना चाहता होगा? दिल-ओ-दिमाग के खोखले अवकाश में प्रयोजन की एक तितली को अचिरत छट-पटाते रखना...

वहां से नीचे की ओर देखा, तो पानी से चमचमाते लॉन पर धूप से अठखेलियां करते हुए एक बालक मस्ती से लोट रहा था। गीले लॉन की मिट्टी से जैसे वह लथपथ हुआ जा रहा था। माली अपनी तहमद ठीक-ठाक करते हुए उसकी ओर दौड़ता, तो वह लड़का भी उतनी ही मुस्तैदी से अपनी खिसकती निक्कर को संवारते हुए दूसरे सिरे पर जाकर वहां लोटने लगता। अंततः हैरान-परेशान माली ने विभिन्न संकेतों से वॉचमैन को बुलाया और दोनों ने मिलकर उसकी मुश्कें बांधी और उसे टंकी पर बिठा दिया। उसे टंकी पर बिठाए जाने तक तो वह पांव जोरों से हिलाता रहा था लेकिन वहां पहुंचने के बाद वह तनिक बौखला गया। उसके बाद उसने ठोड़ी पर हाथ रखा और वंशीधारी कृष्ण की मुद्रा में खड़ा हुआ और वॉचमैन को घूरने लगा माली अपना सिर पीटता रह गया। मैंने देखा, उसके बाद वह बलखाते, इठलाते हुए चलने लगा। तिस पर वॉचमैन के साथ-साथ मैं भी अपनी हँसी रोक नहीं सकी। बैठक लगभग समाप्त होने को थी। सुभद्रा नेरूरकर के कान में कुछ फुसफुसाने

के बाद मेरे पास आकर खड़ी हो गई है। मैंने उसे नीचे की कारगुजारी पर नजर डालने को कहा, तो वह झल्लाकर बोली, 'वो पाठक का लड़का है', मैंने पूछा, 'कौन पाठक?' उसने एक ओर उंगली दिखाते हुए कहा, 'वो...वो जो ऊल-जलूल बातों में उलझा है न...वो' मैंने उस ओर देखा। एक लंबूजी, तुर्रमखां तेल चुपड़ा व्यक्ति जोर-शोर से अपनी बात सामने रख रहा था। हम सबों से अधिक उम्रजदा। उसके दांतों का रंग पान खानेवालों के दांतों जैसा, यानी कोरों पर काले से और बीच में कथई लाल, मोटी-मोटी भौंहें और सीपी में जड़ी आंखें। चेहरे पर हँसी और हर वाक्य पूरा करने के बाद होंठों पर मंद सी मुस्कान... बल्कि मुस्कुराने के दौरान आँखों के कोने में हल्की सी झूमरी सिलवटें देखी जा सकती थीं। उसके कानों पर बाल थे लेकिन उसके माथे पर, गले के आस-पास तथा बनियान के अनावृत्त हिस्से में से झाँकते सीने के हिस्से पर पाऊंडर की पर्त साफ दिखाई देती थी और इसी की ओर सब का ध्यान बराबर जाता था। मैंने सुभद्रा से कहा, 'इसे पाऊंडर कहा जाए तो कैसा रहेगा?' 'वाऊ...' उसने खिलखिलाकर हँसते हुए कहा, 'पॉडर, नौट बॅड'। बैठक समाप्त हो चुकी थी।

अब 25-30 लोगों का जत्था एक साथ लिफ्ट पर धावा बोल सकता था। इसका अदेशा पाकर मैंने सुभद्रा से कहा, 'चलो, सीढ़ियों से चलते हैं'। दरअसल मैं नेरूरकर को टालना चाहती थी। नेरूरकर तंग शॉर्ट्स पहने था और उसकी सैंडो बनियान में से झबरीली छाती का नजारा बाकायदा दिखाई पड़ता था। उसकी अँथलिट जंघाओं के स्नायुओं में उसके हर उठते कदम के साथ एक विशिष्ट हलचल होती थी। उसके चौड़े सीने पर सोने की मोटी सी चेन झूलती थी। सिर के घने, काले, अस्त-व्यस्त बालों को बायीं हथेली से वह बार-बार ठीक करता था और दाहिने हाथ से सोने की चेन से अठखेलियां करते-करते, बीच-बीच में दाढ़ी को भी सहलाता था। इसी दौर में उसकी छिंगुली का कितना ही लंबा-लंबा बढ़ा नाखून मुझे दिखाई दिया। नाखून पर लगी नेल पॉलिश हल्का पड़ी थी। 'पाउडर पाठक' उसके कंधे पर हाथ रखे अभी भी उससे बतिया रहा था। नेरूरकर नीची निगाहों से सिर्फ उसकी हाँ-में-हां मिला रहा था। बीच-बीच में अपनी उदंड, पीली-भूरी अधखुली आँखों से चुहुं दिस एक निगाह देखता भी था। नेरूरकर यानी नाना पाटेकर टाइप हरफनमौला और चिकना-चिकना था। उजड्ड, धींगरा, मुस्टंडा, ऊधमी, संग दिल आदि-आदि तथापि यदा-कदा उसके चेहरे पर मायूसी भरी, अनुरागी छटा थकायक कौंध जाती थी जो उसकी मोहकता में चार चांद लगाती थी; जैसा कि इस तरह के व्यक्ति को अकसर अधोरेखित करती है। इस तरह के डंक को जब्ब करने की ताकत सुभद्रा के पास तो थी किंतु इस मामले में मैं फिसड्डी थी और फिर कॉलेज में नेरूरकर को पहली बार देखते ही उसके प्रति जागी आसक्ति तब तो एकदम हानि-रहित मानी जा सकती थी, लेकिन अब नहीं। मस्ती का ज्वार न सही, पर अब भूख की बेइंतहाई उभार पर जो थी, मैं तीस पार कर चुकी थी और न सिर्फ कुंवारी, बल्कि पुरुष-संग रहित अभोग नारी भी थी यानी कि दिखने-विखने में भी औसत होने से आकर्षण या लालसा के दायरे से काफी दूर ही थी। कुछ दे पाने की अपनी ऊर्मि के मनोवेग का पूरा अनुमान मुझे था। पर हां, अभी वह किसी की भी सान पर नहीं चढ़ी थी और मुझ में ऐसा कुछ था भी नहीं, जो कोई मर्द उसे परखने में पहल करे' सुभद्रा मृगनयनी थी, उसके मोटे किंतु मुलायम होंठों की छोटी सी ओष्ठ-रेखा, भरे हुए, उन्नत उरोजों की गोलाई, छाती आगे निकालकर चलने का उसका मदमस्त लहजा अथवा नथुने फुलाकर ढिठाई के साथ ठठाकर हँसने का अंदाज...इनमें से कुछ भी तो नहीं था मेरे पास और फिर अबोध मेमने की आखेट-नुमा मायूसी

भी नहीं थी मुझमें... न ही हकबकायी हिरनी सी बौखलाहट, मतलब, यूँ कहा जा सकता है कि मेरे चेहरे के उजड़्ड भाव देखकर किसी को ऐसा लगने की गुंजाइश ही नहीं थी कि मुझे किसी मर्द की छत्रछाया अथवा सुरक्षा की जरूरत है। अतः मेरे इर्द-गिर्द किसी मर्द के मंडराने की कोई वजह भी नहीं बची थी। मेरे निर्विकार चेहरे को देखते हुए ऐसी ही कोई संभावना लगती थी। चेहरे पर दो चार (Consistent pimples) नाक के आसपास की तेलिया त्वचा, न मोटी-न छरहरी, न आधुनिक, न दकियानूस, न लल्लू छापन ही चलता पर्जा... ऐसी स्थिति में दिनोंदिन मैं थी। मैं जानती थी कि सर्वथा अभेद्य में भी उनमें बाकायदा संध लगा सकनेवाला, त्रिशूल की नोंक-सा पैना (Sense of humour) मुझमें है। आम बोलचाल में भी मेरी आवाज घनी-गहरी और प्रगल्भ सी लगती थी। दिलीप कुमार से बेहद प्यार था मुझे और कभी कभार, जब कोई भी देख नहीं रहा होता, तब मेरा चेहरा दोस्वोयवस्की के उपन्यास के हीरो जैसा इस कदर मासूम लगने लगता था कि भगवान के दिल को दू लें। पिछले लगभग पांच-छः वर्षों के एकल निवास के परिणामस्वरूप अपनी ये कुछेक विशेषताएं मेरे हाथ लगी थीं लेकिन चूंकि किसी को मुझमें कोई दिलचस्पी ही नहीं थी इसकी कोई गुंजाइश ही नहीं थी, कि बाहर की दुनिया वालों को इन चीजों की भनक तक लगे।

तथापि हर नुकसान में एक फायदा छुपा रहता है, इस न्याय से, मेरे निरूपद्रवी होने का अर्देशा पाकर हो या अन्यथा, कोई मेरी तरफ ध्यान ही नहीं देता था और शायद इसीलिए मेरी दिनचर्या पर या फिर मेरे निरंतर चल रहे सूक्ष्म निरीक्षण पर किसी को कोई आपत्ति नहीं होती थी। कहने का मुद्दा यह है कि नेरूरकर मुझे झांककर भी नहीं देखता था, पर नेरूरकर आस-पास कहीं हो, तो मुझे महसूस होता था कि मैं आखेट हूँ और उसे भी इस बात का अहसास था, जैसे कि हर आकर्षक व्यक्ति को होता है। दरअसल कॉलेज में नेरूरकर को देखने के बाद वह मारू या चिकना लगता था, बस इतना ही। उसके बारे में सामान्यतया किसी 'व्यक्ति विशेष' के तौर पर फुरेरी-चरेरी नहीं होती थी। बाद के लंबे अर्से में कई परिचित, अपरिचितों के अलावा कंडक्टर-प्लंबर से लेकर उपन्यास के पात्रों तक के बारे में किसी विशिष्ट अवधि में किसी विशिष्ट स्तर का आकर्षण मुझे लगता रहा था; जो उम्र का तकाजा भी था। मानसिक कौमार्य वगैरह से तो मेरा सरोकार कभी रहा नहीं। अलबत्ता शारीरिक कौमार्य तो बरकरार रहा, मजबूरी के तौर पर ही सही। व्यक्ति की उपलब्धता तथा वह व्यक्ति अपने लिए 'विदिन रीच' होने की प्रत्याशा- इन दो व्यवधानों को पार कर कोई मेरी जिंदगी में आने की जरूरत नहीं कर पाया था। बीते वर्षों में मैंने रोहिणी पत्रिका तथा टाइम्स के विज्ञापन देखना भी छोड़ दिया था। जब विज्ञापन पढ़ती थी अथवा देती भी थी, तो भी यूँ ही टाइम पास के लिए। इस कॉलोनी में कदम रखने के साथ ही शकुन ऐसा हुआ कि मेरी विस्मृत, पुरानी हॉबीज मानो खिझाने के लिए पूरी मनहूसियत के साथ पुनः प्रकट होने लगी थीं; और मन-शरीर की ऐसी स्थिति में नेरूरकर एक संभावना के तौर पर आँखों की परिधि में आ गया था। नेरूरकर के बरक्स मुझे आखेट होने का अहसास होने लगता है, इस बात को चुड़ैल सुभद्रा बराबर भांप लेती थी। अभी जब मैंने उसे सीढ़ियों के रास्ते चलने का अनुरोध किया तो उसने कहा, 'अरी फिर भी नेरूरकर तो हमारे ही साथ तेरे घर आएगा ही आएगा। उसे वेल्फेयर कमिटी का सचिव चुन लिया गया है' अरे हां! मैं तो भूल ही गई थी। वेल्फेयर कमिटी के सभी नवनिर्वाचित सदस्यों को भोजन के लिए आमंत्रित किया था मैंने तदनुसार पाठक, चौबल, किणी, कदम, सुभद्रा और रजनी के साथ-साथ नेरूरकर भी

आएगा ही सीढ़ियों से उतरकर हम गेट तक पहुंचे ही थे कि पाठक आदि लोग आगे निकल चुके थे। कॉलोनी के माली और चौकीदार ने पाठक के बेटे के कारनामों से उन्हें अवगत कराया ही था। पाठक ने दिखावे के, कन्सर्न्ड आवेग में आकर टंकी पर विराजमान अपने बेटे की दिशा में कदम बढ़ाए थे। अबे बेवकूफ उतर नीचे। उन्होंने बेटे से कहा। उनके करीब आते ही बेटे ने उछलकर वहीं-के-वहीं गोल-गोल चक्कर लगाए और उदंडतापूर्वक मचलते हुए पाठक के कंधे पर छलांग मारी और बदगुमान सा, उसके गले के दोनों ओर पैर लटकाए बैठ गया। पाठक ने भी जैसे सधे हुए, पूर्व नियोजित अंदाज में उसकी बैठक ठीक-ठाक की और वे चल पड़े। बेटा एक, दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ, नौ की रट लगाते हुए बाप की विरल बालोंवाली तेलिया खोपड़ी पर मस्ती से तबला बजा रहा था। कुछ ही दूरी पर मिचमिची आँखोंवाला, उठे हुए खप्पड़ गलफड़ोंवाला तथा मोटे-मोटे होंठेवाला एक लौंडा गुलेल तानकर निशाना साधने में लगा हुआ था। पाठक ने आग्नेय निगाहों से उसे देखा और लपककर बेतरतीब से अंदाज में वह उसके पास गया, लौंडे की गरदन के ऊपरी हिस्से पर एक जोरदार धूसा जमाने के बाद उसकी कान उमेठते हुए उससे कहा, 'हो गया शुरू फिर से? चल, घर चल च्यूतिए...' वह बच्चा जैसे-तैसे उसके चंगुल से बच निकला और यकायक कुछ याद आने के अंदाज में हमारी ओर मुड़कर उसने कहा, 'इससे जरा निबटके आता हूँ। अभी आया...' और जीने से होते हुए वह ऊपर की ओर चला भी गया।

जमावड़ा ठिकाने पर आ पहुंचा। मेरे घर में सिर्फ दो कुर्सियां थीं। एक में रजनी शालीनतापूर्वक बैठ गई दूसरी कदम ने हथिया ली। जूते पहनी अपनी टांगें फैलाए, हथेली की उंगली में छल्ला फंसाकर मस्तानी अदा में चाबी घुमाते हुए मनमौजी की तरह बैठ गया वह। निरूपद्रवी काली चींटी की तरह दिखने वाला कि जो अपने दोनों हाथ पैर की जेबों में फंसाकर बालकनी में जा खड़ा हुआ। 'ओ देवीजी, जरा पंखा तो चलाइए...' सुभद्रा को फरमाते हुए नेरूरकर चटाई पर हाथ के सिरहाने लेट गया। एलोरा के शिल्प की तरह... बलदंड चौबल ने पैर की क्रीज को संभालते हुए जूते उतार दिए और मुंह हाथ धोकर तौलिए से पोंछने के बाद कोने में दीवाल से टेक लगाकर वे बैठ गए... राहत की सांस लेते हुए हुशश-हुशश आवाज निकालते हुए बड़े इत्मीनान से, सुभद्रा ने पंखे का बटन ऑन कर रेगुलेटर सीधे पांच तक घुमाया और फ्रिज खोलकर गटागत पानी पीती रही। एनी बॉडी वाटर? उसने बाहर झांकते हुए पूछा और तसल्ली से आँख मारकर नेरूरकर के आगे बड़े हाथ में पानी की बोतल थमा दी। मैंने प्री-सेट कस्टर्ड फ्रिज में धर दिया। सैलड सुभद्रा के हवाले किया। सालन गर्म करने रखा और पूड़ी की तैयारी में जुट गई। पूड़ियां तलते हुए पाठक का बेटा बेसाख्ता याद आता रहा। उस बच्चे में पाठक का कुछ भी नहीं था। उसके गाल असना के पत्ते से चिकने थे। दाहिने गाल में प्यारा सा गड्ढा भी था। लंबी-लंबी, स्याह काली बरौनियां और आँखों में एक किस्म की लबालब, अनन्वित जुगुप्सा थी। भोजन के दौरान सुभद्रा की टेप बराबर बजती रही। अरे ये पाठक पहले धारावी में रहता था। नो वंडर हिज किड्स बिहेव द वे दे डू। कोई लिफ्ट से खिलवाड़ करता है, तो कोई लॉन पर लोट रहा होता है तो कोई सीटियां बजाता है। गलती से भी कोई लड़का पाक-साफ नहीं होता।

इस बीच कदम गैलरी में से खैनी की पीक डालकर लौट आया। 'साला ये जगह इतनी पॉश है, लेकिन ये जरूर भट्टा बिठाएगा।' इस तरह वह पुनः चाबी घुमाता रहा। रजनी ने कहा, कितनी

प्यारी है ये फुलवारी। अब मैं भी बाग बनाऊंगी। अरी हमारे उधर यानी मेरी सास को पेड़-पौधों से सख्त नफरत है और जेठजी को फूलों के तोड़े जाने से कड़ा परहेज है। सच कहती हूँ, जैसे मुझे जेल से मुक्ति मिली है। यहां मैं अपनी मर्जी से कुछ तो कर सकती हूँ आदि। चौबल ने टिप्पणी की, 'खाना तो लजीज है भाई' तिस पर अब तक गूंगापन ओढ़े हुए नेरूरकर ने ठिठोली की 'तुम्हें कब से भाने लगा भटों-बाम्हनों का मीठा-फीका खाना? मुझे तो साला पाम्फ्रेट की बहुत याद आती है रे। उसके लिए पेट में जगह रखे हुए हूँ मैं; ताकि अचानक कहीं से उछलकर सामने आ जाए तो उसके साथ न्याय कर सकूँ... 'सुनकर चौबल हँस दिए और उन्होंने फफोला फोड़ा, इस वक्त तो हम घास-फूस वाले ही बने हुए हैं, चॉल की दड़बे जैसी रिहाइश से तंग आकर बड़ी जगह का कीड़ा कुलबुलाया तो नॉनवेज छोड़ दिया 'लेकिन इसमें भला कोई तुक है?' काली चींटी किणी ने फिकरा कसा 'तुक यूँ है कि सबसे प्रिय चीज का त्याग करो तो मनोवांछित प्रार्थना को बल प्राप्त होता है। और काली चींटी किणी हुलाफुलाकर गरदन हिलाते हुए बाहर चला गया।

इतने में घंटी बजी और पाठक की सवारी हाजिर हुई। उसने सफाई पेश की, 'सॉरी, मैं नहीं आ सका, जरा इसकी तबीयत ढीली है।' उसकी गोदी में एक गुस्सैल, चिडचिड़ा, मरियल सा ललुआ था। नेरूरकर ने उसे कुरेदा, 'क्यों बे? अभी तो इतना उधम मचा रहा था। अब क्यों चुप है?' तिस पर आँखों के गड़ढ़े में झूमरी सिलवटें पैदा करने वाले अंदाज में हँसते हुए पाठक ने जवाब दिया, 'जी, ये वो नहीं। वो तो लव था, इसका जुड़वा भाई, ये कुश है।' मैंने चौंककर उसकी ओर देखा। वाकई वैसी ही लंबी-लंबी, स्याह काली बरौनियां, असना के पत्ते जैसे चिकने-चिकने गाल में वही गड्डा...हूबहू उसका प्रतिरूप। आइडेंटिकल ट्विन्स फिर भी उसमें जो था, वो इसमें नहीं। वो यानी हँसता-किलकता, तेज-तर्रार, आतुर, उत्साही, नटखट, शोख, चंचल, खिलंदड़ चैतन्य...जो उसमें था। पाठक लौट गया। बाकी लोग भी धीरे-धीरे वहां से खिसकने को हुए। जाते-जाते सुभद्रा ने नेरूरकर से पूछा, 'तेरी वाइफ घर में होगी? उसने मुझे कुशन कवर प्रॉमिस किया था। 'चल, मैं भी चलती हूँ तेरे साथ।' उन सबको बाय-बाय करने मैं बालकनी में आई। सुभद्रा हँसते-फुदकते नेरूरकर के पीछे जा रही थी, गोया बारहसिंगे के पीछे जा रही हिरनी हो। फिर एक बार कॉलोनी का नजारा दिखाई दिया। सभी मकान एक से। इन मकानों में कितने ही विविधरंगी अतीत वाले लोग रहते होंगे। कितने ही सपने, कितनी ही मजबूरियां... विभिन्न छटाओं वाली विवशताओं और प्रवृत्तियों के बरक्स वे यहां आ पहुंचे। उनकी अपनी-अपनी मानसिक स्थितियां, हर्षोल्लास, चिंताएं, दुख-दर्द, आहें-कराहें, खट्टे-मीठे अनुभव...भिन्नता की अनंत संभावनाओं से क्षत-विक्षत हुआ यह मानव-समूह उनके घरों का स्कवायर फुट, रकबा तथा रचना, ग्रिल एवं रेलिंग, खिड़कियों-दरवाजों के रंग... बस, यहीं तक सीमित है उनका एक सा पन।

मैं बुझे मन से भीतर आई। अभ्यागतों के चले जाने के बाद अमूमन दिल पर छा जाने वाली मुरझानी के साथ। बिस्तरे में लेटते ही सो भी गई। दरवाजे के बाहर हो रही लिफ्ट की खड़खडाहट और बच्चों की चिल्लाहटों के कारण मेरी नींद उचट गई। मैंने झुंझलाकर दरवाजा खोला, तो सामने वही पाठक का बच्चा! लिफ्ट के दरवाजे से लटक रहा था। उसका हाथ पकड़कर मैंने उसे खींचा तो लिफ्ट का दरवाजा बंद हुआ। अंदर मिचमिची आँखोंवाला खप्पड़ लड़का बेढंगे अंदाज में आँखों की खोल-मीच करते हुए बटन दबाकर लिफ्ट को नीचे ले गया। मैंने उस बच्चे को घर के भीतर

खिसकाने के बाद दरवाजा लगा लिया। नींद में से हड़बड़ाकर जाग जाने के कारण मैं बौखला गई थी। मुझे सूझता ही नहीं था कि क्या कहूं, कैसे कहूं। ऐसी स्थिति में मेरे कुछ कहने से पहले वही बोला, 'न खेतूं, तो वो मारता है' अपनी मजबूरी बयान कर एक पांव पटकते हुए वह खड़ा रहा पर मैंने उसे कोने की एक कुर्सी में बिठा दिया। खामोश-सी मैं भीतर गई और कस्टर्ड की कटोरी लाकर उसे थमा दी। खुश होकर वह कस्टर्ड हबड़-दबड़ सुड़कता रहा। सुड़कने के दौरान एक किशमिश का दाना लगा, तो उसने पूछा, 'ये पहले अंगूर होता है न?' मैं मुस्कराते हुए 'हां' कहा। कस्टर्ड खत्म होने पर खाली कटोरी हाथ में थामे वह खड़ा रहा। मैंने कटोरी उसके हाथ में से ली और खाने की टेबल साफ करने में जुट गई। दोपहर से टेबल वैसे ही पड़ी थी। मुझे काम में जुटी देखकर उसने पूछा, 'दीदी, तुम अकेली रहती हो यहां?' मैंने हां में जवाब दिया। वह चुपचाप, सहानुभूतिवश भी हो सकता है, मेरी सहायता करने लगा। फ्रिज को चारों तरफ से छूकर महसूस करने के बाद उसने कहा, 'ये तो हमारे घर में नहीं है। ये बरफ की अलमारी है न?' मैंने हां कहा। 'इसमें आइस्क्रीम बनती है न?' मैंने हां में जवाब दिया और बताया, 'लेकिन अपने आप नहीं बनती।' लंबी-लंबी बरौनियोंवाली आँखों से वह टुकुर-टुकुर मुझे देख रहा था। असना के पत्ते जैसे उसकी चिकनी गाल में गड़ढा हुआ। उसने कहा, 'कुश बीमार है। तब तक मैं आइस्क्रीम नहीं खाऊंगा।' वह ठीक हो जाए तो हम इसेल वर्ल्ड जाएंगे और मां वो बनाएगी...वो जो तुमने मुझे अभी दिया था। फिर मैं कुश के साथ वो खाऊंगा 'लेकिन आज तो तुम अकेले ही खा गए?' मेरी दलील पर वह तनिक बौखलाया किंतु दूसरे ही क्षण गाल में गड़ढा बनाते हुए उसने जवाब दिया, 'वो तो तुम गुस्सा हो गई थीं न, इसलिए...' सुनकर मैं हँस पड़ी। फिर मैंने उसे नहलाया। तौलिये से रगड़कर उसका बदन पोंछा, पाउडर लगाया। तब मुझे यकायक पाठक की याद आई। पाउडर का डिब्बा हाथ में थामे वह बारीकी से उसका निरीक्षण कर रहा था। डिब्बे पर औरत की तस्वीर देखकर उसने कहा, 'वो सुभद्रा आंटी है न, वो ऐसी ही दिखती है,' भीतर-ही-भीतर तनिक तिलमिलाने के बावजूद मैंने उससे पूछा, 'और मैं?' वह सोच में पड़ गया। पल-दो पल में ही उसने जवाब दिया, 'दीदी, तुम्हारे चेहरे पर मुंहासे हैं न। तुम क्लिअरसिल क्यों नहीं लगाती? क्लिअरसिल लगाने वाली लड़की तुम्हारे जैसी दिखती है। तसल्ली देने के अंदाज में उसने मुझे कहा इतने में मां की टेर उसे सुनाई दी। वह दौड़कर गैलरी में गया और वहां से उसने जवाब दिया, 'मां, मैं यहां हूँ।' आवाज दिशा में सिर उठाकर उसने देखा और कहा, 'मुए, घर आ जा जल्दी से' और भीतर मुड़ी-उसने फुदकते हुए कहा 'मामा गया शायद। मैं जाता हूँ और दरवाजा खोलकर वह चला भी गया। मैंने ज्यादा-से-ज्यादा दस सेकेंड ही देखा होगा उसे, पर उस एक झलक में ही मुझे पता चला कि उसकी बरौनियां भी लंबी-लंबी हैं तथा असना के पत्ते जैसे उसके गाल में भी गड़ढा हो जाता है यानी कि लड़का मातृमुखी है। भागवान है। मुझे लगा। मैं बालकनी में खड़ी थी। उसके घर को मुड़-मुड़कर देखते हुए गेट तक पहुंचा व्यक्ति मिचमिची आँखों वाला था। इतनी दूर से ही मैंने देखा कि उसके चेहरे पर मुंहासे हैं तथा गलफड़ पिचके हुए हैं। मुझे लगा जैसे मैंने उसे कहीं देखा है और यकायक लव के बड़े भाई की मूरत आँखों के सामने आई। लव जिसे अकसर मामा-मामा पुकारता है यह वही तो नहीं न है? मान के चलिये कि होगा या है किंतु 'असना के पत्ते सा चेहरा' वाली का यह 'कील मुंहासों' वाले चेहरे का आदमी सगा भाई है, तो उसके आते ही वह बच्चों को घर से बाहर क्यों भगा देती है? मैंने महसूस किया

कि औरों के मामलों में अनावश्यक ताक झांक करने का सुभद्रा का गुण मुझमें आ गया है। गनीमत है कि मेरी जबान उसकी जैसी नहीं थी।

शाम घिरने लगी थी। मेरी बालकनी से एक टुकड़ा क्षितिज अभी भी दिखाई दे रहा था। उसके फलक पर मीठी मार के निशान के तौर पर सुर्ख लाल, काले, जामुनी बादलों के थक्के आ-जा रहे थे। कुछेक पंछी यहां से उधर जा रहे। एक अंडर कंस्ट्रक्शन इमारत का ढांचा। दूर के घुमावदार रास्ते पर साइकिलों, रिक्शा, पादचारियों की आभासी आवा-जाही। नीचे बच्चों की अनवरत चिल्लपों। क्या उनमें लव भी होगा कहीं या कि वह भीतर मां से जिद्द कर रहा होगा? सामने की बालकनी में नेरूरकर चाय का कप हाथ में थामे खड़ा था। गठीली भुजाएं, झबरीले हाथ, तनिक लाल-गुलाबी नाखून और अधखुली भूरी, गुस्ताख आँखोंवाला नेरूरक मैं रोमांचित होकर भीतर की ओर मुड़ने को हुई। घर में पूरा अंधेरा था। नेरूरकर को देखने के बाद मन में उपजे पाश्विक शरीर आकर्षण की एक जोरदार हिलोर भी मेरे पीछे-पीछे भीतर चली आई। किसी बर्फीली रात में, अपने शहर से दूर, आनन-फानन में हुई संभोग क्रिया के लम्हों का खंडित अहसास उसमें समोया था। मैं तीसी हूँ। छड़ी हूँ। अभोगी हूँ। तीस साल की कुंवारी अभोगिता नेरूरकर की प्यासी है। मकान प्राप्त करने की मलमली खुशियों के अंतरंग को यकायक एक धारदार छुरा बींधते चला गया... भीतर तक और सियाही थक्के उफनकर बाहर छलक गए।

धीरे-धीरे लव हिल-मिल सा गया और हमारी दोस्ती हुई। एक दिन मैं दफ्तर से घर आ रही थी, तो रास्ते में लॉन के पास ही उसने मुझे टोका। बहुतेरी कोशिशों के बाद भी उसकी पतंग उड़ नहीं रही थी। अन्य साथी उसकी ओर ध्यान ही नहीं दे रहे थे और मिचमिच्यी उसकी खिल्ली उड़ाते हुए लट्टू की डोरी कसने में लगा था। मैंने देखा, तो पतंग तनिक फटी थी। मैंने पूछा, 'फटी है न रे, ये कैसे उड़ेगी?' उसने जवाब दिया, 'फिर भी यही उड़ानी पड़ेगी। दूसरी मेरे पास है नहीं।' उसे समझाते हुए मैंने कहा, 'कोई बात नहीं, हम दूसरी पतंग लाएंगे और छत पर जाके उड़ाएंगे।' रविवार को हम दो रंगीन पतंग और मांजे की चकरी बाजार से ले आए। छत पर जाकर हमने पतंग उड़ाई उसके बाद कई रविवारों तक यह सिलसिला जारी रहा। छत पर हम दोनों के अलावा और कोई नहीं होता था। मैं चकरी थामे रहती थी और वह अपने हिसाब से पतंग उड़ाने की कोशिश करता था। इतना बड़ा आसमान, इस छोर से उस छोर तक उजला भक... दूधिया। बीच-बीच में हवा की हिलोरें। ऐसे में नन्हा-मुन्ना लव इधर से उधर दौड़-भाग करते, उछल-कूद करते, खुशी से किलकारियां भरता हुआ पतंग उड़ाया करता था। उस वक्त उसके दिल-ओ-दिमाग में न दीन होता था न दुनिया... मैं भी नहीं... साक्षात् चैतन्य के कुछ छींटे मेरे भी बदन पर उड़ते थे।

लव अकसर शाम के वक्त ही मेरे घर आ जाता करता था। आते ही पहले टी.वी. के सामने बैठकर विशेषतया विज्ञापन देखता था और बाद में नकल उतारता था। कभी-कभी राजा-भिखारी खेल खेला करता था। यदा-कदा पहली कक्षा का बस्ता भर होमवर्क साथ में लाता था। यदि मैं अपने काम में उलझी रहूँ तो थोड़ी देर कूद-फांदकर फ्रिज का ठंडा पानी तबीयत से पीकर चला जाता था। कुल मिलाकर हम एक-दूसरे के आदी हो गए थे। मानो उसे मुझमें किसी तरह की ईर्ष्या न करने वाला, होड़ न लेने वाला एक दोस्त मिल गया था और उसमें मेरी मातृत्व की अभिव्यक्ति के लिए एक ऐसा जरिया मिला था जिसकी हद तय थी और इस वजह से मैं भी बोर होने से बच जाती थी। मैंने

उसके मां-बाप अतीत नाना-नानी, मामा आदि के बारे में कभी भी कोई सवाल नहीं किया। अकेले रह रही औरत को दूसरों की अवांछित उखाड़-पछाड़ और तकलीफदेह सवालों की बौछार पर पड़ने वाली कदापि नहीं होती। अतः उसकी खोजी प्रवृत्ति पर भी अपने आप एक नैतिक मर्यादा आ ही जाती है। नेरूरकर का आकर्षण मेरे दिल में अभी भी बरकरार था किंतु उसे व्यक्त न होने देने की पूरी सावधानी मैं बरतती थी। सेक्रेटरी होने के नाते किसी-न-किसी बहाने मेरे घर में भी उसकी आवाजाही जारी रहती थी। एक बार शाम के वक्त वह आया था और अचानक बिजली गुल हो गई। टी. वी. की लौ भी धीरे-धीरे बुझ गई और पंखा भी आसन्न मरण व्यक्ति की धीमी पड़ती जा रही धौंकनी सा मंद-मंद होते हुए निश्चेष्ट हो गया। बड़ी मुश्किल से, कहीं रखी मोमबत्ती मैंने दूँड ली और जलाई। नेरूरकर असमंजस में पड़ गया था। मोमबत्ती की मद्धिम रोशनी में घुंघराले बालों वाला घमंडी नेरूरकर बड़ी ही संजीदगी के साथ मुझे घूरता रहा। संभवतया मेरा चेहरा भी उसे कमसिन, नादान बालिका सा लगा होगा क्योंकि अगतिक होकर मेरे बालों को सहलाते हुए उसने कहा, ध्यान रखना अपना। उन्हीं सुखरू नाखूनों वाली लंबी-लंबी सी उंगलियों के सुखद स्पर्श से मैं सिहर उठी और उसके बाल थामकर उसके मोटे और काले होंठों पर मैंने अपने होंठ टिका दिए। मेरी आँखें मुंदी थी। उसके हाथ में पहना मोटा सा इस्पाती कड़ा मेरे पीठ को चुभ रहा था और उसके सिंगलेट से मर्दाना पसीने, सिगरेट और इत्र की मिली-जुली गंध महकती रही थी। इतना भर मैंने महसूस किया, बस वह तो चला गया किंतु बरसों मेरे अंतस में दबी पड़ी इच्छाओं में आनन-फानन में एक कोंपल अचानक उग आई। इसी खुशी से सराबोर होकर मैं पासवाली कुर्सी में घुटने मोड़कर लेटी क्या रही, फौरन सो भी गई। आँख खुली तो पंखा घिरघिरा रहा था। धुप्प अँधेरे में अनगिन सफेद रेखाओं का उजाला खरखरा रहा था और कभी की बुझी मोमबत्ती अपने ही पिघले मोम के घेरे में बोनसाई बन खड़ी थी।

नेरूरकर भी धीरे-धीरे यहां की स्थितियों से आदी हो गया। उसकी बीबी साड़ी में लिपटे कंकाल सी लगती थी। घनी भौंहों के बीच में सिक्के के आकार की गहरी लाल बिंदी, पल्लू के भीतर छुपाने लायक कुछ न होने के बावजूद साड़ी का पल्लू गमछे की तरह समेटकर जनेऊ जैसा बीचोंबीच लपेट लिया होता था। भटनास की तरह चौड़े, पीले दांत थे उसके घुंघराले बालों में तेल लगा होने के बावजूद वे हमेशा छितरे-बिखरे से दिखते थे। नाक पर ब्लैकहेड्स की खेती थी। पांवाँ की कड़े डंठल सी उंगलियों में बिछिए, नाक में हीरे की मोरनी और गले में मूंगे का मंगल सूत्र... ऐसे हुलिए में नेरूरकर के साथ यदा-कदा वह गैलरी में दिखाई देती थी। उसे देखकर मुझे सख्त अफसोस होता था। नेरूरकर इस कंकाल के साथ कैसे निभाता होगा? अलबत्ता उसकी उंगलियां डायन सी लंबी-पतली थी, पर नाखून चकत्ते भर थे और उनपर अधकचरा, बासी नेल पॉलिश, गृहशोभा, सरिता, मुक्ता के अलावा और कुछ भी पढ़ने वालों की श्रेणी में हठात वह नहीं आती थी। बटनों से बिल्लियां बनाना, शीशियों से ताजमहल बनाना, साबुन की टिकियों से सोफासेट बनाना जैसी अजनबी उपहार सामग्री बनाने का उसे शौक था और बाकी बचे समय में वह चौका-चूल्हा संभालती थी। नेरूरकर पर मुझे दया आती थी और खुद पर तरस आता था, फिर भी इस औरत से मैं कदापि नाराज नहीं थी हालांकि सिर्फ दो-एक बार ही वह मेरे घर आई थी। एक बार हल्दी-कुंकुम का न्यौता देने और दूसरी बार उसे ब्लॉऊज अल्टर करवाना था, तो नाप लेने आई थी, बस इतने में ही मैं उसकी मासूमियत को भांप

गई थी। किसी के हँसने या ठिठोली करने की परवाह किए बिना एक बार उसने एक मराठी गाना सुनाकर बोर भी किया था मुझे गैस का चूल्हा चमकाने के लिए एक पाउडर का नुस्खा भी मुझे बतलाया था। इसके अलावा 'घर' अथवा 'एक हाथ की ताली' या ऐसी ही अन्य होपलेसली निरर्थक मराठी सीरियलों पर पूरे तैश में आकर भाष्य भी किया था उसने। एकाध धनवान किसान अपनी गाय सूखी, ठांठ होने के बावजूद उसे बेचता नहीं, बल्कि मक्खियां, उड़ाती, जुगाली करती खड़ी रखता है। आउट ऑफ कंपेशन ऐसा ही कुछ महसूस हुआ मुझे।

दरअसल मुझे उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए और मैं थी भी। वह नेरूरकर के हाथों कोई डिश मेरे लिए भिजवाती थी। फर्नीचर खरीदना हो तो नेरूरकर टेम्पो के साथ हाजिर, पेस्ट कंट्रोल की सर्विस हो तो नेरूरकर, घर में सामान लगाना हो तो नेरूरकर, रद्दी निकलवानी हो तो नेरूरकर...यानी किसी-न-किसी बहाने नेरूरकर को वह मेरे पार भिजवाती रहती थी। नेरूरकर अपनी गाय से संतुष्ट था। मेरा मन उसकी मासूमियत पर इतनी आसानी से भरोसा करने के लिए तैयार नहीं था। रह-रहकर मुझे लगता था कि इसके पीछे जरूर कोई-न-कोई राज है तथापि, मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। उसकी हिल-मिल मेरे लिए तो खुशगवार ही थी। और हां...उसका बनाया खाना गजब का स्वादिष्ट हुआ करता था।

इस तरह दिन गुजरते रहे और कॉलोनी भी पुरानी होती रही। लिफ्ट के दरवाजे ढीले-ढाले हुए। पंखे बंद पड़े। नल के चूने, रिसने लगे। सफेद दीवारें गमलों से झरते पानी की बदौलत गेरूआ होने लगी थीं। चौकीदार आए और गए भी। निर्माण कार्य लगभग पूरा हो जाने के कारण खांसाहब ने भी अपना घरौंदा स्थानांतरित किया। दूधवाले पाव-ब्रेडवाले, पंसारी अकड़ दिखाते हुए अब किसी हद तक टेक फॉर ग्रांटेड समझने लगे थे। कुछेक शादियां हुईं। कुछेक रिश्ते पक्के हुए। कुछेक जन्मे। कुछेक चल बसे। कुछेक पड़ोसियों में आपसी तनातनी, कुछेक परिवारों में आंतरिक कलह। कुछेक खिड़कियों के शीशे टूटे। चोरी की कुछेक वारदातें हुईं। नेमी तीज-त्योहार-शिवजयंती आदि पताका, डीजे, नाचगाना-के साथ तयशुदा धूमधाम से मनाए गए। कुछेक हानिमुक्त गौसिप विशिष्ट सर्किल्स में सूखे पत्तों की तरह भरभराते रहे। वैसे देखा जाए तो मैं कॉलोनी से कटती ही चली गई।

मैं विपाश, अकेली थी। तीस पार की। मेरी जिंदगी में घटना श्रेणी में गिनने लायक वारदातें बहुत ही कम थी और हुई भी, तो हर घटना के बाद मेरे खालिस अकेलेपन के अहसासों पर एक और निपट अकेलेपन की तप्त मुद्रा अंकित हो जाती थी यानी मेरी जिंदगी रिसते घावों का म्यूरल सी बन गई थी। जैसे-

एक दिन दोपहर के वक्त अलमारी ठीक-ठाक करने बैठी तो बड़े-बड़े, लाल, चिकने-चमकदार, मुच्छड़ झिंगूरों की गुरिल्ला पलटन ने अचानक धावा बोल दिया। मैं तनिक सहमकर चिंहुक उठी। बाद में पंखे की हवा और उजाले की वजह से बौखलाए अंदाज में तेजी से वे इधर-उधर छितरने-बिखरने लगे। मैं झाड़ू चलाकर थक सी गई। उसके बाद दो एक दिन सपनों में झिंगूर आने थे और हड़बड़ाकर नींद उचट जाती थी। लेकिन बाद में स्थिति सामान्य सी हो गई।

एक दिन दोपहर के वक्त छिपकलियों का मैथुन मेरे देखने में आया। मैं किसी से कहना चाहती थी पर कोई था ही नहीं, तो भला किससे कहती? अथवा एक बार दफ्तर की एकांतवासी एक लड़की को किसी का फोन आया। लड़की भी ऐसी कि तेल चुपड़े चिप्पी बाल, ठांठ नुमा बदन, मुंह से आती

बदबू... ऐसी लड़की का फोन आया कि उसकी मां सीरियस है। ऐसे में किसी और के बजाय उसने मुझसे पूछा, 'चलोगी मेरे साथ?' खैर जी। हम दोनों टैक्सी में जा रहे थे, तो रास्ते भर वह अपने पसीनेदार, इकहरे हाथ से मेरी हथेली थामे रही।

हमारे पहुंचते-पहुंचते उसकी मां आखिरी सांस ले चुकी थी। घर में उसका पागल सा, डाउन्स सिंड्रोम का मरीज भाई था। उसकी ओर देखते हुए उसने कहा, 'इसके लिए तो मैं हूँ लेकिन अब मेरे लिए कोई भी नहीं। तुम्हें देखकर लगा था कि शायद तुम्हारा भी कोई नहीं होगा इसीलिए तुम्हें साथ चलने को कहा मैंने।' उसके बाद उसने एक कोरे कागज पर मोटे-मोटे अक्षरों में इत्मिनान से छुट्टी की अर्जी लिखी और कहा, 'खैर, मैं देख लूंगी आगे का। कल मेरी अर्जी दफ्तर में दे देना। अब तुम जाओ।' मैं वहां से चली आई लेकिन जब तक मैं वहां थी, उसका भाई पूरा समय मेरी ओर टकटकी बांधे देखता रहा था... लार टपकाते हुए। छड़े से छड़े को सहानुभूति होती है। साथ ही कोफ्त सी होने लगती है और नफरत भी। जोड़ों से ईर्ष्या तो होती है किंतु उनके प्रति आकर्षण भी रहता है। मुझे भी कुछ ऐसा ही महसूस हुआ क्योंकि काम पर हाजिर हो जाने के बाद वह पूर्ववत् कोये में इस कदर सिमट गई कि मुझे देखकर स्माइल भी नहीं देती थी। अथवा-

पूरे एक महीने तक बॉस किसी-न-किसी बहाने मुझे अपनी केबिन में बुलाते रहे। संकेतन, इतराना, मनुहार, फिकरे कसना, तारीफ करना... हर तरह से मुझे फांसने की कोशिश उन्होंने की किंतु मैंने घास नहीं डाली, न डरी, न हड़बड़ायी। उनकी हिकमतों, हथकंडों की मूकदर्शक बनी रही। अंततः कह भी दिया कि मुझे इन बातों में कोई दिलचस्पी नहीं। मेरी यह दबंगई उन्हें इस कदर रास आई कि उसके बाद से वे हमेशा बड़े इज्जत के साथ पेश आते रहे। पचास पार की उम्र, जरठ पका हुआ चेहरा, थुलथुली तोंद... फिर भी मुझ जैसी अनाकर्षक लड़की को टटोलने का जज्बा इस आदमी में है, तो वजह यह कि मैं विपाश हूँ। मुझे ऐसा ही लगा और दिल तनिक खट्टा भी हुआ। अथवा -

एक बार दफ्तर से घर लौटने के दौरान ही मुझे बुखार आया। कॉलोनी के मुंहाने पर ही सुभद्रा हँसते-खिलखिलाते, अठखेलियां करते, हाथ की थैली को यूँ ही घुमाते हुए नेरूरकर के साथ फ्लर्ट करते खड़ी थी। वह भी अपनी अधखुली आँखों से खुशी-खुशी उसे देख अपने घुंघराले बालों को सहलाते हुए पूरे मजे ले रहा था। उन दोनों को महज एक उचाट 'हॅलो' कहकर मैं आगे निकल गई, तो लव मेरी कलाई थामकर मुझे खींचने लगा उसके हाथ में पतंग थी। मैंने अपनी कलाई छुड़ाते हुए उससे कहा, 'नहीं अभी नहीं' वह स्तब्ध, विश्रब्ध सा ठिठक गया और नीची निगाहों से मांजा लपेटते खड़ा रहा। मैं घर में घुसते ही लड़खड़ाते हुए बिस्तर पर लेट गई। आँखों से अनायास दो बूंद आँसू झर गए। 'मेरा अपना कोई भी तो नहीं, जो माथा सहलाएगा अथवा सिरहाने बैठा रहेगा।' ग्लानि में ही मैं गणेशजी की सिंदूरी वाल हेंगिंग की ओर टकटकी बांधे रही, जो मेरी मां ने बनाई थी। ग्लानि में ही मैं बुदबुदाई, 'तुम्हारी दुनिया में विविधता हो इसीलिए मैं हूँ? खैर, कोई बात नहीं। तुम दूसरों के लिए जितने और जैसे हो, उतने और वैसे मेरे लिए भी रहो। कितनी देर बाद पता नहीं, दरवाजे की घंटी बजी तो मेरी आँख खुली। अँधेरा घिरने लगा था।

कराहते, भेंकते हुए मैंने दरवाजा खोला। लव पतंग को खींचते हुए भीतर आया, मानो कुत्ते की दुम पकड़कर उसे खींच रहा हो। मैंने उससे कहा, 'इतनी रात गए घर से बाहर खेलते रहते हो? तुम्हें

फौरन घर चले जाना चाहिए।' तिस पर उसने सफाई पेश की, मामा आया है, मामा के होते हुए मां घर में रहने नहीं, देती। तुम टी. वी. चलाओ या फिर पतंग उड़ाने चलो मेरे साथ। मैंने उसे बताया, मेरी तबीयत ठीक नहीं। मुझे बुखार है। 'सुनते ही जिद और शिकायती लहजा त्यागकर वह कुछ गंभीर सा हो गया। मेरी पलंग के पास घुटनों के बल बैठ मांजा लपेटते हुए उसने कहा, एक कहानी सुनाऊं? मैंने मुस्कराकर मना किया। वह मान गया। मेरा माथा चूमकर पतंग से तनिक हवा की और वह चला गया। दरवाजा बंद होने की आवाज न आने से मैं बिस्तर में ही उठ बैठी। नेरूरकर भीतर आ रहा था। मेरी ओर देखते हुए उसने दरवाजा बंद कर लिया। मेरा हुलिया देखकर उसने कहा, 'क्या हो गया तुम्हें? इस तरह क्यों बैठी हो?' मैंने चेहरे पर हाथ फेरते हुए कहा, 'हुआ कुछ नहीं बस, थोड़ी हरारत सी लग रही है।' वह पसीज गया और अदब के साथ मुझे लिटाकर उसने कहा, 'कहो तो पैर दबाऊं?' ऐंठने की हद तक गर्दन हिलाकर मैंने मना किया। 'पागल हो गई हो? फिर हम किसलिए हैं?' कहकर मेरे ठसकते माथे से उसने होंठ छुआए और चाबी लेकर वह निकल गया। आज नेरूरकर ने मेरे बदन से छीना-झपटी नहीं की। छुअन तो उसकी आज भी महसूस की पर उसका अंदाज कुछ अलग था। लव और नेरूरकर मैं एक की मां और दूसरे की अभिसारिका। दोनों मेरी भाग्य रेखा को चूमकर चले गए। रात में बीवी के साथ वह आया बीवी ने अपनी इकहरी उंगलियों से चम्मच थामकर पतली सी लापसी मुझे पिलाई लेकिन प्रत्येक घूंट क्रूर और संगदिल मुकद्दर की तरह मुझे कचोटता रहा। मैंने आँखें बंद कर लीं। उन्हें लगा मुझे नींद आई है। आपस में कुछ फुसफुसाकर वे चले गए। जाते समय बीवी के पैरों में पहने बिछियों की आवाज मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ी। अँधेरे में सिंदूरी गणपति की आँखों की जगह दो बिंदियां चमचमाती नजर आई। नेरूरकर के शब्दों की तरह... 'हम हैं ना!' और बिछियों की आवाज की रोब के असर में मुझे अधकचरी नींद आई।

मुझे याद आ रहा है कि बुखार की उस घटना के बाद पहली बार नेरूरकर को लेकिन मुझे अपराधबोध हुआ और संकोच भी। उसके बाद तो मैं फंसी चिड़िया जैसे जाल के साथ उड़ जाती है, वैसे ही नेरूरकर के प्रति बेहद आकर्षण के बावजूद में इधर-उधर दिल बहलाती रही। किसी भी विपाश, छड़े व्यक्ति की तरह व्यवधानों के बहाने टूटती हुई चमगादड़ की तरह भरभराने लगी। अंध-अपंग बच्चों की स्कूल में जाना अथवा पेसीनोट फस्टडे कवर्स इकट्ठा करना अथवा बेवा औरतों के संगठन में अवैतनिक बाबूगिरी करना अथवा ब्यूटीशियन की क्लास ज्वाइन करना, अथवा ट्रेकिंग के बहाने सिगरेटें फूंकते हुए पहाड़ों की खाक छानना अथवा वजन कम करने के नुस्खों को आजमाना.. आदि अनेकानेक रास्तों से गुजरकर एक दिन मैंने गाना सीखने की ठान ली। घर बैठे दिल बहलाई का यह एक अच्छा साधन था। इसी क्रम में एक दिन मैं हारमोनियम पर उंगलियां फेर रही थी, कि लव आ गया। अनमनेपन के बावजूद दसेक मिनट शांति से वह सुनता रहा। उसके बाद मैंने ही कहा, 'बोला... तो उसने पूछा 'तुम गाती हो?' उसके इस सवाल पर मुस्कराते हुए मैं उससे यह पूछने ही वाली थी कि 'तो महोदय, आपकी राय में इतनी देर तक क्या कर रही थी?' कि वही खुद पूछने लगा, 'कल जो राग तुमने गाया, वह काफी था?' मैं हैरान। तुम्हें कैसे... 'मां बता रही थी।' बिलकुल ठीक। कल रात नींद ही नहीं आ रही थी, सो साढ़े दस बजे के आस-पास मैंने तान छोड़ी। 'मेरी मां गाना जानती है। उसके बापू मंदिर में पुजारी थे। उन्हीं से उसने गाना सीखा।' अब तो पतंग के

साथ-साथ गाते वक्त भी लव मेरे सामने बैठा रहता था। वह भी तरन्नुम में गाता था... लाजवाब बिना समझे। नकल ही करते हुए मगर एकदम सही और सहज।

अदृश्य हुई गंगा मानो प्रकट हुई थी। पाठक की गृहस्थी की हबड़-दबड़ में दबा पड़ा उसका गाना इस बालक रूप में सुर-बहार बनकर सामने आया था। असना के पत्ते जैसे गाल और उनमें पड़ने वाले गड्ढे... ठीक उसी तरह का यह साक्षात्कार। लव में फूट पड़े चैतन्य का सुरूर भी ऐसा ही था... अनोखा और खुशगवार। खिलते फूल सी उमंग थी उसमें, फुदकते खरगोश-सा अधीर... हुलफुलाता-सा, सूंडी-कीड़े-सा लोलुप, किसी फव्वारे सा उलंगता। हिलता-उमगता... लव की मां का संचित था यह। सोचती थी कि मेरा सेंस ऑफ ह्यूमर किसमें अंतरित होगा? तो इस तरह मैं कॉलोनी से कटकर अलग होती चली गई और मेरा संपर्क केवल सुभद्रा-उसने अपने पंखों में मुझे समेटने का बीड़ा ही उठाया था इसलिए लव और नेरूरकर इन्हीं तक सीमित हो गया।

एक बार सुभद्रा ने लोकल ट्रेन में आंकड़ी के टांके बड़ी सफाई से सूई पर लेते हुए, आंकड़ी दांतों से पकड़कर, मेरी ओर देखा और उंगलियों की हलचल तनिक भी रोके बिना मुझसे कहा, अरे, पाठक की वाइफ के बारे में सुना तुमने? कलदार रिक्का जमीन पर गिरने के बाद होने वाली खन-खन सी दनदनाती आवाज थी उसकी। उसकी बातों में पूरी दिलचस्पी होने का दिखावा करने में अब मैं माहिर हो चुकी थी क्योंकि सुभद्रा को लेकर मेरे दिल में एक घाव तो वैसे भी हरदम रिसता ही था, गांठ भी थी। उसके बदन की कांति, मोटी-मोटी मदमस्त आँखों की खुमारी का सुरूर तो था ही। इसके अलावा अत्यंत मुलायम और महीन सी मयूरपंखी छुअन से मर्दों को उकसाने का गुर उसे पता था। ऐसी मतवाली हरकतों के बाद भी अपनी साफ-सुधरी प्रतिमा बरकरार रख पाने का जब्बा उसके पास था। अपनी आवाज की ही तरह खनखनाता, खिलखिलाती हँसी सा उन्मुक्त, छाती की गोलाइयों की तरह उन्नत, हर दिल अजीज आत्मविश्वासी आकर्षण उसके व्यक्तित्व में था। उसके इसी मोहजाल में फंसते हुए नेरूरकर को मैं कई बार देख चुकी थी। सुभद्रा मस्तमौला है। मैरीड विथ टू किड्स। खुशहाल गृहस्थी। उसके हिसाब से नेरूरकर यानी भोजन के बाद की स्वीट डिश की तरह था और नेरूरकर के लिए सुभद्रा मदमस्त स्टेपनी थी। उन दोनों के लिए भी यह परस्पर उलझाव कुछ ऐसा था कि हींग लगे ना फिटकरी, रंग चोखा! दोनों के परस्पर व्यवहार में कोई लाग-लपट नहीं थी। खुल्लम-खुल्ला, अनिर्बंध स्वच्छंदता का मूर्त रूप और मैं? मेरे लिए तो नेरूरकर भूखे-प्यासे का कौर है; जिसकी कोई गारंटी नहीं कि भूख लगने पर वह मिलेगा ही और मिले भी तो चोरी-छुपे निगल लेना पड़ता है। खैर, यह तो जिसका उसका मुकद्दर है!!!

कहने का मतलब यह है कि सुभद्रा के प्रति मन में बसे इसी डाह के कारण मैं खुद उसके पंखों की गिरफ्त में जाना पसंद करती थी। इस बार भी फरेबी उत्कंठा जतलाते हुए मैंने जवाब दिया, 'क्या? मुझे तो कुछ भी पता नहीं। तुमने क्या सुना उसके बारे में?' मुंह में पकड़ी आंकड़ी को वैसे ही रखकर उसने तनिक आँखें मूंदकर कुछ-कुछ बुझे-बुझे से अंदाज में अपने खूबसूरत होंठ मोड़ लिए और कहा, माई गॉड! यू आर इंपोसिबल। शीइज वोरिंग अवे विथ द होल टाउन एंड यू डू नॉट नो? उसकी सुनाई खबर से भी ज्यादा खबर सुनाने के उसके अंदाज से मैं सिहर उठी। सुभद्रा के प्रति संजीदा किस्म की ईर्ष्या सी हुई मुझे। वह बेबाक बताती रही... कि पाठक की बीवी से मिलने अकसर लोग आते रहते हैं। खिड़की के पास खड़ी होकर उसकी इशारेबाजी चलती रहती है कि उसे रिक्का

में दबोचकर ले जाते हुए फलां-फलां आदमी ने देखा एक बार वह घर में नहीं थी, तो एक डिसपेरेट आदमी ने किसी दूसरे का ही दरवाजा खटखटाया कि एक बार रेवड़ के लोगों को चौकीदार ने टोका था, तो दोपहर को घर जाते वक्त उसे घेरकर उन लोगों ने जमकर धुनाई की उसकी। कि दो कौड़ी की छैल-छबीली औरत की वजह से समूची कॉलोनी की सांस्कृतिक धरोहर पर आंच आने लगी है ई... ई... इस बीच ट्रेन चर्चगट स्टेशन में आ पहुंची। सुभद्रा ने दो तीन ईंच से आगे बढ़ी बुनाई के कसीदे को अपनी थैली में खोंस दिया और हम अपने-अपने गंतव्यों की ओर चल दिए।

सुभद्रा ने ट्रेन में जिस दिन पाठक की बीवी के बारे में बताया, उसी रात वह वाकया हुआ। नेरूरकर ने प्रभा... अन्ने की एक कैसेट मुझे दी थी और रेकॉर्डर ऑन कर उसे सुनते हुए आराम से मैं बिस्तर में लेटी थी। इतने में बेडरूम की खिड़की में से गाली-गलौज, चीखना-चिल्लाना, उठा-पटक, रोना-भेंकना आदि का शोर सुनाई दिया। पाठक के ही घर में यह हाय तोबा मची थी। पाठक का मुंह हमेशा पीक से भरा होने के कारण उसकी जुबान से 'र' का उच्चारण 'द' की तरह हो जाता था और उसकी इस खासियत को मैं अच्छी तरह से जानती थी। इससे पहले भी ऐसा ही एक वाकया हो चुका था पर इसे उनकी वाली भारतीय संस्कृति, उनका एक दूसरे से रिश्ता और परस्पर गरज का अपरिहार्यता का हिस्सा मानकर मैं खामोश रही थी...मानकर कि ऐसा तो होता ही रहता है। लव को हँसते-खेलते, रूठते-फुदकते देखने भर से ही मुझे तसल्ली हो जाती थी। उसके घर-परिवार के बारे में गलती से भी कोई सवाल मैंने उससे पूछा नहीं था। लोग अपनी साफ-सुथरी, निरीह जिंदगी को अनावश्यक कुतूहल की जहरीली चोंच से व्यर्थ ही कोंचते रहते हैं, वहम-इल्जामों के डंक मारते हैं... बे वजह। इस तरह के दुनियावी रवैये से मैं भलीभांति परिचित थी। अतः इस नादान, मासूम बच्चे को कम-से-कम मेरी वजह से ऐसा कोई अहसास न हो, इस बात का पूरा एहतियात मैं बरतती थी। किंतु उस रात मुझसे रहा नहीं गया। पाठक की बीवी के बारे में जो कुछ मैंने सुना, वह तो दिन भर के घटना-क्रम और लोगों-लम्हों के मलबे के नीचे कभी का दफन हो चुका था। रेत के भीतर से रेत को कुतर-कुतर कुरेदते हुए ज्यूं केकड़ा सतह पर आ जाता है, ठीक उसी तरह वह खबर मेरे अवचेतन को खरोचती रही।

कोई भी खबर सुभद्रा तक पहुंच जाने का मतलब होता था परिपत्रक जारी होना। संभवतया इन सभी वारदातों की हवा पाठक तक पहुंच ही गई होगी। क्या वाकई ऐसा हुआ होगा? इन दिनों कभी-कभार ही पाठक दिखाई पड़ता है। अलबत्ता परसों दिखाई तो दिया था पर बहुत ही कमजोर और थका-थका सा लग रहा था। आँखों के नीचे का हिस्सा स्याह सा हो चुका था... शायद किसी ठेके से लौट रहा था क्योंकि देखकर भी, गर्दन झुकाए आगे निकल गया। आँखों के गड्ढों में झूमरी सिलवटें पैदा करने वाले अंदाज में वह हँसा भी नहीं।

पाठक चिल्ला रहा था। रोने-कुनमुनाने के अंदाज में कराहता भी था। थक कर हांफते हुए भर्राई सी आवाज में बुदबुदाता था। एक और थप्पड़ या लत्ता प्रहार हो गया अथवा होने का अदेशा हो जाए तो फिर से वह बेचारी रिरियाने लगती, बिलखने लगती। मानो पाठक ने उसकी बांह मरोड़ दी हो। बेशक आवाजें तो उन दोनों की ही थी। किंतु लव? सो रहा होगा? और बाकी दो? इस पूरे झमेले में...

किसी का अंदरूनी मामला होने का यह मतलब नहीं कि किसी की जान लेने का लाइसेंस

उसे मिला हो। समूची कॉलोनी में सन्नाटा था। कुछेक घरों में रोशनी दिखाई भी दे रही थी लेकिन इस झमेले में हस्तक्षेप करने में कोई पहल करते दिख नहीं रहा था। अपनी निर्गुतावादी, सुसंस्कृतता की सीमा रेखा लांघने के लिए कोई भी तैयार नहीं था। मुझे लव याद आता रहा, बेचैनी की सीमा तक। उसी पिनक में सीढ़ियां उतरकर मैं नीचे क्या आई वहीं ठिठक गई। पाठक के बंद दरवाजे के सामने ही मिचमिची आँखों वाला, लव और उसका जुड़वा भाई-तीनों खड़े थे। जुड़वा भाई झुंझलाए से अंदाज में, लुढ़कते हुए नीचे आकर बैठा था। ऊंध रहा था। मिचमिची आँखों वाला रस्सी लपेटकर लट्टू खेलने और उसे अपनी हथेली पर थाम लेने की करामात में मस्त था जबकि लव दोनों हाथ पीठ-पीछे लिए, दीवार से टेककर, लंबी-लंबी बरौनियों वाली आँखों से नजारा देखते खड़ा था। उसकी आँखों में नमी तो थी किंतु आँसू अभी दहलीज पर ठिठके हुए थे। मैं सीधे, मुख्य मुद्दे को ही लक्ष्य करने के तेवर में उसके सामने डट गई और मैंने कहा, 'चलो मेरे साथ' कुछ पल गुमसुम सा वह अपलक मेरी ओर देखता रहा और बाद में उसने गर्दन हिलाई। फिर यकायक तनिक, खीझते हुए उसने कहा, 'तुम जाओ! मैं उसी की गोद में सोऊंगा और वह फूट पड़ा। मैं दंग रह गई। कलेजे को सीधे बींधने वाला घाव तो बच्चे ही कर सकते हैं। अनजान सी अदा में, पूरी मासूमियत के साथ... ऐसे में कोई पलटवार भी नहीं किया जा सकता था। मैंने तो सिर्फ आँसू पोंछ लिए उसके।

मैं समझ गई कि उन-दोनों में जो जैविक बंध हैं, उन्हें मैं तोड़ नहीं सकती, न कभी तोड़ पाऊंगी। उसकी बरौनियां, गालों में पड़ने वाले गड्डे, उसकी जिंदादिली, उसकी सुरंगमा, पतंग उड़ाने का उसका शौक यह सब उसी की तो देन है यानी कि उसके गुणसूत्रों का लव के शरीर में सीधे अंतरण। उन दोनों के बीच में मेरी दखलंदाजी पूरी तरह से वर्जित है। इस रिजैक्शन को जच्च करने का एक ही उपाय है अॅक्सेप्टन्स। उसके सामने मैं घुटनों के बल बैठी थी। हमेशा की तरह थम्सअप का निशान बनाकर मैं उठ खड़ी हुई। ठीक उसी वक्त दरवाजा खुला। सामने पाठक खड़ा था। तीनों बच्चे तुरंत भीतर चले गए। मानो इसके अभ्यस्त थे वे। चिड़चिड़े, कमजोर कुश को पाठक ने गोद में उठा लिया और मिचमिचे के सिर पर एक जोरदार थप्पड़ रसीद की। इसके बाद उसने मुझे देखा। कुश को थपकते हुए दरवाजा लगा लेने के दौरान अॅलमोस्ट आँखों के नीचे वाले हिस्से में झूमरी बलैया पड़ने के से अंदाज में स्नेहिल मुस्कान उसके होंठों पर उभर आई या फिर ऐसे मोमदिल और अत्यधिक स्नेहिल इनसान ही इस कदर बेइंतहा वहशी हो सकते हैं? इसी के बारे में सोचते हुए मैं अपने घर लौटी। मानो जबरन ही मेरी नजर खिड़की में से होती हुई नेरूरकर की बालकनी की ओर मुड़ी। वहां तो पूरा अँधेरा था। उसके बेडरूम में अलबत्ता हल्की नीली रोशनी वाला नाइट लैंप जल रहा था। जैसे किसी ने मुझे धक्के मारकर निकाल बाहर कर दिया हो।

ऐसे निपट एकल क्षण में दरियादिल बनकर भगवान को भी माफ कर देने के अलावा मानव के पास और कोई विकल्प नहीं होता। मैंने आंखें मूंद ली। बंद आँखों के सामने नीले-नीले वलय कुछ देर तक तैरते रहे और मुझे ऐसी गहरी नींद आई, मानो मैं लव के गालों के गड्डों के भंवर में डूबी जा रही थी।

उसके चार-छः दिनों के बाद का ही वाकया है यह। थाली में खाना परोसकर टी.वी. ऑन करने के बाद मैं पहला कौर लेने को थी कि कर्कश आवाज में दरवाजे की घंटी बजी। राजमा लव को बहुत पसंद था और आज मैंने वही बनाया था, सो बड़े उत्साह से मैंने एक हाथ से दरवाजा खोला। दस-बारह

दिन गायब ही रहा था कम्बख्त! लेकिन दरवाजे के सामने कॉलोनी के दस-बारह लोगों का हुजूम खड़ा था। दोनों हाथ पीछे धरकर, नजर झुकाए, काली चींटी सा, डरपोक किस्म का किसी और श्वासोच्छ्वास की तरह निरंतर स्कूटर की चाबी उंगली में फंसाकर घुमाते रहने वाला, काला-कलूटा, मुस्टंडा कदम उनमें से ये दो ही चेहरे मुझे परिचित से लगे। किणी को पीछे की ओर धकेल कर च्यूइंगम चबाते हुए एक आदमी सामने आया और उसने एक फर्मा मेरे सामने धर दिया। किसी अर्जी-वर्जी का मसूदा लगता था। यहां दस्तखत करना। रौब से चाबी घुमाते हुए गुस्ताख कदम ने कहा और पीछे मुड़कर हुजूम के लिए उसने हिकारत भरी स्माइल दी। मैंने पूछा, 'यह है क्या चीज और दस्तखत किसलिए?' वो सब बाद में बताएंगे। पहले साइन... मैंने हुजूम की ओर देखा। अधिकांश लोग मुझे और मेरे घर को आँखें फाड़कर घूरते नजर आए। मैंने महसूस किया कि सबों में एक अधीर उत्साह उफन रहा था जो उनकी ऐंठन से भी व्यक्त होता था। मामले को रफा-दफा करने के उद्देश्य से मैंने दस्तखत कर दिए। 'जाओ अब बाकी लोगों के दस्तखत लेकर गेट पे आ जाना मैं वहीं मिलूंगा। तब तक इसे बताता हूँ कि ये माजरा क्या है। मेरे पास एक अतिरिक्त प्रति है चाहो तो पढ़ने के लिए दे सकता हूँ कहकर कलचिंटिया किणी दनदनाते हुए जीना चढ़ रहे लोगों के पीछे-पीछे आराम से सीढ़ी-दर-सीढ़ी ऊपर की ओर जाता रहा। कदम टांगें फैलाकर कुर्सी पर बैठे-बैठे टी. वी. देखने लगा। 'वीडियोकॉन है? मेरे घर में भी इसी महीने आ जाएगा।' ई...ई... मैंने सिर्फ 'हां' कहा। उसने पूछा। 'तुम्हें पता नहीं?' मैंने कहा 'नहीं।' 'तुम्हारे नीचे ही तो रहता है न पाठक?' मैं चौकन्नी हो गई। 'उसका क्या?' बीवी को धंधे पे लगाया है उसने। कित्ते लोग हमेशा आते रहते हैं उसके घर। गोया मंदिर हो। फिर भी तुम्हें पता नहीं?' ये साले, काशी के बम्पन! बीसियों लोगों के साथ सोयी औरत को बीवी बनाया है? हमारी भी मां-बहनें हैं।' उसे नीचे लिटाने वाले रंडीबाज कल को हमारा भी दरवाजा खटखटा सकते हैं। ये कॉलोनी जंटलमैन लोगों की है। उसकी बकबक जारी थी। मैंने कागज का मजमून पढ़ा।

एज सी इज केरिइंग ऑन प्रोस्टीट्यूशनल प्रैटिक्सेस, एप्रेंटली विथ द एप्रूवल ऑफ हर हसबैंड एंड दस स्वाइलिंग दि कल्चरल एटमोशफियर ऑफ दिस कॉलोनी...

मैंने कागज को मोड़कर मुट्ठी में दबाया और सनकी अंदाज में बैठ गई। चाबी घुमाना बंद कर कदम मुझे घूरता रहा और मेरे तेवर को भांपकर उठ खड़ा हुआ। कहने लगा तुम अकेली रहती हो। ध्यान रखना। वैसे तो वक्त-बेवक्त हम लोग हैं ही लेकिन किसी भी कीमत पर पाठक को यहां से भगाकर ही सांस लेंगे। अच्छा, चलता हूँ। सबके दस्तखत हो जाने के बाद मीटिंग होगी। जाते-जाते पीछे मुड़कर उसने पूछा, 'वीडियोकॉन में तुम्हें कितना कट दिया डीलर ने?' मैंने उसे बताया और दरवाजा बंद कर भीतर आ गई। इस बीच राजमा ठंडा हो चुका था और उस पर एक मच्छर भी भिनभिनाने लगा था। ट्यूब लाइट की झकाझक सफेदी के बरक्स उसे ताकते हुए बैठी रही, बस कुछ देर बाद पंद्रह-बीस लोगों के तीस-चालीस कदम खट-खट सीढ़ियां उतरकर जाने की आवाज सुनाई दी। ये वही लोग थे जिन पर एक अनोखा जुनून सवार था और एक योजनाबद्ध हमले के तहत उसे निःशेष कर डालने के जोड़-तोड़ में लगे थे वे। मैंने फिर एक बार कागज पर निगाह दौड़ाई। मजमून हाथ से लिखा हुआ था। बेशक वह कलचिंटिया कीणी की ही लिखावट थी। नोटिस बोर्ड पर भी वह थाउट ऑफ दि डे आदि लिखा करता है। घरेलू चौबक ने हं... हं... कहते हुए तर्जुमे

को हरी झंडी दी होगी। सुभद्रा ने अपनी खनकती आवाज में वेरी गुड कहते हुए, होंठों को गडुए सा बनाकर हस्ताक्षर कर दिए होंगे। रजनी ने साड़ी के पल्लू से हाथ पोंछते हुए दस्तखत किए होंगे और ऊपर से कहा भी होगा, 'मैं कहती हूँ इस पर अंकुश लगना ही चाहिए।' यह एक ऐसे भगोड़े जत्थे की हिंस्र कार्रवाई थी जिसने न कभी किसी नियम को तोड़ने की जुरत की होगी और न ही किसी नियम को मरोड़कर नकारने का दुःसाहस किया होगा। अपना कुछ भी दांव पर लगाए बिना किसी पर वार करना और फिर उसके घावों को कुरेद-कुरेद कर मजे लेने की बेजा हरकतें है यह। किसी का घर उजाड़ने की कीमत पर भी... लेकिन मैंने भी तो दस्तखत कर ही दिए न। जत्थे का खौफ खाकर। उनके संख्या बल के सामने घुटने टेककर। संवाद-क्षमता खो जाने पर पानी गले तक आते ही बंदरिया जैसे अपने ही पिल्ले के सिर पर खड़ी हो जाती है। लव के घर को मैंने उजाड़ा यानी उसे उजड़ने दिया और मैं मूकदर्शक बनी रही। 'स्पेयर मी, शेयर मी'। आखिरकार यही एक इल्लिजा हमें इन लोगों से करनी होती है शायद!

अगले दिन रविवार था। भरी दुपहरी में नेरूरकर आया। उसके हाथ में डिब्बा था। उसने वह मुझे थमा दिया और धम्म से कुर्सी में बैठ गया। आज उसका नूर कुछ अलग था। खोया-खोया सा, उचाट। वैसे तो मेरा मिजाज भी आज सामान्य कहां था! आहत सा, धुंधुआता सा। छूटते ही मैंने पूछा, 'झाफ्ट पढ़ा तुमने?' उसने गर्दन हिलाकर हां कहा। मैंने आगे कहा, 'लेकिन तुम तो सेक्रेटरी हो। अपने अधिकारों के तहत तुम बदल सकते थे। अभी भी बदल सकते हो। बदल डालो।' एक ही सांस में कह गई मैं। 'अरे, वह किसी की पत्नी है। किसी की मां है। उसे वेश्या करार देते हो तुम लोग? और घर-घर में फर्ा चलाकर मुनादी देते हो? इससे ज्यादा कुछ कहा नहीं गया मुझे। मेरी हालत देखकर नेरूरकर तनिक होश में आया था। सावधान होकर उसने कहा, 'लेकिन यह तो सच है कि लोग उसके घर आते हैं।' उसकी दलील सुनकर मैं हैरान रह गई। पल-दो पल रूककर बर्फ में छुरी घोंपने के अंदाज में तपाक से मैंने कहा 'तुम भी तो आते हो मेरे पास।' भीतर-ही-भीतर वह तिलमिलाया और करांगुलि के बढ़ाए हुए नाखून पर उंगली घुमाते हुए, बंद जुबान से मुंडी हिलाता रहा, बस।

'ब्याह के बाद की जिंदगी में आने वाला हर मर्द ग्राहक नहीं होता। समझे? ज्यादा-से-ज्यादा वह गर्जमंद मर्द हो सकता है और उसकी गर्जमंद से तुम्हारी गर्जमंदी के तार यदि जुड़ जाते हैं और स्थितियां अनुकूल रही तो किसी भी स्त्री-पुरुष में इस तरह के संबंध स्थापित हो सकते हैं।' नेरूरकर इस बात को हजम कर पाया अथवा नहीं, मुझे नहीं मालूम किंतु मैं अपने तई बिलकुल स्पष्ट थी। नेरूरकर के बारे में किसी भी तरह की जानकारी के बिना, उस पर मेरे रीझने का मुख्य कारण था शरीर। दिल या बदन की मांग के बिना अन्य किसी वजह से ऐसा कोई रिश्ता पनपता है तो उसे व्यभिचार कहा जाएगा। फिर वह कारण सत्ता, मौका हड़पने का हो, या फिर बोअरडम से निजात पाने का गरज या मजबूरी जितनी कम या खोखली हो, उतना ही व्यभिचार ज्यादा माना जाएगा और फिर यह गरज या मजबूरी हर व्यक्ति पर निर्भर करती है...एक की गरज कोई दूसरा व्यक्ति तय नहीं कर सकता। इसी बात से तो व्यभिचार के लिए एक चोर-दरवाजा अधखुला हो जाता है इसीलिए समाज नियम आदि तय करता है लेकिन क्या कोई पूरी ईमानदारी से और मुस्तैदी से नियमों का पालन करता है? ऐसे सभी नियमों का पालन लोग डर या दहशत के मारे ही तो करते हैं। इन्हें

धता दिखानेवालों के लिए ये नियम, नियम कोई रोड़ा नहीं अटका सकते किंतु जो लोग कमजोर होने के बावजूद अपनी बलाढ्य अंतः प्रेरणा के बूते नियमों का उल्लंघन करते हैं- पाठक की बीवी की तरह तो उन्हें नोंच खाने के लिए समाज भेड़िए की तरह झपट पड़ता है या फिर ये सब फिजूल की बहस है? ईमानदारी ही क्या समूचे पाप-पुण्य का निकष हो सकती है? कोई भी ऐसा संबंध, जिसमें न खुद हम, न कोई दूसरा भी ठगा जा रहा हो, जायज ही है? जायज न सही, लेकिन स्वच्छ? सुधरा?

मैंने सोचा तो बहुत कुछ था लेकिन जहां तक नेरूरकर की बात है, यह सब फिजूल था। मेरा मुख्य उद्देश्य तो ड्राफ्ट उससे बदलवाना ही था। नेरूरकर ने कहा, 'मैं जानता हूँ वह वेश्या नहीं है। वैसे तो पाठक भी ठीक-ठाक ही है। भूल हुई उससे लेकिन किससे नहीं होती भूल? क्या दुनिया में सिर्फ स्याह और सफेद ही होता है? दरअसल स्याह और सफेद बीच में ही बसी होती है दुनिया।' यकायक नेरूरकर को चूमने को मेरा दिल किया। फिर वह पाठक की पूरी दास्तान सुनाता रहा जो खुद पाठक ने ही कभी उसे सुनाई थी। पाठक अपने मां-बाप की पहली संतान था। घर में बेहद गरीबी। बड़ी मुश्किल से पढ़ाई-वढ़ाई की। नौकरी भी प्राप्त की। अपने भाई-बहनों की शिक्षा-दीक्षा, शादी-ब्याह आदि से निपटते-निपटते पैतीस हो ही गए। अच्छा पढ़ा-लिखा और नौकरीशुदा होने से गांव के पुजारीजी ने अपनी जवान बेटी उसे ब्याही। दुनिया भर का हिसाब-किताब पूरा करने के चक्कर में कुछ भी बचत नहीं हो पाई थी।

वह मुंबई में दाखिल हुआ। धारावी में पनाह ली। वहां की दादागिरी और भाईगिरी देखी। सिर पर कर्ज का बोझ था ही। धारावी में स्थाई निवास करने का तो सवाल ही नहीं था। और मुंबई में मकान लेना तो...उसने वहां के दादा की सेवा में अपनी बीवी पेश की। दादा ने उसके खूब मजे लिए। तनाव के इन्हीं दिनों में शराब की आदत पड़ी। इस बीच अस्थमा ने उसे दबोचा। दोनों की उम्र में काफी अंतर होने के कारण बीवी की तुलना में उसके बदन की ऊर्जा उतार पर ही थी। दारू के नशे में वह उसे मारता-पीटता था। वह चुपचाप सहती थी। वह उल्टी-वल्टी करता, तो भी मुंह से उफ भी किए बिना उसे वह साफ किया करती थी। वह खांसता था। बीवी रात-रात भर जागकर उसके बलाम को समेटती थी। एक बार किसी 'दादा' से हुई हाथापाई ने उसे निकम्मा बना दिया। फ्रस्ट्रेशन के इसी दौर में उसने गर्भवती बीवी की जमकर धुनाई की। उसका गर्भपात हुआ। वह पाठक का बच्चा था। इस हादसे से वह सुलग उठी। चारों ओर से घिरे होने की असहायता के बावजूद वह फन फैलाए व्याल सी सिद्ध हो गई। उसके बाद उसने एक तरह से पाठक को दरकिनार ही कर दिया। पाठक भी अपनी गुस्ताखी के कड़वे घूंट निगलते हुए अनसुनी, अनदेखी करता रहा। इस पूरी उठा-पटक में अब वह पाठक की बीवी नहीं रही पर मां तो बनी ही रही। पाठक इस हकीकत को कदापि नहीं भूल सकता। जिन बच्चों का बाप बनकर पाठक पेश आता है, उनमें से एक भी संतान उसकी अपनी नहीं है। वह तो महज कर्ज चुका रहा होता है...

उलझनों के इस गुंजल्क ने पाठक के मामले को एक नया धरातल प्रदान किया। मैं कान लगाकर सुनती रही। नेरूरकर ने अचानक पूछा, 'तुमने दस्तखत किए?' मैंने जवाब दिया हां। बहुत सारे लोग थे। मैं मना नहीं कर सकी। तुमने? उसने कहा, 'नहीं। यही तो मैं कह रहा हूँ। वे लोग मुझे ड्राफ्ट दिखाने आए थे, तब मैं घर में नहीं था। मेरी बीवी ने मजमून पढ़ा और कागज उन्हें वैसे

ही दे दिया। घर आने के बाद इसने मुझे बताया तथा उस पर हस्ताक्षर न करने के लिए कहा। ये लोग उन्हें यहां से घर से बाहर निकालना चाहते हैं... उनके बाल बच्चों समेत उन्हें सड़क पर मत आने दीजिए' और मेरे अड़ियल रूख को देखकर आगे यह भी कह दिया, देखो जी, मैं तो आपके लिए किसी काम की नहीं हूँ इसलिए आप उस लड़की के पास जाते हैं कि नहीं। वह भी अकेली है, पढ़ी-लिखी है, आपकी बराबरी की है और समझदार है इसलिए आप दोनों की चूमाचाटी आपस में खूब चलती है और किसी को कुछ मालूम भी नहीं होता। आपके पास तो दिल बहलाई के लिए सिगरेट है, दारू है, फिल्में हैं। दुनिया भर की चीजें हैं। फिर भी...पाठक की बीवी क्या करेगी? आप हरगिज हस्ताक्षर नहीं करेंगे...

मैंने नेरूरकर की ओर देखा किंतु वह मेरी आँख बचाता रहा मानो वाकया बयान करते हुए खुद उसकी अपनी पत्नी आँखों में तैर रही हो और उसे देखने में ही वह खो गया हो।

'इसका मतलब हुआ कि उन्हें शुरु से सब कुछ पता है।' 'लगता तो कुछ ऐसा ही है!' लंबे बड़े नाखून से कुर्सी पर ठकठक करते हुए कंधे उचकाकर उसने कहा और उठकर दरवाजे तक आगे बढ़ा। हमेशा की तरह हम दोनों करीब तो आए किंतु अलग हो गए... कोई देख रहा हो। दरवाजा खोलते हुए उसने कहा, 'तुम्हारे लिए सेम-चावल भेजे हैं, ये रहे। अच्छे बने हैं।' और चला भी गया। आनन-फानन में शुरु हुआ यह सिलसिला उसी तरह से खत्म भी हो गया। यह अहसास मुझे उसकी ठट्टी उंगलियों में पहने बिछिए जैसा मन-ही-मन सालता रहा।

दूसरे दिन मैं दफ्तर नहीं गई। घटनाओं की टीस कचोटती रही थी। स्याही की मोटी सी बूंद गिरने को सन्नद्ध होते-होते वहीं ठिठक गई हो या थम गई हो... ठीक उसी अंदाज में रात के पहर मेरी आँखों में जमे रहे... बिताए न बीती रतिया से। भोर में कहीं आँख लगी और जब खुली तो लगभग दोपहर होने को थी, दूध की थैली दहलीज पर लावारिस बच्चे सी पड़ी थी मैंने उठा ली। चाय बनाकर मजे से चुस्कियां लेते हुए बालकनी में चली गई। पानी के पंप, कुकर की सीटियां, कूट-पीटकर कपड़े धोने, पाव-डबलरोटी वालों की साइकिलें, दूधवालों के कैन, अपने-अपने बच्चों के लिए माताओं की टेरे, लिफ्ट के दरवाजों की खोल-मीच भूले-बिसरे गीत... सवेरे की ये सभी नित्य नेमी आवाजें थम गई थी और प्रातःकालीन दैनिक कर्मों से निपटकर जपमाला हाथ में थाम मनके फेरती दादी मां सी कॉलोनी सुस्ता रही थी।

यूँ ही मेरी नजर नीचे की ओर गई। पाठक तेजी से कदम बढ़ाते हुए जा रहा था। उसके एक हाथ में बड़ा सा एक ट्रंक और दूसरे हाथ में ऊँघते-ऊँघते शिथिल पड़ा, लव का जुड़वा भाई था। पीछे-पीछे उसकी ठट्टी बीवी कंधे से शबनम बैग लटकाए, तनकर आहिस्ता-आहिस्ता जा रही थी। उछलता, फुदकता, अठखेलियां करता लव उसका दूसरा हाथ थामे था। उनके पीछे मिचमिची आँखों वाला बच्चा...काफी सामान लादकर कंधोरते हुए जा रहा था।

इसका मतलब हुआ कि पाठक को खदेड़ दिया गया और वह जा रहा है? मेरे हाथ में चाय की प्याली थी, छलक गई यानी कि यहां से पाठक का पत्ता कट गया? हुजूम जीत गया। जत्थे की विजय हुई। जत्था जिंदाबाद।

कुछ दूर एक टैक्सी खड़ी थी। उसी दिशा में ये परिजन जा रहे थे। बिल में पानी डालकर चूहे को भगा देने की चाल से पाठक को निर्वासित बना दिया गया। ऐसे ही चूहे सी बेदर्द असहायता

पाठक की चाल में बराबर दिखाई देती थी। चाय की घूंट मेरे गले में अटक गई। पाठक की बीवी तनकर दृढ़तापूर्वक कदम रख रही थी, जो जीने के अपने अधिकार को मानो जतला रही थी। पाठक के एक हाथ में लव का ऊंघता-लुढ़कता भाई था। उछलता-फुदकता, अठखेलियां करता लव पाठक की बीवी का एक हाथ थामे था। ये दोनों रूप उसी के थे। उसकी चैतन्यमयी, मदमाती जिजीविषा का रूप था लव और कुश एक कराहती, बीमार उदासी का प्रतीक था। एक पाठक के अपरोक्ष खिल रहा था। तो दूसरा पाठक की मौजूदगी में मुरझाता जा रहा था और आखिर में था मिचमिची आँखों वाला बच्चा, जो धकियाया हुआ-सा, कंठोरते हुए जा रहा था। कुल मिलाकर उनके अंतर्संबंधों का एक प्रतीक, टूट, निखट्ट, निरिच्छ, निर्विकार...

वे टैक्सी में बैठ गए। लव अपनी मां की, रिबन से बंधी चोटी को टैक्सी की खिड़की में से बाहर निकालकर झंडे की तरह हिला रहा था। लव जाने से पहले, आखिरी बार मुझसे मिला भी नहीं और अब, जाते समय उसने मुड़कर भी नहीं देखा। छोटे बच्चे तो साले, प्लास्टिक की थैली में डली मिट्टी में खोंसे गुलाब के पौधे से होते हैं... जहां भी मिट्टी मिले पनपते हैं, बौराने लगते हैं। अतीत की जुगाली करने या कुढ़ने की उम्र नहीं होती यह। टैक्सी स्टार्ट हुई और चली भी गई। अंततः एक बिंदु सी दिखती रही और ओझल हुई। अलविदा लव... मैं मुड़कर भीतर आ गई।

अकेलेपन की एक महीन सी टीस टैक्सी के क्रमशः ओझल हुए बिंदु सी फिर एक बार अवचेतन में घुल गई। मैं भीतर चली आई। हमलोग हर रोज अपनी दिनचर्या के दमघोंटू दायरे में इस कदर बंधे होते हैं कि सांस लेने की भी फुरसत नहीं मिलती लेकिन आज मरे हुए सांप की लसीली कुंडली सा निश्चेतन हो गया है वह दायरा और उजले भक दिन का एक गड्ढा मेरे सामने है। उस गड्ढे में कदम रखने की कल्पना से ही बदन सिहरने लगा है।

वह टैक्सी किसी स्थिर-चित्र की तरह निश्चित खड़ी रह गई हो तो... या फिर स्लो मोशन में धीमी रफ्तार से चल रही हो तो दूर से ही सही, लव की मां की चोटी की लहराती रिबन हठात् फिर से दिखाई देगी? पगलाई सी मैं दौड़कर छत पर चली गई। छत तप रही थी। सांय-सांय, निस्तब्ध परिवेश सख्त नीले आसमान तले जैसे सुलग रहा था। किसी की एंटिना से अटकी, एक विवर्ण सी गुलाबी कटी पतंग कहीं पर लटक रही थी। बर् के छत्ते से हुई बेरहम छेड़खानी से उठे बवाल की तरह रंग-बिरंगे कई सारे पतंगों की सुबहें सभी ओर से जैसे मुझे डंस रही थी। मैंने नीचे देखा। नेरूरकर की बालकनी में उसकी बीवी जनुए की तरह पल्लू खोंसकर, जी-जान से खिड़कियों के शीशे साफ करने में लगी हुई थी। उस पर हँसने का भला मुझे क्या अधिकार है? वह भी अपने तई गड्ढा भरने में लगी हुई है। हर रोज आने वाले दिन की, न पटने वाली गर्त में बटनों की बल्लियां बोटलों के ताजमहल फेंकते रहो, बस... वह अपने घर की सफाई में लगी हुई है। रात में किसी वक्त नेरूरकर उसके पास आएगा। मेरे पास वह आता था। जाने के लिए उसके घर से वह जाता है। आने के लिए फिर भी हम दोनों अकेले ही तो हैं। टैक्सी दोबारा दिखाई पड़ने के आसार सुनसान खेतों के बीच कभी के काफूर हो चुके थे।

किंतु महज अस्तित्व का कोई और विकल्प तो नहीं होता। घर जाने के लिए अभी मैं मुड़ी ही थी कि मिचमिची आँखोंवाला दिखाई दिया। तीस-पैंतीस के बीच का, पिंपल्सधारी लड़का छत पर एक कोने में दांतों से नाखून कुतरते खड़ा था... शायद उसी टैक्सी के बिंदु की प्रतीक्षा में होगा।

उसे देखने के बाद न जाने क्यों, मुझे उस तार-तार लटक रहे पतंग की उपमा अनायास याद आई। वापस घर में घुसते हुए मुझे लगा कि कई अकेले लोगों के एक जगह जमा हो जाने से वे दुकेले थोड़े ही हो जाएंगे?

अब मैं संवादिनी (हारमोनियम) के सामने बैठी थी। राग काफी- यह एक संपूर्ण जाति का राग है। इसमें दो स्वर कोमल तथा बाकी सभी स्वर शुद्ध लगते हैं। प्रातःकाल के अलावा अन्य किसी भी समय इस राग को आजमाया जा सकता है। करुण और शृंगार रस इस राग में खूब रंग जमा सकते हैं। दिन के गड्ढे में बड़ी बेरहमी से मैं काफी के सुरों का फेंकती रही और वह बाकायदा शीशे साफ करने में लगी हुई थी। ■

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से प्रकाशित
पुस्तक समीक्षा केंद्रित पत्रिका
पुस्तक वार्ता

संरक्षक संपादक - गिरीश्वर मिश्र

संपादक - अशोक मिश्र

वितरण

दीपध्वज कासोदे

अनुवाद : भगवान वैद्य 'प्रखर'

'क्या भास्कर भाई, हो गया क्या काम... सोसायटी के ऋण वाला?'

'नहीं बंधु, अब तक तो नहीं। वो इन्स्पेक्टर ही कुछ नहीं कर रहा है। क्या करें!'

'ये अपने डायरेक्टर लोग भी तो कुछ ध्यान नहीं देते,भाई!'

'वही तो बात है न।'

'मेरा अच्छा निबट गया भैया, पिछली बार...। नहीं तो मेरी भी मुश्किल हो जाती तुम्हारी ही तरह।'

'हां भाई सिवा नाईक। ...तब मुझे भी मिलने वाला था, पर वो सुपडू खवले ने टांग अड़ा दी न!'

'हां, उसने सचमुच बहुत गलत काम किया। ऐसा नहीं करना चाहिए था, भास्कर भाई। किसी गरीब का फायदा हो रहा हो तो अड़ंगा नहीं लगाना चाहिए।'

'तुम्हीं बताओ मेरे कुएं में खूब पानी लगा, तो उसमें मेरा क्या कुसूर है? उसका कहना है, मेरे कुआँ खोदने के कारण उसके कुएं का पानी कम हो गया।'

'इसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं है भाई यह किसी के बस की बात थोड़े ही न होती है?'

'कोई बताए, इसमें मेरा क्या अपराध है? हम लोग सोचते हैं स्साला गांव का मामला है, फिजूल की झंझट करने में कोई मतलब नहीं।'

'वो ठीक है भास्कर, पर कोई जान-बूझकर हमारी पूंछ पर पांव रक्खे तो कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा न!'

'मेरा भी वही ख्याल है। इसी कारण जा रहा हूं मैं,सोसायटी के ऑफिस में।'

'अरे हां, सुना है, आज सोसायटी की कोई मीटिंग-वितिंग है। सुना दो, एकाध को जमकर खरी-खोटी।'

काफी समय से मारूति मंदिर के सामने वाली सड़क पर खड़े होकर चल रही चर्चा समेटते हुए शिवा नाईक ने भास्कर लहासे को विविध कार्यकारी सहकारी सोसायटी का रास्ता पकड़ने के लिए कह दिया। सोसायटी का ऑफिस था, गांव के दूसरे सिरे पर। भास्कर तेजी से कदम बढ़ाते हुए ऑफिस में पहुंच गया।

सोसायटी की आज मासिक बैठक थी। भास्कर तीन-चार माह से सोसायटी के चक्कर काट रहा था। शिवा नाईक का भी उसी की तरह ऋण का मामला था। उसके खेत में तो कुआँ भी न था। तब भी उसका बागान-ऋण स्वीकृत हो गया था। भास्कर के खेत में कुआँ था। बावजूद इसके, उसे बागान-ऋण नहीं मिल पा रहा था। गत वर्ष उसे कपास की अच्छी-खासी फसल हुई थी। भाव भी अपेक्षाकृत बढ़िया मिले थे। उसी आय से उसने अपने खेत में कुआँ खोदा था। उसमें तीस-बत्तीस फीट पर पानी लग गया था। बस, बिजली की मोटर और पाइपलाइन इतना भर बाकी रह गया था। कपास की आमदनी से कुएँ की खुदाई पूरी हुई और डेढ़ दर्जन बकरियाँ बेचकर बाकी निर्माण-कार्य संपन्न करा लिया गया था। भास्कर के पास की पूरी जमा-पूंजी खर्च हो गयी थी इस कारण सोसायटी से ऋण लेने के सिवा कोई विकल्प न था। उसी के लिए यह भाग-दौड़ चल रही थी। पर सुपट्टू खवले बे-वजह उसके ऋण के मामले में टांग अड़ा रहा था। उसका खेत भास्कर के खेत से सटा हुआ था। सुपट्टू खवले को पूरा गांव 'अण्णा' कहकर संबोधित करता था। वह संपन्न था। गत वर्ष ही जिला केंद्रीय सहकारी बैंक के संचालक के पद पर चुनकर आया था। इस कारण गांव की सोसायटी में उसका महत्वपूर्ण स्थान था। उसकी धारणा थी, भास्कर के खेत में कुआँ खोदे जाने के कारण उसके अपने कुएँ का पानी कम हो गया।

भास्कर ने पुनः आवेदन किया था। पिछली बार की तरह गत न हो इस कारण उसने आरंभ में ही पटवारी से खेत के दस्तावेजों में अपने खेत में कुआँ होने की जानकारी दर्ज करवा ली थी। बागान-ऋण प्रति हेक्टर आठ हजार मिल रहा था। इससे उसकी बिजली के मोटर और पाइप-लाइन की जरूरत पूरी हो जाने वाली थी। भास्कर लहाने वैसे था बुद्धिमान। उसने अपना परिवार भी सीमित रखा था। एक बच्चे के बाद खुद येवती के परिवार नियोजन केंद्र में जाकर ऑपरेशन करवा लिया था। उस समय, आठ-पंद्रह दिन उसके माता-पिता और पत्नी ने काफी चिल्ल-पो मचाई थी पर उसने 'जहां अपना ही गुजारा मुश्किल है वहां और दो-तीन बच्चों का कैसे होगा?' इस प्रकार की दलील देकर उनकी बोलती बंद कर दी थी। वैसे वह भी अपने मां-बाप की इकलौती ही संतान था। भाई-बहन न होने के कारण तीन साढ़े-तीन हेक्टेअर जमीन का वह अकेला मालिक था। बौद्ध बस्ती में भास्कर इस प्रकार का इकलौता किसान था। वह खा-पीकर सुखी था। कुएँ के कारण उसे और भी बड़ी उम्मीदें थीं। इस वर्ष सिंचाई करके कपास की अच्छी फसल लेने का निश्चय किया था, उसने।

सोसायटी के ऑफिस में मीटिंग चल रही थी। सोसायटी के शत-प्रतिशत डायरेक्टर्स उपस्थित थे, वहां। बाहर बरामदे में भास्कर की तरह दस-पंद्रह कृषक खड़े थे। खिड़की में से मीटिंग की कार्रवाई का अवलोकन कर रहे थे, वे। कुछ डायरेक्टर्स निजी बातचीत में मशगूल थे। सोसायटी का चपरासी ओंकार सुरलकर दरवाजे पर तैनात था। वह किसी को भी बीच में घुसने नहीं दे रहा था।

एक बार सोसायटी से ऋण ले लेना और यह मानकर चलना कि 'सरकार आज नहीं तो कल ऋण माफ करेगी ही।' इस कारण लिया हुआ ऋण चुकाना नहीं। यह प्रवृत्ति विकराल रूप ले चुकी थी। परिणाम-स्वरूप सोसायटी की आर्थिक हालत खराब थी। लेनदारों द्वारा समय पर ऋण न चुकाए जाने का सेक्रेटरी का रोना जारी था। कुछ डायरेक्टर्स बाहर खड़े किसानों को बीच-बीच में यह दर्शा रहे थे कि वे किसानों के पक्ष की बात कर रहे हैं। अन्य डायरेक्टर्स चाय-पानी और नाश्ता खाने में मग्न थे। कुछ समय बाद सोसायटी की मीटिंग समाप्त हो गयी। डायरेक्टर्स अपने-अपने घर लौट

गए। ऑफिस में मात्र चेयरमैन भागवत शिंदे और सेक्रेटरी गोपीनाथ बोदडे- ये दोनों ही बैठे हुए थे। ऑफिस सुरलकर भी ऑफिस के द्वार से हट चुका था। काफी समय से बाहर प्रतीक्षारत किसान अब ऑफिस में घुस आए थे।

‘आप्या..., आप तो हर रोज ही वितरण की बात करते रहते हैं; पर वितरण हो क्यों नहीं हो रहा है?’

जाते ही भास्कर ने सेक्रेटरी से प्रश्न किया।

‘वितरण करना मेरा काम नहीं है, भाई। वो इंस्पेक्टर नया आया है।’ - सेक्रेटरी ने कहा।

‘नया आया है, तो क्या हुआ?’ भास्कर के साथ-साथ अब सभी बोल पड़े।

‘अरे, सब एक साथ काहे को बोल रहे हो? एक-एक बोलो न! आप्या बतलाएंगे वस्तुस्थिति आप लोगों को।’

‘चेयरमैन साहब, आप अपनी जगह पर चुपचाप बैठे रहो, किसी काम के नहीं हैं आप। केवल कुर्सी तोड़ रहे हो यहां।’ भास्कर चेयरमैन पर बरसा था।

भागवत शिंदे भले ही चेयरमैन था पर उसका रिमोट-कंट्रोल सुपडू खवले के पास था। सब जानते थे कि वह जितना कहेगा, उतना ही वह करेगा। भास्कर के बौखलाने से चेयरमैन की बोलती बंद हो चुकी थी। उसने उसे जवाब देना टाल दिया।

‘इंस्पेक्टर प्रत्यक्ष निरीक्षण के लिए आने वाला है, आज। हम उसे सभी के खेत दिखाने जा रहे हैं।’

‘ऐसा क्यों?’

‘क्यों का क्या मतलब? आप लोगों को बागान-ऋण देना है तो बगैर निरीक्षण किए नहीं दिया जा सकता, ऐसा कहना है इंस्पेक्टर का।’

‘वही तो बतलाने का प्रयत्न कर रहा हूँ मैं तब से। पर भास्कर लहासे कह रहा है, मैं यहां कुर्सियां तोड़ रहा हूँ।’ संतप्त होकर चेयरमैन ने सेक्रेटरी से कहा। भास्कर लहासे को बाहर जिन किसानों ने उकसाया था वे अब चुप हो चुके थे। भास्कर अकेला ही बहस कर रहा था।

‘आज तक तो कोई इंस्पेक्टर नहीं आया गांव में!’

‘आज तक नहीं आया पर अब आनेवाला है।’

‘तो जल्दी आने के लिए कहो न भाई। यहां प्राण निकले जा रहे हैं, हमारे।’

‘आएगा न भास्कर भाई उसे क्या तुम्हारा एक ही गांव देखना है?’

‘एक गांव की बात नहीं कर रहा हूँ मैं ऋण की रकम अगर समय पर न मिली तो फिर किस काम की रहेगी?’

‘आएगी...आएगी... काम में। हम लोग बैठे हैं न यहां!’

चेयरमैन की ओर देखते हुए सेक्रेटरी बोला। भास्कर ने भी महसूस किया कि वह अकेला ही बहस किए जा रहा है। वह भी सोसायटी के ऑफिस से बाहर निकल गया।

‘क्यों जी, मिल गया क्या सोसायटी का ऋण?’

‘अभी कहां?’

‘आखिर क्यों नहीं मिल रहा है, भला?’

‘कह रहे हैं, वो इंसपेक्टर आने वाला है। वो खेत देखेगा सब के। तब मिलेगा ऋण।’

‘हे भगवान कब आएगा वह इंसपेक्टर कि कोई!’

‘अब मैं भी क्या जानूँ? बे-मतलब सिर खराब करती रहती हो तुम!’

‘उई अम्माऽऽ भला मैं काहे को खराब करने लगी तुम्हारा सिर!’

‘तो बैठी रहो अब चुपचाप। जब-तब बड़-बड़ करते मत रहा करो।’

आते ही, भास्कर ने सोसायटी-ऋण के बारे में पूछताछ करनेवाली पत्नी को डांट लगा दी। पत्नी कल्पना ने चुप्पी साध ली। भास्कर ने अहाते के छत में लटकाकर रखी कुल्हाड़ी निकाल ली और संतप्त होकर गोठ की ओर बढ़ गया। मालिक को आया देख गोठ में बंधे बैल रंभाने लगे। भास्कर उनकी पीठ सहलाने लगा। बैल जीभ निकालकर उसे चाटने लगे। गूंगे जानवर भी अपने मालिक के मन में जारी उथल-पुथल को भला कैसे जान लेते हैं! पल भर उसे आश्चर्य हुआ। उसने लायी हुई कुल्हाड़ी से सपासप कड़बी की दो-चार पूलियां काटकर बैलों के सामने डाल दीं और खुद भी उनके सामने जाकर बैठ गया। बैल चारा खा नहीं रहे थे। वे अश्रुपूरित नेत्रों से अपने मालिक को निहारने लगे। उनकी ओर देखते हुए भास्कर की आँखों में भी अनायास आँसू आ गए। वह खड़ा हुआ और बैलों की पीठ थपथपाने लगा। बैल धीरे-धीरे चारा खाने लगे। अब भास्कर उस स्थान की ओर बढ़ा जहाँ कभी बकरियां बंधी हुई रहा करती थीं। अब वहाँ श्मशान-शांति थी। उसे लगा जैसे किसी गलत स्थान पर आ गये! उसके पास दो-तीन दर्जन बकरियां थीं। उसे देखते बराबर बकरियां म्यांऽ-म्यांऽ किया करतीं। पर कुएं के निर्माण-कार्य के लिए उसे सारी बकरियां बेच देनी पड़ी थीं। भास्कर के मन में विचार-चक्र आरंभ हुआ। बकरियों के कारण अपना कितना काम हो गया! उन्हीं के कारण गृहस्थी में बहार आयी। सुख-दुख में उन गूंगे पशुओं का ही साथ रहा! जाते-जाते मेरा कुआँ भी निर्माण कर गयीं।’ भास्कर का गला रुंध गया। बैलों के सामने भर आई उसकी आँखों से बकरियों की याद में अश्रु झरने लगे।

‘क्या बैलों को चारा देना हो गया? आ रहे हो क्या भोजन करने के लिए?’

कल्पना की आवाज सुनकर भास्कर की तंद्रा दूर हो गई। भारी मन से उसने घर में प्रवेश किया।

एक सप्ताह बीत जाने के बावजूद जिला केंद्रीय बैंक का इंसपेक्टर गांव में नहीं आया था। भास्कर का सोसायटी ऑफिस के चक्कर काटना जारी था। सोसायटी का सेक्रेटरी भी अचानक लापता हो चुका था। चेरमैन भागवत शिंदे, सोसायटी के सभी डायरेक्टर्स भी अपने-अपने काम में मशगूल थे। सोसायटी की मीटिंग के बाद कोई भी सोसायटी के ऑफिस की ओर नहीं आया था। केवल चपरासी ओंकार सुरलकर रोज ऑफिस खोलकर, झाड़ू-वाड़ू लगाकर बैठा रहता। उससे पूछने पर उसका टका-सा जवाब होता,

‘भास्कर भाई ऽऽ काम-धंधे के दिन हैं ये। इस कारण कोई आता नहीं सोसायटी में।’ इंसपेक्टर के बारे में पूछो तो कहेगा, ‘इंसपेक्टर तो छोड़ो, मीटिंग हुई तब से सेक्रेटरी आप्पा भी नहीं आया, सोसायटी में।’ चेरमैन भागवत शिंदे भी गोलमोल जवाब देता।

‘मैंने अपना काम कर दिया है, भाई ऽऽ। बगैर इंसपेक्टर आए नहीं हो सकेगा वितरण।’

इस प्रकार कहकर अपनी जिम्मेवारी से मुँह मोड़ रहा था। भास्कर बड़ी मुश्किल में पड़ गया था। उसे लग रहा था, कहां से मैंने यह झंझट मोल ले लिया! खेत में विपुल जल-राशि वाला कुआँ

मौजूद होने के बावजूद उसका उपयोग न कर पाने के कारण वह हताश हो चुका था।

और एक सप्ताह बीत गया। एक दिन सेक्रेटरी, इंस्पेक्टर सोसायटी के ऑफिस आ पहुंचे। उन्होंने बागान-ऋण के लिए आवेदन करने वाले किसानों के खेतों में जाकर क्षेत्रीय निरीक्षण पूरा किया था। भास्कर लहासे के खेत का भी निरीक्षण किया गया था। निरीक्षण के समय सोसायटी के डायरेक्टर कैलाश माली, प्रवीण पाटिल, मंगलसिंग राजपूत, चेयरमैन भागवत शिंदे सेक्रेटरी गोपीनाथ बोदड़े के अलावा गांव के पांच-सात लोग भी हाजिर थे। उसी दिन सुपडू खवले के खेत का भी निरीक्षण संपन्न हुआ था। उसने बैंक-इंस्पेक्टर सहित समस्त डायरेक्टर्स को अपने खेत में पार्टी दी थी।

‘तीन चार दिनों में भुगतान हो जाएगा।’

इतना कहकर बैंक इंस्पेक्टर तालुका-मुख्यालय लौट गया था।

और सचमुच पांच-सात दिनों में सोसायटी का ऋण बंटने लगा। चेयरमैन, सेक्रेटरी सोसायटी के ऑफिस में आकर ऋण के चेक वितरित करने लगे। चपरासी ओंकार सुरलकर एक-एक का नाम पुकार रहा था। भास्कर भी आया था चेक लेने के लिए। उसके कई दिनों से चिंता-ग्रस्त चेहरे पर आज रौनक दिखाई दे रही थी। उसे भी चेक सौंपा गया। प्रति हेक्टेअर आठ हजार के हिसाब से चौबीस हजार मिलने चाहिए थे। पर प्रत्यक्ष चेक था, मात्र नौ हजार का! चेक पर लिखी रकम देखकर भास्कर असमंजस में पड़ गया। पुनः-पुनः चेक देखने लगा। पल भर उसे लगा, किसी और का चेक उसे और उसका चेक किसी और को मिल गया, शायद! पर चेक पर तो उसी का नाम है! नीचे चेयरमैन और सेक्रेटरी के हस्ताक्षर भी थे। उसने अपनी शंका के समाधान के लिए चेक तुरंत सेक्रेटरी को दिखाया। सेक्रेटरी ने उसके चेक की ओर देखते हुए सफाई दी,

‘भास्कर भाईऽऽ इंस्पेक्टर ने आपका बागान-ऋण मंजूर नहीं किया है।’

‘क्यों भला?’ -भास्कर बोला।

‘आपकी क्षेत्रीय निरीक्षण की रिपोर्ट ही तैयार नहीं हुई इस कारण।’

‘मतलब!’

‘मतलब यह कि आपके खेत में पिछले वर्ष सिंचाई वाली फसल थी, इसका प्रमाण-पत्र चाहिए होता है। उस प्रमाण-पत्र पर हस्ताक्षर ही नहीं किए किसी डायरेक्टर ने। तब कैसे होगा आपका बागान-ऋण मंजूर?’

सेक्रेटरी के सवाल से भास्कर लहासे हैरत में पड़ गया। उसने संतप्त होकर ‘असिंचित भूमि पर ऋण’ का चेक सेक्रेटरी और चेयरमैन के मुँह पर दे मारा और क्षुब्ध होकर सोसायटी के ऑफिस से घर की ओर चलता बना। ■

मोहिनी

मधुकर धर्मापुरीकर

अनुवाद : अजित हर्षे

‘चलिए, मुझे छोड़ आइए। सबेरे-सबेरे आटो नहीं मिलते। आज जल्दी जाना है ना...’ मोहिनी की हड़बड़ी सारंग की समझ में आई। उसकी भागदौड़, स्कूल जाने के लिए उसकी व्यग्रता पल भर में उसके दिल में समा गई। स्कूल का जिक्र छिड़ते ही मोहिनी अपने घर से किसी परिंदे की तरह फुर्र उड़ जाती है। वह तैयार हुआ। तैयार हुआ यानी शर्ट-पैंट पहने। उँगलियों से बालों को संवारा। शर्ट के बटन लगाते हुए ही चप्पल पहनी। स्कूटी की चाबी उठाई और मोहिनी को छोड़कर आने के बाद ही दाढ़ी बनाएँगे, सोचता हुआ बाहर निकल आया। मोहिनी का यह स्कूल शहर के बाहर दो-तीन किलोमीटर दूर है। जाने-आने में बीस-तीस मिनट लगते हैं। ऑफिस में देर होगी, होने दो। मोहिनी के स्कूल में आज कोई समारोह है। मोहिनी ने बताया था, वही इंचार्ज है। स्कूल की चाबियाँ उसके पास हैं। केंद्र के तीस-चालीस शिक्षक-शिक्षिकाओं की स्कूल में मीटिंग होती है। मीटिंग क्या, सारी शिक्षिकाएँ हल्दी-कुमकुम के लिए जाते हैं, इस तरह खूब सज-धजकर आती हैं, मोहिनी बताती रहती है। उस पर काम का अतिरिक्त दबाव होना स्वाभाविक ही है और स्कूल भी उसके लिए नया है, गाँव नया है।

रोज की तरह सारंग को तनाव होने लगा। मोहिनी पहले यहीं शहर के स्कूल में थी। सब कुछ कितना सहज, सरल था। शहर के बाहर अभी हाल ही में मोहिनी का तबादला हुआ है और अब अप-डाउन करना पड़ रहा है। अधिक दूर न होने के बावजूद शहर के उपनगर में यह स्कूल है। शहर से सटे गाँव में। हफ्ते भर इतनी दूर जाते-आते मोहिनी लट्टू की तरह चक्कर खाती रहती है। छुट्टियों वाली मोहिनी और स्कूल के दिनों वाली मोहिनी के बीच का अंतर सारंग हमेशा बड़ी शिद्दत के साथ महसूस करता है। विशेष रूप से, सबेरे-सबेरे। हाँ, तुम्हें क्या मुँह-हाथ धोकर किसी भिखमंगे की तरह चाय का इंतजार करते बैठे रहते हो। फिर गाल पर रेजर फेर के नहाओ, खाना खाओ और ऑफिस, और क्या! ऐसा कहते हुए भी वह शांत नहीं होती। काम की हड़बड़ी, हैरानी, उस पर बच्चों की चिल्ला-पो, उन्हें तैयार करना, यह सब मोहिनी का जारी रहता है। ऐसा नहीं कि सारंग मदद नहीं करता, करता है लेकिन मोहिनी की दृष्टि से वह नगण्य होता है। सारंग खामोश बैठा रहता है लेकिन मोहिनी को सारे काम घड़ी की सुइयों की तरफ देखते हुए निपटाने पड़ते हैं।

छुट्टी वाली मोहिनी अलग होती है। स्कूल की जल्दी न होने के कारण मोहिनी हिलती परछाई की तरह काम निपटाती है पेड़ की छाया की तरह हिलती-डुलती, सरकती। ऑफिस के झंझटों से मुक्त सारंग लंबी तानकर सोता है और जागने पर भी आलसी की तरह लेटा रहता है। दाढ़ी, नहाना-धोना सब देर से चल रही ट्रेन की तरह आराम से होता रहता है। दस बजे तक दो-तीन चाय के दौर आराम से हो जाते हैं, जैसे गाड़ी रूकते ही हर स्टेशन पर चाय पी रहा हो फिर मोहिनी चिड़चिड़ाकर आवाज देती है और उतनी देर के लिए उसके बदन में फुर्ती आ जाती है। मोहिनी के हर काम भले ही समय पर हो जाते हों, उसकी हलचल में आए बदलाव का एहसास सारंग को होता रहता है- छुट्टी के कारण शांति होती है और उसकी हलचल भी पेड़ की हिलती छाया की तरह धीमी होती है।

सारंग ने गाड़ी निकाली ही थी कि मोहिनी भी पीछे-पीछे आ खड़ी हुई। हमेशा ऐसा नहीं होता। हमेशा जब भी कहीं जाना होता है तो सारंग बाहर स्कूटी ले के खड़ा रहता है, हॉर्न-पे-हॉर्न देता रहता है और मोहिनी पाँच मिनट में तैयार हो के आती रहती है।

बच्चे सबेरे ही स्कूल चले गए थे। घर को सासजी के हवाले करके मोहिनी चल पड़ी। आज मोहिनी के हाथ में सामान से भरा एक थैला भी था। इसे लगा लो आगे, कहते हुए मोहिनी ने खुद ही स्कूटी के हुक में थैला टांग दिया। स्कूटी स्टार्ट करते हुए सारंग ने देखा-थैले में स्टील का लोटा, टेबल पर बिछाने के लिए एक बड़ी चादर, अगरबत्तियाँ इत्यादि सामान रखा था। समारोह के लिए मोहिनी की तैयारी, सारंग को हँसी आ गई। बैठ गई? पूछते हुए उसने गाड़ी स्टार्ट की। मोबाइल ले लिया? एक बार फिर उसने पूछा। हाँ, हाँ, ले लिया..., मोहिनी ने कहा- अब वह भी मेरे लिए एक जोखिम ही हो गया है। साथ रखो तो बोझ और न रखो तो गफलत! मोहिनी बैठी तो उसके स्पर्श का अनुभव हुआ। गाड़ी अपने आप तेज हो गई।

मोहिनी को सब स्कूल में 'मोहिनीबाई' कहकर बुलाते हैं। यह उसे अच्छा नहीं लगता। कक्षा के बच्चे भी वही कहते हैं। मोहिनी उन्हें इशारा करती है। कभी-कभी बोलकर भी बताती है, मुझे पेशवेबाई कहो तब भी कोई बात नहीं लेकिन पर नहीं; सारे स्कूल को यही आदत पड़ गई है। सारंग के नाम में स्वाभाविक रूप से ही एक सुविधा है। दो बच्चों का बाप होने के बाद भी उसका 'सारंगराव' नहीं हुआ। मोहिनी का उलटा! सबेरे से सारंग पुकारता रहता है, 'मोहिनी', 'मोहिनी'। उसके बाद स्कूल पहुँचते ही 'मोहिनीबाई' का पल्लू सिर पर आ जाता है और फिर सारा दिन यह पल्लू सिर पर ढँककर ही गुजर करनी पड़ती है। इसका कोई उपाय नहीं है। यह कामठी का स्कूल है; शहर से सटा हुआ। यह गाँव-उस गाँव की परंपरा, उसकी भाषा मोहिनी को सुननी पड़ती है, उसका खयाल रखना पड़ता है।

मोहिनी ने बोलना शुरू किया। बताने लगी स्कूल की झंझटों के बारे में, तनावों के बारे में। अब ये समारोह खत्म हो जाए तो दो-चार दिन की छुट्टी लेने वाली हूँ। हाँ नहीं तो। घर की तरफ ध्यान देने की फुरसत ही नहीं मिल पा रही है इन दस-पंद्रह दिनों से। पहले पाँच दिन प्रशिक्षण था, फिर स्कूल का इनस्पेक्शन! इस हड़बड़ी में ही स्कूल के रेकॉर्ड को ठीक-ठाक तैयार करना, साफ-सफाई करवाना, इसी में तीन-चार दिन निकल गए। पहले वाली टीचर ने कुछ भी करके नहीं रखा था। सारे स्कूल को बच्चों से झाड़ू लगवा के साफ करवाया। बच्चे भी बड़े उत्साह से सब करने को तैयार हो

गए। एक लड़की है, दो दिन से स्कूल नहीं आ रही थी। उसके घर गई, पूछा तो माँ ने बताया कि उसे पंजाबी ड्रेस चाहिए। आजकल गाँव-खेड़े की लड़कियाँ भी बड़ी स्मार्ट हो गई हैं, तो उसके लिए रूठी हुई थी। वो बेचारी गरीब, मजदूरी करती है तो मैंने पल्लवी का ड्रेस था ना, रानी कलर का.. सामने ध्यान देते हुए सारंग गाड़ी चला रहा था। पत्नी की ऐसी लगातार बातें सुनना सारंग का हमेशा का अनुभव है। कभी अच्छा लगता है, कभी मजेदार तो कभी उबाऊ।

आज सारंग की मनः स्थिति कैसी है? सारंग सोच में डूबा हुआ था- 'कभी-कभी सबेरे के कुछ पल अनपेक्षित रूप से ऐसे गुजरते हैं कि उनसे दिन भर की मनः स्थिति पर असर पड़ता है। अच्छा या बुरा। उन कुछ पलों की चमक से कभी सारा दिन दीप्तिमान रहता है तो कभी उसकी कालिमा सारे दिन पर छाई रहती है। यह कहीं पढ़ा था। कहाँ?' सारंग को कुछ याद नहीं आया पर इस अनुभव की कई घटनाएँ सारंग को याद आती हैं। आज की उसकी सुबह मोहिनी कैसे खींचकर लिए जा रही है। अभी मन में और कुछ नहीं है सिर्फ मोहिनी को समय पर स्कूल पहुंचाने की जिम्मेदारी का खयाल है। और कहीं, कुछ नहीं। शहर का इलाका पीछे छूटने लगा। शहर की सुबह की दैनिक हलचल। दूधवालों की, पेपरवालों की इस भीड़ भरे यातायात में स्कूलों या टूयशन पढ़ने जाने वाले पाँच से पंद्रह साल के बच्चों का समूह भी आ मिला है। रास्ते भर बिखरा हुआ। प्राथमिक स्कूलों की ओर भाग रहे बच्चों की हड़बड़ी। अपने बच्चे भी ऐसी ही ड्रेस पहने इनमें कहीं मिल गए होंगे, पहचान में भी नहीं आएंगे, सारंग को लग रहा था।

ओंकार प्राथमिक विद्यालय की तरफ राष्ट्रगीत का स्वर उठ रहा था और उसी समय सारंग ने देखा-दूसरी-तीसरी के जल्दी-जल्दी भाग रहे तीन-चार बच्चे अचानक रुक गए। स्तब्ध! एक लड़की का आगे निकला पैर वैसे ही अधर में लटका है और पीछे का पंजे के बल आधा उठा हुआ है। अगले पैर की चप्पल का पिछला हिस्सा झूल रहा है और लड़की के चेहरे पर शर्मा ला स्मित! जन गण मन... चल रहा था नागाड़ी रोककर सारंग उनकी तरफ देखता रह गया। उसने मोहिनी का ध्यान उस ओर खींचा। दोनों को बड़ा मजा आ रहा था, सारंग को कुछ ज्यादा ही। 'तुमको याद है, अपनी पल्लवी जब छोटी थी-तब तीसरी में थी- और एक दिन स्कूल की छुट्टी के बाद मैंने चुपचाप उसका पीछा किया था-बिलकुल उसके पीछे ही था। ट्रैफिक के बीच से वह कैसे निकलती है, इसका मुझे बड़ा कुतूहल होता था और चिंता भी होती थी...', सारंग बताने लगा।

'अब कितनी बार वही-वही बताओगे। अरे भई, पल्लवी चौथी में स्कॉलरशिप लेकर जिले में तीसरी आई थी और अब वह छठवीं में है। और तुम अभी उसे तीसरी में ही बता रहे हो।' मोहिनी ने हँसते हुए तंज किया। सारंग मन ही मन हँसा। स्कूटी की रफ्तार तेज हुई। पल्लवी की उस घटना का जिक्र और वर्तमान-अब सारंग को महसूस हुआ कि समस्या का सामना करने के हर एक के पास अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अपने-अपने तरीके होते हैं। हम खुद ही समस्याओं पर अतिरिक्त विचार करके उससे आँखें मूँदे रहते हैं। क्या ऐसा वास्तव में है?

सारंग उत्तेजित हो उठा। स्कूटी की रफ्तार से मन में विचार आने लगे। पीछे छूटती दुकानों की तरह, मकानों की तरह, सड़क पर बहते यातायात की तरह फिर उसका ध्यान मोहिनी की बातों की तरफ भी था। स्कूटी पर उसका टेढ़ा बैठना। उसकी खास आदत है-चिपककर बैठना। उसकी बातें अपने आप कानों में प्रवेश करती है। बिलकुल करीब से आता, उसका खेलता स्वर।

मोहिनी की बातों में अब हमेशा की तरह चिंता झलकने लगी थी। घर और बच्चों की तरफ ध्यान न दे पाने की। बच्चों ने भी कैसे उसके तबादले के साथ तालमेल बिठा लिया। यह कैसा परिवर्तन था-पहले वाले स्कूल में शिफ्ट होती थी और अब दिन भर की ड्यूटी होती है- स्कूल के कारण बाहर ही रहना पड़ता है। फिर भी बच्चों को कोई शिकायत नहीं है। उनके अपने-अपने स्कूल हैं, अपनी-अपनी पढ़ाई है। उनमें वे मशगूल हो गए हैं।

‘लेकिन मुझे अभी तक इसकी आदत नहीं हुई। शहर के स्कूल से बहुत दूर ये ट्रांसफर। ऑटो से आना-जाना करते हुए, बार-बार जाम, एक ऑटो में पाँच-छह लोगों की भीड़ में न चाहते हुए भी बैठना, घर आकर थककर चूर हो जाती हूँ, चिड़चिड़ापन।’

मोहिनी अब फिर वही बात करने लगी थी। सारंग ने कहा, ‘इसीलिए तो तुम्हें मोबाइल खरीदकर दिया है।’

‘हां, दसियों बार तुम यह बता चुके हो! तुमने मोबाइल खरीदकर दिया लेकिन वह तो बच्चों के सामने मेरे मजाक का कारण बना हुआ है।’

‘अरे, ये तो होता ही है। शुरू-शुरू में आता नहीं ना, कैसे चलाते हैं। अब तो आदत पड़ गई होगी।’

हां... हां...

‘और कितनी सुविधा हो गई है अब। यह गाँव दूर है। तुम्हारी चिंता होती है मुझे। जब तुम्हारा फोन आता है तो लगता है, तुम सुरक्षित हो।’

‘हां, सुरक्षा होती है, ठीक है लेकिन उसे संभालकर रखना ही अपने आपमें एक बड़ा झंझट हो गया है’, अब मोहिनी हँसने लगी थी।

मोहिनी का पर्स भी सारंग के लिए जादू की पुड़िया है। उसे देखकर उसके मन में मोहिनी के प्रति कुतूहल मिश्रित स्नेह उपजता है। पानी की बोतल, खाने का डिब्बा, उत्तर-पुस्तिकाओं का बंडल, छोटी सी नोटबुक, चाक, पेन, इत्यादि सामानों से पर्स ऊपर तक भरा होता है। अब इसी में मोबाइल भी आ मिला है। सारंग को लगता है कि मोबाइल के कारण मोहिनी उसके कितना पास होती है। तभी मोहिनी कहती है, ‘काम के वक्त पर्स में से आवाज आती है मोबाइल की तुरंत पता भी नहीं चलता। किचन में चूहों की खड़खड़ जैसा लगता है। एक चेन खोलकर देखो तो ठीक उस वक्त वह किसी दूसरे खाने में होगा! ऐसी चिढ़ मचती है उसके लिए।’

‘कल बड़ी मजेदार बात हुई। मैंने तुम्हें मोबाइल किया तो वह लगा सरकाले सर को!’

‘अरे, कैसे?’

‘मोबाइल में सारंग और सरकाले, एक के बाद एक हैं ना। तुम्हारे नाम की जगह उनका नाम दब गया, और क्या? ‘फिर?’ मोहिनी के केंद्र-प्रमुख सरकाले-उनका नाम सारंग ने ही रखा है ‘सर्किट’। बेहद सनकी आदमी! स्कूल के, गाँव के पुरुष मोहिनी को तंग तो नहीं करते, छेड़ते तो नहीं, इस विचार से सारंग हमेशा चिंतित रहता है। रेत में कुछ खोजने की तरह वह उससे अकसर इस बारे में पूछता है। उसके प्रश्नों से जब मोहिनी परेशान होकर चिड़चिड़ाने लगती है तो बिखरी हुई रेत को समेटकर वह हँसने लगता है, फिर भूल जाता है। ‘और क्या...?’ मोहिनी की आवाज का संकोच, कुछ गलत हुआ, इसका एहसास सारंग को भी अनुभव होता है।

मैंने पूछा-तुम हो सोचकर कि-क्या चल रहा है बॉस...? और उनकी आवाज पहचानकर घबरा गई। मोबाइल बंद किया। हमेशा बंद करने जाती हूँ तो स्विच ऑफ ही हो जाता है पर अभी सिर्फ मोबाइल बंद हुआ। फिर उनका फोन आया। फिर मुझे उनसे माफी मांगनी पड़ी, 'अपने बच्चों का मोबाइल समझकर बोल गई थी! हाँ, नई तो! इतनी शर्म आई।'

क्या कहे, सारंग को कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मन विचलित हो गया था। स्कूटी का ब्रेक और एक्सिलेटर एक साथ लगने लगे। स्कूटी की घरघराहट बढ़ी और फिर कम हुई। सारंग की आँखों के सामने तरह-तरह के दृश्य उभरने लगे: स्कूल का वातावरण, उसके साथ दिन भर तालमेल रखते हुए काम करने की मोहिनी की मजबूरी, उसके पर्यवेक्षक, ये सर्किट और उस पर इस मोबाइल का इजाफा। बेचारी! आँखों के सामने दृश्यों में चकराई हुई, घबराई सी मोहिनी दिखाई दी। सारंग को लगा कि उसके आसपास का स्टाफ इतनी भिन्न-भिन्न प्रकृति का है कि उनके बीच मोहिनी हर वक्त संभ्रमित सी रहती है। वह बहुत जल्दी घबरा जाती है, उसे संभलने में थोड़ा वक्त लगता है। मैं भी भ्रमित होता हूँ कई बार, लेकिन इस हालत का पता चलने पर मैं गुस्सा होता हूँ-कभी खुद अपने आप पर तो कभी दूसरों पर। कई बार मोहिनी पर लेकिन मोहिनी का कुछ अलग है। हम चकरा गए हैं, पता चलने पर मोहिनी हँसती है मूर्खों की तरह! अंतरंग बातचीत में मैं भी उसे बॉस कहता हूँ। अच्छे मूड में होती है तो वह भी अपने तरीके से कहती है- बॉस! मोहिनी ने गलती से उस सर्किट को फोन लगाया। मुझसे बात करती है, वैसी बातें उससे कीं। उस सर्किट ने क्या सोचा होगा? मोहिनी भी ना कुछ भी!

'लेकिन इतनी जरूरी बात तुमने उसी समय क्यों नहीं बताई? तुम हमेशा यही करती हो। जब अपने आप बात निकलती है तब बताती हो। महत्वपूर्ण बात होती है और तुम।'

'आप पुरुषों को जो महत्वपूर्ण लगता है वह हम लोगों को उतना महत्वपूर्ण नहीं लगता!'

यह मोहिनी का बोलने का खास तरीका है। स्त्री-पुरुष का संदर्भ आने पर वह उसे 'आपका-हमारा' बना डालती है। सारंग अब कुछ कह नहीं सकता था। मोहिनी का एक-एक व्यवहार-उसकी बातें-चिंताएं- दुःख, इन सभी को वह मन में एकत्र करने लगा-जैसे मोहिनी के बचपन के खेल में टूटी चूड़ियों के टुकड़ों को एक साथ उछालकर उल्टे हाथ पर झेलना और गिरे हुए टुकड़ों को एक-एककर एकत्र करना। इस खेल के बारे में मोहिनी अक्सर बताती है। जकात नाका पार करके दोनों अब शहर के बाहर निकल आए थे। 'यहा संभाल के जरा। इधर सड़क थोड़ी खराब है, बहुत झटके लगते हैं इधर। ऑटो वाले तो बेधड़क ले जाते हैं।' मोहिनी बताने लगी तो सारंग ने स्कूटी को थोड़ा धीमा किया। यहां से दो किलोमीटर की दूरी पर स्कूल है। शहर से लगा यह खेड़ा-सोई हुई माँ के स्तन से दूध पीते कुत्ते के झबरे पिल्ले जैसा। ऐसे गाँवों के लोग न ठीक से शहरी हो पाते हैं और न ही सीधे-सादे देहाती रह जाते हैं बल्कि शहर की हवा खाकर अच्छे-खासे चालक हो जाते हैं। सारंग को इसका एहसास भी होने लगा कि मोहिनी यहां नौकरी करती है और वहां घर की जिम्मेदारियां भी उठाती है। और मैं-मैं तो सिर्फ नौकरी करता हूँ। मोहिनी सब करती है, उसे ही चिंता होती है, घर-संसार संभालना पड़ता है, नौकरी करती है, हँसना-रोना, सब कुछ तो वही करती है। सब कुछ अपनी तय जगह पर होता है, सब कुछ समय पर होता है और व्यवस्थित ढंग से होता है। फिर भी चिंता और तनाव के घने बादल मेरे मन पर मंडराते रहते हैं। मैं बेचैन होता हूँ। सबरे मोहिनी

फुर्र से उड़ जाती है और मुझे खाली-खाली-सा लगने लगता है। मोहिनी का स्कूल पहुंचने पर फोन आता है तब, उसके बाद ही सारंग के दैनिक काम शुरू होते हैं और वह ऑफिस निकल जाता है। मोहिनी को मेरी बेचैनी का पता होता है या नहीं...? ऐसी मूर्खतापूर्ण चिंता से वह बहुत दूर होती है। वह अपनी नौकरी में मगन होती है और नौकरी से घर आने के बाद अपने संसार में। अब सारंग बार-बार अपने आपको चेता रहा था कि जैसे ही मोहिनी घर आएगी, उसका मोबाइल लेकर उसमें अपना नाम एडिट करना है-‘बी’ में रखना है ‘बी’ यानी बॉस!

जैसे ही स्कूल दिखाई दिया, मोहिनी बोली- ‘थैंक यू, बॉस! तुम्हारे कारण देखो, जल्दी पहुंच गई।’ मोहिनी का स्पर्श हुआ और सारंग को लगा, अभी कुछ न कुछ कहना चाहिए, लेकिन उसे कुछ सूझा नहीं।

‘जरा मिरर इधर करना,’ मोहिनी की आवाज कान में पड़ी और सारंग ने स्कूटी एकदम बाएं किनारे लेकर उसकी रफ्तार कम की। यह सोचते हुए कि अचानक मोहिनी को मिरर की क्या जरूरत पड़ गई, उसने दाहिने हाथ से स्कूटी के मिरर को थोड़ा तिरछा किया और पूछा, ‘क्यों?’

मोहिनी हँस पड़ी, ‘अरे, घर से निकलने की जल्दी में आईने में चेहरा देखना भूल गई थी। हड़बड़ी में बिंदी लगाई और चल पड़ी। अब यहां देख लेती हूँ।’

अब सारंग ने स्कूटी लगभग रोक दी। शहर के बाहर का यह साफ-सुथरा रास्ता था, खेतों से आती महक फैली हुई थी और शहर के शोरगुल में लुप्त पक्षियों की आवाजें भी यहां सुनाई दे रही थीं। सारंग ने मिरर की ओर देखा-मोहिनी के कंधे के ऊपर का हिस्सा उसे दिखाई दिया। पीछे नीला, साफ आकाश और हवा के कारण अच्छे-खासे बिखरे बालों से सजा-संवरा मोहिनी का चेहरा। सारंग खड़ा का खड़ा रह गया, कुछ क्षणों के लिए। यानी, मोहिनी बिना आईने के तैयार हुई थी। वाह! ‘सच्ची, इतनी हड़बड़ी हो गई थी आते-आते कि आईने में देखकर बिंदी तो लगाई पर ठीक से चेहरा भी नहीं देखा!’ उसने कहा।

मोहिनी स्कूटी से उतरी और एक बार फिर ‘बॉस’ कहते हुए उससे विदा ली। आज के समारोह की वह मेजबान थी। वह तेजी से गेट की ओर लपकी। मोहिनी को पीछे से देखते हुए ही सारंग ने स्कूटी मोड़ी। मिरर में मोहिनी का चेहरा अब भी दिखाई दे रहा था और उसके साथ ही फीके अक्षरों में लिखा हुआ वाक्य ‘ओब्जेक्ट्स इन द मिरर आर क्लोजर देन दे अपीयर’ उसके मन में चक्कर काटने लगा। सारंग को आजकल यह महसूस होता था कि... बच्चे जैसे-जैसे बड़े होने लगते हैं, वैसे-वैसे पत्नी हमसे दूर होती जाती है; लेकिन कहां? उसे लगा, ऐसा सोचना अकारण है। ■

बाप...

प्रिया तेंडुलकर

अनुवादक : प्रकाश भातम्ब्रेकर

अभी-अभी तो भले-चंगे, चलते-बोलते थे, अचानक ये सब हुआ कैसे? बैठे-बैठे अंजू सोचती रही। बिस्तरे में घुटने पेट में दबाकर सोये पड़े बापू को वह अपलक देखती रही हट्टे-कट्टे बदन वाले, चुस्त-दुरुस्त बापू को इस तरह सिकुड़कर सोते हुए उसने कभी देखा नहीं था। हाथ-पांव तानकर पीठ के बल सोए थे वे अकसर।

‘इनसान दिन भर कहीं की भी भाड़ झोंकता रहे, कुछ भी जोड़-तोड़ रहे, कितना ही पसीना बहाता रहे, लेकिन सोए तो राजा की तरह...ठाठ से। वे खुद कहा करते थे। दिसंबर की ठंड में पंजगनी के बंगले के अहाते में खटिया डालकर बिना चादर-रजाई के सो जाते थे। अल्सुबह उठकर कुहरे को चीरते हुए टेबललैंड तक चहलकदमी कर आते और रजाई में भोर की मीठी नींद सो रहे हम लोगों को कड़कती आवाज में न सही पर जगाते थे, ‘चलो, उठो सब लोग अभी तक सो रहे हो? हसीन सुबह दस्तक दे रही है और तुम लोग दुबके पड़े हो?’ और रजाई खींच लेते थे।

नंदू के अमरीका से लाए खालिस ऊनी ब्लैंकेट में लिपटे नन्हें से बापू को सिमटकर सोए देखकर अंजू का दिल भारी हो गया। इस तरह अकेले में आंसू बहाना, मेरी फितरत कदापि नहीं थी, रूमाल से नाक साफ करते हुए उसे लगा।

‘रोते-भेंकते बसर करने से तो बेहतर है मर जाना।’ कड़क इस्तरी के कपड़े पहले बापू ने उस वक्त कहा था, जब केजी क्लास में सहपाठी से घूंसा खाकर रो रही अंजू को मायूस देखा था। तब दफ्तर जा रहे थे।

‘जयदेव मोहिते की नव विवाहिता बेटी ससुराल में पिटकर मायके चली आई है। शेम आन हर! वापिस जाओ। उसे दो-चार घूंसे जमाओ और उसके बाद इज्जत से चली आओ। तुम्हारा बाप किसी भी चीज की कमी महसूस नहीं होने देगा तुम्हें जिंदगी भर! सुनील से पिटकर ही नहीं, बल्कि उससे कहीं अधिक गहरे मानसिक घावों की पूंजी के साथ सांगली लौट आई बेटी को दफ्तरी काम-काज की दिन भर की थकान को दरकिनार कर बापू ने गरजकर कहा था।

‘तनिक समझदारी से काम ले जी। बेटी को हमने कभी छुआ तक नहीं। उसके साथ ज्यादाती हुई है। उसके पांव में चोट आई है। पीठ पर भी घाव दिखाई दे रहे हैं। मुआ इनसान है या हैवान?’ मुद्दतों के बाद साहस बटोर मां ने अंजू की पैरवी की थी क्योंकि बापू के सामने किसी की भी जुबान

खुले... नामुमकिन था। बापू तो जैसे समूचे सांगली शहर की सचल अदालत थे। कद्दावर बदन, दहाड़ती सी आवाज और रीढ़ सी कठोर दृढ़ता पहाड़नुमा बुलंद इनसान का लोंदा बनकर विस्तार में सिमट जाना? अपनी क्रमशः अधिकाधिक बेबसी की ओर आगे बढ़ रही स्थिति का उन्हें पूर्वानुमान नहीं रहा होगा? डॉक्टर तो कहते हैं कि इसकी शुरुआत तो एक अर्सा पहले ही हुई थी। बापू को महसूस तो हुआ होगा जरूर। तो उन्होंने किसी से इस बात का जिक्र भला क्यों नहीं किया? डॉ. जाधव से तो वे लगभग रोजाना मिलते थे, क्या डॉक्टर जाधव को भी कभी अंदेशा नहीं हुआ होगा?

खटिया में तनिक हलचल सी दिखाई दी, तो अंजू तड़ से उठ खड़ी हुई।

‘बापू ...बापू...’ छोटे बच्चे की तरह वे मुट्टी से नाक को सहला रहे थे तो उसने पूछा।

‘बापू...कुछ चाहिए आपको-? पानी वानी...? गडुआ होंठों में से हल्की सी सिसकी सुनाई दी।

‘क्या चाहिए बापू? बोलिए ना...’ लेकिन बापू से कोई जवाब नहीं आया। पुनः सिकुड़कर वे करवट पर सो गए... रजाई में दुबक कर ...जैसे मां की गोद में बालक।

उन्हें झकझोरने को दिल किया उसका। अंजू को लगा कि उनके गाल उमटे जाएं। और कुछ न सही, एकाध चिकोटी तो ले लूं। मेरे बापू मेरी पुकार का कोई जवाब क्यों नहीं देते? क्या मतलब हुआ इसका? मेरी आंखों के सामने छोटे बच्चे की तरह सिमटकर भला कैसे सो सकते हैं वे? मुंह से बुदबुदाना, मुट्टी को चूसना...ये हो क्या रहा है? क्या उन्हें तनिक भी अंदेशा है कि मुझ पर क्या गुजरती होगी? कमीज पहने बिना घर से बाहर कदम भी नहीं रखने वाले बापू... आज लेकिन अब बिस्तर पर ही टट्टी-पेशाब करने का कोई रंग नहीं होता उन्हें? डॉक्टर तो कहते हैं कि उनके मस्तिष्क का नियंत्रण कमजोर पड़ रहा है। डॉक्टर भले कुछ कहें, किंतु बापू ने कमजोर पड़ने कैसे दिया? घर-परिवार, जमीन-जुमरना, उद्योग-जायदाद, नौकर-चाकर ... कहीं भी, पल भर के लिए भी उन्होंने अपनी पकड़ कभी ढीली नहीं पड़ने दी और अब अपने ही बदन का नियंत्रण खोने दे रहे हैं? बापू जैसा आदमी इसे गवारा कर रहा है? मैं उनसे कोसों दूर, समुद्र पार, अमरीका में थी तो भी सांगली में बैठकर टेलीफोन के जरिए वे मुझे पकड़ में रखते थे। सुनील के साथ मैं मुंबई में रहती थी। जयदेव माहिते के लिए मुंबई शहर तो डग भरने की दूरी पर था। हर हफ्ते बिना नागा वे सरसरी मिलने के लिए सही, बराबर आते थे। हर सुबह टेलीफोन तो यकीनन आता ही था...मुंबई हो या ऑस्ट्रेलिया। यदा-कदा रात के वक्त भी... टटोलने के लिए। रात साढ़े ग्यारह के बाद घंटी बजी और मैंने फोन उठाया तो पहला सवाल सुनील कहां है? उन्हें मालूम था कि घर में होते हुए वह देर रात गए भी बराबर फोन उठाता है। एक बार तो ऐसा हुआ कि कैलिफोर्निया में हम लोग पार्टी में व्यस्त थे, तो घंटी बजने लगी। वाइन की मदहोशी के बीच फोन की घंटी का ध्यान ही नहीं रहा। जवाब में रिचर्ड की आवाज सुनते हुए ही मोहित आग-बबूला हो गए। ‘देर रात गए ये रिचर्ड क्या कर रहा है तेरे घर में? सांगली-कैलिफोर्निया की हजारों मील की दूरी पार कर वहां तक पहुंची उनकी आवाज से मेरी तो जैसे सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। मुझे काटो तो खून नहीं! वैसे तो रिचर्ड से सिर्फ औपचारिक मित्रता ही थी मेरी नजदीक हो संजय से होने लगी थी। बापू को यह सब कैसे बताया जाए इसी पेसोपेश में थी कि, फोन की घंटी बजती रही। इसी वजह से बावेला मजा था।

‘बापू हमारी महज दोस्ती है। इससे ज्यादा कुछ नहीं...मैं चीख-चीखकर बता रही थी।

‘महज दोस्ती है तो देर रात गए तेरे फ्लैट में क्या घास काटने आया है? तेरा बाप इतना

गया-बीता है कि कुछ समझता ही नहीं? 'बापू की कड़कती हुई आवाज और मेरे कमरे में बज रहा जैज संगीत...कानों में गड्ड-मड्ड हो रहा था। अंततः उस संगीत ने ही मुझे राहत दिलाई।

बापू में अब दूध पीती बच्ची नहीं रही। आई अॅम अॅडल्ट। अ डिवोर्सी... उसने भी तल्ल्खी भरे अंदाज में जवाब दिया। यकायक कमरे में सिर्फ जैज संगीत के अलावा कुछ भी नहीं बचा। काले-गोरे सभी दोस्त हक्के-बक्के से हजारों मील की दूरी पर बैठे बाप की नुक्ताचीनी से बेहाल हुई, बालिंग बेटी की दुःस्थिति को चुपचाप देखते रहे, बस।

इसीलिए चिंता है बेटा। मुकद्दर का झटका खा चुकी हो तुम। तेरी आँखें धोखा खा गईं। फिर एक बार...पहले को आवाज धीमी कर दे। कितनी तेज है...बात उसकी समझ में आई कि टेप डेक की आवाज बापू को अखर रही है। उसे फौरन एक दलील सूझी। बापू, हम लोग पार्टी कर रहे हैं। मिड टर्म में प्रथम स्थान प्राप्त करने के उपलक्ष्य में। और भी कई लोग हैं, लड़कियां भी हैं, एक मिनट.. कहकर उसने अनुपमा को इशारा किया, क्या...क्या...? कहते हुए नजदीक आने तक उसने फोन अनुपमा के हाथ में थमा दिया। 'हेलो...बापू...मैं हूँ अनुपमा देशपांडे, अंजू की सहपाठी प्रणाम मेरे अलावा और भी कुछ लोग हैं यहां मेरा पति भी है। आप बिलकुल चिंता मत कीजिए। हरदम हमारी नजर उसी पर रहती है...जी हां...लड़की होने से ज्यादा चिंता होती होगी आपको...मैं नासिक से हूँ..हां हां...अनंतराव देशपांडे मेरे सगे चचेरे ताऊजी लगते हैं। सच? तो फिर चिंता की कोई बात नहीं।

उस रात अनुपमा ने लीपा- पोती न की होती तो बापू शायद रात की फ्लाइट से कैलिफोर्निया के लिए चल पड़ते। उसके कुछ महीनों बाद वे आए भी। अमरीका निवासी उनके दोस्तों ने जासूसी की और संजय के साथ मेरी नजदीकी की खबर वहां तक पहुंच ही गई।

'अचानक एक काम निकल आया, तो मैं तेरे पास पहुंच रहा हूँ, इतनी संक्षिप्त सूचना देकर वे कैलिफोर्निया के लिए चल पड़े तभी अंजू को अदेशा हो गया था। अब बच निकलना मुश्किल है। संजय मामले को निपटाकर ही दम लेंगे...तय था। और हुआ भी वैसा ही फर्क सिर्फ इतना था कि वे अपने साथ उसे भी वापस ले आए। 'शादीशुदा मर्द से पींगें लेते हुए शर्म नहीं आई? तेरी शादी के ठीकरे उड़ानेवाली एक औरत ही थी न? इत्ते जल्दी भूल गई तू? मोहिते खानदान की इज्जत को दरकिनार कर दूँ तो भी औरत जाति को कलंकित करने वाली बेटी को इस दुनिया में लाने के दुःख का क्या करूँ? कैसे निजात पाऊँ उससे।'

बापू ने इस कदर हंगामा किया, तो ऐसे माहौल में जुबान खोलना भी संभव नहीं था। दरअसल वे बहुत कुछ कहना चाहते थे। मुझे समझाना चाहते थे, सुनील के संग मेरा वैवाहिक जीवन ठीक-ठाक ही चल रहा था...सुनील की उस चहेती का प्रवेश हो जाने तक। मेरे अनजाने में नयनतारा उसगांवकर ने उसकी जिंदगी में कदम रखा और यहीं से शुरू हुआ समस्याओं का सिलसिला लेकिन संजय की शादी का किस्सा अलग था। बाकायदा लड़की देखकर भारत में ही उनसे शादी की थी और उसे वह अमरीका लाया था पर उसके साथ संजय की कभी बनी ही नहीं। वैसे भी अमरीका उसे रास नहीं आती थी, सो उसने उसे वापस भेज दिया। अब वह भारत में है और पिछले चार सालों में टेलीफोन से भी उन दोनों की आपस में बात नहीं हुई है। तो उनकी शादी को उधेड़ डालने में भला मेरा क्या संबंध? उससे मेरी जान-पहचान तो महज एक-डेढ़ साल पुरानी है और फिर अब मैं एक प्रौढा हूँ। पच्चीस वर्षों की जिंदगी में बसर कर चुकी हूँ। और काफी कुछ भोगा भी है मैंने अलग से मेरी एक

हस्ती भी तो है। किसी की बेटी, या बहन या पत्नी होने के अलावा मेरी अलग एक पहचान है। मेरी सीमाएं, मेरी प्रतिबद्धता, मेरी कुवत, मेरी कार्यक्षमता...अपनी हर चीज से वाकिफ हूं मैं। उम्र के इस पड़ाव तक पहुंचने के बाद भी कोई निर्णय लेने के लिए यदि आपसे हील-हुज्जत होती रहे तो जिंदगी का मकसद ही क्या रह जाता है? माना कि आपसे लड़-झगड़ कर लिए मेरे कुछेक निर्णय पूर्णतया गलत सिद्ध हुए लेकिन इस वजह से मैं अपने बारे में कोई भी फैसला करने लायक ही नहीं हूं। ऐसा ठप्पा लगाने वाले आप कौन होते हैं? मैं जब छोटी थी आप मुझे न पेड़ पर चढ़ने देते थे, न ही गतका-फरी खेलने देते थे, न बच्चों के साथ मटर-गश्ती करने देते थे। किंतु उस उम्र में भी बागी तेवर दिखाते हुए मैं बराबर मनमानी करती रही थी। नोक-झोंक, हाथापाई? टखने-घूटने पर चोट आना...जैसी मामूली घटनाओं के अलावा सिर-फुटौवल का कहर भी मैं झेल चुकी हूं। और आप हर बार यही उलाहना देते रहे कि आपका कहा न मानने का ही परिणाम था यह। मतलब मेरी उदंडता को आप बरदाश्त करते रहे। इसी का नतीजा यह हुआ कि आपको अँधेरे में रखकर अपनी हेकड़ी चलाने की मेरी आदत सी बनती जा रही थी किंतु बनी नहीं। वजह थी मां वह उम्र दराज तो थी, किंतु चौदह साल की उम्र में उसकी शादी आपके साथ होने के बावजूद चौदहवीं की उसकी शोखी अभी भी बरकरार थी। आपने उसे चौदह से आगे बढ़ने ही नहीं दिया। कहने को तो यशोदा जगताप शादी के बाद लक्ष्मीबाई मोहिते बन गईं। मातृत्व भी उसके हिस्से में आया किंतु अल्हड़ उम्र की मासूमियत उसके व्यक्तित्व में बरकरार रही। इसी कारण हम जैसी हमउम्र दोस्त...जिगरी दोस्त बन गए। एक मर्द की दहशत के साए में जी रही दो महिलाएं थे हम। आपकी बेटी और आपकी पत्नी आपके व्यक्तित्व के दो विपरीत पहलू हम दोनों को अलग-अलग तरह से ज्ञात थे। आपके भीतर के पति को खूब अच्छी तरह से समझ चुकी यशोदा ने उन दिनों मुझे खूब निभाया, संवारा, शेर की नजर है। इस आदम की हर हालत में उसे पता तो चलना ही है लेकिन बाद में मालूम पड़ने से तो अच्छा है उसे पहले ही मालूम हो जाए। इससे क्या फर्क पड़ता है? बाद में होने वाला शोर-शराबा पहले हो जाएगा। इससे इतना तो होगा कि मैंने उनसे पूछा जरूर था। झूठ बोलने की लानत मोल लेने से पहले ही घुटने टेक लो और दफा हो जाओ। क्या यह नुस्खा ज्यादा अच्छा नहीं होगा? अपनी तरह से मुझे समझने की पूरी कोशिश यह किया करती थी।

मुझे तो यही लगता कि इसमें कुछ भी गलत है, तुम उससे बात कर लो। मान जाएंगे वे। कहकर मेरा हौसला बढ़ाती थी वह सुनील से इश्क हुआ तो पूरे एक महीने तक वह मेरा हमसाया बनी रही। मुझे ऊर्जा प्रदान करती रही। उसका सहारा न होता तो यकीनन मैं घर से भाग निकलती और हमने शादी की होती। तब खानदान की इज्जत की दुहाई देते हुए आप मुझे नकारा दे देते, 'डिसऑन' कर देते। आपके खाते से मेरी हस्ती ही मिटा डालते आप। यही सब तो किया था सदाशिव काका ने मंगल के साथ। मंगल की शादी निरंतर आगे खिसकती रही लेकिन सुनील के नयनतारा मामले में मैंने विरोध जतलाना शुरू किया और मेरी छीछालेदर शुरू हुई। तब किसके आंचल में सिर छुपाती मैं। अपने ठकुराई अक्खड़पन की जिद में आकर आप मुझे हरगिज पनाह नहीं देते। नंदू तो आप की ही औलाद है और मां हमेशा आपके सामने हताश-विवश ही रही। ऐसे में मेरा क्या हथ्र होता?

इसमें से एक पंक्ति भी बापू के सामने बोल पाना संभव नहीं यह जानकर उसने चुपचाप

कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी को राम-राम कह दिया। रात का दिन करते हुए प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण आधी-अधूरी उपाधि का कागज उसने अटैची में ठूँसा और आज्ञाकारी बेटी की तरह बापू के साथ सांगली लौट आई। कैलिफोर्निया के घने कुहासे में देखे गए 'संजय' नामक सपने को तिरोहित कर 'कृष्णा सहकारी समिति' की पत्थर की दीवारों के बीच में बैठकर पीली फाइलों में गन्ने की फसल से संबद्ध आंकड़ों की जोड़-तोड़ करने लगी।

कौन कहता है औरतें हिसाब में कमजोर होती हैं? हमारी अंजू को देखिए। पूरा कामकाज अकेली चलाती है! विदेशी पढ़ाई का उपयोग देशी कामों में न करें तो फायदा ही क्या? बापू हर किसी के सामने यह टेप जरूर बजाते।

बापू मैंने विदेश में कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं किया। शिक्षा अधूरी छोड़कर वापस आई हूँ। मैं आप हर किसी के सामने मेरी विदेशी शिक्षा का बखान मत किया कीजिए। लोग डिग्री के बारे में पूछते हैं, क्या जवाब दूँ मैं? कभी-कभी उकताकर अंजू उनसे कह देती।

'विदेशी डिग्री के ज्ञान का यहां की मिट्टी से भला कोई रिश्ता है? उसमें शरमाने की क्या बात है? इस मिट्टी के गुण-दोष जानने हों तो यहां रहना पड़ता है। तब समझ में आती हैं चीजें, और वहां तुमने जो पढ़ाई शुरू की थी वह तुम्हारे बस की थी भी नहीं। हरामखोर आदमी था वो संजय देशमुख। उसका ताऊ परधानी से चुनाव जीतने वाला... वही ...उसकी औकात और विधायकगिरी ...सब कुछ मालूम है मुझे। चार औरतें हैं उसकी, दो ब्याहता और दो अनब्याही। यह मामला भी सुनील सरनाईक के रास्ते जाकर ही खत्म हो जाता। लिख लो जयदेव मोहिते की जुबानी...'

इस तरह के बेतरतीब, उलटे-सीधे, अपनी ही दलीलों के पक्ष-विपक्ष में ऊटपटांग बयान एक झटके में पेश करना बापू का तकिया-कलाम था। अंततः अपने बयान के सामने वे खुद ही इत्ता बड़ा पूर्ण विराम लगा देते। विमान के पहियों के सामने लगे भारी-भरकम डाट की तरह। बहस, विचार-विमर्श, सवाल-जवाब आदि किसी भी चीज के कोई मायने नहीं थे उनके लिए। अपनी सलतनत के बेताज बादशाह थे। वे उस इलाके के एकाधिकारी! उनके सार्वभौमिक को ललकारने वालों को उनके साम्राज्य में फटकने का भी नहीं दिया जाता था। देश-निकाला! यही एकमात्र सजा।

ऐसे में वे अपने साम्राज्य से खुद ही बे-दखल कैसे हो गए? अपने सभी सुख-दुःखों से पार पाकर निर्विकार कैसे हो गए। अपनी लंज-पुंज स्थिति का पता चल जाए तो क्या वे खुदी को सजा सुनाएंगे? शायद फरमान जारी करेंगे, जयदेव मोहिते की सलतनत में ऐसे निर्जीव जीवों को भला स्थान कहाँ। इनसान की खाल में लुंज-पुंज, केवल मिट्टी का लोंदा भर बचे इनसान को जिंदा रहने का कोई अधिकार नहीं, फिनिश हिम अंट वन्स!

एक बार उनके प्रिय 'नव्वाब' यानी हाउंड प्रजाति के कुत्ते को एक गाड़ी ने उड़ा दिया। उस वक्त मैं आठ-दस साल की रही हूंगी। उन्होंने बड़िया-से-बड़िया डॉक्टर का पता लगाया और से बुलाकर रातों-रात उसके पैर में प्लास्टर चढ़ाया। उसे उड़ा देने वाली गाड़ी के मालिक को दूँड निकालने के चक्कर में उन्होंने सांगली शहर का चप्पा-चप्पा छान मारा। पूरे तीन महिने तक नव्वाब का शाही इलाज होता रहा। उसके बाद प्लास्टर उतारने के बाद मालूम हुआ कि उसका पैर ठीक नहीं हो सकता। नव्वाब को लंगड़ाते देखना उनसे गवारा नहीं हुआ।

'उसका चेहरा हमेशा मायूस सा दिखाई देता है, उसकी जुबान से निरंतर लार टपकती है...

मुझे से देखा नहीं जाता। मेरे नव्याब की ये हीन-दीन लाचारी। मुझे से बर्दाश्त नहीं होगा यह हरगिज नहीं कहते हुए बापू ने एक दिन अपने नौकर के हाथों बाकायदा गोली चलवा दी। और उसकी इत्ती बड़ी, क्षत-विक्षत काया को आंगन में देखकर खुद ही फूट-फूट कर रोते रहे। उसकी शव यात्रा निकाली, तेरहवां भी किया।

‘मेरा नव्याब हमें छोड़कर चला गया’... अभ्यागतों के सामने इस अंदाज में वे कैफीयत रखते गोया कोई नजदीकी रिश्तेदार चल बसा हो। नव्याब की इतनी बड़ी तस्वीर दीवानखाने में ऐसी जगह लगवाई, कि वहां कदम रखते ही किसी को भी सबसे पहले वह तस्वीर ही दिखाई पड़े। रात को मुझे सुलाते वक्त मां ने कहा था, ‘अंजू को मैं यदि बिस्तर से ही जकड़ गई तो तेरे बापू मुझे भी ऐसे ही मार डालेंगे। सो तो कोई बात नहीं। लेकिन तुम मेरी तस्वीर कहीं भी लगवाने मत देना।

‘लेकिन क्यों?’ मैंने पूछा।

‘ऐसे ही। मेरा मन नहीं करता। इसलिए जीते-जी मेरी मजबूरी थी। मरने के बाद मैं अपनी अतृप्त इच्छाएं जरूर पूरी कर लूंगी। मेरे शव को मत नहलाना, महावर आदि कुछ भी नहीं। तेरहवां, श्राद्ध...कोई विधि नहीं। तू जब बड़ी होकर अपने घर जाएगी तो तू आजाद पंछी होगी। लड़-झगड़...कुछ भी कर तू किंतु मुझे मुक्ति दिला दे।’

सांवला, गोल चेहरा और माथे पर इत्ती बड़ी...बिंदी...यकायक उसका चेहरा गमकने लगा था। आज भी मुझे बराबर याद है। पल भर को लगा जैसे वह खालिस अपनी, जिली अनजान दुनिया में पहुंच गई है...मुझे अकेले यहां छोड़कर। मुझे तो रोना आ गया; उससे बिछुड़ने का अदेशा पाकर अथवा अपने प्रत्याशित अकेलेपन से डरकर, पता नहीं इस मुकाम तक पहुंचते-पहुंचते हम दोनों की दुनिया इतनी तदाकार हो चुकी थी कि इससे जुदा, उसकी अपनी अनकही दास्तां फिर भी शेष रही हो सकती है, ऐसा सोचना भी मेरे लिए बर्दाश्त से बाहर होने लगा था। यहां का सब कुछ हम सबका था। अपना घर, अपना स्कूल, अपना आंगन, अपना नंदू, अपने बापू...यहां तक कि बापू का खौफ भी हमारा अपना-इसमें तेरे-मेरे की कोई गुंजाइश ही नहीं थी।

‘मां, मैं भी चली चलूंगी तुम्हारे साथ! ‘सुबकते हुए मैं उससे लिपट गई। तो तेरी पीठ सहलाते हुए कहने लगी, ‘पागल हो, जिंदगी में दो चीजें अकेले के ही हिस्से की होती है। जन्म और मृत्यु हमारा जन्म साथ-साथ नहीं हुआ है और हम सब साथ जा भी नहीं सकते। तू मेरे साथ नहीं जाएगी। तेरे लिए लंबी जिंदगी पड़ी है बाकी मां-बाप अंत तक थोड़े ना साथ रहते हैं। वे तो जन्म देते हैं, परवरिश करते हैं बस। नन्ही-मुन्नी अंजू को सक्षम महिला बनाकर छोड़ देते हैं। दुनिया के अखाड़े में। उसके बाद उन्हें मिट जाना होता है। उनके बच्चे मां-बाप बनना होता है अपने बच्चों के।

कुछ बाप अपने बच्चों को जीने के लिए लायक नहीं भी बनाते हैं। उस वक्त मां ने यह बताया भी नहीं था। कुछ बच्चे मां-बाप नहीं बनते। जैसे कि मैं और नंदू। मेरे इकलौते विवाह ने मां बनने की फुरसत ही नहीं मिलने दी।

मुझे और नंदू, उसने शादी की ही नहीं। अतः महावर, पान का बीड़ा इत्यादि किसी भी विधि को लेकर बापू से कहा-सुनी का मौका न आने के आसार नजर आ रहे हैं। उसकी यह इच्छा पूरी नहीं होगी अथवा उसे मुक्ति मिलेगी? अपनी ही सोच पर वह सकपकाई।

उसने मान लिया है कि बापू अब बचेंगे नहीं। उसे अपने ही रवैये पर दया सी आई। जैसे

भी हों, आखिरकार वे मेरे पिता हैं। मुझे गोद में लेकर घुमाने वाले, रोजाना घोड़े की सवारी करवाने वाले, कक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त होते ही सांगली टाइम्स में मेरी फोटो छपवाने वाले, नंदू की अनदेखी कर मुझे कृष्णा सहकारी समिति के अध्यक्ष की कुर्सी में बिठाने वाले। आधी जायदाद मेरे नाम कर देने वाले। तलाक के निर्णय पर अधिकृत मुहर लग जाने पर मेरे गले के मंगलसूत्र को सुनील की ओर उछालते हुए 'मेरी बेटा तेरे चंगुल से सही सलामत बच निकली। अब तेरे शिकंजे में फंसने वाली नई चिड़िया के गले में डाल देना' कहकर अदालत से बाहर खुले आम उसकी खाल उधेड़ने वाले। संजय से मुझे अलग कर देने के बाद तुझे जोगन बनने की भला क्या सूझी? एक-से-एक उम्दा लड़कों की पंक्ति तेरे सामने खड़ी कर दूंगा कहते हुए खानदाना मराठा परिवारों के काबिल युवकों को ढूँढ-ढूँढ-कर पेश करने वाले मेरे बापू!

उनकी यह जिद भी मैंने चलने नहीं दी। संजय को तो भुला दिया है मैंने और सुनील को तो कभी का खारिज कर चुकी हूँ। अब मेहरबानी करके किसी तीसरे को लाकर मेरे सामने मत खड़ा कर दीजिए। मैं अब किसी से प्यार-व्यार नहीं कर पाऊँगी। कुँए में छलांग लगाने जितना आसान है बिसात बिछाना? नए-नए चेहरों की नुमाइश से बचने की दृष्टि से एक बार हिम्मत करके मैंने कह डाला। इस पर उन्होंने प्रतिवाद किया, 'लेकिन शादी से प्यार का क्या संबंध? तुम लोग यही गलती कर बाद में रोते-भेंकते रहते हो? तेरी मां के साथ क्या मेरा प्रेम संबंध था? वेदी पर अंतरपट हटाए जाने तक हम दोनों ने एक-दूसरे की शक्ल पहले कभी भी देखी नहीं थी। हमारी शादी, पता नहीं कितने वर्षों से, बरकार है न?'

इस मुद्दे पर अंजू कई दलीलें पेश करना चाहती थी। माना कि आप एक-दूसरे में प्यार नहीं करते थे। लेकिन क्या बाद में भी आपस में कभी वह पैदा हुआ? इस वक्त क्या स्थिति है और शादी के बरकार होने से तात्पर्य क्या है? मां जैसी शांत, संवेदनशील सौजन्य मूर्ति की तो किसी भी मर्द के साथ, निभा सकती थी, लेकिन उसकी सुखी गृहस्थी की सफलता को नापने का पैमाना क्या होगा? और इसे कौन तय करेगा? मुझ जैसी कोई महिला आपके हिस्से में आती तो शादी का धुलिया क्या हो जाता? गुलाब सातारकर, कनकबाला सालुंखे आदि महिलाओं के नाम कई लोगों की जुबान से सुनने में आ रहे थे। कौन थीं ये औरतें? मां ने अपने मुकद्दर को जैसे-तैसे स्वीकार कर ही लिया। यह उसकी मजबूरी थी। कोई दूसरा रास्ता था ही कहां?

नयनतारा उसगांवकर को लेकर जब मैंने आपत्ति जतलाई तो सुनील का रवैया भी बदसलूक ही था। कहने लगा, 'तुझे कमी किस बात की है? तू मेरी पत्नी है। फॉर हेवन्स सेक, डॉट मेक माइ लाईफ मिजरेबल। तेरे पिताजी ने किया? फिर भी मेरी मां ने उफू तक किया कभी? जीना हराम कर दिया तेरे पिताजी का? घर से बाहर की मेरी कारगुजारियों से तेरा क्या वास्ता? घर में तो नहीं न ले आया मैं उसे?'

मैं भी यदि मां की स्थिति में होती और मेरे सामने भी कोई विकल्प न होता, तो निभाना ही पड़ता मुझे भी यह रिश्ता। मेरे भी बच्चे पैदा होते और माथे पर इत्ती बड़ी बिंदी लगाकर मैं भी जिंदगी भर प्रदर्शन करती अपने सुहाग की अक्षुण्णता का लेकिन अन्याय कदापि सहन न करने की सीख आप ही ने मुझे दी, बापू? मैंने उसे अपने स्त्रीत्व पर हुआ अन्याय माना, इसीलिए तो आंच आई मेरे रिश्ते पर...'

करवट बदल रही बापू की पोटली की ओर देखते हुए उसे लगा, मेरे पास भी कहां थी। मेरे बापू तो अपनी बीबी पर वही अन्याय बार-बार करते रहे। वही, पुरुष वैसा ही अन्याय... किंतु भूमिकाएं जुदा-जुदा। अपनी बीबी के साथ अन्याय करने वाला एक मर्द मेरा पिता था तो दूसरे की बीबी थी मैं। एक सा बर्ताव करने वाले मर्दों के रिश्तों में परिवर्तन आ जाते ही औरत को लेकर मर्द किस कदर विरोधी भूमिकाएं ले सकता है! ये वही बापू थे जिन्होंने समूचे सरनाईक खानदान पर अपने अखबार में वो कीचड़ उछाला कि पूछो नहीं वजह? यही कि उनकी बेटी के साथ सरनाईक ने वैसी ही बदसलूकी की जैसी उन्होंने खुद अपनी बीबी के साथ की थी।

सरनाईक के पास अपना अखबार नहीं था और वे बापू की तरह धन्नासेठ भी नहीं थे इसलिए चुप रहना पड़ा उन्हें। सही मायने में जीत तो सुनील की ही हुई। उसने नयनतारा से विवाह किया। बापू की तरह 'यूज ऐंड ग्रो' की शिकार बनी उन औरतों जैसी दुःस्थिति तो नहीं होने दी उसने उसकी, अब तो उसके बच्चे भी हैं जबकि मोहिते परिवार अभी भी निःसंतान है। नंदू की चालीसी के बावजूद उसकी जिंदगी के साथ भी बापू ने ऐसा ही खिलवाड़ किया। बचपन से ही उसे होस्टल में रख छोड़ा। बाद में ऑक्सफोर्ड भेजा उसे। एक स्वतंत्र व्यक्ति की तरह वह विकसित होता रहा। पश्चिमी सभ्यता में ही पला-बढ़ा वह छुट्टियों में घर आता तो था किंतु कटा-कटा सा ही रहता था। यदा-कदा तनिक घुल-मिल जाता था। शैली से उसका प्यार हो गया। फिर क्या था। बापू का मत्था ठनका। मोहिते का इकलौता बेटा अमरीकी लड़की से ब्याह करे। वह भी तलाकशुदा लड़की से जो दो बच्चों की मां भी है। उम्र में नंदू से चार साल बड़ी।

उसने फौरन नंदू का दाना-पानी बंद कर दिया, 'आ जाओ वापस, वरना समझ लो तेरा बापू मर गया। नंदू भी बेरंग लौट आया। वैसे तो उसे वहां भी और यहां भी अच्छी नौकरी मिल सकती थी। अपने बूते वह शैली से विवाह कर सकता था पर किया नहीं। ये नादानी मां की विरासत थी? अथवा बापू के अकूत धन की विवशता? उन्होंने हमें लावारिस कर डालने की धमकी दी और हमने घुटने टेक दिए। ये हमारे लिए सुविधाजनक था, या कि हमारी मजबूरी थी? अंजू को उत्तर सूझता न था। जयदेव मोहिते की बेटी के स्वभाव में आत्मान्वेषण की यह प्रवृत्ति भले ही मां से आई हो, किंतु अपने रवैये की अबूझता को बरकरार रखने की प्रवृत्ति तो यकीनन जयदेव मोहिते की ही जन्मना देन थी।

जयदेव मोहिते की ऊटपटांग बोल-चाल और व्यवहार तथा लक्ष्मीबाई मोहिते की ऋजुता का मिला जुला रूप है अंजली सरनाईक, उसके अलावा सरनाईक परिवार के व्यवहार और संजय के पारस स्पर्श के कारण पनपी खट्टी-मीठी प्रवृत्ति... इन सभी विशेषताओं से युक्त प्रारूप हूं मैं।

'हे भगवान SS' बापू के बिछौने पर कुनुमुनाहट सुनाई दी। बापू की है यह आवाज? इस कदर महीन और कांपती सी, औरतों सी...

'बापू SS बापू कुछ चाहिए?'

'हे भगवान SS अम्मा SS' नींद से जागते ही दूध की मांगकर रहे बालक की तरह वे कुनुमुना रहे थे मानो... अंगड़ाई लेते हुए।

मेज पर रखा पानी का गिलास अंजू ने उठाया और चम्मच से उन्हें पानी पिलाती रही और वे भी चुकचुक करते हुए छोटे बच्चे की तरह घूंट-घूंट निगलते रहे।

‘अब कैसे लग रहा है बापू? आँखें खोलिए। मेरी ओर देखिए। मैं हूँ अंजू!’ मुँह में पानी डालते हुए अंजू उनसे बतियाती रही। बापू आँखें मूंदकर बूंदें चूसते रहे, निगलने का प्रयास करते रहे।

‘बापू, आप ठीक तो हैं? देखिए न मेरी ओर! मैं कब से इंतजार में हूँ कि आप पलकें उठाकर मुझे देखेंगे!’

अब बूंदें चूसने निगलने का दौर थम गया-अंजू ने फिर भी चम्मच उंडेलने का प्रयास किया पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया फिर भी अंजू की क्रिया जारी रही, तो पानी गालों पर होते हुए तकिए पर गिरता रहा।

‘बापू डांटिए न मुझे! हटा दीजिए मेरा हाथ। आप चुप क्यों हैं बापू? प्लीज...

अंजू को लगा, वे मेरा हाथ झटक देंगे। चिल्लाएंगे, गुस्सा करेंगे...कुछ तो संवेदना जतलाएंगे..लेकिन बापू भींगते रहे...चम्मच के पानी से और अंजू के आँसुओं से भी।

इसके बावजूद अंजू प्रतीक्षा करती रही कि बापू दहाड़ेंगे...गर्जना करेंगे। जिंदगी भर दहाड़ सुनने तथा विरोध सहने की आदत जो पड़ी हुई थी...। ■

बहुवचन के सभी लेखकों और पाठकों को
आने वाले नव वर्ष की हार्दिक
शुभकामनाएं
संपादक

सनातन

शरण कुमार लिंबाले

अनुवादक : पद्मजा घोरपड़े

ढेंढें ने काली चट्टान तराशकर विट्ठल मूर्ति बनाई। महादेव का शिवलिंग गढ़ा। देवगढ़ के घर बांधे। कुएं खोदे। काम करते वक्त ढेंढ चलता है। अन्यथा वह अछूत। काली हवेली में रात दिन पत्थर तराशने का काम चल रहा था। कितनों की आँखें, कान जख्मी हुए थे पर काम नहीं रुका।

कंधे पर हथौड़े डाले नागनाक, कृष्णनाक, खंडनाक घर लौट रहे थे। आज उन्होंने काम जल्दी बंद किया था। चोखा का दरवाजा खुला दिखा सो उन्होंने उसे आवाज दी। चोखा झट से बाहर आ सकता था पर उसने वैसा किया नहीं। वह उठा गले में तुलसी माला पहनी। कमर में अबीर की पुड़िया लटकाई कंधे पर निशान लिया और बाहर निकला। उसने सबको अबीर लगाया। सभी ने उसके पांव छुए। नागनाक, कृष्णनाक, खंडनाक गंभीर खड़े थे और चोखा हँस रहा था।

‘बुर्ज की बुनियाद रखी जाने वाली है। मांत्रिक मिल नहीं रहा था। अब मिल गया है। कोंकण से आने वाला है। कृष्णनाक ने कहा।

बुनियाद में ढेंढ की बलि देंगे। नागनाक।

हवेली से बुलावा आने पर जाना पड़ेगा। पता नहीं किसे बुलाएंगे। चर्चा कर रहे हैं। खंडनाक में तो गांव छोड़कर जाने की सोच रहा हूँ। नागनाक।

चोखा अब गंभीर हुआ। ‘हरी-हरी’ कहने लगा।

हवेली से पत्थर तोड़ने की आवाजें आ रही थीं। कृष्णनाक, नागनाक, खंडनाक चले गए थे। चोखा बेबस था। रात भर उसे नींद नहीं आई। बुर्ज की नींव में बलि किसकी दी जाए? यदि मुझसे पूछा गया तो मैं किसका नाम बताऊँ? वह चिंता में डूबा। राही सोयी थी। काफी रात बीते उसे भी नींद आई। बड़े लड़के उसने सपना देखा। सपने में उसने कई चमगादड़ देखे थे। तब से वह सपने का अर्थ जोड़ रहा था पर कुछ न बना। वह फिर सो गया।

सुबह राही उठी तो उसे अचरज हुआ। पति को गहरी नींद सोता देखकर उसे अचरज हुआ। रोज चोखा पहले उठा करता था फिर राही को उठाता था। आज उलटा हुआ था। चोखा का पतिता आरती में जाना न हुआ था।

राही काम पर गई। चोखा घर में बैठा रहा। उसने वारकरी लोगों की (विट्ठल दर्शन हेतु पंढरपुर पैदल चलते जाने वाले भक्त) माला नहीं पहनी। हरिनाम नहीं जपा। निसान नहीं उठाया। इकतारा

नहीं छोड़ा।

शाम हुई। विट्ठल मंदिर में घंटा बजने लगा। पोथी-पारायण का समय हुआ था। उसने तुलसी माला पहनी। अबीर लगाया। निशान लिया। अबीर की थैली ली। घर से निकला। रास्ते में खेल रहे बच्चों ने उसके दर्शन किए। उसने सबको अबीर लगाया। 'हरि-हरि' कहा। नुक्कड़ पर रिबेका और सेरेना दिखी। सास-बहू चर्च से आ रही थी। चोखा दिखते ही उन्होंने उसके दर्शन किए। वे ईसाई हो गई थीं पर पुरानी रीति नहीं भूली थीं। चोखा ने उन्हें अबीर लगाया। हरि-हरि कहा।

चोखा विट्ठल मंदिर की ओर चल दिया। वह हगनहट्टी से गुख गली तक गया। गली के आखिर में मारवाड़ी की मंजिलों वाली इमारत थी। इमारत वीरान थी। उसके बाद खुला मैदान था। वह पटवारी के जानवरों का गोठ बना था। मारवाड़ी की इमारत से लेकर विट्ठल मंदिर तक वह गली जाती थी। चोखा इसी गली से मंदिर जाता और मंदिर से दूर बैठता। इससे उसे छुआछूत का डर न रहता। बेबस बैठे चोखा देखकर लोगों को अच्छा लगता। ढेंढ़ हो तो ऐसा चोखा जैसा विनम्र। अपनी औकात में रहने वाला। अन्य ढेंढ़ों को इसका अनुकरण करना चाहिए। लोग ऐसा ही कुछ सोचते लेकिन उसे अनदेखा करते। चोखा उनको मनहूस लगता और ढेंढ़ बस्ती में वही चोखा जीवन का आदर्श लगता।

आज चोखा ढेंढ़ को देखते ही गोविंद भट मंदिर से बाहर आए। पोथी का समय हुआ नहीं था। भक्त आ रहे थे। श्रीरंग बारणे ने वीणा हाथ में ली थी। चोखा हाथ जोड़कर गोविंद भट को देखने लगा। आते-जाते लोगों को इससे अचरज हुआ। गोविंद भट बोल रहा था, समझ ले कि यह मैं नहीं सुमित्रा रानी बोल रही हैं। इसे काली हवेली का संदेशा समझ। तू रोज मंदिर आता है इसीलिए उन्होंने मुझसे कहलवाने कहा है। तू ध्यान से सुन। 'कहते-कहते गोविंद भट का गला सूखने लगा। चोखा ढेंढ़ तनाव में आ गया। गोविंद भट उसे चोखा मेला (संत) की कथा सुनाने लगा।

'मंगलवेढा गांव में चोखा मेला नाम का ढेंढ़ रहता था। गांव में बुर्ज बांधने का काम चल रहा था। बुर्ज बार-बार ढह जाता था। चोखा मेला अपनी औरत के साथ काम पर जाता था। बुर्ज ढह गया और चोखा मेला मलबे के नीचे दब गया। जब लोगों ने उसे मलबे के नीचे से हटाया तो वहां उसकी हड्डियां मिलीं और उनमें से हरि-हरि का जाप सुनाई दिया। इसे कहते हैं विट्ठल भक्ति। तूने चोखा मेला का निशान कंधे पर लिया है। सुमित्रा रानी तेरा सत्कार करना चाहती है। तेरे औरत की उसे गोद भरनी है। मांत्रिक ने उन्हें बताया है कि...बुर्ज का काम शुरू करने के पहले ...ढेंढ़ का सत्कार करने को...और दान देने को...धर्मचरण करने वाले ढेंढ़ का सत्कार होना चाहिए। इसलिए मैंने तेरा नाम सुझाया है। गोविंद भट ने बलपूर्वक कहा।

पोथी बाचन का समय हो गया था। भक्त राह देख रहे थे। गोविंद भट कह रहा था, आज तूने पोथी ना सुनी तो भी चलेगा। जिम्मेदारी निभा। गोविंद भट मंदिर में चला गया। चोखा ढेंढ़ ने विट्ठल को याद किया। कहा, तेरे लिए जब सब समान हैं तो फिर मैं बाहर क्यों खड़ा हूं? चोखा ढेंढ़ बस्ती जाने चल पड़ा। गांव के बाहर से जा रहा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि उसे हवेली क्यों बुलाया है? वह सकते में आ गया था।

राही खाना पका रही थी। घर में धुआँ फैला था। चूल्हा जला था। आग की वजह से वह पसीने में तर्र-बर्तर थी। वह आटा गुंथ रही थी। तवा गरम हुआ था। चोखा घर में गया। ना तो वह हरि-हरि कह रहा था और न ही पद गा रहा था। वह गंभीर, निर्विकार था। राही जान गई कि कुछ गड़बड़

हुई है।

क्या हुआ? उसने पूछा। वह बेबसी से बोला; हवेली बुलाया है। राही उछल पड़ी। तो क्या हुआ। चले जाएंगे। वह गुस्से से बोला, तेरी गोद भरनी है उन्हें। राही मुस्कराई। बोली, क्यों? किसलिए? वह ठंडेपन से बोला, तू मां बनने वाली है इसलिए। उसे आश्चर्य हुआ। बोली, उन्हें कैसे पता? वह शांत स्वर में बोला, उन्हें सब पता रहता है। काली हवेली के पत्थर भी देखते हैं। उसने गुस्से से पूछा, पहेली मत बूझो। उसने धमकाकर कहा, हमें चलना चाहिए। तुझे आना पड़ेगा मेरे साथ, मैं कहूंगा। वहां। राही प्यार से बोली, मैं आऊंगी ही। वह खामोश हुआ।

पत्थर तोड़ने वाले पत्थर तोड़ रहे थे। टुकड़े उड़ रहे थे। चिनगारियां फूट पड़ती थीं। चोखा को लगा पत्थर पर पड़ने वाले प्रहार उसके सिर पर आ रहे हैं। वह सहनशीलता की कसौटी पर प्रहार झेल रहा था। उसका चेहरा टूटे पत्थर-सा हो गया था।

ढेंढ़ बस्ती शांत सोई थी। चांदनी फैली थी। नारली पूनम चार-पांच दिनों बाद थी। चाँद उगा था। हवा सॉय-सॉय बह रही थी। रात की आवाज समंदर-सी। चोखा के सिर में चट्टान टूट रही थी। टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे। वह बापनाक से चोखा कैसे हुआ... राही के साथ ब्याह...वह कितनी छोटी थी तब... कैसे बुरे दिन काटे उन्होंने... किसने मदद की... किसने झोपड़ी बनवा दी... कहां से मेंढ़ लाए... कहां से छप्पर... कहां से घास... कहां से क्या-क्या!!! राही ने कितने दुख झेले! वह अतीत में घूम रहा था। जैसे हगनहट्टी में घूम रहा हो। हवेली जाऊं?... तब क्या होगा? नहीं जाऊं? तब क्या होगा? बुर्ज में गाड़ दिया तो? यहां से हमेशा के लिए चला जाऊं तो? चोखा के मन में सवाल नंगा नाच कर रहे थे।

चोखा घर से निकला। उसके पीछे राही। रात ऊंध रही थी। अँधेरा झपकी ले रहा था। पत्थर तोड़ने की आवाजें बंद हो चुकी थीं। मेंढ़क टर्-टर् कर रहे थे। कुसे सोए थे। हवा खरटे भर रही थी। सबके दरवाजें बंद थे। चोखा के कंधे पर निशान फहरा रहा था। चांदनी में दो परछाइयां चल रही थीं। उनकी संगत चांद, सितारें, झींगुर कर रहे थे। राही भारी कदमों से चल रही थी।

सायखेड़ की राह पर चोखा ने निसान फेंक दिया। तुलसी माला फेंकी। अबीर की थैली फेंकी। अपना पुराना मनहूस रूप फेंकते हुए वह डर-सा गया। राही डर गई। चोखा बांस वन की ओर मुड़ा। यहां का रास्ता। रास्ता उसके पैरों का जाना हुआ था। उसको कोई तलाशता भी तो वह ऐसा गायब हो जाता कि किसी को कुछ पता न चलता। वह डर को रौंदकर आगे जा रहा था। हिम्मत से। उसने अतीत की ओर पीठ की थी।

बांस वन के पेड़-पौधे चांदी-से हो गए थे। सियार चिल्ला रहे थे। ताप्ती नदी का पानी उमंगें मार रहा था। धारा में कुछ गिरने की आवाज आई। राही परछाई की तरह उसका साथ निभा रही थी। उनकी पदचाप से जंगल जाग गया। उनके कदमों ने हवेली की परंपरा ठुकराई थी।

चोखा सुबह-शाम आरती-पोथी के लिए दिखा नहीं।... गोविंद भट ने उसांस छोड़ी। चोखा हवेली गया होगा। उसे वहां रखा गया होगा। ढेंढ़ों की बस्ती में भी बात फैली थी कि चोखा को हवेली बुलाया है। कृष्णनाक, नागनाक, रायनाक चिंता में थे। चोखा की खाली झोंपड़ी देख सोननाक उदास हुआ। किसे पूछें? कैसे पूछें? किसी की हिम्मत न पड़ी। सब चुप्पी साधे थे। गांव में दबी आवाज में चोखा के गायब होने की बात छिड़ी थी।

गोविंद भट पोथियां पलट रहा था। मोरोपंत, नरसोपंत एक-एक कर पोथी बासन में लपेट कर रख रहे थे। गोविंद भट अपना मन हल्का कर रहे थे, इसके बाद मैं रामायण का ही निरूपण करता रहूंगा। वे भाववश हुए थे। ये पोथियां मुझे पिताजी ने दी है। पिताजी श्रीधरपंत ने। वे महान कीर्तनकार थे। मेरे पिताजी को ये पोथियां उनके पिताजी से मिली हैं। इन पोथियों को हमारे पूर्वजों का स्पर्श हुआ है। यह हमारी अमूल्य धरोहर है। गोविंद भट बोले जा रहा था। अब मेरा कार्य पूरा हो गया। पहले जैसा होता नहीं। अब तुम लोग देखो। समय मुश्किल होता जा रहा है। हमारे सामने महासंकट है। लोग धर्मांतरण कर मुसलमान, ईसाई हो रहे हैं। धर्मांतरण कर कोई हिंदू नहीं हो रहा है। करता भी तो किस जात में लिया जाता उसे? धर्मांतरण पर पाबंदी न लाई जाए तो हिंदू धर्म खतरे में पड़ेगा। गोविंद भट तिलमिलाकर बोल रहा था।

जहां सूरज की किरणें नहीं पहुंच सकती थीं वहां मिशनरी पहुंच गए थे। वन, जंगल सब तरफ। उन्होंने आदिवासियों का विश्वास प्राप्त किया था। उनकी जीवन पद्धतियां समझ ली थीं। भाषा अवगत की थी। फादर डिसूजा ने आदिवासियों को नई दुनिया से परिचित कराया था। उनका बापतिस्मा किया था। उन्हें नए नाम दिए थे। क्रॉस दिया था। बाइबिल, नए ऊनी कपड़े, चिकित्सा मदद सब कुछ दिया था। फिर भी जिन आदिवासियों ने नकार दिया उन पर जबरदस्ती की। आदिवासियों को जबरदस्ती से सुधारने का और उन्हें ईसाई बनाने का उनका प्रयास था।

चोखा और राही जंगल में भटक रहे थे। आदिवासियों ने उनको पकड़ा। मारा। चोखा डरा। अब ये काली हवेली पहुंचा देंगे तो? चोखा कांप उठा। राही बेचैन हुई। रोने लगी। चोखा आदिवासियों के प्रश्नों के उत्तर दे नहीं पाया था। ऐसे वक्त फादर डिसूजा आए। उन्होंने हर प्रश्न का उत्तर दिया। बोले, यह मेरा लाडला पुत्र जॉन डिसूजा है और यह उसकी पत्नी जोया। वे राह भूल गए थे। अब घर लौटेंगे। प्रभू यीशु का सबकी चिंता है। फादर डिसूजा ने चोखा-राही को प्यार से गले लगाया। वे दोनों भाव विभोर हो गए।

देवगढ़ के लोगों के लिए चोखा मिथक बन गया। कोई कहता था उसे बुर्ज में गाड़ दिया, कोई कहता था उसे बाघ खा गया। कोई कहता था चोरों ने उसकी हत्या की तो कोई कहता वह भाग गया। कभी वापस आएगा। कोई कहता था वह पागल बना। रामपुर में भीख मांगते देखा गया है। वह किसी को नहीं पहचानता।

अब रायनाक ढेंढ़ पर चोखा की जिम्मेदारी आन पड़ी। उसने गले में तुलसी माला पहनी। कंधे पर निशान रखा। मांस खाना छोड़ दिया। काली हवेली का काम जोरों से चल रहा था। लोगों को पत्थर तोड़ने के आवाज की आदत हो चुकी थी। सावन महीना समाप्त होने आया। पोथी पारायण की समाप्ति हो गई। अब मंदिर की ओर कोई न आता। वहां कुत्ते सोने लगे थे।

दोपहर का समय था। हवेली के मजदूर खाना खाने बैठे थे। ढेंढ़ बस्ती में नया कुछ भी नहीं हो रहा था। कभी पोतराज, कभी मसणजोशी, कभी आराधी, कभी वाध्या-मुरली...कोई न कोई लोक कलाकार आता रहता। कभी ढेंढ़ आपस में झगड़ते। कभी किसी घर में औरत-मर्द का झगड़ा होता। कभी मरा जानवर ढोकर लाया जाता। कभी कुत्ते के बच्चे... कभी आंबी के बदन में सवारी... यही रोजमर्रा की जिंदगी थी। कभी बारिश तो कभी कड़ी धूप... कभी तूफान... कभी अमावस...कभी पूनम... तब बातें छिड़ जाती। इमली में चिगूट आया, नीम पर गिद्ध बैठा, नदी में बाढ़ आई, गांव

में कोई मरा... बस चर्चा के विषय इतने ही। ढेंढ़ बस्ती सड़े-थमे पानी की तरह थी। कंकड़ फेंकने की संभावना थी। खाया क्या? सोया क्या? सब्जी क्या बनाई? नदी से पानी लाना है क्या? टट्टी करने जाना है क्या? इसके अलावा कोई प्रश्न न थे। आजकल काली हवेली की और धर्मांतरण की बातें होने लगी थीं।

रास्ते पर खेलने वाले बच्चे चीखने लगे, चोखा ढेंढ़ आया- रे-आया... रायनाक हाथ की थाली वहीं छोड़कर आया। कृष्णनाक, रायनाक भी आए। रिबेका आई। सभी सायखेड़ की राह पर आँखें गड़ाए बैठे रहे। कंधे पर निशान लिए कोई आ रहा है...सबकी भौंहें तन गईं। रायनाक चिंता में पड़ गया। कृष्णनाक बोला, कोई दूसरे गांव का होगा।

वह चोखा न था। हरि-हरि बोलता न था। उसके कंधे पर चोखा का फेंका निशान था। कृष्णनाक उसकी पूछताछ करने लगा। वह अजीब से हावभाव करने लगा। रिबेका ने उसे पानी दिया। पानी पीकर वह सिर पकड़कर बैठ गया। नागनाक ने उसे ठीक से बैठने के लिए कहा सो वह ठीक से बैठा। सबके चेहरे निहारकर बोलने लगा, मैं सोनई का ढेंढ़ भूतनाक हूं। सिदनाक ढेंढ़ के पास आया हूं वह हमारी बस्ती का है। मैं उससे मिलना चाहता हूं। वह अंग्रेजों की फौज में है। मेरा उसके पास काम है। तुम उसे पहचानते हो क्या? रिबेका तुरंत बोली, हां। हमारे जान-पहचान के हैं। भूतनाक का चेहरा खिल गया। रायनाक घर से थाली परोसकर लाया। भूतनाक पेटू की तरह खाने लगा। किसी की ओर न देखते हुए खाता गया। तब तक हरी आया। भीड़ खासी इकट्ठा हुई थी।

हैरी भूतनाक को खिस्ती बस्ती में ले गया। भूतनाक धीरे-धीरे चल रहा था। हैरी उसका हाथ पकड़कर ले चला था। धूप ढलने लगी थी। ढेंढ़ खाना खाकर काली हवेली जाने लगे थे। निशान लिए खिस्ती? बस्ती की ओर जानेवाले भूतनाक को देखकर नरोशंकर गुस्सा हुआ। हैरी ने भूतनाक और फिलीप को मिलाया। फिलीप ने भूतनाक को फौरन पहचाना और गले लगा लिया। भूतनाक उसे पहचान न पाया। भूतनाक रोने लगा था। फिलीप की आँखों में भी आँसू आए। हैरी चला गया। फिलीप यादों में खो गया। भूतनाक अपनी रामकहानी कहने लगा। उसे लगा कि कब वह सब कह डाले इसीलिए तो वह रात-दिन चलकर आया था।

पारबती काम पर गई थी। उसके साथ कयरा भी थी। उसे उठा लिया गया। कयरा कहने लगी कि सायखेड़ की ओर उसे ले गए। मेरा कौन है तेरे सिवा? तू अंग्रेजों से कह दे। उसे छुड़ा ले। तब से मैं सोया नहीं। देख इतनी दूर चलकर आया हूं। तू ही मेरी मदद करेगा। भूतनाक दीन-बेबस होकर कह रहा था। फिलीप बेचैन हुआ था। वह सोच रहा था यह काम सायखेड़ के सूबेदार का ही हो सकता है। प्रतापराव की पत्नी सायखेड़ के सुभेदार की लड़की है। हो न हो पारबती को बुर्ज की नींव में बलि दिया गया हो। उसके बदन पर रोंगटे खड़े हुए। फिलीप ने भूतनाक का हाथ पकड़ा। उसे उठाया। दोनों काली हवेली जाने के लिए निकले।

फिलीप और भूतनाक हवेली की सीढ़ियां चढ़ रहे थे। मजदूर भी आने लगे थे। लोगों का आना-जाना जारी था। ये दोनों भी उनमें से एक बनकर चलने लगे। पंछी घर लौट रहे थे। सूरज डूबने जा रहा था। भूतनाक सीढ़ियां चढ़ते थक गया था। बीच-बीच में रुक रहा था। फिलीप उसे समझा रहा था, पता नहीं पारबती कहां है। हम हवेली होकर आएंगे। वहां जगह-जगह से मजदूर आए हैं। कुछ पता चलेगा लेकिन तू ध्यान रख। धोखा है। चुपचाप जाने का चुपचाप आने का।

हम पर किसी को शक हुआ तो जान खतरे में पड़ेगी। भूतनाक चुपचाप हां कह रहा था। फिलीप मामूली भेष में था। वे एक-एक सीढ़ी-चढ़ रहे थे।

दोनों हवेली पहुंच गए। बुर्ज का काम जोरों पर था। राजगीरों ने बुर्ज काफी खड़ा किया था। साहुल लगाया था। मजदूर पत्थर दे रहे थे। चूना-गारा का कोल्हू चल रहा था। बालू के ढेर लगे थे। पत्थर तराशे जा रहे थे। मजदूर जोर-जोर से बोल रहे थे। बुर्ज जमीन से चार हाथ ऊपर चढ़ाया गया था। बालू के ढेर के पास भूतनाक को पारबती की चप्पल दिखी। वह चीखा। पारबती का जूता। मैंने ही टूटा अंगूठा रस्सी से बांधकर ठीक कर दिया था। देखो। पारबती यहीं पर है। फिलीप ने उसका हाथ पकड़ा। उसे शांत करने की कोशिश करने लगा। भूतनाक घायल हुआ था।

फिलीप जान गया था कि क्या हुआ। बुर्ज की नींव में ढेंढ़ औरत की बलि चढ़ाई गई थी। फिलीप भूतनाक पर चुप कर होने की धौंस जमा रहा था। मैं पारबती को छोड़कर कैसे चलूं? मुझे उसे देखने तो दो भाव विह्वल भूतनाक को फिलीप वापस लेकर जा रहा था। भूतनाक लड़खड़ा रहा था। हवेली के नौकर-चाकरों के ध्यान में बात आ गई थी। उन्होंने दोनों को रोका। फिलीप ने समय की नजाकत भांपी और बोला मैं इसे लेने आया हूं। इस पर शक है। इस को तलाशते आया हूं। इसे तहसीलदार के समाने खड़ा करना है। नौकरों ने फिलीप को पहचाना उसकी बात पर उन्हें यकीन हो आया। उन्हें जाने दिया। दोनों हवेली के बाहर आए।

भूतनाक दहल गया था। फिलीप उसका दुःख जानता था लेकिन वह कुछ कर न सका। भूतनाक प्राण आँखों में लिए खड़ा था। हवेली की ओर देख रहा था। हवेली के ऊपर, दूर सूरज डूब रहा था। क्षितिज पर रंग छाप थे। फिलीप भूतनाक को देख रहा था। भूतनाक की आँखों में समंदर उमड़ आया था। वह दूर कहीं उन रंगों के परे देख रहा था। किसी बादल के पीछे। डूबते सूरज की किसी किरण में...उसे पारबती दिखने का आभास हो रहा था शायद। उसकी आँखों में आसमान उतर आया था। वह क्षितिज में कहीं खो गया था। असीम आसमान के मौन से भूतनाक का मौन संवाद कर रहा था। फिलीप झकझोर दिया गया था।

...पारबती में सवारी आनी चाहिए। उसे बिजली जैसा चीखना चाहिए। जमीन धंसने जैसा नाचना चाहिए। काली हवेली पर बिजली बन कौंधना चाहिए। काली हवेली के नामो निशान मिट जाने चाहिए। पारबती में मरी मां की सवारी आनी चाहिए। उसने बुर्ज गिराकर बाहर आना चाहिए। फिलीप बौखलाया था। उसे भीमनाक याद आया-बहुत याद आया... आसमान में सितारे उभरे थे। टिमटिमा रहे थे। पारबती पर जब सवारी आती थी तब उसका कुमकुम ऐसा ही टिमटिमाता था। फिलीप के मन में घबराहट हुई। कौआ कांव-कांव कर रहे थे। अँधेरा घना हो रहा था। भूतनाक निरुपयोगी पत्थर-सा दिख रहा था। ■

वासांसि जीर्णानि

महेश एलकुंचवार

अनुवाद : निशिकांत ठकार

दो स्तरों का रंगमंच। ऊपर के स्तर पर एक पलंग पर बाबूजी मरणासन्न लेटे हुए। डॉक्टर उन्हें गंभीर मुद्रा में जांच रहे हैं। बड़ा बेटा और मां, पास खड़े चिंताग्रस्त। निचले स्तर पर एक कोने में चाची खामोश बैठी हुई। संजीवनी वहीं पर बेचैन-सी खड़ी। छोटा भाई मुकुंद ऊपर के स्तर के दरवाजे के पास बेचैनी से जाकर भीतर झांकता है। लौट आता है फिर दरवाजे के पास जाता है और लौट आता है। फिर बाहर जाने के दरवाजे के पास जाता है। फिर लौट आता है। डॉक्टर बैग को बंद कर बाहर आ जाते हैं। बड़ा बेटा बैग को उठाकर बेचैन, सवालिया नजर से उनके पीछे-पीछे आ जाता है। डॉक्टर घर के बाहर जाते हैं। पीछे-पीछे बड़ा बेटा। जब से नाटक का पर्दा उठा है, झिंगुरों की भिनभिनाहट सुनाई दे रही थी जो अब थोड़ी, बढ़ जाती है। रंगमंच पर सन्नाटा। पल भर बाद डॉक्टर की मोटर के शुरू होकर चले जाने की आवाज। फिर सन्नाटा। इधर मां बापू के सीने पर पल भर के लिए हाथ रखती है। निकाल लेती है। कहीं दूर कुत्ते के रोने की आवाज। सब सहम जाते हैं। खामोशी। फिर बड़ा बेटा मुन्ना बाहर से भीतर आ जाता है। पल भर बाद-

संजीवनी : क्या कहा?
(भैया खामोश)
भैया।
(भैया सिर्फ गर्दन हिलाता है)
मतलब? (भैया चुप)
अरे, कुछ बोलोगे भी या नहीं? कुछ नहीं कहा डॉक्टर ने?
भैया : नहीं।
संजू : मतलब?
भैया : अभी नहीं बोले। (अंतराल) कंधे पर सिर्फ थपथपाया - जैसे।
संजू : मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है, न मुझे कुछ सूझ रहा है।
चाची : मन की तैयारी रखना, संजू।

- मुकुंद : डॉक्टर ने कुछ कहा नहीं, मतलब?
 भैया : वह भी तो क्या बोलेंगे? दिखता है न।
 चाची : राह देखते रहना।
 भैया : हम और कर भी क्या सकते हैं? (अंतराल)
 बाबूजी की तरफ बिलकुल ही देखा नहीं जाता, चाची।
 (नसीब के भाव में चाची उंगलियों से माथे को छू लेती है)
 भले आदमी के ही भाग में क्यों इस तरह भुगतने की बातें आ जाती हैं?
- संजू : किसी को कब, कहां, क्या चुकाना पड़ेगा।
 भैया : सारी उम्र बिता दी पढ़ाई में और दूसरों के लिए। अब कहीं जरा आराम के दिन आए थे।
- मुकुंद : मैं जल्दी ही जरा बाहर हो आता हूं।
 चाची : मुकुंद।
 भैया : हरदम बाहर-बाहर की क्या रट लगा रखी है रे?
 संजू : और नहीं तो क्या? वक्त कैसा है।
 मुकुंद : मेरे यहां सिर्फ होने से भी क्या होने वाला है?
 पांच मिनट में ही तो लौटूंगा।
- चाची : डर गया है री वह!
 संजू : हम नहीं हैं यहां खड़े?
 चाची : छोटा है अभी। कभी देखा नहीं ना।
 संजू : यह हमेशा छोटा का छोटा!
 भैया : छोटा-छोटा कहकर कभी किसी बात की जिम्मेदारी को नहीं उठाना।
 मुकुंद : तुम तो उठाते हो ना? बस है उतना।
 चाची : बहस मत करो रे! वक्त ऐसा है।
 भैया : मैं भी कहां-कहां कितना देख पाऊंगा? सच्ची।
 संजू : अरे, क्या हम नहीं देखते कि तू कितना खटता रहता है।
 चाची : पूरे महीने भर से आँख से आँख नहीं लगी उसकी। संजू बेटा।
 भैया : जागने की बात उतनी नहीं है, मां भी तो जागती रहती है।
 संजू : क्या मुझे नहीं लगता कि आकर कुछ करे? लेकिन तुम तो जानती हो।
- मुकुंद : बना, बहाने बना।
 संजू : तू भी तो क्या करता है?
 मुकुंद : फिक्रमंद होने का दिखावा तो नहीं करता।
 चाची : बस हुआ रे।
 संजू : (भैया से) अच्छा, तो आज मैं बाबूजी के पास बैठती हूं। तू आराम

कर जरा।

भैय्या : बैठ गई!

संजू : सच। देख तो तू।

भैया : कोई जरूरत नहीं। वो रमेश आए तो?

संजू : कहूंगी उनसे कि आज नहीं आऊंगी।

भैय्या : मानेंगे वो?

संजू : च...।

मुकुंद : (चिढ़ते हुए) च...।

संजू : (झूठी शिकायत के स्वर में) मेघा धाड़े मार-मारकर रोती रहती है रे रातभर।

मुकुंद : अनुशासन में रखना जरा उसे।

संजू : तू बता मुझे अनुशासन के बारे में।

मुकुंद : वह अब छोटी थोड़ी है?

संजू : बिलकुल आदत नहीं है उसे, मेरे बगैर सोने की।

मुकुंद : बाप के पास सोने दे ना उसे एक दिन।

संजू : वह भी दिन भर वर्कशॉप में ठोक-पीट कर घर आएंगे।

मुकुंद : वह खूब जानते हैं श्रमपरिहार कैसे करना है! सब थकान पर एक इलाज!

संजू : तेरे भरोसे तो नहीं करते हैं न?

चाची : संजीवनी, एक ही शहर में तेरा ससुराल और मायका। लेकिन अपने पिता की सेवा एक दिन भी नहीं होती तुझसे।

संजू : मैं अपने ससुर की सेवा जो करती हूं।

भैय्या : क्या तेरा इशारा रेखा की तरफ है?

मुकुंद : टांटिंग कोई करे तो बस दीदी का जवाब नहीं। मान गए।

भैय्या : अभी से बता देता हूं। मैं उसे बुलाने वाला नहीं।

संजू : मैंने कब ऐसी बात कही?

भैय्या : बताता हूं।

संजू : बेकार सिर में खाक डालना।

मुकुंद : इसीलिए सिर गंजा हो गया है क्या रे तुम्हारा?

भैय्या : हां।

मुकुंद : मजेदार दिखेगा दो एक बरस में। तेरा ही सिर गंजा क्यों? मेरा क्यों नहीं।

भैय्या : और दस बरसों के बाद देखना आईने में।

मुकुंद : बाबूजी के बाल आज इस उम्र में भी इतने घने हैं। सफेद हो गए हों तो क्या।

संजू : होता है किसी-किसी का सिर गंजा वक्त से पहले। उसमें क्या?
मुकुंद : नहीं री। क्या भैया बिलकुल अलग नहीं है सबसे? मां का कुछ भी
उतरा नहीं है इसमें।

चाची : ऐसा तू सोचता है मुकुंद।
संजू : तुझ में भी तो क्या उतरा है?
मुकुंद : क्या मैं बाबूजी की तरह नहीं दिखता?
संजू : सिर्फ दिखता है उतना वैसा?
मुकुंद : उनकी युवावस्था की तस्वीरें देख।
संजू : (भैया से) थीसिस पूरा हो जाने पर तो भी आने वाली है ना भाभी?
मुकुंद : थीसिस?
भैया : पहले थीसिस को पूरा तो होने दे।
संजू : भाभी लेकिन है लकी। तुम लोगों की शादी को चार बरस हो गए।
उसमें से साढ़े तीन बरस मायके में रह सकी वह।

मुकुंद : फिर से! दीदुडी, मुझे सिखाना टॉटिंग की आर्ट।
संजू : नहीं तो हम। थोड़ा इधर आकर टिके नहीं कि आया संदेशा
ससुराल से कि चलो उठो मांजो बरतन, पछीटो कपड़े।

चाची : रेखा भी करती है री सब कुछ। यहां जब होती है।
संजू : जानती हूं।
चाची : सबका करती है। मेरा भी जी जान से करती है बच्ची।
मुकुंद : तो? करना ही चाहिए।
भैया : तु पराई थोड़ी हो चाची? करती है तो? तुम भी तो करती हो।
चाची : (गद्गद् होकर) नहीं रे। (अंतराल) गए तो उस बात को चालीस
बरस बीत गए। तब से इस घर ने मुझ पर निरंतर छांव रखी है
वर्ना कहां जाती मैं? तुम्हारी मां बड़ी दिलवाली। वर्ना मैं तो ठहरी,
गरीब, बिना मां बाप की।

भैया : तुम भी तो बहुत करती रहती हो।
चाची : तू ने कहा तो मैं भर पाई।
मुकुंद : मैं आया अभी पांच मिनट में नहीं तो वीनू आएगा यहां उखाड़
पछाड़ करता हुआ।

संजू : जैसा तू वैसे तेरे दोस्त।
भैया : मुकुंद, अरे कोई भरोसा है क्या? किसी भी पल।
मुकुंद : ऐसा एक महीने से चल रहा है।
भैया : इतनी जल्दी ऊब गया?
संजू : बच्चे होते हैं और किसलिए।
मुकुंद : कैसी बात भई।

भैय्या : बहुत बेसब्री हो गई है इसे।
 संजू : तू तो उनकी आँखों का तारा मुकुंद। तुझे तो उनसे पल भर भी दूर हटना नहीं चाहिए। गलती से कहीं पुकारा तो।
 मुकुंद : उनकी वाणी बंद हो गई तीन हफ्ते पहले। वीनू के साथ मेरा इंफॉटेंट काम है। मुझे अपने पैसे लेने हैं उससे।
 संजू : देखो, कैसी बात करता है।
 मुकुंद : मैं प्रेक्टिकल आदमी हूँ। मुझे तुम लोगों की तरह बेकार में सेंटिमेंटल होना नहीं आता। (अंतराल) और वह रकम तो लगने वाली ही है न आज या कल।
 भैय्या : बाबूजी ने क्या नहीं किया इसके लिए?
 मुकुंद : किया ना। नहीं कौन कहता है।
 भैय्या : तेरी ट्रिप की जिद पूरी करने के लिए व्ही.पी. से आई किताबें भेजकर तुझे रुपये दिला दिए।
 (अंतराल) हम लेकिन हमेशा फटी चप्पलों को घसीटते हुए कालेज जाते रहे।
 मुकुंद : हो गया SSS शुरू।
 संजू : आदत ही है इन्हें कोसते रहने की।
 भैय्या : तेरा तो ठीक था री। जो मांगों वह हाजिर होता था। तू और यह मुकू।
 मुकुंद : करो झगड़ा। (जाकर चाची की गोद में सिर रखता है)
 चाची, तुझसे सही नहीं जाती यह खिचखिच (चाची उसके मस्तक पर हाथ रखती है। ऊपर के स्तर से मां की हल्की पुकार 'भैय्या'।
 'अब और क्या' जैसा भाव चेहरे पर लाकर भैय्या भीतर जाता है)
 मां : रूकना जरा यहां। (मां निचले स्तर पर आ जाती है)
 (मंजू से) घर नहीं जाना है तुझे? रात बहुत हो चुकी है। वह बच्ची रो रही होगी।
 संजू : जाना तो चाहिए ही।
 मां : तो फिर जा ना। तुम सब अपने-अपने काम में लग जाओ।
 मुकुंद : (झट से) मां, मैं जरा बाहर हो आऊं?
 मां : एक जगह पर जमे रहकर भी क्या करने वाले हैं?
 चाची : जरा बैठ जा एक जगह पर चैन से।
 मां : वही चल रहा है पिछले कई दिनों से। (अंतराल) ऐसे तो महीना भी लेंगे, नहीं तो पांच मिनट।
 संजू : कुछ भी क्या कहती हो मां?
 मां : मैं अपने आपको धोखा नहीं दे सकती। उठो अब।

(मुकुंद चाची के पास से उठकर मां की गोद में सिर रखता है)
कब बड़ा होगा मुकू तू? उठ, भैया को जरा आराम करने दे। बहुत
खींचातानी चल रही है उसकी। (भीतर से भैया दो स्तरों के
बीच वाले दरवाजे में आता है)

भैया : मां।
(मां प्रश्नवाचक मुद्रा में देखती है)
देख तो जरा!
(मां सुन्न)
ऐसा क्या कर रहे हैं बाबूजी। हँस पड़े सहसा।
(अंतराल)

मां : कुछ याद आया होगा। क्या चल रहा है मन में SS?
(अंतराल) तू भी तो एक बार पुकार के देख ले।

भैया : कुछ पहुंचता भी है क्या मां उन तक?
मां : कोशिश करते रहना।
चाची : मनोरमा।
(मां आँखों को अंचल लगाती है)
मेरी सुनोगी?

मां : कहिए।
चाची : ऐसा करने से कैसे चलेगा? बच्चों की तरफ देखकर तो भी मेरा
सुनोगी?

मां : जिंदगी भर क्या नहीं सुना आपका?
चाची : होनी को टाला नहीं जा सकता। जा, थोड़ी देर आराम कर जरा।
रसोई को देखती हूँ मैं।

मां : रहने दीजिए अब। बच्चे जिम लेंगे सुबह का ही।
चाची : मुकू को गरम रोटी चाहिए होती है।
मां : (स्मित कर) पिता की तरह। पिता की इतनी ही बात ली है उसने।
(अंतराल) मैं तो तैयारी में हूँ री। कोई एक तो पहले जाएगा। कोई
बाद में। फिर भी लगता है कि पहले अपना वक्त आना चाहिए था।
(अंतराल) चालीस बरसों का साथ है। क्या-क्या नहीं देखा, भोगा
साथ-साथ में। (अंतराल) (गला भर आता है) अब उन्हें और पीड़ा
नहीं होनी चाहिए।
(अंतराल। बाबूजी उठकर दरवाजे पर आ जाते हैं। मतलब उनका
मन। वह सब तरफ घूमते फिरते हैं लेकिन अन्य पात्रों को दिखाई
नहीं देते। उनकी बातें भी पात्रों को सुनाई नहीं देंगी। बाबूजी से
बोलने के लिए पात्र पलंग के पास जाकर ही बोलेंगे। उनकी देह

वहीं पर है ऐसा मानकर चलना)

बाबूजी : आया नहीं न रघुनाथ?

मां : पता नहीं। किसमें जान अटकी है।

बाबूजी : रघुनाथ। रघुनाथ।

मां : कैसी-कैसी यादें मन में भर आती होंगी।

बाबूजी : रघू। रघू की यादें।

मां : कितनी यादें।

चाची : तेरे पास यादें तो भी हैं।

मां : इतना जी लेने के बाद क्या बचा रह जाता है? सिर्फ यादें।

बाबूजी : (मां से) रघू दिखाई दिया? आ गया?
(बेचैन घूमते हैं। दरवाजे की ओर देखते हैं)
दरवाजा खुला है। आओ रघू।

मुकुंद : बाबूजी की कितनी तो यादें मेरे पास भी हैं।

संजू : तू उनका लाडला जो था।

बाबूजी : रघू। रघू लाडला।

मां : उनके तो सभी लाडले थे।

भैया : ऐसा तू कह सकती है।

मां : नहीं थे?

भैया : तेरे जितना किसी को मालूम हो सकता है?
(बाबूजी सब तरफ घूमकर हर एक के सामने खड़े होकर पूछते हैं)

बाबूजी : तुम्हें दिखाई दिया रघुनाथ? आया? दिखाई दिया?

मां : उन्हें बोलकर दिखाना नहीं आता था।

भैया : करके तो दिखा सकते थे न?

मां : बेटा! (बाबूजी भैया के पास जाते हैं)

बाबूजी : अरे, जितना हो सकता था उतना तेरा भी किया मैंने।

भैया : मां, तू कबूल कर।

बाबूजी : उसने भी किया।

भैया : आपने हमेशा मुझमें और बाकी भाई बहनों में दूजापन बरता।

संजू : इनकी तो हमेशा शिकायत।

मां : बोलने दे उसे।

बाबूजी : बोलने दे। बेटे, क्या कसक है तेरे मन में? अब रघू के आने के पहले बोल दे सब कुछ।

भैया : (गुस्से में) बोलकर क्या होने वाला है? बीत गया वक्त क्या फिर लौट आएगा? कुछ भी मांगों बिलकुल छोटी सी बात भी। इनकी तरफ से हमेशा नहीं।

- मां : तब हम गरीब थे रे ।
- भैय्या : बच्चों की देखभाल कर नहीं सकते, तो गरीबों को बच्चे चाहिए ही किसलिए?
- बाबूजी : बेटे, तू कब था मेरा?
- मां : दूसरे गरीबों के नहीं होते? उनके बच्चे भी क्या इस तरह हाय-हाय करते हैं?
- भैय्या : सवाल गरीबी का नहीं है ।
- मां : किताबों के अलावा और किसी बात पर खर्च नहीं किया उन्होंने । सब कुछ तुम लोगों के लिए होता था ।
- भैय्या : जूते भी मैंने पहली बार लिए तो नौकरी मिल जाने के बाद । तब तक फटीचर जूते । मामूली जर्किन चाहिए थी मुझे तो ।
- मां : जानती हूं मैं । हमने तेरा बहुत कुछ नहीं किया । जूते नहीं लिए । जर्किन नहीं ली । साईकिल नहीं । महंगे कॉलेज की पढ़ाई नहीं । (अंतराल) लेकिन ऐसी कई बातें हैं, जिनकी तुझे याद नहीं आती । (अंतराल) एक बार ही उन्होंने तुझे चपत लगाई थी । छोटा था तू । तो सोए हुए तुझे सीने से लगाकर रातभर रोते रहे ।
- बाबूजी : कोई गलती हो गई तो रघु बेहद याद आता था ।
- मां : एक बार तैरने गया था तो वक्त पर लौटा नहीं, सहसा सीना पकड़कर नीचे बैठ गए । दौड़ धूप करनी पड़ी । डॉक्टर को बुलाना पड़ा ।
- बाबूजी : उस दिन तो रघु के लिए तड़पा था ।
- मां : तूने बचपन में जो कविता की थी वह अभी तक उनके कोट के अंदरूनी जेब में पड़ी है । उस कागज के टुकड़े-टुकड़े होने को आए । तुझे लाड़ से रवींद्रनाथ कहा करते थे ।
- बाबूजी : रघु ।
- भैय्या : मेरा नाम रवींद्र बाबूजी ने रखा ?
- मां : नहीं । वह मैंने रखा । रवींद्रनाथ उनके बहुत प्रिय कवि थे इसलिए ।
- बाबूजी : प्राणसखा बंधु ।
- मुकुंद : और मेरा नाम किसने रखा ?
- मां : तेरा नाम किसी ने नहीं रखा । दो बरस तक तू बोला ही नहीं इसलिए मैं ही तुझे मुकू कहा करती थी । फिर वही आगे चलकर तभी तो मुकुंद बना । बस । नाम इसका रखा इन्होंने । बहुत बीमार थे । यह हो गई और सहसा तबीयत को आराम मिल गया । कहा, यह तो मेरी संजीवनी (अंतराल) यह बातें हैं जो दिखाई देने वाली नहीं है लेकिन इसीलिए क्या उनका कुछ भी नहीं? कुछ नहीं? दिए

- होंगे मुकुंद को चार कपड़े ज्यादा। किया होगा कुछ ज्यादा लाड़ प्यार।
भेजा बड़े शहर में पढ़ाई के लिए। तो?
- बाबूजी : बड़ा शरारती। जिद्दी बच्चा था यह।
जो मांगता उसे दे डालता था। (भैय्या से) तू मांगता था, बेटे डरते हुए। जैसे किसी पराए से मांग रहा हो।
- मां : (भैय्या से) लेकिन तुझे जो दिया उन्होंने उसे छोटे को कभी नहीं दिया। संजी को भी नहीं। (अंतराल) तुझे सामने बिठाकर गीतांजली पढ़ा करते थे। तुझे श्लोक सिखाते थे। चांदनी में घूमने ले जाते थे तुझे थपथपाते हुए। कितना पढ़ना, कितना अध्ययन। ऐसे आड़े-टेढ़े गांव में रहे जिंदगी भर लेकिन कहां-कहां से लोग आते थे मिलने। संदर्भ पूछने। यह सब तुझे देना चाहे थे वह।
- भैय्या : और मैं ठहरा ऐसा बैल बुद्धू।
मुकुंद : तुझे भी पढ़कर सुनाते थे?
मां : मुझे? दिनभर में एक शब्द भी बोले तो लगता था कि सब रुपये की मिठाई बांटे। (अंतराल) और मुझे कहां कविता समझ में आती है? (अंतराल) जब कविता सुनाते थे तब लगता था कि उनकी आँखें राह देख रही हैं किसी की?
- बाबूजी : रघू की। रघू।
संजू : क्यों नहीं रे तू ने फिर कविताएं की?
भैय्या : कविता करूंगा! रामरगाड़े में वक्त मिले तो न!
मुकुंद : बहाना।
भैय्या : घर के काम करो। कॉलेज करो। ट्यूशन पढ़ाओ। देर रात को आकर अकेले ही ठंडा खाना खाओ।
- चाची : गलती हमसे भी हुई। क्यों नहीं मैंने कभी खाना गरम करके परोसा?
मां : कह देता उस वक्त तो।
भैय्या : सुनने वाला कौन था?
मां : अब कह रहा है। तब लगता था कितना सीधा लड़का है। नाक की सीध में चलनेवाला।
- बाबूजी : नहीं, ऐसा नहीं। उदास रहता था यह। याद आता है। स्कूल से लौटता तो गर्दन झुकाकर, पैर से पत्थर को ठुकराता ठुकराता अकेला चला आता था। बातें करने के लिए दोस्त भी नहीं थे तुझे। पांच मिनट की राह को आधा घंटा लेता था।
- भैय्या : किसी के साथ बात करने को मन ही नहीं करता था। घर लौटने की उम्मीद ही नहीं थी।
मां : जैसा बन पड़ा, हमने किया।

- भैय्या : मेरा अगर किसी ने किया तो दरअसल चाची ने। बचपन में उसी की गोद में सोया। माथे पर हाथ फेरते-फेरते कहानियां उसने सुनाई मुझे। तू ने कभी ऐसा किया? कभी तुझे अपने पास लिया?
- मां : (शांति से) नहीं।
- बाबूजी : उससे कुछ मत कह बेटे। मैंने उसे तोड़ा तुझसे। उससे कहा, उसका सब कुछ चाची को करने दे। अकेली दुखिया औरत है। उसके जी को चैन मिलने दे लेकिन इरादा दरअसल कुछ और ही था। वजह भी अलग थी।
- मां : हमने सारा घर परिवार ही तेरी चाची को सौंप दिया था। उसमें तू भी आ गया। बहना घर संभालती थी, मैं इन्हें।
- बाबूजी : मैंने शुरू में तेरे बदन को बहुत नोचा खसोटा। मन में कोई और ही होता था।
- मां : बहना का कितना सहारा था मुझे।
- चाची : (संकोच से) नहीं री।
- मां : आपका बड़प्पन मुंह से नहीं कह रही हूं। लेकिन बच्चे बड़े हुए आप ही की गोद में। (अंतराल) मेरे थे लेकिन मेरे कभी नहीं हुए। कभी सोचती थी कि क्या सचमुच ये मेरे हैं? क्या सचमुच मैंने इन्हें जन्म दिया?
- बाबूजी : बच्चे तेरे नहीं हुए। मैं भी तेरा नहीं हुआ। मैं हरदम रहा अपने रघू का। और किसी का नहीं। आ रे रघू। आ अब। मित्र देख, नाम लेते ही आँखें बहने लगीं। (भैय्या उठकर भीतर पलंग की तरफ देखता है)
- भैय्या : फिर बाबूजी को आँखें बहने लगीं।
- मुकुंद : मुझसे नहीं देखा जाएगा।
- मां : देखना पड़ेगा तुझे। सहना होगा। सीख जरा। लाड़-प्यार से गुल्लू पापा हो गया है, गोबर गणेश। उठ।
- बाबूजी : रघू, यह सबसे छोटा। इसके जन्म के बाद लगा कि अब तो तू आएगा मिलने। नहीं आया। यह बच्चा भी फिर मुझे इतना पराया लगने लगा। फिर मैंने इसके झूठमूठ ही बहुत लाड़ किए। वह झूठ क्या इसकी समझ में नहीं आया होगा? बच्चों को तो पहले पता चलता है। (अंतराल) लगता है, सिर्फ तू ही कुछ समझता नहीं। कैसे बच्चे। तेरी याद आने पर अपनी सारी हैसियत भूलकर मैं ही बच्चा हो जाता हूँ। आ रघू। अब आ जा। तड़पन-तड़पन हो रही है।
- संजू : मैं एक बार झट से घर हो आऊँ। यह गई यह आई।
- मां : हो आ (अंतराल) नहीं आई तो भी चलेगा। ऐसा ही बेबखत आ

गया तो बताएंगे।

मुकुंद : रहो भी आज की रात। इतना बड़ा कौन-सा आसमान टूट पड़ने वाला है।

संजू : तू नहीं समझेगा।

मुकुंद : क्यों लेकिन तू इतनी पति की दहशत में रहती है?

भैय्या : प्रेम विवाह! प्यारा पति।

मुकुंद : बहुत खूब रवि बाबू। आप भी तो सीख गए टांटींग करना। मान गए। दीदी, तू अब इस आर्ट के ट्यूशन क्लास ही चला ही। मैं तेरा पहला चेला।

भैय्या : कोई जरूरत नहीं है तुझे इस आर्ट की। दूसरे काफी हुनर है आप में।

मुकुंद : जमाई राजा जितने?

संजू : बोल। बोल ना तू भी। हँस। सारे हँसते हैं। तू ही क्यों नहीं?

मां : उसे कोई कुछ मत कहो।

भैय्या : मां, हमें भी क्या अच्छा लगता है बोलने में? परसो दिखाई पड़े। इतना पिए थे कि चल नहीं सकते थे।

मां : तो ठीक से घर पहुंचा देना चाहिए था न।

भैय्या : गांव भर में हमारी बदनामी।

मां : सिर्फ बदनामी ही होती है न? उसे तो बदनामी के साथ-साथ और भी कुछ भुगतना पड़ता है।

मुकुंद : लेकिन हम क्यों सहते रहे? गलती किसकी और हम क्यों?

मां : मुकू ऐसा नहीं कि हरबार अपनी ही गलती की वजह से हम भुगतते हैं, दूसरों की गलती से भी भुगतना पड़ता है।

मुकुंद : इसकी मां की।

चाची : मुकू SS।

संजू : जाने दे मां।

मुकुंद : लेकिन क्यों? क्यों जाने दे? क्यों सहती हो इतना? क्यों चुपचाप इतना मार खाती हो।

संजू : एक ही बार हाथ उठाया था उन्होंने। (अंतराल) फिर रो पड़े। (अंतराल) मेरे पैर पकड़कर।

मुकुंद : यह आप हमें बताएंगी?

संजू : तू आता है क्या देखने?

मुकुंद : आपके पड़ोसी करते हैं न हमारे पास रिपोर्टिंग।

मां : कितना बड़ा काम।

मुकुंद : बताते हैं तब उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता।

संजू : बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं।

मुकुंद : मेघा के रोने का सिर्फ बहाना। नहीं गई तो यहां आकर हुड़दंग मचायेंगे नऽऽ। (संजू रोती है)

मां : अब रोने से क्या फायदा?

भैया : चुकाओ अपने प्यार की कीमत। प्रेम विवाह करते हैं।

संजू : तेरा तो नहीं है ना? तूने क्यों पत्नी को मायके रखा है?

मां : बस हो गया।

संजू : अब बस। भाभी को एक बार कुएं के पास रोते हुए देखा। पूछा तो बोली : तेरा पति मारने के लिए ही क्यों न हो, पास तो आता है।

भैया : मनगढ़ंत मत बता।

संजू : मुझे क्या पड़ी है। जो सुना वही कह दिया।

मां : बस कहा ना।

संजू : मेरा नुकसान कर दिया आपने।

मां : हमने?

संजू : तो फिर किसने?

मां : वैसा कह दे।

भैया : मां को दोष मत दे।

संजू : तुझे इसमें पड़ने की जरूरत नहीं।

भैया : तू ही न, जान देने निकल पड़ी थी, मां ने जब मना कर दिया था।

मां : अरे भैया, तू तो भी चुप रह।

भैया : आज तो नहीं रहूंगा। वक्त क्या है, वाकया क्या है, और इसका चल क्या रहा है।

मां : बोल।

भैया : बोलूंगा मैं। ट्रेन के नीचे जान देने यही निकल पड़ी थी।

मुकुंद : उस वक्त भी लिपस्टिक लगाना नहीं भूली थी।

भैया : कितना हो-हल्ला मचाया था।

संजू : मेरी उम्र भी क्या थी तब? अकल नहीं थी मुझमें।

मां : हमने बहुत कोशिश की देने की। लेकिन सुना तूने?

भैया : मेरी समझ में यह कभी नहीं आया कि बाबूजी ने इसका पक्ष क्यों लिया?

मां : (उदास हँसकर) लाड़ो बेटी की हर जिद तो पूरा जो करना था।

संजू : देख नहीं सकते थे क्या बबूजी? आप लोग समझ सकते थे तो क्या उनकी समझ में नहीं आता था?

मां : मान लेती क्या तू उनका कहना? नहीं मानती। वह भी पहचानते थे। और किस बात में तू ने कभी उनकी बात को माना? जो तूने कहा उसे हमेशा उन्होंने चुपचाप स्वीकार किया। लेकिन तुझ पर

- उसका असर था कभी कुछ? दुश्मन की तरह बर्ताव किया तूने उनके साथ।
- संजू : यह कैसे पिता?
- मां : उनको दोष मत दे। मैं नहीं सुनूंगी।
- संजू : बाबूजी ने जरा भी टोका होता तब तो मैं इस नरक में तो न गिरी होती।
- मां : कैसे बेईमान बच्चे हो तुम?
- बाबूजी : रघू, देख। सबसे ज्यादा मैंने इसे दिया और यह कहती है कि गलती मेरी ही। हां, रघू?
- संजू : तब, मेरी आँखों पर नशा था लेकिन बाबूजी को इनकी गांव भर नामवरी का पता नहीं था? मुझे पर मोहिनी पड़ी इनके रूप की। तब मुझे और कुछ भी दिखाई नहीं देता था लेकिन एक मामूली अनपढ़ स्कूटर मेकैनिक को उन्होंने अपने जमाई के रूप में कैसे पसंद किया? तू ने वक्त ही ऐसा ला दिया था। (अंतराल) बेटों के सामने बोलने की नौबत ले आई।
- संजू : उससे भी कोई राह निकाली जा सकती थी। कई लड़कियां निकालती हैं।
- मां : सच! आज ऐसा वक्त आन पड़ा है वर्ना घसीटती हुई घर के बाहर कर देती तुझे।
- बाबूजी : ऐसा ही हुआ, निकाल दिया जैसा। (अंतराल)
- मां : अच्छा है कि उन्हें यह सब कुछ सुनाई नहीं दे रहा है।
- संजू : आप की जान सिर्फ बेटों में।
- मां : अरी, उसी तेरे मेकैनिक को पॉलिसी की सारी रकम देकर वर्कशाप नहीं बनवा दिया? और क्या करना चाहिए किसी आदमी के लिए।
- बाबूजी : तेरा नहीं क्या वह? मुझे लगा कि मिल गया तुझे तेरा आदमी। लेकिन मैं राह देख रहा हूँ रघू की।
- मां : मैं तैयार थी सब कुछ निभाने को। लेकिन एक तो तेरी जिद। दूसरे ये अकेले तेरी तरफ से डटकर खड़े हो गए तुझे। इसका कुछ नहीं लगता? आगे चलकर यह सब ऐसा हो गया। कौन जानता था? सोचा था सब कुछ ठीक हो भी जाएगा। घर में जो था सबकुछ उन्होंने तेरे सिर पर डाल दिया। एक दिन जमाई नजर नहीं आया तो चैन नहीं आता था उन्हें। और जमाई? एक दिन भी आए ससुर को देखने पूरे महीने में। क्यों बोलने पर उकसाती हो। क्या नहीं किया उन्होंने तेरे लिए? तेरी टाईफाइड की बीमारी में बालों में कंधी करने से लेकर सब कुछ किया। बेटों जैसा क्या, उनसे बेहतर ही संभाला तुझे। कहा,

- तो कहते कि बेटी होती है बाप की लाइली। हरदम संजुड़ी-संजुड़ी।
- संजू : (रोते हुए) संजूड़ी, आगे बढ़, संजूड़ी डर मत। मैं हूँ तेरे पीछे। मैं संभाल लूंगा सबकुछ। (और राते हुए संभाल रहे हैं)
- मां : (तड़पकर) क्यों ऐसी एहसान फरामोश लड़की को मैंने जन्म दिया।
- बाबूजी : क्यों मैं तुझे अपना नहीं लगा, संजूड़ी।
- मां : (चाची से) आप सुखी हैं। (बच्चों की तरफ हाथ उठाकर) यह भोग तो नहीं आपके नसीब में।
- चाची : सच है। शादी के दूसरे ही दिन पति मर गया इतनी एक बात छोड़ो तो सुख में ही रही मैं।
- मां : मेरा कहने का मतलब यह नहीं था।
- चाची : इस घर में पनाह दी। सम्मान दिया। प्रेम दिया। कहां मैं किसी दूर के रिश्ते की बेसहारा औरत, लेकिन इज्जत के साथ लाकर घर दिया मुझे। बच्चे चाची-चाची कहकर पुकारते हैं लेकिन तुम तो छोटी बहन ही बन गई हो।
- मां : ऐसा मत कहिए। कर्जे होते हैं एक दूसरे के। और आप यहां हैं इस बात की तो खुशी है हमें। (अंतराल) इनका साथ न होता तो क्या मैं यह कर सकती थी? (अंतराल) कभी किसी बात को नहीं कहा नहीं। सारी गृहस्थी मेरी मर्जी से, मेरी इच्छा से चली। मेरे कुछ कहने की देरी कि मेरे लिए खुशी से इन्होंने रेगिस्तान पैदल पार किया होता। ये बच्चे क्या समझ सकते हैं।
- बाबूजी : अब नहीं पैदल पार करूंगा। तू भी मत पार। बहुत पांव तोड़े हमने। (अंतराल) वही अब रेगिस्तान पैदल तोड़ रहा होगा, नंगे पांव। मेरे पास आते हुए। रघू, मेरा। धूपताप में चलकर आएगा। तलवों में छाले पड़ गए होंगे। जब आएगा ठंडे पानी से पांव धोऊंगा मैं उसके। (अंतराल) तुम लोगों का जो था, मैंने तुम्हें दे दिया। जैसा बन पड़ा वैसा दिया। अब मैं सिर्फ अपने रघुनाथ का।
- भैया : (व्यंग्य से) तुझसे बोलते हुए कभी देखा नहीं बाबूजी को। आठ दस भाषाओं के जानकार।
- मां : बोलने के लिए भाषा की जरूरत नहीं थी। हमें। चालीस बरस तक देवघर के दिए की तरह रोशन रही हमारी गृहस्थी। वह क्या एक दूसरे को समझे बिना? (अंतराल) तू पत्नी को बरसों बरस मायके रख तू नहीं उस बात को समझ सकेगा।
- मुकुंद : भाभी का संदेशा आया है कि वह आ रही है।
- मां : तो?
- भैया : तो क्या। मैंने ही कहलवा दिया कि थिसिस पूरा किए बगैर मत

आना। (अंतराल) हम सब तो हैं ही।

मां : अच्छी है बच्ची।

भैया : मैं बुरा।

मां : और मूरख। ममता को समझ नहीं सकता तू।

भैया : मैं बुरा। संजू कृतघ्न और मुकू?

मुकुंद : (दांत दिखाते हुए) लाड़ से बिगड़ा।

मां : यह हँसने का अवसर नहीं है मुकू। अभी इतना बड़ा नहीं हुआ है तू। बजा दूंगी एक कनपटी के नीचे। जा, थोड़ी देर खड़ा रह उनके पास जाकर। तेरे जैसे लाड़ किए न उन्होंने और किसी के नहीं किए होंगे। (कड़े स्वर में) जा, कह रही हूँ ना? (मुकुंद टेढ़ा मुंह बनाकर पलंग के पास जाता है और खूटे की तरह खड़ा हो जाता है)

बाबूजी : रघू आया?

मुकुंद : (बुदबुदाता) क्या बुदबुदा रहे हैं? छूटो ना अब।

बाबूजी : छूटूंगा। रघू के आने पर।

मुकुंद : छुटिए और हमें भी छुड़वाइए।

बाबूजी : उसके आने पर, रघू के।

मुकुंद : महीना बीत गया, न कहीं आना न कहीं जाना। उसमें फिर वीनू ने गर्दन पकड़ी है। इसकी मां की।

बाबूजी : बेटे, तुझसे ज्यादा जल्दी तो मुझे हो रही है। क्या करूँ? उसे देख, इस तरह तड़पा रखा है। उसकी यह पुरानी आदत है। वर्ना मैं कहां तुममें होता...

मुकुंद : वीनू से मैंने रकम ली है। दो हजार। कहां से चुकता करूँ? वह तो सीने पर सवार हो गया है। ऐसे बीमार न हुए होते तो भाग तो भी जाता। कॉलेज के बहाने आप को बताकर भी वैसे क्या होने वाला है? हमारे बीच होकर भी कभी हमें अपने नहीं लगे। सिर्फ कपड़ा दिया। लाड़-वाड़ किया, बस।

बाबूजी : रहो यहां खुशी से। यह घरबार, यह रुपया-पैसा, रिश्तों-नातों का जंजाल, भोगो सब खुशी से। मेरा अब एक ही रिश्ता।

मुकुंद : ए मां।

मां : धीरे से।

मुकुंद : क्या बुदबुदा रहे हैं भगवान जाने। मां री।

भैया : बुलाओ उसको। मैं देखता हूँ।

मुकुंद : वुईल तो भी किया है क्या? वैसे है क्या जो वुईल करते। पुस्तकों की कबाड़...

बाबूजी : सब मां को दे दिया है।

- मुकुंद : या जो कुछ बचा है उसे दे मारा है जमाई के सिर पर? जब किस बात की राह देख रहे हैं?
- बाबूजी : रघू-रघू
- मुकुंद : ऐ मां। (भैय्या भीतर पलंग के पास जाता है)
- भैय्या : जा तू।
- बाबूजी : जाने वाला हूं। (मुकुंद बाहर आता है)
- मुकुंद : मुझे डर लगता है अंदर। दम घुटता है।
- मां : सब के भाग में आता है यह। तेरी मस्ती भी उतरेगी कभी न कभी।
- मुकुंद : (बाहर के दरवाजे की ओर जाते हुए) अभी आया मैं।
(धड़ाम से दरवाजा खोलकर बाहर जाता है)
- बाबूजी : (उत्कंठा से) आया रघू। दरवाजे की आवाज हुई। आया?
(खामोशी। मोटरसाईकिल के शुरू होने और दूर जाने की आवाज)
- मां : गया अभागा।
- बाबूजी : दरवाजे की आवाज हुई
- भैय्या : बाबूजी।
- बाबूजी : दरवाजा-दरवाजा।
- भैय्या : कुछ चाहिए बाबूजी?
- बाबूजी : दरवाजा।
- भैय्या : कुछ ले आऊं?
- बाबूजी : दरवाजा-दरवाजा, रघु।
- भैय्या : कुछ कहना है आपको? (हताशा में) कुछ समझ में नहीं आता।
- बाबूजी : तू नहीं समझेगा, बेटे।
- भैय्या : क्या मुझसे बहुत गलत हो गया? बहुत गुनाह हुए बाबूजी?
- बाबूजी : अरे, तू तो सबसे सत्वशील। (अंतराल)
हर दम मैंने तुझे दूरी पर रखा रे। तड़पता है मन।
- भैय्या : तड़प रहे हैं।
- बाबूजी : जन्म से ही ऐसा। बचपन में देखो, आमराई में खेलते वक्त पेड़ से गिर पड़ा तब पलभर के लिए यह दिखाई दिया। रघू। आमराई छान मारी। यह गायब।
- भैय्या : मैं क्या करूं जिससे आप बोल सकेंगे बाबूजी?
- बाबूजी : फिर एक बार मोरना नदी में तैरते हुए सहसा पांव बेजान होकर डूबने लगा। यह नदी किनारे से एकटक देख रहा था। किसी ने फिर खींच निकाला बाहर। फिर कितने ही दिनों तक नदी किनारे मारा मारा दूँढ़ता रहा उसे। नहीं दिखाई दिया।
- भैय्या : तब मैं समझता नहीं था। बहुत ज्यादा मांगे रखी मैंने। हम जताया।

- बाबूजी : जताया लेकिन तुम सब तो बाद में आए रे। हक जताने लगे। वह तो मेरा जनम का साथी। तड़पू नहीं? हक तो उसका।
- भैय्या : बाबूजी, हां बाबूजी।
- बाबूजी : लेकिन वह नहीं आता है हक जताने। मैंने तो अपने को बेच डाला है उसके हाथों लेकिन वह अपने हक की चीज नहीं ले जा रहा है। क्यों ले जाएगा? धनी है वह। अमीर।
(भैय्या की आँखों में पानी आने लगता है। मां दरवाजे के पास आकर खड़ी होती है)
- भैय्या : आपकी आँखों में पानी आया। मैंने बहुत तकलीफ पहुंचाई आपको।
- बाबूजी : नहीं बेटे, तकलीफ तो मैंने दी।
- भैय्या : आपके लायक कुछ नहीं बन पड़ा मुझसे इसलिए मैं नापसंद?
- बाबूजी : बोल मत बेटे। सहा नहीं जा सकता अब।
- भैया: मैं आपके जैसा विद्वान नहीं बन सका। मशहूर नहीं हो सका। मैं मामूली क्लर्क रह गया, क्या इसलिए? (अंतराल) मुझे होना था आप जैसा। सच। आप मुझे कितने अच्छे लगते थे। हमेशा ही अच्छे लगे। अब भी अच्छे लगते हैं। आप कभी कैसे क्यों नहीं समझ सके? हीरो थे आप मेरे। अब भी हो। कितना गर्व था मुझे आप पर। बचपन में दोस्तों को मैं घर ले जाता था। आपको दिखाने। आप हमेशा लिखते या पढ़ते बैठते थे। और मैं पर्दे के पीछे से सबको दिखाता था। वो है न? वो मेरे बाबूजी। वो देखो। है न ग्रेट? मेरे बाबूजी, मेरे बाबूजी क्या आपको पता था कि मैं कैसे मेरे बाबूजी मेरे बाबूजी कहा करता था। मेरे बाबूजी सबसे ऊंचे, मेरे बाबूजी सबसे वीर। शिवाजी महाराज से भी वीर। मेरे बाबूजी, हरदम पढ़ाई करते रहते हैं। मेरे बाबूजी एक हजार भाषाएं जानते हैं। किसी के भी बाबूजी नहीं थे आप जैसे। फिर मैं ही अलग क्यों पैदा हुआ? क्यों नहीं आप जैसा (भावातिरेक से भैया की आँखों में आँसू बहने लगते हैं। मां दरवाजे से लौट आती हैं। आँखें पोंछती हुई नीचे बैठ जाती है)
- मां : क्या-क्या इस बच्चे ने मन में दबा रखा होगा? (अंतराल) बिना बोले बैठा है पास में और आँखों से झड़ी।
- चाची : जूही के फूल जैसा मन उसका।
- मां : (संजू से) बेकार ही नमक छिड़क दिया सभी के घाव पर।
- संजू : मैंने ऐसा क्या कह दिया?
- मां : पति-पत्नी के संबंधों को तीसरा कभी नहीं समझ सकता।
- संजू : आँखों पर पट्टी तू ओढ़ ले। तू समझना ही नहीं चाहती कुछ।
(अंतराल) शादी के बाद पंद्रह दिनों में ही इसने हमेशा के लिए

- रात पाली मांग ली। क्यों रहेगी फिर वह यहाँ?
- मां : भाई-बहन हो या सात जन्मों के बैरी?
- भैय्या : कहिए न बाबूजी मैं ही ऐसा क्यों हुआ?
- बाबूजी : पगले, अरे कितने कोमल मन का तू। जूही के फूल जैसा तेरा मन।
- भैय्या : बताइए मुझे, आपने मुझे, कुछ भी क्यों नहीं दिया? आपकी बुद्धि, आपकी सुंदरता, मैं क्यों ऐसा मामूली? बुद्धि से, रूप से। क्या इसलिए मैं आपको अच्छा नहीं लगता था? तो फिर क्यों जन्म दिया मुझे?
- बाबूजी : तू जन्मा।
- भैय्या : मां कभी मां नहीं लगी, न बाप, बाप।
- बाबूजी : कहूं तुझसे?
- भैय्या : हरदम दूर रखा मुझे। कभी स्वयं होकर मुझे ऊपर नहीं उठाया। मैं जबरदस्ती आकर चिपक जाता था तब उठाते थे मुझे लेकिन तब भी समझ में आता था कि आपका स्पर्श सूखा है।
- बाबूजी : कहूं?
- भैय्या : एक बार तो भी बोलिए बाबूजी।
- बाबूजी : सुन सकोगे?
- भैय्या : कहिए न।
- बाबूजी : सुन।
- भैय्या : कभी मैंने कोई बड़ी जिद की थी? यह पहली और आखिरी।
(अंतराल)
- बाबूजी : तब शक था मुझे। अब भी है। (अंतराल) कि तू मेरा नहीं है।
- भैय्या : मैं आपका कोई नहीं? क्यों?
- बाबूजी : सच है कि तेरी मां के बर्ताव में खोट नहीं था लेकिन एक बार जो शक मन में पैदा हुआ वह फिर कभी पूरी तरह से गया ही नहीं।
- भैय्या : कितना एक मन था आप दोनों का। क्या इसीलिए बच्चे भी आपको दूर के लगे? आप दोनों के बीच में बच्चे भी नहीं चाहिए थे।
- बाबूजी : बेटे, बेटे।
- भैय्या : मेरा सब कुछ ही क्यों बिगड़ गया? आपके मन मिल गए जैसे क्यों मेरा और रेखा का मन नहीं मिलता? (अंतराल) मुझे उस पर शक है।
- बाबूजी : अरे, नहीं रे। इसी शक की वजह से दिल फट गया मेरा।
- भैय्या : रेखा बुरा नहीं बरतती। लेकिन पास आने के लिए नाखुश रहती है। कठपुतली के साथ तो मैं श्रृंगार नहीं कर सकता। (अंतराल) क्यों वह थीसिस का बहाना बताकर हरदम मायके जाती है। वहाँ कोई होगा उसका?

- बाबूजी : निकाल दे इस शक को दिमाग से। (अंतराल) शक के सिर उठते ही मैं शर्म के मारे काला कलूटा पड़ जाता था। लगता था तू किसी का भी क्यों न हो, तेरा क्या दोष? फिर मैं तुझे गीतांजली पढ़कर सुनाता। श्लोक सिखाता। चांदनी में घूमते हुए गाने गाकर सुनाता। यह तेरे लिए था ही नहीं। अपनी ही शर्म के मारे मैं यह अपने लिए ही करता था।
- भैया : कभी अधिकार से पीटा भी नहीं।
- बाबूजी : एक बार, शक से, गुस्से से जलकर। फिर मन लगा। सोचा दूसरे का बच्चा। क्या अधिकार है मुझे मारने का? रात भर तुझे पास लेकर पछतावे के आँसू बहाता रहा। (अंतराल) एक बार तैरने गया था तू, तो जल्दी वापस नहीं आया। पल भर के लिए सोचा, अच्छा हुआ। फिर खुद से ही डरकर जमीन ही पकड़ ली।
- भैया : आपके लिए मैंने एक गीत रचा था बचपन में। पूरी जिंदगी में बस उतना ही एक।
- बाबूजी : अब तक नहीं पढ़ा मैंने उसे। सोचा था, शक दूर हो जाएगा, तभी पढ़ूंगा। अब कब? अब कब? (बड़ा अंतराल) (बाहर बादलों की धीमी गड़गड़ाहट)
- भैया : आपको क्या कोई नहीं था कभी?
- बाबूजी : रघू, अब वह भीगेगा बारिश में।
- भैया : मां के अलावा आपने कभी किसी-किसी से दिल लगाया ही नहीं।
- बाबूजी : रघू।
- भैया : मैं तो नहीं ही। मुकू भी नहीं। संजू?
- बाबूजी : रघू
- भैया : संजू नन?
- बाबूजी : रघू।
- भैया : उसे पुकार रहे हैं न? बुलाऊं
- बाबूजी : रघू। रघू।
- भैया : (पुकारता है) संजू SS
(उठकर बीच के दरवाजे के पास आता है)
संजू, जल्दी से भीतर आ। वह तेरा नाम ले रहे हैं।
- बाबूजी : रघू। (संजू भीतर आती है)
- भैया : देख, लगता है, संजू-संजू कह रहे हैं।
- संजू : क्या है बाबूजी? पुकार रहे हैं?
- बाबूजी : रघू। रघू। रघू।
- भैया : तेर नाम का जप चल रहा है। (सिसकी को दबाता है)

- संजू : क्या कह रहे हो बाबूजी? मुझे बुलाया?
(बाबूजी की आँखें बहने लगती हैं)
- भैय्या : आँखें फिर से बहने लगीं। (बाबूजी की आँखें पोंछता है)
- संजू : आप शांत रहिए। क्या कह रहे हैं कौन जाने?
- बाबूजी : अब परेशान मत कर संजू।
- संजू : चाह है किसी बात की? मैं आपके लिए क्या करूं?
- बाबूजी : कभी किया? देर हो गई।
- संजू : देखिए, सो जाइए।
- बाबूजी : मेरे रग रेशे की तू हमेशा दुराव बरतती रही।
- संजू : शांत हो जाइए। आपने मेरे लिए बहुत किया। सचमुच किया।
(भैय्या से) जाने वाले की तसल्ली के लिए क्या कुछ नहीं बोलते न हम?
- बाबूजी : बचपन की तू याद आती है। फाटक पर खटखट झूलने वाली। आँखों पर जुल्फें लाकर रिबनो को गले में डालकर सारी गली में भटकने वाली, झगे के बटन हमेशा टूटे हुए। पिछवाड़े आंगन के हौज में धडाधड़ कूदने वाली। तुझे पीठ पर लादकर शक्कर का थैला, शक्कर का थैला कहते हुए घर भर में घूमता फिरता था।
- संजू : मुझे शक्कर का थैला कहते थे, वह अब कोयले का थैला हो गया है।
- बाबूजी : ऐसी कैसी बन गई री तू? तेरी मां इतनी सत्वशील। उसके जैसी नहीं। मेरे जैसी तो बिलकुल ही नहीं। बारहवीं में दो बार फेल हो गई तू संजूडी। कॉलेज अधूरा छोड़ दिया। किया क्या? तो कैंची से बालों को काट डाला और खुले बाहुओं को दिखाती गांव भर भटकती रही। संजू-संजू और वह शादी संजू
- संजू : भैय्या रे।
- भैय्या : अरी बोल ना, शायद वह समझते भी होंगे।
- संजू : कुछ नहीं रे। मां को बुलाओ तो। मुझे लक्षण कुछ अच्छे नहीं लग रहे हैं। (भैय्या बाहर मां के पास आता है)
- बाबूजी : रघू को भी भूलकर तुझसे जी लगाया। (बाबूजी की आँखें बहती हैं)
- संजू : अब आँखों से पानी निकालने से क्या? मुझे लाड़ों से पाला बस, यही गलत हुआ। कुछ भी सोच नहीं थीं उन लाड़ों के पीछे।
- भैय्या : मां।
- मां : क्या वह वहीं पर हैं?
- भैय्या : उसी को पुकार रहे हैं।
- मां : (अपने आप से) मैंने कभी तुम लोगों में भेदभाव नहीं बरता। इन्होंने

बरता नहीं। करने चाहिए उतने लाड़ किए बिगड़ी बेटी के।
 चाची : बेटियां पराए घर जाती हैं शादी के बाद।
 मां : अपने घर जाती हैं। और यह भी गई न जिद कर के। यहीं पर वह
 हमेशा घर को धर्मशाला समझकर रही। ऐसी संतान नहीं देखी होगी
 किसी ने।
 चाची : स्वभाव।
 मां : बहना। (अंतराल) एक बात पुछूं। (चाची प्रश्नार्थक देखती है)
 चाची : क्या कहती हो?
 मां : सच बताएगी?
 चाची : मनोरमा, मैंने कभी किसी से झूठ कहा?
 मां : नहीं री, ऐसी बात नहीं। क्या करूं मेरा मन ही ठिकाने नहीं है।
 चाची : हम दोनों ने कभी एक दूसरे से कुछ छिपाया?
 मां : बच्चों को मैं क्या दे सकती हूं इतनी ममता दी आपने लेकिन, कुछ
 भी कहिए, संजीवनी को कुछ दूरी पर ही रखा। वैसे किया उसका
 भी लेकिन लगता था कि कहीं कुछ तो कमी हो रही है।
 चाची : ऐसा कुछ भी नहीं था मेरे मन में कभी।
 मां : जान-बूझकर किया ऐसा तो मैं नहीं कहती।
 चाची : उसी को मेरा कुछ अच्छा नहीं लगता था। उसकी भुनभुन हमेशा
 तुम्हारे पीछे। फिर उसके पैरों पर हमेशा चक्कर। घर होती ही कब
 थी?
 मां : (अधूरे अपने से) क्यों पैदा हुई यह?
 चाची : कहा नऽ अभी, कर्ज होते हैं।
 बाबूजी : रघू।
 संजू : क्यों लगातार मझे पुकार रहे हैं। इतना नहीं उलझना चाहिए किसी
 में। मुझसे जितना बन पड़ा उतना मैंने किया आपके लिए लेकिन
 मेरी भी अपनी जिंदगी है। घर संसार है।
 बाबूजी : रघू।
 संजू : यह आदमी अब बिलकुल ही सुनने वाला नहीं। (अंतराल) मुझे पहले
 से ही इन्हें बता देना चाहिए था कि उन्होंने वर्कशाप गिरवी रखा है।
 अब क्या? अच्छे थे, तब की होती कुछ कोशिश। देर तो मैंने कर दी।
 पता नहीं घर किसके नाम कर छोड़ा है। मेरा एक हिस्सा तो होगा ही
 और नहीं रहा तो मैं झगड़ के लूंगी। ये बता रहे थे कि अब कानून
 बदल गया है। अब लड़कियों को भी लड़कों के बराबर हिस्सा मिलता
 है।
 बाबूजी : रघू

संजू : बस हो गया संजू-संजू। इतना लगता है तो मेरा कुछ तो प्रबंध कर दिया हो। (मुकुंद धड़ाम से दरवाजा खोलकर आता है)

बाबूजी : दरवाजा बजा? आया? रघू आया? दोपहर खुली।

मुकुंद : कैसे हैं?

भैया : कहां गया था?

मुकुंद : तुम्हें क्या करना है?

मां : सिगरेट फूंकने।

मुकुंद : कुछ भी मत बोल।

मां : न पीने वाले को जल्दी बू आती है।

मुकुंद : एक मिनट के लिए भी बाहर जाकर नहीं आ सकते? अब कि हमेशा के लिए चला जाता हूं। फिर पुकारते रहो, मुकुंद कहां गयो डरी।

मां : इस तरह उनके पास मत जा। सुपारी के टुकड़े की भी लत नहीं थी उनको।

मुकुंद : तो फिर किया क्या? टागोर पढ़ते रहे।

बाबूजी : दरवाजा बजा। रघू रघू।

संजू : मां ऽ (अंतराल) मां ऽ
(मां उठकर भीतर जाती है) मां, मुझे नहीं लगता कि वह मुझे पुकार रहे हैं।

बाबू : रघू को। रघू।

मां : ऐसा ही लगता है। (अंतराल) क्या है मन में? कहिए तो। कोशिश कीजिए। तड़पिए मत इस तरह।

बाबूजी : रघू।

संजू : तुझे पुकारते होंगे। (दोनों एकटक उनकी ओर देखती हैं)

बाबूजी : रघू, रघू, रघू।

संजू : देख, मनु, मनु कहकर तुझे तो नहीं पुकार रहे हैं न? (अंतराल)

मां : पिछले चालीस बरसों में एक बार भी मुझे मनु नहीं कहा। (अंतराल)
मनु छोड़ो, मनोरमा भी नहीं। इस घर में नाम था, अरी।
(मुकुंद दरवाजे के पास आता है)

मुकुंद : (संजू से) रमेशजी को इस तरफ आते देखा।

संजू : चलो, हो गया। (बाहर आकर) साथ क्यों नहीं आए?

मुकुंद : उनके साथ आने का मतलब (लड़खड़ाते हुए) झूम बराबर झूम करते हुए चलना पड़ेगा। इस तरह चलने की प्रैक्टिस कहां है हमारी? जमाई बाबू ने चांस ही नहीं दिया न कभी।

चाची : मुकूऽ

मुकुंद : अपने इस आश्रम में।

संजू : मैं जाऊं तो भी कैसे और रहूं तो भी कैसे?
 मुकुंद : चिंता मत कर। अब तक गंगा स्नान कर रहे होंगे वह।
 चाची : गंगा कहां से आई? अपनी नदी मोरणा।
 मुकुंद : गंगा के पहले तीन फुल्लियां। चाची, कैसी री तुम?
 चाची : बड़ों के बारे में ऐसा नहीं बोलना चाहिए।
 भैय्या : इन का ऐसा बर्ताव बाबूजी को कैसे चलता था?
 चाची : सबका स्वीकार करते थे। माफ कर देते थे। (अंतराल) भैय्या, तुझमें अपने पिता के सारे गुण उतर आए हैं।
 भैय्या : मैं तो ऐसा। काला। अनाड़ी।
 चाची : अरे, रूप, रंग, बुद्धि ही सिर्फ गुण होते हैं? उनसे परे भी कुछ होता है। वह बहुत था तेरे पिता के पास।
 मां : सुन रहे हैं ना। बहना क्या कह रही हैं? (अंतराल) तारीफ हो रही है।
 बाबूजी : रघू।
 मां : आपके बारे में चल रहा है।
 बाबूजी : रघू।
 मां : क्यों अब मनु-मनु कह रहे हैं। सारी उम्र गई कभी कहा नहीं।
 चाची : भरे सूप जैसा बड़ा मन।
 मां : बस, इन्हीं की समझ में आया आपका मन। (अंतराल) आप भी कब मेरे मन को समझ सकें? कोशिश भी की कभी? या मैं इसके लिए लायक ही नहीं थी? (अंतराल) मुंह उठाकर कुछ पूछू इतनी भी निकटता नहीं बनी कभी।
 बाबूजी : रघू।
 मां : उम्र बिता दी तड़प तड़पकर कि कभी तो एक बार मेरा नाम लेकर पुकारोगे, इसलिए प्यासे हो गए थे कान लेकिन नहीं। बहुत पास आने के क्षणों में भी नहीं निकला मेरा नाम आपके मुंह से अब कान के टुकड़े-टुकड़े हो जाने के बाद मनु-मनु। नहीं जी। अब कुछ नहीं हिलता मेरे भीतर। बहुत देर कर दी।
 बाबूजी : तुम समझती थी, समझती थी सब कुछ?
 मां : कभी अपने मन को जानने नहीं दिया। गूंगी दीवार के साथ गृहस्थी निभाई। (अंतराल) दीखने को तो वैसे सोने जैसा था घर संसार। किसी चीज की कमी नहीं पड़ने दी। सब कुछ मेरी राय से, मेरी मर्जी से हुआ। सब सच है। जो कहा वह हो गया। जो मांगा वह मिल गया। (अंतराल) तो हो गया? इतने से हो गया? आपने कभी कुछ नहीं मांगा, अधिकार से या अनुरोध से। क्यों नहीं जरा-सा अधिकार जताया? क्यों

नहीं कभी झगड़ा किया? क्यों इस ठंडी दूरी को बरकरार रखा हमारे बीच। क्यों यह दुराव? कहिए अब तो बोलिए। सिर्फ पुकारते मत रहिए।

- बाबूजी : रघु। (अंतराल)।
मां : या और कोई रहता था मन में। अब भी जो पुकार रहे हैं, कैसे कहे कि मुझे ही पुकार रहे हैं। (अंतराल) शुरू में देह को सुख दिया, मानती हूँ, लेकिन मन कभी भरा नहीं, मेरा। वह खाली, भूखा ही रहा। फिर मन नहीं भरा इसलिए देह का सुख भी सूखता गया। सारा व्यवहार यंत्रवत् रूखा। अपनी संतान बिना प्रेम की ही पैदा हुई। एक बार गुस्से में कहा कि बस करो यह सब। तो तब भी उतनी ही शांति से थमा दिया हमेशा के लिए। मन तक क्या पहुंचना ही नहीं चाहते थे? कौन था मन में?
- बाबूजी : रघु। बिजलियां चमकने लगी हैं।
मां : बड़प्पन दिया। सम्मान दिया। सभी बातों का श्रेय दिया। (अंतराल) बहना को आप ले आए आसरा देकर। उसका श्रेय भी मैंने लिया और आपने लेने दिया। (अंतराल) सब दे दिया। (अंतराल) मन के अलावा।
- बाबूजी : रघु, बारिश शुरू हो गई रे। (अंतराल)
मां : शक है मेरे मन में। घर में घुसे सांप की तरह पिछले चालीस बरसों से मेरे मन में घर कर बैठा है वह। इसीलिए तो कभी घर की दहलीज नहीं लांघी। चालीस बरसों में मायके का मुख भी नहीं देखा। हरदम आपके पास। लोग कहते, कितना करती है, पति के लिए। पति परायण। मैं अपनी बात जानती हूँ। (अंतराल) नहीं, कभी कोई गलत बात नहीं दिखाई पड़ी मुझे। आँखों में तेल डालकर मैंने हरदम पहरा दिया लेकिन बोलने बरतने में उसकी परछाई भी नहीं दिखाई दी, न आपके, न उनके। बोलने बरतने की तो बात ही छोड़िए, पलकों को उठाकर देखा नहीं बहना की तरफ। (अंतराल) इसीलिए तो और भी शक मजबूत होता है। जबरदस्ती ऐसा दुराव रखना पड़े, ऐसी कौन-सी गहरी भावना थी मन में। रूप मेरा बेहतर, गुण में चाहे न हो, लेकिन बराबरी की तो थी?
- बाबूजी : रघु।
मां : मत पुकारिए सिर्फ नाम ले लेकर। बोलिए। कहिए, सच क्या है?
बाबूजी : रघूऽऽ।
मां : अरे, सिर्फ नाम लेकर पुकारता है तू, चंडाल, देख, निकल, आई गाली मुंह से। कभी नहीं कहा लेकिन आज अरे, तूने किया। क्षमा कीजिए।

(अंतराल) गाली दूं इतना अधिकार था ही कब मुझे? मांगकर नहीं मिलता वह। जानती हूं मैं। उसे कमाना पड़ता है। भाग्य में हो तो मिलता है। मेरे नहीं था (अंतराल) मैंने एक बार अपने भाग को खोजा और कहीं। (अंतराल) सुनते हो? सुन रहे हैं न? अब नहीं मैं इसे संभाल पाऊंगी जीते जी। संजू आपकी नहीं। (अंतराल) आप ही के मन को दूँ रही थी। नहीं पाया तब हताशा में मेरी देह भटक गई और कहीं। सिर्फ एक बार। वहां भी कुछ हासिल नहीं हुआ। फिर तड़पती हुई आ गई आपके पास, तब संजू थी पेट में। (अंतराल) कितना बरसे उसके लिए लेकिन हक था जिनका वे सूखे ही रह गए।

- बाबूजी : रघू।
मां : (रोती हुई) मत पुकारिए मुझे नाम से। नहीं हूं मैं इसके लायक।
भैया : चाची, मां की तरफ देखो तो। पत्थर की पुतली बनी जब से बैठी है। उसे कम से कम पुकार तो लो।
चाची : बैठने दो उसे।
भैया : अब तो उसकी ही फिक्र होने लगी है।
चाची : उसे बैठने दो। उसके हक की जगह है वह।
भैया : तुम तो भी बैठो न उसके पास। बोलने को मजबूर करो, उसे। उठो न।
चाची : नहीं रे, मैं यहीं ठीक हूं। मेरा यही कोना।
भैया : सारा घर ही तुम्हारा है।
चाची : बेटे, एक आदमी को कितनी जगह लगती है? इतना बड़ा घर लेकर मैं क्या करूं? मेरे लिए यह कोना काफी है। (प्रकाश परिवर्तन) उम्रभर काम आया यह कोना। घर देने की बात क्या मन में थी? लेकिन यह कोना तो दिया न? मुझे यह घर से बड़ा लगता है। (अंतराल) घर बनते-बनते बरसकर गिर पड़ा। इसीलिए तो यह कोना मिल गया ना? मैं भाग्यवान हूं।
बाबूजी : रघू अब तो आ। (अंतराल) इसका कैसे क्या होगा? इसने घर को छांव दी। मेरे बच्चों को तन मन लगाकर बड़ा किया।
चाची : आप नहीं मिले लेकिन आपके बच्चे मेरे हो गए। आप ही की छोटी छोटी मूरतें। पास में लेने पर लगता था कि स्वर्ग हाथ आया।
बाबूजी : यह इतनी देर बाद क्यों मिली, रघू?
चाची : हम पहले क्यों नहीं मिले जी?
बाबूजी : पता नहीं उसके मन में क्या है, लेकिन इसके लिए मैं हरदम तड़पता रहा।

- चाची : कभी न बात की न आँख उठाकर देखा लेकिन मैं समझ रही थी। मन भर रहा था।
- बाबूजी : इसे मधु की शादी में देखा। सेहरा हिल गया और इसका चेहरा दिखाई दिया। तब दिल पर जैसे आरी चली रे रघू।
- चाची : शादी के मंडप में आप की दिन भर की दौड़ धूप मैं निरख रही थी। मन तड़प उठा। पास आपके मनोरमा। चंद्ररेखा जैसी झलकती हुई। उसके बदन की हल्दी भी नहीं उतरी थी। डाह हुआ। फिर सोचा, कहां वह, कहां मैं?
- बाबूजी : किसी तरह इसे अपना बनाने की जिद पकड़ी मन ने रघू। (अंतराल) शादी के दूसरे ही दिन मधु गिर गया तब सच कहूं? खुशी हुई। फिर इसे यहां ले तो आए लेकिन हरदम दूर रहा।
- चाची : कोना दिया। जीवन भर पाया। दूर की हवाओं से आने वाली खूशबू की तरह मेरे आस-पास महकते रहे।
- बाबूजी : मैं इसके मन को कभी जान नहीं सका रघू। इसने पलकें उठाकर कभी देखा नहीं, न कभी दरवाजे के पीछे से सामने आई। बेकार ले आया। नहीं लाता तो कम से कम उसे अपना आदमी मिल भी जाता कहीं न कहीं।
- चाची : बहुत मिल गया मुझे।
- बाबूजी : रघू, आ रे, ले चल मुझे। यहां मुझे कुछ नहीं मिला। मैंने किसी को कुछ नहीं दिया रघू। मनु को भी तड़पता छोड़ा।
- चाची : आज तक मन में भी कभी बोली नहीं। आज कहती हूं। आपके बगैर और किसी का ख्याल नहीं था मन में।
- बाबूजी : कुछ नहीं मिला इस बात का गम नहीं रघू, लेकिन मुझे देना था। सब को कोई गीत देना था। अब देर हो गई। आ अब रघू। मुक्त कर दे। (बाबूजी तड़पते हुए दरवाजे के पास जाते हैं)
- भैय्या : बाबूजी। बाबूजी।
- मां : गोद में ले ले उन्हें।
(भैय्या तड़पता हुआ अपनी जगह पर खड़ा। मुकुंद मां के पीछे)
(बाहर बारिश की लगातार झड़ी, बीच में बिजली का कड़कना)
- भैय्या : (घबराए हुए स्वर में बुदबुदाता है)
नैनं छिन्दति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
- मां : बेटा।
- भैय्या : न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।
- बाबूजी : अरे रातभर आँख से आँख नहीं लगी। कितनी बार बाहर-भीतर करता रहूं? कितनी चहल-कदमी करूं? दरवाजा खोलकर रख दिया है, रघू।

मां : गोद में ले ले उन्हें, बेटा ।
 भैया : अच्छे-घोऽ यमदाहयोऽ यमक्लेश्चोऽ शोष्य एव च ।
 बाबूजी : राह मिल जाएगी । ना तुझे? आएगा ना? बीच में घने जंगल हैं ।
 नदियां ओर-छोर बह रही हैं । इनको पार कर आएगा मेरे वास्ते?
 (बाबूजी बाहर जाने के दरवाजे के पास जाकर तड़पते हुए खड़े रहते
 हैं । मां उठकर बीच के दरवाजे के पास आती है)

मां : मुख में गंगाजल डालिए ।
 भैया : नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः । ।
 चाची : यह तेरा अधिकार है, मनोरमा । (मां सहसा नीचे बैठ जाती है)
 उठ । उन्हें तड़पता हुआ मत छोड़ । प्राण होंगे उनके दरवाजे के
 पास ।

भैया : अव्यक्तोऽयम चिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
 बाबूजी : मित्र, मित्र, मित्र । (बारिश, बिजली)
 चाची : उठ मनु, जा रहे हैं वह ।
 (इस बार लेकिन सब खड़े हो जाते हैं और बाहर के दरवाजे के पास
 खड़े बाबूजी की तरफ अपनी-अपनी जगह से, आह और डर को
 दबाकर देखते रहते हैं । बाबूजी कदम उठाकर दहलीज पर रखते हैं ।
 सहसा अँधेरा । बारिश की आवाज लेकिन, जारी ही रहती है ।) ■

हमारी संस्कृति बहुवचनी : नेमाड़े

मराठी के अत्यंत चर्चित उपन्यासकार, कवि और समीक्षक। 'कोसला', 'बिहार', 'छूल', 'जरीला', 'झूल' और 'हिंदू' आदि उनके चर्चित उपन्यास हैं। 'हिंदू' की विशेष चर्चा। 'मेवड़ी' व 'देखणी' कविता-संग्रह। 'साहित्य की भाषा और टीका स्वयंवर'; भाषा व समीक्षात्मक ग्रंथ। कृतियों का हिंदी सहित कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद। डॉ. नेमाड़े देशीवाद के समर्थक। अपनी स्पष्टवादिता के लिए प्रख्यात।

अंग्रेजी के व्याख्याता के रूप में औरंगाबाद, गोवा, मुंबई व लंदन विश्वविद्यालयों में कार्य। मुंबई विश्वविद्यालय के गुरुदेव टैगोर सृजनपीठ के तुलनात्मक साहित्य में प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष। डॉ. नेमाड़े को अनेकानेक सम्मानों से अलंकृत किया गया है। 'टीका स्वयंवर' समीक्षात्मक कृति के लिए साहित्य अकादेमी पुरस्कार, समग्र साहित्यिक योगदान के लिए 'महाराष्ट्र फाउंडेशन का गौरव पुरस्कार, शिक्षा व साहित्यिक योगदान के लिए भारत सरकार द्वारा 'पद्मश्री', 'हिंदू' उपन्यास व समग्र कृतित्व के लिए सुवर्ण महोत्सवी ज्ञानपीठ पुरस्कार से उन्हें अलंकृत किया गया है। महाराष्ट्र के सांगवी, जिला-जलगांव में 27 मई, 1938 को जनमे डॉ. नेमाड़े 'हिंदू' उपन्यास के अगले खंडों के लेखन में जुटे हुए हैं।

यह साक्षात्कार 17 फरवरी, 2015 को नेमाड़ेजी के मुंबई स्थित निवास पर लिया गया है। साक्षात्कारकर्ता डॉ. गोरख निवृत्ती थोरात, सर परशुरामभाऊ महाविद्यालय, पुणे (महाराष्ट्र) के हिंदी विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर हैं। आप भालचंद्र नेमाड़ेजी के 'हिंदू : जीने का समृद्ध कबाड़' और 'झूल' आदि उपन्यासों तथा 'देखणी' कविता संग्रह के हिंदी अनुवादक हैं। प्रस्तुत है भालचंद्र नेमाड़े से गोरख थोरात की बातचीत:

आपके पहले उपन्यास 'कोसला' को प्रकाशित हुए पचास साल पूरे हो चुके हैं और इन पचास सालों में उसके पच्चीस संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। बीते साल ही आपका पिचहतरवां जन्मदिवस मनाया जा चुका है और इस साल आपके प्रयासों के फलस्वरूप मराठी भाषा को संवैधानिक रूप से भाषा का दर्जा प्राप्त हो रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में आपको ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त होना, मराठी पाठकों की दृष्टि से अत्यधिक प्रसन्नता की बात है इसलिए आपका हार्दिक अभिनंदन।

मुझे पुरस्कार पाने की खुशी तो है ही परंतु इससे भी ज्यादा खुशी इस बात की है कि इससे समूचे मराठी पाठकों को अत्यधिक खुशी हुई है। वैसे मैं पुरस्कार के लिए नहीं लिखता, तथापि लोगों का कहना है कि ऐसे महत्वपूर्ण पुरस्कार मुझ जैसे व्यक्ति को प्राप्त हों तो इसमें उन पुरस्कारों का

भी सम्मान होता है। खैर, आपके द्वारा किए गए अभिनंदन के लिए धन्यवाद।

आपकी साहित्य सृजन की प्रेरणा क्या हैं और साहित्य के आपके आदर्श कौन हैं?

साहित्य सृजन की प्रेरणा को ऐसे ही निश्चित नहीं किया जा सकता। वह बचपन से ही हमारे भीतर होती है। वह भीतर से प्रविष्ट होनेवाली ऊर्जा है। उसी के कारण मुझे महसूस हुआ कि मैं जो कुछ अनुभव करता हूँ, उसे लिख पाऊंगा। यद्यपि हर बार यह संभव नहीं होता। इसके कारण अनुभव के साथ-साथ हमारा भाषा का एहसास भी गहराता जाता है वही मुझे साहित्य सृजन की अपनी प्रेरणा प्रतीत होती है। कोई शब्द अच्छा लगा, किसी अद्भुत प्रसंग का अनुभव हुआ, तो यही प्रेरणा मुझसे कहती है कि इस प्रसंग को सभी तक पहुंचना चाहिए। हमारे दिल पर गहरा प्रभाव डालने वाले कई प्रसंग हमारे इर्द-गिर्द घटित होते रहते हैं। जैसे, परसों मैं कहीं से आ रहा था तब एक भिखारी बिलकुल तड़पकर 'तुम्हीं हो माता, पिता तुम्हीं हो, तुम्हीं हो बंधु, सखा तुम्हीं हो, और कोई नहीं है सिवा तुमरे' गाना गा रहा था। उस आदमी की यह तड़प और दशा देखकर मन में विचार आया कि दुनिया में ईश्वर हो या न हो, लेकिन इस मनुष्य के लिए तो उसका अस्तित्व निश्चित है। मुझे लगा कि यह मेरा अनुभव मेरे साहित्य में कहीं-न-कहीं आना चाहिए। संक्षेप में, हमारे रोजमर्रा के अनुभवों के आधार पर सर्जन भी एक प्रेरणा बन जाती है। वह एक आदत ही हो जाती है। साहित्यिक दृष्टि से मेरे आदर्श कई हैं। उनमें भी कविताओं के लिए अलग, नाटकों के लिए अलग और उपन्यासों के लिए भी अलग हैं। मैं एक प्राध्यापक रह चुका हूँ, इसलिए आज तक मैंने साहित्य से संबंधित कई विषय पढ़े हैं, पढ़ाए हैं। फिर भी, मेरा पहला साहित्यिक आदर्श लोकसाहित्य है क्योंकि हमारे गांव में अलग-अलग श्रमजीवी अशिक्षित जनजातियों के हर व्यक्ति का साहित्य से संबंध होता था। भीख मांगने वाले, वासुदेव, बहुरूपिए, भगत वगैरा लोक कलाकार और त्योहारों के अवसर पर गीत गाने वाले लोग होते थे। उनमें हर जाति का त्योहार, उनके पवाड़े, गीत, लावनियां भी होते। मेरा दूसरा आदर्श यानी वारकरी संत, विशेषतः तुकाराम, नामदेव, जनाबाई वगैरा। देहाती माहौल में ये सब अपने आप ही मेरे पसंदीदा बन गए। आगे चलकर मैंने पढ़ाई के लिए मराठी विषय चुना जिससे पूरी मराठी परंपरा से मेरी पहचान हुई। शिक्षा ग्रहण करते समय मैं परीक्षा की बजाय अवांतर पठन को ज्यादा अहमियत देता था। इसी से मराठी परंपरा के महानुभाव संप्रदाय वगैरा से मेरा परिचय हुआ। हमारी छात्रावस्था तक महानुभाव संप्रदाय के साहित्य के बारे में अधिकांशतः जानकारी उपलब्ध नहीं थी इसलिए मैंने कबाड़ी बाजार से कुछ किताबें ढूंढी। हमारे गांव में महानुभाव मतावलंबियों का एक मठ था। वहां से मैंने कुछ साहित्य ढूंढ निकाला। बाद में मैंने एम.ए. की पढ़ाई के लिए भाषाविज्ञान, मानवविज्ञान जैसे विषय चुने। इनके पठन से मुझे समाज की ओर देखने का एक नजरिया प्राप्त हुआ। बाद में मैं अंग्रेजी साहित्य के सान्निध्य में आया। इससे तो एक विशाल दुनिया ही मेरे सामने खुल गई। अंग्रेजी के माध्यम से फ्रेंच, जर्मन, रूसी, स्पेनिश आदि भाषाओं के महान लेखक मेरे नजदीक आए। यदि सूची बनाई जाए तो सौ-एक आदर्श आराम से निकल आएंगे। होमर से लेकर दोस्तोयेव्स्की, तोलस्तोय, शेक्सपियर तक और हमारे संस्कृत के बाणभट्ट वगैरह तक बड़ी सूची बनेगी। साथ ही अनुवाद के माध्यम से अनेक भाषाओं के लेखक पास आए। हिंदी के अमीर खुसरो, कबीर, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद के साथ गालिब, मीर आदि सभी मेरे आदर्श हैं। आज के दौर में मराठी की तुलना में हिंदी में कविता बहुत अच्छी लिखी जा रही है। इसी कारण हिंदी के

सभी कवि मुझे भाते हैं। मुक्तिबोध से लेकर राजेश जोशी और लीलाधर जगूड़ी तक सभी। मैं सौ गुना पढ़े और एक गुना लिखे के सिद्धांत को मानने वाला व्यक्ति हूँ। इस कारण मेरे पढ़ने में आए हुए सभी अच्छे साहित्यकार मेरे आदर्श बन गए हैं।

सर, आपका 'कोसला' उपन्यास आया और मराठी उपन्यास की दुनिया में भूचाल आ गया क्योंकि 'कोसला' ने परंपरागत मराठी उपन्यास के ढांचे को ही तोड़कर रख दिया। उसने उपन्यास को न केवल कथा से अलग किया बल्कि पहली बार उसे विचारशील बना दिया। इसके जरिए आपने परंपरागत उपन्यास की संरचना को नकारकर नई संभावनाओं को भी जन्म दिया। क्या इसके पीछे आपका कोई निश्चित उद्देश्य था?

पहली बात, मुझे कभी नहीं लगा था कि मैं कोई उपन्यास लिखूंगा। मुझे उपन्यास लिखने का ऑफर आना मात्र एक संयोग था और वह भी उस दौर में जब मैं अत्यंत उद्विग्न था क्योंकि मुझ जैसा देहाती किसान परिवार में पला-बढ़ा लड़का पढ़ाई के लिए पुणे जैसे शहर में आया था और यहां अंग्रेजी ढंग की शिक्षा के नाम पर जो कुछ पढ़ाया जाता था, उससे ऊब गया था। इसलिए सब कुछ छोड़कर घर चले जाने की तैयारी में था। इसी दौरान लिटिल मैगजीन के बहाने पुणे के उस दौर के प्रतिष्ठित मराठी प्रकाशक देशमुख साहब से मेरी बहस हुआ करती थी और उनसे मैं उस समय के मराठी साहित्य के अनेक नामचीन लेखकों के उपन्यासों को नकारने की भाषा बोला करता था। दरअसल, देशमुख साहब विश्राम बेड़ेकर, विष्णु सखाराम खांडेकर, रणजीत देसाई, इरावती कर्वे जैसे बड़े-बड़े लेखकों के प्रकाशक थे इसलिए मेरा उनके लेखकों को नकारना उन्हें नागवार गुजरता। वे सोचते कि इस देहाती लड़के की ये हिम्मत कि हमारे लेखकों की आलोचना करता है? इसे जरा सबक सिखाएंगे। इसके लिए उन्होंने सोच-समझकर मुझसे परिचय बढ़ाया। वैसे भी प्रकाशकों में लेखकों को ढूँढ़ निकालने की जन्मजात बुद्धि होती है इसलिए उनकी समझ में आ गया था कि यह लड़का कुछ लिख सकता है। वे बोले, इस तरह बड़े-बड़े लेखकों को नकारने की बजाय तुम खुद का उपन्यास लिखकर अपने आप को साबित क्यों नहीं करते? मैंने कहा, हम तो लिख लेंगे जी, पर छापेगा कौन? वे बोले, तुम लिखो, मैं छापूंगा और जैसा लिखोगे, वैसा छापूंगा। वैसे भी मैं उद्विग्न था। गांव जाकर भी क्या करता? उस दौर में हमारे घर और गांव में माहौल ऐसा था कि सभी मुझसे कहते कि इतने साल हमने तुम्हें शहर में पढ़ाया, क्या इसलिए कि गांव आकर गाय-भैंस चराओ? इससे तो अच्छा होता कि तुम शहर ही नहीं जाते। पर अब जब पढ़-लिख गए ही हो तो शहर जाकर कोई नौकरी करो। उन्हें लगता कि किसानों का धंधा ठीक नहीं है और बात सही भी थी क्योंकि हालात अभी भी वैसे ही हैं। संक्षेप में, उन्हें लग सकता था कि मेरे लौटकर वापिस आ जाने से उनका घर बरबाद हो जाएगा। मेरे मन में भी यह टीस थी कि पढ़-लिखकर मैं कुछ बन नहीं पाया। घर पर भी कोई बहुत अच्छा बर्ताव नहीं करता था। इसलिए जब मुझे कुछ लिखने के लिए कहा गया तब अब तक की मेरी चौबीस साल की जिंदगी, यानी कृषिप्रधान समाज के युवाओं का सफेदपोश बनना, कमाऊ बनना और इसकी जो मानसिक प्रक्रियाएं होती हैं सब की सब मेरे सामने आ खड़ी हुई। मन में विचार आया कि अब तक मैं इसी पशोपेश में जीता रहा हूँ कि मुझे क्या बनना है और क्या नहीं। इस मंथन को केवल आत्मकथात्मक पद्धति से लिखने के बजाय क्यों न उसे उपन्यास का रूप दिया जाए? सौभाग्य से मैंने प्राकृत और संस्कृत से लेकर लैटिन, अमेरिकन, रूसी, फ्रेंच सभी उपन्यास

पढ़े थे और इस कारण मुझे लगने लगा था कि कुछ नया लिखा जा सकता है। मराठी उपन्यासों में जो कुछ चल रहा था। वह ठीक नहीं था इसलिए यह तय था कि मराठी में जो लोकप्रिय है, वैसा नहीं लिखना है। लिखते-लिखते अपने आप ही मुझे लगने लगा कि मेरे ये अनुभव कुछ अलग हैं और उन्हें इसी अलग ढंग से लिखा जाना चाहिए। इसी एक निकष से मेरे उपन्यास का ढांचा बना। मैं जानता था कि मराठी में जो चल रहा है, उससे अच्छा तो मैं लिख ही सकता हूँ साथ ही जिस तरह का साहित्य मैंने पढ़ा था, उसमें किए गए प्रयोगों को मराठी में लाने की सुप्त इच्छा भी मेरे मन में थी। यह सब सोचकर मैं लिखने बैठा और मात्र महीने भर के भीतर 'कोसला' उपन्यास को लिखकर पूरा किया।

अच्छा यह बताइए कि उपन्यास लेखन में आप फॉर्म को अधिक अहमियत देते हैं या कथ्य को?

इन दोनों के बीच इस तरह की विभाजन रेखा खींचने की बजाय इन दोनों के सामंजस्य पर मेरा ध्यान अधिक होता है। यानी मुझे केवल कथ्य महत्वपूर्ण नहीं लगता, बल्कि उसके साथ यह विचार भी आता है कि उसे किस रूप में, किस फॉर्म में प्रस्तुत किया जाए। मैं तो समझता हूँ यह हमारे अनुभव का अभिन्न अंग ही होता है क्योंकि कोई भी घटना विशेष एक विशिष्ट फॉर्म में ही हमारे सामने आती है। केवल कथ्य आपकी सर्जनशीलता के लिए बहुत अधिक उपयोगी नहीं होता और केवल फॉर्म को महत्व दिया जाए तो वह भी एक खोखले ढांचे जैसा बन जाएगा। दरअसल, प्रत्येक छोटी-से-छोटी घटना, अनुभव या स्मृति का अपना-अपना फॉर्म होता है और जब वह इस तरह मेरे सामने आता है, तभी मैं उसका इस्तेमाल करता हूँ।

सर, आजकल आपके 'हिंदू जीने का समृद्ध कबाड़' की बहुत चर्चा हो रही है और सुना है कि यह हिंदू चतुष्टय उपन्यास चार खंडों में आने वाला है। इस संपूर्ण हिंदू चतुष्टय के बहाने आप क्या स्थापित करना चाहते हैं?

हिंदू चतुष्टय के जरिए मैं यह स्थापित करना चाहता हूँ कि हम संयोग से ही इस संस्कृति की इकाई बने हुए हैं। अतः यह संस्कृति, हमारे देश की यह विविधता भाषा, रीति-रिवाज, मूल्य, धर्म संस्कार का यह समृद्ध पक्ष कैसे तैयार हुआ और इस व्यवस्था के पीछे क्या स्ट्रक्चर है, क्या सिद्धांत हैं, इसे मालूम करना भी हमारा कर्तव्य है। इसकी जड़ें तलाशने के लिए हमें भूतकाल में जाना होगा। इसी कारण हिंदू उपन्यास में मोहनजोदड़ो के युग की यानी ईसापूर्व 3000 के अद्भुत प्रसंग की योजना की गई है। वे भूतकालीन महानगर के लोग नायक को कोडवर्ड बताए बिना भीतर आने नहीं देते और नायक की तरह हमारा भी कोडवर्ड है- बहुवचन, भूतकाल। मुझे लगता है यही हमारी हिंदू संस्कृति की पहचान है। एक बार यह बात जान जाने पर हमें अपनी संस्कृति समझ में आती है। बहुवचन, भूतकाल यानी हमारी ये जो सारी विविधता है, सारी की सारी बहुवचनी है। एकवचन हमारे यहां है ही नहीं। हमारे यहां अनेक जातियां, जनजातियां अनेक रिश्ते, कई प्रकार की फसलें, खानपान हैं। हम तो गाय, बैल, सुअर, मोर, बकरे और यहां तक कि कुत्तों का भी खाद्य के रूप में इस्तेमाल करते हैं। यह संस्कृति का बहुवचन प्रकार है। कपड़ों के मामले में भी अनेक पद्धतियां हैं। पूरा नंगा रहने से लेकर सूट पहनने तक के सभी लोग हमारे यहां विद्यमान हैं। एकवचन कहीं भी नहीं है। भाषा तथा धर्म के मामले में भी एकवचन नहीं है। इसी कारण आजकल जो

सांस्कृतिक कट्टरवाद बढ़ रहा है, वह एकवचनी है। हमारे यहां हिंदू-मुसलमानों में जो पार्टिशन हुआ है, वह इसी कायर उग्र एकवचन के कारण हुआ है। यदि हम बहुवचनी बने होते तो यह पार्टिशन हुआ है, वह इसी कायर उग्र एकवचन के कारण हुआ है। यदि हम बहुवचनी बने होते तो यह पार्टिशन होना संभव नहीं था क्योंकि बहुवचन से ही सभी हमारे और हम सबके की भावना बनती है। काबुल-अफगानिस्तान से लेकर तमिलनाडु और असम तक हमारे इस उपमहाद्वीप की यह संस्कृति विविधांगी रही है परंतु इसे भूल जाने से हमारा बहुत ज्यादा नुकसान हुआ है। इसी कारण इस विविधता को बरकरार रखना और इसके हास के लिए उत्तरदायी उग्र विचारों को समाप्त करना आवश्यक है। साथ ही, हमारे यहां स्त्रीत्व की जो घोर विडंबना हुई, उसे दूर कर दुबारा मातृसत्ता की स्थापना करना भी जरूरी है। प्राचीन काल में प्रकृति से हमारा सामंजस्य था। पुराने लोग अपने त्योहारों, व्रतों, अनुष्ठानों से उसे प्रकट करते थे। पशु, पक्षी सभी से प्यार करते थे, इन सारी बातों को हमें बरकरार रखना है कि हम कैसे आधुनिक बन पाएंगे, यही हमारी पीढ़ी के सामने असल सवाल है और इसी कसौटी पर हमारी बुद्धि की परीक्षा होनी है। अगर हम मात्र आधुनिक बनते हैं, एकवचनी बनते हैं, तो उसे मैं उन्नति नहीं कहूंगा। वर्तमान सांस्कृतिक समृद्धि को बरकरार रखकर हम और कितना आगे जा सकते हैं, इसी पर हमारी संस्कृति निर्भर होगी। सारी विविधता के साथ हमें आधुनिक बनना है। एक दृष्टि से हम आधुनिक न बन न पाएं तो भी कोई हर्ज नहीं पर हमारी इस बहुवचनी संपन्नता, विविधता को बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि यह अनेक सदियों की विरासत है, हमारे पुरखों ने इसे संभालकर रखा है, तब हमें वह प्राप्त हुई है। अब शायद यही भविष्य के मानवीय समाज की आधुनिकता होगी।

आपके लेखक की 'कोसला' के नायक पांडुरंग सांगवीकर से जो यात्रा शुरू हुई थी, चांगदेव चतुष्टय के नायक चांगदेव पाटील से होते हुए वह हिंदू के नायक खंडेराव तक आई है। इस यात्रा के चरण क्या हैं?

इस यात्रा का एक पक्ष यानी ये सभी मेरे ही जीवनक्रम के सोपान हैं। कोसला लिखी उस समय मैं छात्र था और पढ़ाई रुकने के फ्रस्ट्रेशन से उसका नायक पांडुरंग सांगवीकर आया था। आगे चलकर लगभग बारह वर्षों तक एक प्राध्यापक के रूप में मैं पूरे महाराष्ट्र में भटका। इस दौरान मैंने जो अनुभव किया था, उसका एक फॉर्म तलाशकर उसके जरिए मैंने महाराष्ट्र की जाति व्यवस्था और जातीयता, अनेक गांव, उनकी प्राचीन काल से उल्लास होती आई संरचना, संस्कृति, उपभाषा आदि का चिंतन किया। उसी में से बिद्वार, जरीला, हुल और झूल इस चांगदेव चतुष्टय के उपन्यासों का चांगदेव पाटील उभर आया। चांगदेव पाटील में पांडुरंग सांगवीकर जैसा सामाजिकता के प्रति चिड़चिड़ापन नहीं था। जो है उसे न अच्छा कहना और न बुरा कहना, बस जीते रहना, यही उसके जीवन का सिद्धांत था और इसी में वह चल बसा। इसके बाद चालीस सालों के एक बड़े विराम के बाद खंडेराव आया है। एक तो पहले जैसा उसे रिपीट करना, या टकसाल की तरह वही-वही सिक्के छापते चले जाना या कोई कथन शैली बहुत सफल रही इसलिए उसे दोहराते जाना, मुझे यह ठीक नहीं लगता। मेरा विचार है कि कुछ नया सूझे, तभी लिखना चाहिए। इस कारण कुछ नया करने की धुन में तीस-चालीस साल तक मैंने कुछ भी नहीं लिखा। इस बीच मैंने बस महाराष्ट्र के बाहर की समूचे उपमहाद्वीप की संस्कृति पर विचार किया। और मुझे ख्याल आया कि हमारी संस्कृति के जरिए बहुत कुछ कहा जा

सकता है क्योंकि हम इतनी बड़ी हिंदू संस्कृति के अहम हिस्सा हैं। इतिहास के अलग-अलग कालखंडों में आए परिवर्तनों को साफ-साफ देखते हुए हिंदू जीवन की जो इकाइयां थीं। उन्हें ढूंढकर, अलग-अलग लोगों के विचारों को पचाना और अपने भी विचार प्रस्तुत करना। इसी चिंतन से खंडेराव तैयार हुआ। यह इसका एक पक्ष हुआ। एक दूसरा पक्ष भी है जिसे हम ढांचागत कह सकते हैं यानी कोसला के लिए मैंने जो फॉर्म तलाशा था, वह कथ्य के अनुकूल था। तब तक मराठी में जो कुछ रोमांटिक और कृत्रिम चल रहा था, उसे अलग-अलग कथन शैलियों के प्रयोग से ही तोड़ना संभव था। उसे पूरी तरह से तोड़ दिया। बाद के चांगदेव चतुष्टय में एक भटकने वाला, इधर से उधर फेंका जानेवाला, एक जगह पर स्थिर न होने वाला नायक था। इस कारण उसमें देशकाल का, जगह के तीव्र एहसास का ढांचा बना। अंतिम हिंदू चतुष्टय में ऐसा नायक उत्पन्न हुआ जो इस वैश्विक संस्कृति पर ही कुछ टिप्पणी करना चाहता है। हम अत्यंत विशाल, प्राचीन, उदार और मिश्रित संस्कृति की इकाई हैं। अब तक हम जो कुछ अच्छा देखते आए हैं, उसे प्रस्तुत करना आवश्यक है। प्रगतिवादी लोगों के नारे की तरह सब कुछ फेंकने लायक नहीं है। हमें खुली आँखों से सोचना चाहिए कि इसमें कौन-कौन-सी व्यवस्थाएं रखी जा सकती हैं और कौन-सी समाप्त की जा सकती हैं। इसी दूसरे मंथन से हिंदू का खंडेराव आया है।

आप एक श्रेष्ठ कवि भी हैं। आपके 'मेलडी' तथा 'देखणी' कविता संग्रह आलोचकों में चर्चा का केंद्र रहे हैं। आपकी कविता की सृजन प्रक्रिया क्या है?

कविता मेरी अभिव्यक्ति का मूल केंद्र है! मेरे लेखक का आरंभ कविता से ही हुआ है। कोसला से भी पहले मैंने कई कविताएं लिखी थीं। मेलडी में प्रकाशित कविताएं कोसला से पूर्व की ही हैं। मेरी ये कविताएं छंद जैसी अत्यंत प्रतिष्ठित पत्रिका से प्रकाशित होती थीं और मुझे भी कविताएं लिखना अच्छा लगता था। कविता का यह एक प्रमुख लक्षण है कि हर कवि खुद को बड़ा कवि मानता है। मैं भी इसके लिए अपवाद नहीं हूँ। दरअसल, यह कविता के ही बड़प्पन की बात है। मैं कविता को सबसे बड़ी विधा इसीलिए मानता हूँ कि वह लिखने वाले को अपने आप बड़ा बना देती है। कविता जब आती है, तब आपके भीतरी पर्तों में अनेक अनुभव पचाते हुए, यहां तक पेड़ों के मर्मर ध्वनि करते पत्तों को देख-सुनकर, पंच ज्ञानेन्द्रियों का साथ देते-देते हमारे शरीर में बनती जाती है और उसी के अनुसार कुछ लय बनती जाती है। मेरा अनुभव तो यह कहता है कि इस प्रक्रिया में वह तुम्हें कुछ भी और नहीं करने देती। फिर संत तुकाराम जैसे दिन-रात युद्ध से घिरे की तरह हम दूसरी दुनिया में पहुंच जाते हैं। गोवा में समुंद्र के किनारे ही हमारी यूनिवर्सिटी है। रात भर लहरों की ध्वनि सुनकर लगता कि इन लहरों में कुछ तो लय है। उसके पीछे कोई तो अर्थ है और उसे भाषा द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता लेकिन वह लगातार दिमाग में एकत्रित होता गया, अचानक मुझमें 'विस्थापन का गीत' कविता फूट पड़ी। उस समय इन लहरों की ध्वनियों में हमें कुछ तलाशने की इच्छा होती है, उसी से लय बनती है, उस लय से लंबी-लंबी पंक्तियां बनती जाती हैं। फिर कोई लहर झट से टूट जाती है और मन में उसका झाग बन जाता है। बिलकुल सहज ढंग से यह प्रक्रिया चलती रहती है, जिसका उस समय पता भी नहीं चलता लेकिन आज लगता है कि बिलकुल हूबहू ऐसा ही मन में चलता रहता है। हम प्रकृति का एक चेतन हिस्सा बन जाते हैं। हमारा इनसान होना भी हम भूल जाते हैं। उसी में से पंक्ति की लंबाई, चरण, शब्द-चयन इस तरह हमारी पूरी चेतना

उसमें व्यग्र हो जाती है। फिर हम अन्य कुछ भी नहीं कर पाते, यह मेरा अनुभव है लेकिन इतनी दीर्घ प्रक्रिया होने के कारण मुझसे ज्यादा कविताएं नहीं लिखी जातीं क्योंकि हमें और भी काम पूरी नैतिकता से पूरे करने होते हैं। प्राध्यापकीय जिम्मेदारियां, लेक्चर, सेमिनार वगैरह। मैं प्रोफेसर था, निदेशक था, विभागाध्यक्ष था। प्रशासनिक कार्य भी समय से करता। एक किसान का लड़का होने के नाते समय पर काम पूरा करके अपनी उपयुक्तता सिद्ध करना प्रकृति में ही था और एक बार आपका इन छोटी-मोटी जिम्मेदारियों की ओर ध्यान गया तो फिर आपसे कविता नहीं बनती फिर कविताएं पड़ी रहती हैं किसी फाइल में। कभी इतना-सा कविता का टुकड़ा सूझा, कभी दो तो कभी चार पन्ने, सब कुछ एक फाइल में आगे कभी पूरी करेंगे इसलिए अधूरा ही रख देना। अगर मैं कविताएं लिखने बैठ जाऊं तो यह सब काम मुझसे नहीं होंगे।

आपको उपन्यास और कविता दोनों में अधिक चुनौती और संतुष्टि किसमें अनुभव होती है?

यकीनन कविता लिखना अधिक चुनौतीपूर्ण होता है क्योंकि इसमें आपका भाषिक सामर्थ्य दांव पर लग जाता है। आपकी समूची अनुभवशीलता, सृजनात्मकता की कसौटी होती है। सर्जनशीलता की दृष्टि से कविता की तुलना में उपन्यास का स्थान काफी नीचे है। इस कारण मैं कविता को सबसे बड़ी विधा मानता हूं। कविता सूझना मुश्किल होता है।

सन 1913 के बाद यानी गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के बाद एक भी भारतीय लेखक को नोबेल पुरस्कार प्राप्त नहीं हुआ है। इसके पीछे आपको क्या कारण नजर आते हैं?

हमारे यहां की साहित्य अकादमी जैसे संस्थाओं से ये नोबेल पुरस्कार वाले हर साल पूछते हैं कि आपके यहां से ऐसे साहित्यकारों के नाम भेजिए, जिन्हें नोबेल पुरस्कार दिया जा सकता है। भारत की अनेक संस्थाएं, आलोचक हर साल ऐसे नाम भेजते हैं लेकिन नोबेल पुरस्कार समिति के लोग इन नामों पर कभी गौर ही नहीं करते। इस बार अकादेमी में होने के कारण यह नाम भेजने का काम मेरे जिम्मे था। मैंने साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष को यह पत्र भेजा कि हमारे द्वारा नाम भेजने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि यदि बीते सौ सालों में उन्हें भारत में एक भी पुरस्कार योग्य लेखक नहीं मिला है तो इसके बाद भी वे क्यों दूढ़ रहे हैं? और यह नोबेल पुरस्कार कोई सर्वसम्मत मानदंड तो है नहीं कि हर बार वह सर्वोत्तम लेखक को ही प्राप्त होगा। अफ्रीका और हिंदुस्तान में इतनी सारी संपन्न भाषाएं हैं, लेकिन इतने सालों में इनमें से एक को भी यदि यह पुरस्कार प्राप्त नहीं होता है, तो कोई कारण नहीं कि हम इसे मानदंड स्वीकार करें। अतः इसके लिए नाम भेजने की भी आवश्यकता नहीं है। मेरी बात सभी को ठीक लगी और अकादेमी ने प्रस्ताव किया कि हमें इसमें सम्मिलित होना ही नहीं है क्योंकि यह सारा मामला औपनिवेशिक है। जब आपके सेकेंड क्लास यूरोपीय व्यक्ति को नोबेल पुरस्कार प्राप्त होता है, तो फर्स्ट क्लास इंडियन व्यक्ति को बीते सौ सालों में एक बार भी क्यों नहीं दिया जा सका? इसके लिए हमने प्रेमचंद तथा तकषी शिवशंकर पिल्लै का उदाहरण पेश किया। पश्चिम में इनसे बड़े साहित्यकार उस जमाने में नहीं हुए थे फिर भी यदि यह पुरस्कार हमारे लेखकों को नहीं दिया जाता है तो बेकार में उस पुरस्कार को इतना तवज्जो क्यों दें? फिर हमसे विदेश मंत्रालय द्वारा अनुरोध किया गया कि ऐसा मत कीजिए। इससे दो देशों के संबंध खराब हो सकते हैं। चाहे आप नाम मत भेजिए, पर ऐसा पत्र भी मत भेजिए।

फिर हमने भी तय किया कि नाम भेजना ही नहीं है यानी हर साल हम नाम भेजते रहेंगे और वे हमारे किसी लेखक का विचार नहीं करेंगे और यह भी सौ सालों तक? यह दकियानूसी प्रवृत्ति है, जो उनकी समझ में आनी चाहिए। मैं तो यह कहूंगा कि गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर का नोबेल पुरस्कार भी वापस लेने में कोई हर्ज नहीं। उस समय उनके फॉलोअर्स वहां थे, येट्स जैसे लोग थे, ऊपर से वहां कैथेलिक लॉबी का वर्चस्व... इस कारण वह संभव हुआ। टैगोर के बाद इस देश में एक भी वैश्विक योग्यता का साहित्यकार नहीं हुआ है, इसे कैसे स्वीकार कर सकते हैं? हर साल वे किसी एक को नोबेल लॉरियट बनाते हैं, लेकिन ये लॉरियट किसी को पता भी नहीं होते। उनकी तुलना में हमारे यहां यकीनन अच्छे साहित्यकार हुए हैं।

मराठी के अलावा और किस प्रादेशिक भाषा में आपका कार्य जारी है?

मैं असम प्रदेश के मौखिक साहित्य का अध्ययन कर रहा हूँ। एडवांस स्टडीज के अंतर्गत मैंने यह प्रोजेक्ट ले रखा है। पूर्वोत्तर भारत के लोग हमसे काफी कटे हुए हैं। हमारे यहां हिंदी, मराठी, कन्नड़, गुजराती, बांग्ला भाषाओं में कविता कहानी, उपन्यास वगैरह के अनुवाद जैसा बहुत कुछ चलता रहता है लेकिन पूर्वोत्तर का उत्कृष्ट साहित्य भी हमारे यहां नहीं आ पाता। विशेषतः असम में असमिया के अलावा डेढ़ सौ से अधिक भाषाएं हैं और वे भी मौखिक। इनके बारे में हमें कुछ भी नहीं पता। इन भाषाओं की लिपि नहीं है। इस कारण कई सदियों से इन लोगों ने मौखिक परंपराओं के जरिए उसे अपने साहित्य में सुरक्षित रखा है। अभी तक वह रेकॉर्ड भी नहीं हो पाया है। मेरी योजना है कि यह सारा साहित्य धीरे-धीरे हमारी भाषाओं में लाया जाए। ये भाषाएं हमारी समझ में नहीं आती हैं फिर भी मैंने अपनी क्षमता के अनुसार बोलकर, देखकर, किसी से सुनकर, किसी से कुछ पूछकर उन भाषाओं के छह क्लासिक्स बनाए हैं। शीघ्र ही उनकी संख्या बीस तक ले जाने की योजना है। इन छह क्लासिक्स को अब लिपिबद्ध करके अनूदित करना है। पहले रेकार्ड करके फिर एक भाषा में लिपिबद्ध करना और उसके बाद अनुवाद। इस तरह यह काफी बड़ा काम है। दरअसल, हमारे देश में कितना कुछ चल रहा होता है लेकिन कभी-कभी लगता है कि शायद हम एक राजनीति के तहत उसे टालते रहते हैं। हमारी राष्ट्रीय व्यवस्था ही कुछ इस प्रकार की बनी है कि हम उसके राजमार्ग के उस पार देखना ही नहीं चाहते, लेकिन यह आलस्य भरी नीति बदलनी चाहिए।

वर्तमान दौर में नरेंद्र दाभोलकर, डॉ. गोविंद पंसारे जैसे प्रगतिशील हस्तियों की हत्याओं के जरिए महाराष्ट्र की प्रगतिशीलता पर प्रहार किया जा रहा है। एक लेखक के रूप में आप इन घटनाओं को किस निगाह से देखते हैं?

ये घटनाएं अत्यंत व्यथित करनेवाली और क्रोध दिलानेवाली हैं और महाराष्ट्र की प्रगतिशीलता को कलंकित करने वाली हैं। ये दोनों विवेकवादी बुद्धिजीवी सच्चे दिल से और निम्नवर्गियों, इंसानियत के प्रति तड़प से समाज की भलाई के लिए संघर्ष कर रहे थे लेकिन कट्टरपंथी ताकतों ने उनसे धोखा किया। सरकार को इन बातों को गंभीरता से देखना चाहिए। दाभोलकरजी की हत्या के मामले में तत्कालीन सरकार की अकर्मण्यता दिखाई दी, इसलिए जनता ने उनको हटाकर दूसरी सरकार को चुना लेकिन यदि यह सरकार भी इस मामले में संजीदा नहीं होगी तो उसे भी हमें बदलना होगा। पुलिस को भी केवल सिग्नल तोड़ने के बहाने पैसा इकट्ठा करने में अपनी ड्यूटी की सार्थकता

नहीं माननी चाहिए। ऐसे हमलावरों को पकड़ना भी उन्हीं का काम है। कॉ. गोविंदराव पानसरे ने अपना सारा जीवन गरीब, दलित, पीड़ित लोगों के उत्थान के लिए अर्पित किया है। उन पर इस तरह के कायराना हमले ने इंसानियत को भी कलंकित कर दिया है। इस कारण मेरे बीते कुछ दिन बहुत बेचैनी से गुजरे हैं।

सर, सन 2010 में आपका 'हिंदू : जीने का समृद्ध कबाड़' उपन्यास प्रकाशित हुआ और उसके कथ्य के प्रवाह को देखते हुए ऐसा जान पड़ता है मानो यह गंगा की पावन जलराशि का अथाह प्रवाह हो, जो दूर-दूर तक बहता हुआ रास्ते में आ रही भूमि को उर्वर बनाता हुआ आगे बहता जा रहा है। इसके तीन खंड अभी आने बाकी हैं। एक उपन्यासकार की तरह आपमें एक प्रतिभाशाली कवि का भी वास है। आपका 'देखणी' कविता संग्रह अत्यंत समृद्ध भावधारा से लैस है। 'हिंदू' के आगामी तीन खंड पूरे होने के उपरांत आप कविताओं की ओर मुड़ने वाले हैं। तात्पर्य, आप में अभी सृजन की जबर्दस्त क्षमता है। इसी कारण हमें यकीन है कि सन 1913 में खंडित हुई नोबेल पुरस्कार की परंपरा आने वाले कुछ सालों में आपके माध्यम से दुबारा शुरू होगी। इसके लिए आपको शुभकामनाएं। ■

लेखन हमारी संस्कृति से अलग नहीं : डहाके

अनुवाद : सुनील देवधर

वसंत आबाजी डहाके मराठी के अत्यंत महत्वपूर्ण कवियों में से एक हैं। अब तक उनके सात कविता-संग्रह प्रकाशित हैं। उनकी कविताओं के अनुवाद हिंदी, अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड और मलयालम में हो चुके हैं। दो उपन्यास और सात समीक्षात्मक ग्रंथ प्रकाशित हैं। साथ ही, तीन लेख-संग्रह भी उल्लेखनीय हैं। कई पुस्तकों का संपादन भी डॉ. डहाके द्वारा किया गया है।

विदर्भ महाविद्यालय अमरावती और एल्फिस्टन महाविद्यालय, मुंबई में आपने मराठी भाषा और साहित्य का अध्यापन किया। अनेकानेक पुरस्कारों से सम्मानित। 2010 में उनके कविता-संग्रह 'चित्रलिपि' को केंद्रीय साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्रदान किया गया। 2014 में महाराष्ट्र सरकार ने उन्हें 'विंदा करंदीकर जीवन' गौरव पुरस्कार से सम्मानित किया। 30 मार्च 1942 में जनमे डॉ. डहाके कविता-सृजन में निरंतर सक्रिय हैं। प्रस्तुत है वसंत आबाजी डहाके से दा.गो. काले की बातचीत:

आपकी 'योगभ्रष्ट' लंबी कविता 1966 में प्रकाशित हुई और अब 2017 में नतमस्तक नाम की लंबी कविता प्रकाशित हुई है। इन 50 वर्षों में अपने विपुल लेखन किया है और उसमें विविधता भी। कविता संग्रह के अलावा उपन्यास, वैचारिक लेख, एकांकी नाटक, समीक्षा, शब्दकोश साहित्य कोश आदि विधाओं लेखन किया है, अनुवाद भी किए हैं और रेखाचित्र भी, और यह क्रम निरंतर जारी है। आपकी पहली पसंद कविता ही है, यह धारणा मुझ जैसे सर्वसाधारण पाठकों की है। आरंभ से ही आपकी कविता में वैयक्तिकता के साथ सामाजिकता का भाव रहा है। इन 5 वर्षों में अनेक सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं, इन परिवर्तनों का भी आपकी कविता पर प्रभाव पड़ा होगा, आप क्या कहेंगे? आप कविता लिखते हैं यानी मूलतः क्या करते हैं?

यह सत्य है कि मैं मूलतः कवि हूँ। मैं ऐसा मानता हूँ कि कवि का आत्मिक, शारीरिक, मानसिक प्रस्फुटन उसकी कविता में होता है जो वैयक्तिक भी होता है और सामाजिक भी। हम समाज में रहते हैं इसलिए कोई भी वैयक्तिक घटना सामाजिक हो जाती है और इसके विपरीत भी। साहित्य में व्यक्त कोई भी निजी अनुभव अत्यंत व्यक्तिगत होते हुए भी अंततः सामाजिक ही होता है। समाज द्वारा निर्मित भाषा हम स्वीकार करते हैं, और उसी के साथ और उसके बीच से ही अनेक घटनाएं हम तक पहुंचती हैं। ऐसा होते हुए भी लोगों का व्यवहार तर्क से परे हो सकता है, विचार,

व्यवहार के तब तक के उदाहरणों से परे हो सकते हैं। कवि भी भाषा और कविता को समृद्ध करेगा, यह भी आवश्यक नहीं है। प्रचलित विचारों से अलग रहकर किया गया विचार अध्ययन, परिश्रम, से प्राप्त होता है, हम व्यक्ति के रूप में जीवन जी रहे होते हैं, परिवार में विविध रिश्तों के संदर्भ होते हैं, समाज में एक नागरिक के रूप में होते हैं, समाज में हमारी अलग-अलग भूमिकाएं होती हैं। समाज में चलने वाली राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक गतिविधियों के भी हम एक अहम हिस्सा होते हैं। संक्षेप में अपने व्यक्तिगत अस्तित्व के साथ ही हमारा सामाजिक अस्तित्व भी होता है। हम एक विशिष्ट कालखंड में रह रहे होते हैं अपने समय के व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व के संदर्भ में उपस्थित होने वाली विभिन्न परिस्थितियों व संकर्मों का भी हम विचार कर रहे होते हैं और यह हम सभी के संदर्भ में घटित होता है। फर्क इतना है कि हम उसे लिखते हैं। विश्व की व्यापकता में हमारा लिखना नगण्य ही होता है। असंख्य लोगों के असंख्य व्यवहार एक ही समय में चल रहे होते हैं किंतु अपने स्वयं के संदर्भ में हमारा लेखन निःसंदेह महत्वपूर्ण होता है। सामने इस सफेद कागज पर खींची गई एक रेखा भी महत्वपूर्ण होती है। मैं कविता लिखता हूं यानी क्या करता हूं, इसका उत्तर अब तक की बातों में समाहित है। मैं अपने विचारों को; भावों को व्यक्त करता हूं। व्यक्त करना, व्यक्त होता मेरी आवश्यकता है। कभी-कभी मुझे लगता है कि भाषा से खेलूं क्योंकि उसके माध्यम से मेरी मानसिक व्यवस्था व्यक्त होती ही है।

यह सत्य है कि 1960 से लेकर 2010 तक के इन दशकों में अनेक परिवर्तन हुए। हम जिस समाज में रह रहे होते हैं, वहां की विविध घटनाओं, प्रसंगों, गतिविधियों का प्रभाव हम पर पड़ता ही है, हम बेचैन होते हैं, विचार करते हैं, क्योंकि तटस्थ और अलिप्त नहीं रह सकते जो प्रसंग हमें हैरान करते हैं, परेशान करते हैं, वे सभी बातें स्वाभाविक रूप से कविता में व्यक्त होती हैं। जरूरी नहीं कि किसी घटना या प्रसंग विशेष का उसमें उल्लेख हो ही।

‘योग भ्रष्ट’ लंबी कविता में -

पीरियड ऑफ एसिक्वैरिटी/ निराश्रित, नकटे, कनकटे, हिंदू, मुसलमान एवं मारकाट
इन पंक्तियों में युद्ध का संदर्भ है- ‘चित्रलिपि’ इस संग्रह में पंक्ति है-
ये कौन लोग हैं, जलती मशालें लेकर दौड़ते गरजते आ रहे हैं।
इस पंक्तियों में एक हत्याकांड का संदर्भ है।

मनुष्य द्वारा निर्मित ‘संहारसत्र’ में पशु-पक्षी भी मारे जाते हैं। मनुष्य द्वारा की जाने वाली हिंसा, हमेशा मेरे विचार का विषय रही है। पिछले पचास वर्षों की राजनीति कितनी हिंसक और मानव विरोधी रही है और कुल मिलाकर हमारे आसपास का वातावरण कितना भयावह हुआ है, इसका वर्णन अलग-अलग समय में लिखी गई मेरी कविताओं में परिलक्षित होता है।

हाल की ‘नतमस्तक’ लंबी कविता में कहा है -

हम इक्कीसवीं शताब्दी में हैं कि
उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में
यह एक सवाल है

क्योंकि सभी चीजें कई गुना बढ़ गई हैं

दबाव तंत्र है, घुटन है, शब्द मुंह में ही रुक जाएं, ऐसी स्थिति है

दहशत के धारदार नाखूनों वाले ये दिन हैं

मानवीय अस्तित्व मेरी आस्था का विषय है। हमारा शरीर, मन, शारीरिक-मानसिक अनुभूतियां, भूख, प्यास, लैंगिक प्रेरणा, भय, मनुष्य और मनुष्येतर समाज के संदर्भ में हमारी असुरक्षा, हमारे आस-पास का वातावरण, उसका, हम पर होने वाला प्रभाव, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आर्थिक स्थिति और इन सबके कारण हमारे जीवन में होने वाले परिवर्तन, आने वाले मोड़, हमारा सांस्कृतिक जीवन, आस-पास का पर्यावरण और इन सब का शारीरिक मानसिक प्रभाव, ऐसी अनेक बातों का मेरे अस्तित्व-कल्पना में समावेश है। ईश्वरीय सत्ता, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक सत्ता का मानवीय जीवन पर होने वाले गंभीर परिणामों का विचार करता हूं और इन्हीं में से कुछ बातें कविता में आती हैं।

वर्तमान समय और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संदर्भ में आपका विचार और धारणा क्या है? कविता के माध्यम से आप इन घटनाओं को तटस्थ रूप से देखते हैं। कई जगह आपने बोल न सकने की विवशता के बारे में भी लिखा?

मेरे लिए वर्तमान समय का प्रारंभ उस समय हुआ जब मुझे परिवेश का ज्ञान होने लगा। कवि, लेखक, चित्रकार और अन्य कलाकार अपने-अपने क्षेत्र में काम कर रहे होते हैं और वो सामान्य नागरिक भी होते हैं और इस दृष्टि से वे अपने आस-पास घटित, क्या हो रहा है, इसे भी देखते रहते हैं। वे किसी पार्टी के सदस्य नहीं होते, राजनीति में सक्रिय हों, ऐसा भी नहीं लेकिन उन्हें यह हक होता है कि वर्तमान राजनीति के चाल-चलन को जान सकें और अपना मत प्रकट कर सकें। वे अपनी कला-कृतियों के माध्यम से वर्तमान का चित्रण करते हुए अपना विचार व्यक्त कर रहे हैं। एक स्वतंत्र प्रजातांत्रिक राष्ट्र में कलाकारों को सहजता से अभिव्यक्ति का अवसर होना चाहिए, इसमें दो राय नहीं। ऐसा न होने पर प्रश्न उपस्थित होता है। मेरा ऐसा अनुभव है कि प्रत्यक्ष शासन द्वारा हस्तक्षेप किए जो पहले ही कुछ मतवादी या सामाजिक ठेकेदार कलाकारों पर दबाव बनाते हैं। वे समझते हैं कि समस्त जनता के धर्म के, संस्कृति के और विशिष्ट समाज की ओर से कार्य कर रहे हैं। ये लोग विशिष्ट समाज की भावना, अस्मिता और क्षोभ को बढ़ावा देते हैं और उनकी इस चाल को राजनीतिक लाभ का आभास होते ही सत्ताधारी पार्टी सक्रिय हो जाती है। एक उदाहरण देता हूं- 'पदमावती' फिल्म प्रदर्शित भी नहीं हुई थी, लोगों की ओर से कोई प्रतिक्रिया भी नहीं थी तब कई प्रदेशों के मुख्यमंत्रियों ने उस पर प्रतिबंध लगा दिया। ऐसा करना गलत था। मुख्य रूप से करणी सेना के आंदोलन का क्या हुआ, हम सब जानते ही हैं। इस कृत्य से किसी को कुछ भी हासिल नहीं हुआ। पेरूमल मुरगन के उपन्यास- 'माधुरोभागन' में गोडर जाति की स्त्रियों का अपमान और अर्धनारीश्वर देवता की विडंबना का आरोप उन पर लगाया गया। 18 दिन तक लेखक के विरोध में आंदोलन किया गया, उन्हें अपनी पुस्तकों को वापस लेने हेतु बाध्य किया गया। लेखक, कलाकारों की अभिव्यक्ति को कुचल डालने का ये प्रयास भयानक और चिंताजनक था। यह एक लेखक की मृत्यु ही कही जाएगी लेकिन बाद में मद्रास उच्च न्यायालय ने, भीड़तंत्र द्वारा छीने गए अभिव्यक्ति के अधिकार को, लेखक को वापस दिलाया। यहां भी किसी को क्या मिला? विशेषतः सत्ताधारी पक्ष से संबंधित लोग ये दर्शाते हैं कि जैसे उनकी सांस्कृतिक सत्ता ही है और वे ही भारतीय संस्कृति के संरक्षक हैं। शासन जनता का प्रतिनिधि होता है, जनता के लिए वह उत्तरदायी है, मुट्टी भर जमीन

के लिए नहीं, इसे भुला दिया जाता है। किसी पार्टी को जब केंद्रीय सत्ता प्राप्त होती है, सरकार बनती है तब पार्टी सरकार के पीछे खड़ी होती है। सरकार फिर वो किसी भी पार्टी की हो, अंततः भारतीय जनता की ही होती है इसीलिए जनता को होने वाली परेशानियों की जिम्मेदारी सरकार को लेनी चाहिए। मुरगन को राज्य सरकार और केंद्र सरकार द्वारा हस्तक्षेप करते हुए न्यायालय से पहले ही अभिव्यक्ति स्वतंत्रता बहाल करनी चाहिए थी।

अनेक प्रसंगों में लोग खामोश रहते हैं जिन्हें बोलना चाहिए, वे भी नहीं बोलते। सर्व साधारण जनता के बोलने पर अघोषित प्रतिबंध-सा ही जान पड़ता है। 'वाचा भंग' मेरी यह कविता ऐसी स्थिति का ही बयान है। 'वाचा भंग' यह एक व्याधि है जो भाषा से संबंधित है और बोल सकने और उसे समझने पर प्रभाव डालने वाली व्याधि है। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि वर्तमान समाज के अधिकांश लोगों को इस रोग ने जकड़ रखा है।

‘शुन : शेष’ संग्रह की एक कविता में आपने कहा है - अपने इस वर्तमान को/ अपने आस-पास के इस वर्तमान को/ क्या हो गया है/ चलता बैल अचानक गिर पड़े/ और चारों पैर फटकारने लगे/ उसकी यह अवस्था क्यों कर हुई है/ इसकी पीड़ा क्या है/ इसे किस विधि ने जकड़ा है/ इस पर सोचें/ प्रजातंत्रवादी, कट्टर पंथी, उदारवादी, परिवर्तनवादी/ सबके सब जरा सोचें?

कोई नहीं सोचता ऐसा तो मुझे नहीं लगता लेकिन उनकी संख्या कम है और शक्ति भी नहीं है, उन्हें कमजोर होते जाने की कोशिश की जाती है। बड़े शोरगुल के बीच 'विवेक का स्वर' दब जाता है। मेरी मुख्य चिंता अपने समय को लेकर है और इस बात का विचार हम सभी को करना चाहिए यानी शासक वर्ग, राजनीतिज्ञों, वामपंथियों, पूंजीपतियों, उद्योगपति और बुद्धिजीवियों को भी लेकिन ऐसा नहीं होता। हम देखते हैं कि चुनाव जीतना ही राजनीतिक पार्टियों का काम है, यह भी स्वीकार है, अपना देश बहुत बड़ा है, जनसंख्या भी बहुत है, इन सबका हित साधन करना कठिन है। ऐसी परिस्थिति में विविध राजनीतिक पार्टियों की सरकारें विविध राज्यों में होनी चाहिए इससे काम का बोझ किसी एक पार्टी पर नहीं पड़ेगा। अलग लोकोपयोगी विचार-धाराओं के आधार पर कार्य करना सहज होता है। सब ओर एक ही पार्टी की सत्ता सरकार होने से जाने-अनजाने तानाशाही शुरू हो जाती है। यह हमने अन्य राष्ट्रों में देखा है। सत्ता किसी भी विचारधारा की पार्टी के पास हो लेकिन राष्ट्र में अलग-अलग विचारधारा के लिए गुंजाइश होनी चाहिए। लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवियों को अभिव्यक्ति की आजादी मिलनी ही चाहिए साथ ही उपेक्षित, वंचित, पीड़ित, दलित और अभावग्रस्त मानव समाज के बारे में भी हम सबको सोचना चाहिए। भाषा, जाति, धर्म का मुद्दा झगड़ने के लिए नहीं है, तब भी संघर्ष के लिए इनका उपयोग किया जाता है। ऐसे अनावश्यक मुद्दों में लोगों को उलझाए रखने से आवश्यक व महत्व के मुद्दों को टाला जा सकता है। असली प्रश्न आर्थिक समस्या का है, इसे सुलझाने के लिए राजनीति और सत्ता का उपयोग किया जाना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता। गोरक्षण का मुद्दा ही ले लीजिए, क्या इससे आर्थिक संसाधनों की वृद्धि होगी? इसके विपरीत इस मुद्दे को लोगों की हत्या का माध्यम बना लिया गया है। इस समय को लेकर यही मेरी चिंता है। मेरे मतानुसार किसी भी घटना की जिम्मेदारी केंद्रीय शासन द्वारा ली जानी चाहिए। ये माना जाना चाहिए कि इसकी जिम्मेदारी केंद्र की है। हमारा अनुभव ये बताता है कि सत्ताधारी

पार्टी से संबंध रखने वाले, वे निकट संबंध रखते हों या दूर का, लेकिन स्वयं ही सत्ताधारी होने का भाव रखते हुए व्यवहार करते हैं। इस कारण, सत्ता हमारे हाथ में है और हम कुछ भी कर सकते हैं, इस मानसिकता में वे रहते हैं। मानसिकता लोकोपयोगी कार्यों की ओर नहीं देखती बल्कि शाब्दिक, मानसिक और शारीरिक हिंसा की ओर बढ़ती है और यही बात विचारणीय है।

आपकी कविता की असली पहचान समकालीन यथार्थ है। आपकी कविता की भूमिका किसी निश्चित उद्देश्य से ग्रसित न होने के कारण किसी भी राजनीतिक स्थिति में आम-आदमी के संत्रास को आपने अभिव्यक्ति किया है। उस अभिव्यक्ति की गद्यात्मकता एक बड़े उपन्यास की भविष्यवाणी है, ऐसा कभी आपको लगता है क्या? काव्य आनंद लेने के लिए विशिष्ट अभिरुचि की आवश्यकता है, तो उपन्यास को समझना सबके लिए सहज होता है। सन 1975 से 1981 के बीच आपने 'अद्योलोक', 'प्रतिबद्ध' और 'मर्त्य' उपन्यासों की रचना की और उसके बाद कोई उपन्यास नहीं लिखा। आपके लेख संग्रह 'माल टेकड़ी वरुन' की प्रस्तावना की विशेषताओं जैसी है। उनका मानना है कि आपने बहुत कुछ लिखा लेकिन आपने अंदर के उपन्यासकार के साथ अन्याय ही किया है।

यह सच है कि 1981 के बाद मैंने उपन्यास नहीं लिखा, लेख लिखे, ललित निबंध लिखे, समीक्षात्मक लेखन किया, शब्दकोश और वाङ्मय कोश पर काम किया, इसी बीच उपन्यास कहीं भीतर दब गया। फिर वह कभी कविता में तो कभी ललित निबंधों में से झांकता रहा। 1981 के बाद मैंने नाटक और एकांकी भी नहीं लिखा, नाटक की विशेषताएं भी मेरी कविता में समा गईं। विभिन्न कामों के कारण विस्तृत फलक-को अपने में समा लेने वाले उपन्यास जैसी साहित्य विधा की ओर मैं नहीं मुड़ सका, यह स्पष्टीकरण पर्याप्त नहीं है। मुझे ये प्रश्न सताता है कि आस-पास घटित सबका समावेश कैसे किया जाए?

80 से 90 दशक लिखने वालों के लिए चुनौती भरे थे, निजीकरण, उदारीकरण, वैश्वीकरण का समय था। साथ ही, धार्मिक उन्माद और नरसंहार की घटनाएं भी हो रही थी। मुंबई की कपड़ा मिलें बंद हुईं तो मजदूर दर-दर भटकने लगे और ग्रामीण अंचलों में किसान आत्महत्या करने लगे। 'माल टेकड़ी वरुन' संग्रह के एक लेख में गार्डन बीटल एक चरित्र है, चारों ओर घूमने वाला भौरा। जमीन पर पड़ा ये भौरा जाग उठता है, गरगर फिरते हुए ऊपर की ओर सरकता है और खड़ी फसल का भूसा बना देता है। उस समय लगता था कि ये गार्डन बीटल हमारे समाज में, संस्कृति में धर्म में गहरे पैठा था क्या? और अब वैश्वीकरण की स्थिति में सब कुछ निगल जाना चाहता है। इसी पुस्तक के 'क्षोभ स्रोत' में 'हबक्कूक' का भी संदर्भ है, उसने चिल्लाकर कहा था - जो जगह उनकी नहीं है, उसे हड़पने के लिए वो पृथ्वी पर घूम रहे होते हैं। महानगर से गांव तक की जमीन को निगलने के लिए वो पृथ्वी पर घूम रहे होते हैं। महानगर से गांव तक की जमीन को निगलने वाला वैश्वीकरण इसी दशक में दिखने लगा था। इस सबकी अभिव्यक्ति का प्रश्न मेरे सामने था। अतीत में प्रवेश, आत्मकथात्मक लेखन या आस-पास की घटनाओं का वर्णन करने में मेरी रूचि नहीं थी, यह भी एक कारण हो सकता है।

साठ और नब्बे के दशक की पीढ़ियों से आपका संपर्क रहा। साठोत्तरी और नब्बे के दशक की कविता की संकल्पना की स्थापना के पीछे पार्श्वभूमि क्या थी? इस कविताओं की

विशेषताएं क्या रही हैं। इन समय की कविताओं के बारे में आपका मत क्या है?

साठोत्तरी, साठवें दशक 'द सिक्सटीज' आदि उपमाएं 1960 में विश्व भर में घटित घटनाओं की ओर इशारा करती हैं। अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका और एशिया महाद्वीपों में इस कालखंड में अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाएं घटित हुईं। नवीन संवेदनाएं, सांस्कृतिक व राजनीतिक प्रवाह, 'काऊंटर कल्चर' और पूरे विश्व भर के विद्यार्थियों के विद्रोह के दशक के रूप में इसे पहचाना गया है। अफ्रीका उपमहाद्वीप के अनेक देश उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हुए। वियतनाम के युद्ध में अमेरिका की भूमिका पर दुनिया भर में आलोचना हुई। चीन की सांस्कृतिक क्रांति इस कालखंड में हुई। फ्रांस में विद्यार्थियों के विद्रोह को समाज के सभी वर्गों का समर्थन मिला। इसी दशक में भारत में भी विद्यार्थियों, युवाओं का असंतोष उभरने लगा था। बंगाल में 'हंग्री जनरेशन' नामक साहित्य और कला से संबंधित पीढ़ी का उदय हुआ और बाद में 'नक्सलवादी' विद्रोह हुआ। तेलुगू में 'दिगंबर कवि' कहलाने वाली पीढ़ी प्रसिद्ध हुई। हिंदी में अकविता आंदोलन का सूत्रपात हुआ। मराठी में स्थापित साहित्य और स्थापित साहित्यकारों को नकारने वाली पीढ़ी का आगमन हुआ। इस पीढ़ी ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए लघु अनियत-कालिकों का प्रकाशन किया। कुल मिलाकर समाज में प्रस्थापित परंपरा का तीव्रता से विरोध करने वाला पांडुरंग सांगवीकर (कोसला) प्रतिनायक के रूप में इसी समय में जन्मा! दूसरा प्रति नायक यानी एक शून्य बाजीराव भी इसी कालखंड में सामने आया। इस दशक में विद्रोह, अस्वीकार, असंतोष, संवेदनशीलता, सौंदर्य, कल्पना, जिस कविता में व्यक्त हुई उसे साठोत्तरी कविता के रूप में पहचाना गया। लघु अनियत-कालिकों के आंदोलन की कविता के रूप में भी इसे जाना गया। स्थूल रूप से इस समय के प्रमुख कवियों की कविता मानी साठोत्तरी कविता।

इस कविता में व्यवस्था और उसकी छद्म नैतिकता, बनावटी संस्कृति का विरोध किया गया है। इस समय की कविता को ज्ञात है कि किस तरह राजकीय, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक व्यवस्थाओं ने आम-आदमी की इच्छा-आकांक्षाओं का दमन किया है। मनुष्य की सृजनशीलता पर इस कविता का विश्वास है। साथ ही संवेदनात्मक आनंद की ओर से भी उसने मुख नहीं मोड़ा है। इस कालखंड के कवियों ने कविता के स्वरूप को नया आकार दिया। इन कवियों के कविता की माया संबंधी विचार बहुत महत्वपूर्ण हैं। नए शब्दों की रचना, बोली का प्रयोग, रोजमर्रा की भाषा में कविता का लिखना, लोक साहित्य, मध्य युगीन संत साहित्य से गहरा संबंध, वैश्विक विचारों के प्रति जागरूकता आदि का समावेश इस कविता में है। व्यक्ति केंद्रित, समूह केंद्रित, विद्रोही राजकीय मान व्यक्त करने वाली, महानगरीय जीवन को रेखांकित करने वाली लोक संस्कृति से निकटता रखने वाली, पौराणिक कथात्मक स्वरूप, सौंदर्य लक्ष्मी, अस्तित्व का भान व्यक्त करने वाली प्रयोगवादी कविताओं की रचना इस कालावधि में लिखी गई।

1990 के दशक को 'नवदोत्तरी' के नाम से जाना गया। शब्द भेद, अनिद्या, अभिघांतर, नवाक्षर दर्शन इन नवीन अनियत-कालिकों ने इस शब्द को प्रचलित किया। शब्दवेध का जनवरी 1999 का अंक नवदोत्तरी कविता अंक के रूप में प्रकाशित हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि 1960 के दशक से 1990 का दशक सर्वथा भिन्न था। वैश्वीकरण, निजीकरण, उदारीकरण, इंटरनेट, संचार क्रांति आदि अनेक नई घटनाएं। अर्ध मौलिकवादी, पूंजीवादी विश्व से मल्टीनेशनल, कार्पोरेट और प्रगत

पूँजीवादी व्यवस्था का समय शुरू हुआ। इंफॉर्मेशन टेक्नोलॉजी का नया अस्त्र हाथ लगा। वस्तुओं की बहुलता से भरे शॉपिंग मॉल्स खुले। व्यावसायिक स्वरूप में शिक्षा का जाल दूर तक फैला, दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्र उजड़ते गए। गांव-कस्बों में राजनीति पहुंची। फसल ऋण, रासायनिक खाद, कीटनाशक, नकद फसलों से किसान कमजोर होता गया। किसानों की आत्महत्या से संपूर्ण दोषपूर्ण ग्रामीण संरचना उजागर हुई। इन बदलावों को व्यक्त करने वाली कविता यानी 'नवदोत्री' कविता। उसमें महानगरीय ग्रामीण, दलित, आदिवासी, स्त्रीवादी सभी प्रकार की कविताएं शामिल हैं और उनमें अंतर करना कठिन है तथापि देशीवादी, आधुनिकतावादी, आधुनिकोत्तरवादी जैसी समीक्षाएं (नाम) समीक्षकों द्वारा दी गई हैं।

नवदोत्री कविता समस्त यथार्थ को सामने रखने का प्रयास करती है। आज की कविता बड़ी मात्रा में यथार्थवादी कविता है। कवियों को ज्ञात है कि ये कारपोरेट पूँजीवादी व्यवस्था का युग है। आज का कवि दुनिया को प्रत्यक्ष रूप से देख रहा है और टी.वी. जैसे माध्यमों में साकार होने वाली भ्रामक दुनिया की भी उसे जानकारी है। 60 के दशक के कवियों की अनुभूति से अनुभूति का।

ये विश्व भिन्न है। इस कारण 60 के दशक के कवियों का संस्कार नब्बेदोत्री कवियों पर होने के बाद भी उसे 60 के दशक का एक्सटेंशन नहीं कहा जा सकता। साठ दशक के कवियों की भाषा और कविता के स्वरूप का संस्कार (प्रभाव) ही कहा जा सकता है।

आपने 1960 और 1990 के दशक का चित्र प्रस्तुत किया आपके ग्रंथ-मराठी साहित्य-इतिहास आणि संस्कृति में सामाजिक स्थितियों का स्पष्ट चित्रण है।

इस चित्रांकन के बिना मैं नहीं समझ सकता था कि उस में साहित्यकार क्या लिख रहे थे और वे वैसा क्यों लिख रहे थे। इतिहास और से संपन्न मानव द्वारा ही साहित्य निर्मित होता है और साहित्य से मानव के और संस्कृति भी व्यक्त होती है। इस कारण साहित्य की रचना करते समय उस काल विशेष की घटना, विचारधारा संप्रदाय का दर्शन, भौतिक सामाजिक स्त्री राजनीतिक स्थिति साहित्य परंपरा, कला परंपरा विविध प्रभाव आदि का विचार किया जाना चाहिए। साहित्य रचना के समग्र और यथार्थ मूल्यांकन की दृष्टि से साहित्य की सांस्कृतिक समीक्षा का भ्रंश अन्य किसी भी विचार व्यूह से अधिक उपयुक्त सिद्ध होता है। मैंने अपनी इस पुस्तक में कहा है कि जीवन के विविध क्षेत्रों में घटी घटनाओं में जनसमुदाय का मानस तैयार होता है और साहित्यादि उपक्रमों में इसी मानस की अभिव्यक्ति होती है। हमारा लेखन हमारी संस्कृति से अलग नहीं किया जा सकता है लेकिन संस्कृति की अवधारणा लोगों के मन में स्पष्ट नहीं होती। उस पुस्तक में संस्कृति के संदर्भ में विकृत निबंध है। मानव जीवन की सुरक्षा और स्थायित्व संस्कृति का उद्देश्य है। तथाकथित सांस्कृतिक उन्माद में इस तथ्य को भुला दिया जाता है।

आपने विपुल समीक्षात्मक लेखन भी किया। कविता, कहानी, उपन्यास दृश्य कला आदि पर लिखा, आपने कहा है कि यह लेखन प्रसंगवश हुआ है, आप जैसे कवि या कथाकार यानी सर्जनशील लेखक को समीक्षा या अन्य लेखन करना चाहिए

सृजनशील लेखन और समीक्षा का निकट संबंध है इसमें कोई विवाद नहीं विरोध नहीं मुझे लगता है सृजनशील लेखक को कलाकार को समीक्षात्मक लेखन जरूर करना चाहिए। नाटक दृश्यश्राव्य कला है और चित्र दृश्य कला है, ये दोनों कलाएं मुझे प्रिय हैं, इस पर लिखने का मन

करता है। फिल्म भी मुझे अच्छी लगती है लेकिन फिल्म सिनेकला विषय में मैंने कुछ लिखा नहीं है।

रेखाचित्र आपकी रचना-धर्मिता की अव्यक्त परिशिष्ट है क्या आपको लगता है कि वो कविता की पकड़ से बाहर का शिकार है?

रेखाचित्र भी कविता के समान स्वाभाविक बात है जिसकी स्थिति-परिस्थिति के विषय में कविता में व्यक्त होता हूँ वही बात मुझे रेखाचित्र के लिए प्रेरित करती होगी लेकिन जैसा कि आपने कहा कि उपन्यास की तरह ही अपने चित्रकार की क्षमता को भी मैंने अनदेखा किया है।

हमारे-आपके मित्र मंगेश नारायण काले ने कहा है कि डहाके की कविता और चित्र दोनों अलग-अलग माध्यमों की निर्मिति होते हुए भी दोनों के बीच की आपसी बुनावट इतनी समांतर और मजबूत है कि इन दोनों अभिव्यक्तियों का अलग अलग विचार करना लगभग असंभव है। कालेजी ने आपकी काव्यानुभूति और चित्रानुभूति का करते हुए कहा है हम जब उनकी कविताएं पढ़ते हैं तब तक एक सशक्त चित्रनुमा हमारी आँखों के सामने आकार लेने लगता है और चित्र देखते हुए सटीक काव्यनुभूति के कारण किसी चित्रलिपि को पढ़ने जैसा अनुभव होता है।

मैं उनके मत से सहमत हूँ।

मैं एक बार फिर आपकी कविता की ओर लौटता हूँ। आपकी कविता में ईश्वर की उपस्थिति अनेक बार होती है और विशेषतः वह नकारा रूप में होती है और कभी-कभी ईश्वर है और नहीं भी, का द्वंद भी दिखाई देता है।

ईश्वर और हमारे बीच का नाता बचपन से ही होता है। हमारे घर के पिछवाड़े ऊंचाई पर शंकर जी का मंदिर था। वो हम सब गांव के आने-जाने के रास्ते पर था। लोग वहीं उठा-बैठा करते थे। सुबह बेलपत्ती, संध्या, दिया लगाना, खेत से लौटते हुए सुस्ताना, और रात को भजन करना दूसरा हमारे घर के पास ही माराई देवी का मंदिर भी था। वहां मुर्गी बकरे की बलि देकर (चढ़ाकर) लोग अपनी मन्नत पूरी करते-तीसरा मंदिर था गांव से बाहर बहिरमदेव का। वहां लोग मिट्टी के घोड़ों का चढ़ावा-चढ़ाते। बचपन के स्कूली संगी साथियों की भावना कि रात में बहिरमदेव शुभ्र घोड़े पर बैठ गांव का चक्कर लगाते हैं। मैंने यह भी सुना था कि कोंकण के आखली 'बेतोबा' रात में बड़े-बड़े पादत्राण (जूते) पहनकर गांव में घूमता रहता कीर्तन और प्रवचनों में श्रीराम, श्रीकृष्ण की कथाएं भी सुनी थी। चंद्रपुर में महाकाली, अमरावती की अंबा और रेणुका, कोल्हापुर की महालक्ष्मी, माहुर की रेणुका, तुलजापुर की भवानी माता, जेजूरी का खंडोबा, पंढरपुर के विठोबा आदि संपूर्ण महाराष्ट्र के लिए श्रद्धा स्थल हैं। मैंने उनका दर्शन किया है। मेरे मतानुसार ईश्वर मानव निर्मित भव्य संकल्पना है जो संपूर्ण विश्व में देखी जाती है। ईश्वर के विविध रूप भी कल्पना ही है यानी पोषणकर्ता और संहारकर्ता। हमारे संतों ने ईश्वर की कल्पना निराकार और साकार दोनों रूपों में की है। शैव, वैष्णव, शाक्त, महानुभाव वारकारी, दत्त संप्रदाय, इन सबके केंद्र में ईश्वर सगुण साकार है। बचपन से ही संत साहित्य के संस्कार हम पर होते रहते हैं। ईश्वर मानवीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। कर्मकांड, ठाठ-बाट, उत्सव, समारोह आदि बाह्य अंग है। ईश्वर और धर्म का उपयोग यदि जनता के शोषण के लिए होता है, तो वह त्याज्य है। संतों का ईश्वर अलग और आम लोगों का ईश्वर अलग होता

है। सामान्यजन ईश्वर से कुछ मांगते ही रहते हैं, और इस हेतु वे मंदिर द्वार पर बैठे रहते हैं, यहीं से व्यापार की शुरुआत होती है। मंदिरों के पास करोड़ों रुपए जमा होते हैं। उसका उपयोग समाज हित में होता है तो ठीक है लेकिन सच यह है कि भोले भक्तों को ठगा जाता है। अनेक कष्टों से ग्रस्त सामान्यजन कहां जाएं, किसके पास जाएं, ये बड़ा सवाल है। ऐसे ही भिन्न-भिन्न संदर्भों के साथ ईश्वर मेरी कविता में आता है।

हमारी संस्कृति के संवहन के लिए भाषा अत्यंत महत्वपूर्ण है। इतर संस्कृति और साहित्य परंपरा को भी समझने की आवश्यकता है। इस हेतु श्रेष्ठ साहित्य कृतियों का अनुवाद आवश्यक है। आपने भी कुछ अनुवाद किए हैं।

‘एक पूर्व कथित मृत्यु का वृतांत’ (मार्खेज के क्रॉनिकल ऑफ ए डेथ फोरहोल्ड का अनुवाद) ‘मारा/साद’ पीटर वाईस के नाटक का अनुवाद मैंने किया है। इंगमार वर्गमैन की एक कथा का अनुवाद भी मैंने किया था, वह ‘स्पंदन’ दीवाली अंक में छपा था। वो मुझे मिला नहीं। ओर्तेगा इगासे के ‘रिक्वोल्ट ऑफ द मासेस’ इस दीर्घ निबंध का भी अनुवाद किया जो ‘माणूस’ के एक अंक में छपा था। अच्छी कृतियों का अच्छा अनुवाद होना ही चाहिए इससे अपना साहित्य भी साहित्य समृद्ध होता है। मेरा तो यह भी मानना है कि भारतीय भाषाओं में जो काव्य रचा गया, उनका भी अनुवाद होना चाहिए। विविध भारतीय भाषा और अंग्रेजी व अन्य यूरोपीय भाषाओं की श्रेष्ठ साहित्य कृतियों का मराठी अनुवाद होना चाहिए। अनुवाद का यह कार्य साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, चित्र और नाट्यकला के विषय में भी कितना कुछ लिखा गया है। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मानव विज्ञान, अर्थशास्त्र, इत्यादि सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण लेखन हुआ है वो मराठी में अनुदित होना चाहिए। सच कहा जाए तो सिर्फ अनुवाद कार्य के लिए एक केंद्रीय संस्थान होना चाहिए और उसके पास भरपूर आवश्यक निधि भी उपलब्ध हो।

आपने कुछ एकांकी का और नाटक भी लिखे हैं, ‘शुभवर्त’ आपकी इन कविताओं पर आधारित-नारायण राव पेशवे का अथवा ‘कुणाचा-ही खून’ ये नाटक लिखा गया। ‘अधोलोक’ उपन्यास का ‘सर्पच्छाया’ नाम से नाट्य रूपांतरण आपने स्वयं किया। ‘एक ढाम स्वच्छ नकार’ आपका स्वतंत्र रूप से लिखा गया नाटक है। ‘वेटिंग फार गोदो भाग-2’ और येरू इन एकांकिकाओं का मंथन महाराष्ट्र में हुआ।

हमारी अमरावती की संस्था ‘नाट्यधर्मी’ के लिए कुछ नाट्य लेखन मैंने किया था। वह सब अब भी संग्रह के रूप में नहीं छपा है रंगभूमि के मंचन (प्रयोग) के लिए ही इन्हें लिखा गया था। उनमें राजनीतिक संदर्भ है उदाहरणार्थ- ‘यहां सब ठीक है, चिंता न करें’ (इकड़े सर्व ठीक ओहे कालजी नसावी) इस लघु एकांकिका में सारे पात्र चूहे हैं, वे जाल में फंस गए हैं, उस स्थिति में वे आंदोलन की बात करते हैं, बाहर से एक चूहा आता है वो कहता है बाहर बिल्ली है, यहीं रहो। वो सभी को योजनाओं के कागज बांटता है, प्यास लगी है? ये लीजिए जलपूर्ति की योजना का कागज, भूख लगी ये लीजिए मुफ्त का अनाज आपूर्ति योजना का कागज, उसमें इस तरह की बात है। इस एकांकी में एक भारी भरकम जूता ऊपर टांगा हुआ है, ऐसा दर्शाया गया है धीरे-धीरे वो नीचे आता है अंत में येरू नाम का आम आदमी उसके नीचे कुचल जाता है। ‘एक ढाम नकार’ इस नाटक में हिंसा और अहिंसा के विषय में प्रामाणिक प्रश्न उपस्थित किया गया है। हत्या में किसी भी रूप में

न्यायसंगत नहीं है। इस विचार की स्थापना है। 'नारायण राव पेशवे अथवा कोणाचाही खून' ये कृ. प्र. खाडिलकर के नाटक 'भाऊ बंदकी' पर आधारित है। इस नाटक की यहां भी हत्या करने वाला फिर वो कोई भी हो खुद पेशवा क्यूं न ही तब भी उसे मृत्युदंड होना चाहिए ये निर्णय सुनाने वाला रामशास्त्री है।

आपने सभी विधाओं में बहुमूल्य अभिव्यक्ति की है, क्या आपके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंग है ही, इसके अलावा अब उम्र के पड़ाव पर किस विधा से जुड़ने की आपकी इच्छा है।

एक अनुवाद कार्य पूरा करना है। मुझे लगता है कि जॉन बर्जर की प्रख्यात पुस्तक 'वेज ऑफ सीइंग' मराठी में आनी चाहिए। ये बात मेरे मन बहुत दिनों से है। दूसरा एक कार्य है और वो ये कि श्रेष्ठ कविता के रूप में विविध संतों के चुने हुए रचनाओं का संपादन करना है। उन रचनाओं की उमंग उसमें होगी और साथ ही एक विस्तृत प्रस्तावना। संतों की रचनाएं कविता की गंगोत्री है। संतों की रचनाओं के काव्यशास्त्र पर भी शोध करना है। उसकी भी पड़ताल करनी है। ऐसा लगने लगा है कि एक बार फिर उपन्यास की ओर जाया जाए। एक नाटक भी कब का मन में दबा पड़ा है देखें, वो कब बाहर आता है। और सबसे महत्वपूर्ण यानी बड़े कैनवास पर चित्र बनाना है। ये सब होगा, कैसे होगा, इस विषय में लेकिन कुछ नहीं कह सकता। ■

सम्मान

- वर्ष 2018 का साहित्य अकादेमी सम्मान इस बार सुप्रसिद्ध लेखिका विद्या मुद्गल को उनके उपन्यास 'पो.बा. नं. 203 नाला सोपारा' के लिए देने की घोषणा हुई है। वे इन दिनों विश्वविद्यालय में राइटर इन रेजिडेंस के रूप में प्रवास पर हैं। वे बहुवचन की नियमित लेखिका हैं। इस अवसर पर उनको हार्दिक बधाई।

लेखक को कभी संतोष नहीं मिलता : कोतापल्ले

नागनाथ कोतापल्ले मराठी के सुपरिचित कथाकार, कवि और समीक्षक रहे हैं। लगभग नौ कविता-संग्रह, तीन उपन्यास, आठ समीक्षा ग्रंथ और कई पुस्तकों का आपने संपादन किया है। कुल 33 कृतियों के आप रचयिता रहे हैं। पुणे विश्वविद्यालय के मराठी विभाग-प्रमुख रहे और बाद में मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद के कुलपति नियुक्त किए गए। 2013 में आपको अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया। तीन वर्ष तक महाराष्ट्र राज्य भाषा सलाहकार समिति के अध्यक्ष के रूप में अपना योगदान दिया।

विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं की ओर से आपको कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। सृजनात्मक साहित्य के साथ वैचारिक लेखन भी आपने किया है। कुछ महत्वपूर्ण कृतियों के मराठी में आपने अनुवाद भी किए हैं। उनके एक उपन्यास का हिंदी में अनुवाद 'गांधारी की आँखें' शीर्षक से हुआ है, जिसकी बहुत चर्चा रही है। 29 मार्च 1948 को जनमे डॉ. कोतापल्ले अब भी लेखन में निरंतर सक्रिय हैं। प्रस्तुत है नागनाथ कोतापल्ले से टीकम शेखावत की बातचीत :

आपकी छवि एक सक्षम प्रशासकीय अधिकारी की है। आप कई बड़े पदों पर भी रहे हैं। आप पुणे विद्यापीठ के मराठी विभाग के विभाग प्रमुख के रूप में कार्यरत थे और आगे चलकर आप डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद के वाइस-चांसलर भी बने अर्थात् आप लंबे समय प्रशासन में थे और साथ ही अपने लेखक होने का जिम्मा भी बखूबी निभा रहे थे। समकालीन मराठी साहित्य की पृष्ठभूमि आपके द्वारा लिखे गए वैचारिक लेखों व समीक्षाओं से सराबोर है। आप मूलतः कथाकार भी हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों राहों को यानी प्रशासकीय और लेखकीय जिम्मेदारी को आपने कुशलता से कैसे साधा?

मुझे लगता है कि मूलतः मैं लेखक हूँ और लेखक को अपने जीवन में लेखन के अलावा भी कई काम करने पड़ते हैं सो मुझे भी कुछ करना पड़ा, यानी मैं प्राध्यापक बन गया। या यूँ कहिए कि जीने के लिए सभी को कुछ न कुछ करना ही पड़ता है तो मैंने भी अध्यापन की राह को चुन लिया। हाँ, यह जरूर कहूँगा इस क्षेत्र में मेरी विशेष दिलचस्पी थी। आगे मैं वाइस-चांसलर भी बना।

वैसे मुझे नहीं लगता लेखन और अध्यापन में कोई अंतर्विरोध वाली बात है। हाँ, यह सही बात है कि कालांतर में मेरा अत्याधिक समय प्रशासकीय जवाबदारियों में बीता। आप जब प्रशासन में होते हैं तब आपको दो बातों का विशेष ध्यान रखना होता है। पहली बात यह कि अपने कार्य के प्रति आपका मन साफ होना चाहिए और दूसरी बात यह कि अपने पद व जिम्मेदारियों के साथ आपके अपने हित, संबंध किसी भी रूप में जुड़े हुए नहीं होने चाहिए। मैंने ईमानदारी से अपना कर्तव्य पालन किया। उदाहरण के तौर पर जब मैं 'निदेशक-विद्यार्थी कल्याण विभाग' के पद पर

कार्यरत था तब मैंने यह ध्यान दिया की मेरे पद व मेरे विभाग की क्या प्राथमिकताएँ है व मुझसे वहाँ पर कौन सी अपेक्षाएँ हैं। जब मैं 'मराठी विभाग' का प्रमुख था तब भी मैंने अपने विभाग की प्राथमिक जरूरतों पर ज्यादा ध्यान दिया। अगर मैं किसी भी पद पर रहते अपने व्यक्तिगत काम के लिए कोई फायदा उठाता तो यह तो गलत बात होती ना! जब-जब मैंने प्रशासकीय पद पर काम किया तब-तब मैंने उन पदों की जरूरतों के लिए जो उचित था उस हिसाब से काम किया। आज भी कुछ लोग कहते हैं कि तुलनात्मक दृष्टि से मेरे समय के पुणे विद्यापीठ का मराठी विभाग ज्यादा प्रगति पर था। मैंने वाइस-चांसलर के पद पर भी काम किया। वाइस-चांसलर पद के लिए विद्यापीठ के नियम बने होते हैं। अगर आप तय कर लें कि आप इन नियमों के बाहर जाकर काम नहीं करेंगे तब आप को किसी प्रकार की चिंता की जरूरत नहीं है और मेरा विश्वास है कि सही तरीके से काम करने पर आपका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

पिछले 10-15 वर्षों में प्रशासकीय जवाबदारियों के चलते मैं कम ही लिख पाया लेकिन इन्हीं वर्षों ने मुझे लोगों को समझने का मौका दिया, जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझने का दृष्टिकोण भी इसी समय मिला। सोशल फोर्सज क्या होते हैं यह भी तभी पता चला। यह अपने आप में एक अलग अनुभव रहा। यह सत्य है कि प्रशासन की जवाबदारियों को निभाते हुए आपके भीतर का लेखक कई बार पीछे छूट जाता है।

तो क्या आपके भीतर के लेखक को इस बात का दुःख या मलाल है कि पिछले 15 वर्षों में लेखन कम हो पाया या रुक गया?

हां जरूर। मुझे इस बात का दुःख है, मलाल है। मैं जब पुणे आया था तब यह सोचकर आया था कि यह एक सांस्कृतिक केंद्र है, यहाँ साहित्य की गतिविधियाँ निरंतर चलती रहती हैं, जुड़ पाऊंगा लेकिन ऐसा हो नहीं सका।

आपने लोकतंत्र की बात की। आप 86 वें अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन अध्यक्ष थे। मराठी साहित्य की दुनिया में साहित्य समेलन की अहम् भूमिका है। अगर पिछले दो-तीन सम्मेलनों पर नजर दौड़ाएं तो पता चलता है कि रुपए-पैसों का बड़ा बोलबाला रहा है सम्मेलन के आयोजन में! तो क्या पैसों के बिना अखिल मराठी साहित्य सम्मेलन नहीं हो सकता? क्या इसका एक कारण यह यह भी है कि सरकार की ओर से से कोई खास मदद नहीं होती। ऐसे में क्या यह मान लें कि मराठी साहित्य सम्मेलन की परंपरा सफेदपोशों के सामने नतमस्तक होने लगी है व नेताओं के आशीर्वाद के बिना सम्मेलन नहीं हो सकते? क्या सम्मेलन के लिए पैसा इतना जरूरी हो गया है?

इसमें दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। जहाँ तक मुझे याद आता है, 1885 में पहला सम्मेलन हुआ था। बीच में कुछ बरस नहीं भी हुए। मतलब 135 बरसों से लगभग यह परंपरा है। इसका उद्देश्य यह है कि अच्छे लेखकों का एक साथ आना व साहित्य पर चर्चा होना। यह तो एक विचारधारा हुई। दूसरी विचारधारा यह है कि लोग ऐसा भी कहते यह निरर्थक है, बस निठल्लों का काम है।

मराठी साहित्य-सम्मेलन साहित्य का एक महत्वपूर्ण उपक्रम है। मेरी नजरों में यह एक साहित्यिक परंपरा कई सालों से चल रही है। इसमें लोग स्व खर्च से आते हैं। वे आप से पैसे नहीं मांगते। पैसों की अपेक्षा लेखक करते हैं। लगभग दस हजार से लेकर चालीस हजार तक

लोग सम्मेलन में आते हैं या शायद इससे ज्यादा भी आते होंगे। उन सभी के हृदय में साहित्य के प्रति आस्था होती है जिसके चलते वे अपनी हाजिरी साहित्य सम्मेलन में लगाते हैं बिना आपसे पैसा मांगें! चूँकि लोगों की साहित्य में आस्था है वे अपनी खुशी से आ रहे हैं और वर्ष-दर-वर्ष यह काम हो रहा है। यह अच्छी बात है। इसमें क्या गलत है भला? पिछले कुछ साहित्य सम्मेलन में राजनेताओं को देखा। आपके समय भी मंच पर राजनेता मौजूद थे?

बताता हूँ। दरअसल महामंडल नाम की जो चीज है उसे इस बात पर ध्यान देना चाहिए। महामंडल के नियमानुसार साहित्य सम्मेलन के मंच पर अध्यक्ष, उनकी पत्नी, स्वागत-अध्यक्ष, उद्घाटक व महामंडल के सदस्य और स्वागत समिति के पदाधिकारी आसन्न हो सकते हैं। इनके अलावा मंच पर कोई और नहीं होना चाहिए।

आपने मेरे समय की बात की तो यह बताना लाजमी हो जाता है कि 'चिपलून' में ऐसा ही हुआ था। शरद पवार उद्घाटक के रूप में और सुनील तटकरे उस कार्यक्रम में स्वागताध्यक्ष के रूप में उपस्थित थे। इनके अलावा और कोई राजनेता मंच पर नहीं था। कई वर्ष पूर्व पुणे में जब साहित्य सम्मेलन हुआ था तब सम्मेलन में राजेंद्र बनहट्टी अध्यक्ष थे। उस समय विलासराव देशमुख आए थे। वे वहाँ कार्यक्रम में पहुँचे और जनता के साथ किसी बीच वाली पंक्ति में बैठ गए। वे मंच पर नहीं आए। आप अगर अपनी बात को लोगों के सामने सही ढंग से रखेंगे तो लोग जरूर उस पर विचार करेंगे। आप अगर पहले से ही कुर्सियों पर नाम पहले ही लिखे देते हैं तब सभी को प्रारंभ में ही पता चल जाएगा की उन्हें कहां बैठना है। दरअसल हमारे देश में राजनेताओं की संस्कृति इतनी नीचे आ गई है कि हर कोई मंच पर बैठना चाहता है। ऐसे में उन्हें रोकने की कोई हिम्मत करना नहीं चाहता।

क्या साहित्य सम्मेलन के आयोजन से साहित्य आगे बढ़ता है, साहित्य-उत्थान होता है?

सम्मेलन हो, चाहे कोई और कार्यक्रम हो, साहित्य, साहित्य-सम्मेलनों से आगे नहीं बढ़ता। यही मूल प्रश्न है कि साहित्य आगे कैसे जाएगा? लेकिन यह समझना जरूरी है कि वहाँ साहित्य सम्मेलन में किताबें भी बिकती हैं। वाचन की रुचि का निर्माण होता है। वैसे तो हम बस यह कहते नहीं थकते कि वाचन कम हो रहा है, अगर यह सत्य है तब तो ऐसे सम्मेलनों का होना बेहद जरूरी है। लोगों की इच्छा है नए साहित्य को पढ़ने की और वे पहुँचते हैं वहाँ। फिर प्रश्न यह उठता है कि कैसे बहुत खर्च होते हैं। सम्मेलन बहुत खर्चीला ही होना चाहिए ऐसा नहीं है। यह किसने कहा है कि आप लाखों का ही मंडप बनाओ! सजावट के लिए आप पचास लाख खर्च करेंगे तो बजट तो बढ़ेगा ही ना, मत कीजिए ऐसा खर्च।

आप साहित्य की शीर्ष संस्थाओं से भी जुड़े रहे हैं। आपने साहित्य और साहित्य संबंधित गतिविधियाँ बहुत पास से देखी हैं। पुरस्कारों की बात जब आती है तो उस विषय पर आपके क्या मत है?

देखिए पुरस्कार कई तरीके के होते हैं। हर बार पुरस्कार पाने वाले में गुणवत्ता नहीं ही होती है, ऐसा नहीं है। गुणवत्ता हो भी सकती है लेकिन कई बार हित-संबंध भी होते हैं। यह जरूरी नहीं कि हर बार पुरस्कार श्रेष्ठ व्यक्ति को ही दिए जाते हैं इसलिए कई बार विवाद भी होते हैं।

आपकी नजर में अच्छा कौन लिख रहा है मराठी में?

में आपको कुछ एक नाम बताता हूँ। अनुराधा पाटील, कल्पना दुधाल, कविता महाजन, मंगेश काले जैसे कवि अच्छा लेखन कर रहे हैं किंतु उनकी लेखनी का अनुवाद नहीं हो रहा है। पिछले कुछ सालों में व्यावसायिक पुस्तकों का अनुवाद बहुत हुआ है लेकिन साहित्य के क्षेत्र में मराठी से जितना अनुवाद होना चाहिए थे उतना नहीं हुआ। अनुवाद के लिए विशेष प्रयत्न होने चाहिए जो नहीं हो रहे हैं।

आपके पसंदीदा मराठी कवि?

काफी है, कुछ एक नाम हैं नामदेव, तुकाराम। आज के कवियों की बात की जाए तो नारायण सुर्वे या फिर युवा कवि भारत दौंडकर की कविता अच्छी लगती है।

फेसबुक की दुनिया में आए दिन नए कवि आ रहे हैं लेकिन जल्द ही गायब भी हो जाते हैं! फेसबुक पर साहित्य अभिव्यक्ति को लेकर आपके क्या विचार हैं?

में सोशल मीडिया से दूर हूँ, फिर भी मुझे लगता है कि अब नए कवियों, लेखकों को अभिव्यक्ति का अवसर मिलने लगा है, जिसे प्रिंट मीडिया में मिलने के लिए किसी जमाने में बहुत इंतजार करना पड़ता था। एक समय ऐसा भी आया जब अखबार बढ़ने लगे लेकिन इंतजार कुछ कम नहीं हुआ। मूल मुद्दा यह है कि इस माध्यम का इस्तेमाल कर कितने लोग, लेखक या कवि के रूप में अपनी पहचान निर्माण कर पाते हैं? मुझे लगता है ऐसे कम ही लोग हैं। दरअसल सोशल मीडिया से अभिव्यक्ति होने की संधि तो मिली किंतु इसकी गति से वह तुरंत समाप्त भी हो गई। मुझे नहीं लगता इससे कोई खास फायदा है।

क्या यह ऐसा तो नहीं है कि जिन्हें अखबार में मौका नहीं मिलता उन्हें यहां सोशल मीडिया में मौका मिल गया और लोग कुछ भी लिख रहे हैं?

नहीं ऐसी बात नहीं है। कुछ लोग बहुत अच्छा लिखते हैं और अधिकतर वे सोशल मीडिया पर ही लिखते हैं उदाहरण के तौर पर हरी नरके, सतीश तांबे इत्यादि। मगर ऐसे लोग कम ही हैं।

आपके लेखन पर नजर दौड़ाए तो पता चलता है कि आपके लेखन की शुरुआत कविता से हुई और फिर आप कथा, समीक्षा, वैचारिक लेख की ओर बढ़ गए। क्या अब आप कविता नहीं लिखते?

हाँ, मेरी शुरुआत ही कविता से ही हुई। आगे चलकर कविता नहीं सूझी और ध्यान कथा व नए लेखन की ओर चले गया। इसका एक कारण यह है कि कविता सूझती ही नहीं थी और जो कविता सूझती व पुनरावृत्ति होती। मैंने फैसला किया की मुझे अब थम जाना चाहिए। वैसे आने वाले चार पांच महीनों में नया कविता संग्रह आने की उम्मीद है।

साहित्य की दुनिया में अब कवियों की भरमार है। समीक्षा की बात करें तो विशेषकर मराठी में यह दिखता है कि समीक्षा कम ही लोग लिख रहे हैं या यूँ कहिए ज्यादातर समीक्षक प्राध्यापक है! यानी और कोई यह काम नहीं कर रहा!

नहीं, मराठी साहित्य लेखन की यह एक तरह से परिसीमा है। प्राध्यापक के काम का यह हिस्सा भी है इसीलिए उन्हें समीक्षा लिखना जरूरी है लेकिन इस तरीके से लिखी गई समीक्षाएं औपचारिकता या खानापूति करने जैसा ही है। इसमें अलग-अलग व्यवसायों से लोग आने चाहिए। ऐसे लोग आएँ

जिनका एक अलग जीवन दृष्टिकोण है। उदाहरण के तौर पर एक जाने-माने चित्रकार हैं गोडसेजी लेकिन उनकी समीक्षा अपने आप में एक अलग सिद्धांत की परिचायक है। वैसे ही संगीत से कोई व्यक्ति या और कोई कला से या व्यवसाय से जैसे बैंकिंग से अगर कोई इस तरफ आगे आता है, तब जाकर इस दिशा में कुछ हो सकता है।

आज की समीक्षाएं स्तुति में बदलने लगी है? मराठी हो चाहे हिंदी हो, ऐसा क्यों हो रहा है?

समीक्षा का सिद्धांत है गुण व दोष का मूल्य मापन या बताना। हिंदी का मुझे नहीं पता! मेरी नजर में समीक्षा उसे कहेंगे जब किसी किताब को पढ़कर आपको लगे कि उस किताब की समीक्षा किए बिना आप नहीं रह सकते, तब वह खरी समीक्षा होती है। सैद्धांतिक समीक्षा तो बहुत कम हो रही है।

आपने आज तक जो भी लिखा, उसे जब देखते हैं तो संतोष अनुभव करते हैं?

मुझे लगता है लेखक को कभी संतोष नहीं मिलता। लेखक कभी समाधानी नहीं हो सकता उसे लगता रहता है जो भी अब तक लिखा है उससे भी अच्छा लिखा जाए। ■

21वीं सदी का मराठी सिनेमा

संजय आर्वीकर/हृषीकेश आर्वीकर

‘मैं किसी दृश्य को रचता नहीं हूँ, मेरा प्रायः यही मानना है कि सिनेमा का अस्तित्व जीवन ही के बिंबों के साथ पूर्णरूपेण तादात्म्य कर लेने पर निर्भर है।- रूसी फिल्मकार आंद्रेई तारकोव्स्की ‘सर्जक अपनी निर्मिति के अलावा कुछ और नहीं कह सकता।

जापानी फिल्मकार अकिरा कुरोसावा

‘फिल्म बनाते हुए मुझे मुख्य रूप से किस खोज होती है तो वह है -सेंद्रिय संलग्नता की (ऑर्गेनिक कोहेजन)... -भारतीय फिल्मकार सत्यजित राय

1913 में ‘राजा हरिश्चंद्र’ इस मूक चित्रपट का मुंबई के ‘कोरोनेशन’ सिनेमाघर में दिखाया हुआ पहला खेल; ये अगर मराठी- भारतीय चित्रपट का आरंभ बिंदु माना जाए तो भारतीय सिनेमा कला को 104 वर्ष पूर्ण हुए हैं, ऐसा कहना होगा। ‘राजा हरिश्चंद्र’ यह मूकचित्रपट, ये जानकर भी उसका ‘मराठी’ होना हम सूचित कर रहे हैं क्योंकि उसकी सारी सर्जन-प्रक्रिया, कलाव्यवहार मराठी में ही हुआ था। आज, सौ साल से अधिक समय के बाद, मराठी सिनेमा-कला के तौर पर कहाँ तक आ पहुँचा है, इसके लिए सिनेमा के अनेक अंगों से जुड़े, दीर्घानुभवी चित्रपट आलोचक-कलाकार अरुण खोपकर के इस विवेचन पर आते हैं। 20-21 दिसंबर 1980 में आयोजित परिसंवाद में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा..., सिनेमा यह एक अंतरराष्ट्रीय कला है। महाराष्ट्र में विचार ज्यादा से ज्यादा अंग्रेजी के प्रांगण तक जाता है। सिनेमा के सौंदर्यविचार के कई अंशों में बड़े-प्रभावी कलाकारों ने अपनी-अपनी भाषाओं में किया है। विशेषकर फ्रेंच और रशियन भाषाओं के आधार के सिवा सिनेमा के बारे में सोचना आज कठिन है...।

खोपकरजी का यह विचार केवल मराठी तक सीमित है ऐसा हम नहीं मानते, मराठी सिनेमा-संस्कृति के संदर्भ में भी उसे देखें तो, उनके इस भाषण के बाद 37 साल में, जागतिकीकरण की लहर के बाद, (जागतिक सिनेमा की पहुँच, जो पहले- पिछले छह: दशकों में कम गति से होती थी) आज अधिक गति प्राप्त कर नए चित्रपट कला-विचार मराठी में पहुँच चुके हैं। इंग्मार बर्गमन, आयझेनस्टाईन, तारकोव्स्की, डि'सिका, कुरोसावा, माजिद माजिदी- इनके बारे में मराठी में किया गया लेखन भी, इस बदलाव को दर्शाता है। सिनेमाकला में निर्देशक केंद्र स्थान पर हैं, ऐसा मानने वाले कलाकार सिद्धांतकारों का एक बड़ा वर्ग दुनिया में आकर ‘ऑतेअर सिद्धांत’ (ऑतेअर थिअरी)

का नाम काफी हद तक अपने जहन में गढ़ चुका है। हिंदी या मराठी में उसे सर्जक-चित्रपटकता-सिद्धांत कह सकते हैं ।

आंद्रे बाजा ने अपने किताबों में 'सिनेमा क्या है' इसके बारे में लिखा है, पर वे भारतीय सिनेमा या नाइजीरियन या क्यूबन सिनेमा के बारे में शायद ही कुछ लिखते हैं। वे यथार्थवाद से यथार्थ की ओर जाने पे विश्वास रखते हैं। सिनेमा की भाषा यथार्थ की होती है, उसके गहराई में जाने से हम सत्यांश रूप वास्तविकता तक पहुँच सकते हैं पर क्या हम किसी फ्रेंच निर्देशक के फैंटसी को वास्तविकता की निष्पत्ति से देख सकते हैं? जिस स्थल-काल की बात बाजा कर रहे हैं उसमें उन्होंने वही उदाहरण चुने हैं जिससे यथार्थवाद-वास्तविकता की बात की जा सकती है। क्या यही एक नजरिया लेना ठीक होगा, या किसी और परिप्रेक्ष्य से सिनेमा को देखा जा सकता है?

फिल्म सिद्धांतकार आंद्रे बाजा ने 'दि इन्वोल्यूशन ऑफ लैंग्वेज ऑफ सिनेमा'- लेख में सिनेमा-भाषा कैसे विकसित हुई इसका आलेखन किया है और उसमें प्रमुख तौर पर 1. दृश्य या दृश्यसमूहों की प्रतिमाओं की रचना 2. मोंटाज, मोंटाज के विविध प्रकार 3. संरचना(कंपोजिशन) 4. एक दूसरे को संतुलित करने वाले दृश्य घटक 5. काल संदर्भ में मोंटाज का कार्य 6. चित्रपटभाषा के चिन्हशास्त्रीय पहलू 7. चित्रपट की सौंदर्यशास्त्रीय एकात्मता 8. निर्देशक ने/निर्देशक को उपलब्ध किए जानेवाले अवकाश की गहराई 9. विकसित होने वाली संकलन-पद्धति इनका विचार किया है। चित्रपट-संप्रेषण से जुड़ी और चित्रपट के सर्जन-प्रक्रिया को संप्रेषण की ओर ले जाने वाली प्रक्रियाओं में- 1. संकलन 2. छाया-प्रकाशचित्रण 3. ध्वनिसंयोजन 4. वातावरण निर्मिति 5. दृश्य-संयोजन 6. प्रकाश योजना 7. आरेखन (ग्राफिक्स)- इनका अंतर्भाव होता है।

एक हद तक खोपकरजी और बाजा का कहना बिलकुल ठीक है। बाजा जिस सैद्धांतिक विचार विश्व से जुड़े हुए हैं, उस सरल संबंध से आगे जाकर 'ऑतेअर' (लेखक) संकल्पना से जुड़ा हुआ है, यह अवधि साहित्य का विश्लेषण करने वाले अमेरिका व यूरोपियन विचारधारणा से प्रसारित हुई है।

जैसे खोपकरजी ने 1980 में ऊपर बताए हुए विचार प्रकट किए थे, आज उनको नए आयाम से तराशने की जरूरत है। हमे बार-बार नए लहरों की जरूरत क्यों पड़ती है इसके बारे में सोचना आवश्यक है। हमारे भाषिक सिनेमा और सिनेमा की भाषा पे विवेचन- न करते हुए सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक आयामों में ही सिनेमा को समझने का प्रयास आकर ठहर जाता है। सिनेमा की भाषा क्या मराठी में, बंगाली में या मलयालम में अलग है। हो सकती है पर यह अलग होना क्या केवल संस्कृति की ऐनक पहनकर ही देखा जा सकता है? खोपकरजी ने कहां के सिनेमा को समझने के पहले प्रयास, उससे जुड़े संज्ञाओं-संकल्पनाओं का विचार फ्रेंच या रशियन में हुआ है। आज हम इस 1980 के कल से काफी आगे आ चुके हैं तो यह सुनिश्चित करना होगा कि हम सिनेमा की भाषा या उसकी संज्ञा को फ्रेंच या रशियन की विशेषता के अलावा क्या दिखा सकते हैं?

इंग्मार बर्गमन, आयझेनस्टाईन, तारकोव्स्की ये निर्देशक जिस रूप से उनके सिनेमा में ऑतेअर (लेखक- सर्जक-चित्रपटकता) नजर आते हैं वैसे मराठी में कोई फिल्मकार है या नहीं? या फिर यूँ कहें कि मराठी में सत्यजित राय, मृणाल सेन, ऋत्विक् घटक, अडूर गोपालकृष्णन, मणि कौल, कुमार शहानी इनके जैसे संपूर्ण चित्रपट-माध्यम पर अपनी नाममुद्रा गढ़नेवाले निदेशक हैं या नहीं? होंगे तो कौन हैं, न हो तो क्यों नहीं, इसके बारे में हमें सोचना होगा?

मराठी सिनेमा में गए सौ सालों में जो आशयसूत्र दिखते हैं, उनके अनुसार उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रारंभकाल में और समकालीन कहे जाने वाले काल ऐसे उदाहरण जिनमें हर घड़ी बदलता हुआ पर विषय-वस्तु की दृष्टि से कुछ वैसा ही चेहरा नजर आता है। जैसे - 1) सामाजिक आशय का सिनेमा- सावकारी पाश (1926)/ फैंडी (2013) 2) राजकीय-आशय का सिनेमा-सिंहासन (1979)/ झेंडा (2010) 3) परिवार के इर्द-गिर्द घूमनेवाला सिनेमा भेट (2002)/शेवरी (2006)/अनुमती (2013) 4) मिथकीय-धार्मिक कहानियों पर आधारित सिनेमा-राजा हरिश्चंद्र (1913 और 1915) संत तुकाराम (1936 और 2012) 5) व्यक्तित्वप्रधान सिनेमा-देवकीनंदन गोपाला (1977) / ध्यासपर्व (1996) / डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (2000)/लोकमान्य: एक युगपुरुष (2015) 6) ग्रामीण परंपरों से जुड़ा हुआ चित्रपट आक्रित (1981)/ जोगवा (2009)/ काकस्पर्श (2012) 7) ऐतिहासिक सिनेमा-रामशास्त्री (1944) सिंहगड (1923 और 1933) 8) ऐतिहासिक व्यक्तित्व को समकालीन संदर्भ में लानेवाला सिनेमा -मी शिवाजीराजे भोसले बोलतोय (2009) 9) स्त्री-प्रधान सिनेमा सांगते ऐका (1959) उंबरठा (1982) / मुक्ता (1994) /अस्तित्व (2000) 10) बाल्यावस्था या किशोरावस्था पर आधारित सिनेमा- दहावी फ (2002) बालक-पालक(2013) 11) समष्टीप्रधान सिनेमा बनगरवाडी(1995) लालबाग परल (2010) 12) प्रायोगिक सिनेमा लिमिटेड माणुसकी (1995)/ गंध (2009)/ सापत्नेकराचे मूल (1998) / कोर्ट (2014) । इस वर्गीकरण में वा उसमें रेखांकित फिल्में एक समग्र चिंतन होने का कोई दावा नहीं करता है, पर यहाँ केवल एक नक्शा होने का बयान देती हैं।

21वीं सदी का मराठी सिनेमा, मराठी या 21वीं सदी का इसलिए हैं क्योंकि वह 'इस स्थल-काल' में 'आज' में है। आज भी कई ऐसी विशेषताएं, खूबियां और खामियां हैं कि जिनकी वजह से मराठी सिनेमा वही है जहाँ बरसों पहले था। यह हमारी सामाजिक सूझ-बूझ या आदत या अनुष्ठान कह लीजिए के हम सिनेमा जैसे माध्यम या सांस्कृतिक वस्तु या टेक्स्ट को ऐसे यथार्थवादी स्थल काल में बांधना चाहते हैं। आज के इस सिनेमा में उठाए जाने वाले सवाल फाल्के के जमाने से पूछे जाने वाले सवाल, किए जाने वाले संघर्षों, उठने वाले तनावों से ज्यादा परे नहीं हैं। आज अगर कुछ नया है तो संप्रेषण और प्रसारण के नए जरिए। नेटफ्लिक्स, अमेजन प्राइम जैसे इंटरनेट के संकेतस्थल, या मल्टीप्लेक्स संस्कृति का बाजारीकरण और उपभोगीकरण की अभिरामी अर्थव्यवस्था। महानगर शहर और ग्रामीण क्षेत्रों में फिल्म वितरण के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि 'ए' या 'बी' सिनेमा की प्रदर्शन व्यवस्था जरूर बदली है पर 'सी' सिनेमा या गांव में दिखाए जाने वाले टेंट या जात्रा सिनेमा की वितरण की व्यवस्था में ऐसा नजर नहीं आता। वैसे भी बहुत कम ही संशोधन हुआ है, गांव के सिनेमा उपभोग के आदतों के बारे में। स्टेफेन ह्यूज ने लिखे चेन्नई और तमिल सिनेमा के काम में प्रेक्षक या दर्शक को अपने अभ्यास का केंद्र-बिंदु बनाया है। शहरों में बसी हमारी संशोधन आलेख की प्रक्रियाएं, गांव तक उतनी गहराई तक पहुंची नहीं है यह उनके काम से जाहिर होता है। वे इस कमी को पूरा करने के अनेक मार्ग भी दिखा रहे हैं।

मराठी सिनेमा के विषय में एक अजीब-सा महिमा-गान होता है जो केवल मराठी लोगों तक ही शायद सीमित हो। फाल्के सिनेमा के पिता माने जाते हैं। प्रभात काल में बना हुआ सिनेमा-स्वर्णकाल माना जाता है। हिंदुस्तान की आजादी के बाद, मराठी सिनेमा में एक ढलान का वर्णन किया

जाता हैं। माडगूलकर और पु. ल. देशपांडे जैसे लेखक कई गंभीर विषयों का घरेलूपन से भौतिकीकरण-या जिसे अंग्रेजी में- थिन्गिफिकेशन कहते हैं वह करते नजर आते हैं। दूसरी तरफ 'तमाशा' फिल्म गांव की है इससे शहर काफी दूर आ चुका है। ऐसा संभ्रांत शहरी दर्शक- जो अपने सांस्कृतिक परिवर्तनीयता और गतिशीलता के चलते, इन फिल्मों के पार्श्वभूमि को विषयवस्तु को- 'गया गुजरा' समझकर नकार देते हैं। फिर गांव से आने वाला विस्थापित और स्थानांतरित, पीटा हुआ समाज वर्ग हैं जो दादा कोंडके, उनसे पहले आने वाला गांव के सिनेमा में अपना गांव, अपने लोग ढूंढता है। हषीकेश इंग्ले, हमारे इफ्तू, हैदराबाद में पढ़ाने वाले मित्र और उभरते हुए सिनेमा विशेषज्ञ ने 1960-80 के दशक के इस प्रकार के सिनेमा को योग्य रूप से मुफ्तसिल सिनेमा कहा है। वे भी अपने लेखन में पहले बयां किए हुए महिमा-गान से अलिप्त रहते हैं, और ठोस विश्लेषण करते हैं। उनके साथ हुए संवादों से यह साफ हो रहा है कि महिमा-गान किया जाता है इस निंदा के आगे जाकर यह सवाल पूछना चाहिए कि- महिमा-गान क्यों किया जाता है?

अब एक सवाल- क्या भारतीय सिनेमा हिंदुस्तान देश का या राष्ट्र या समकालीन सरकारों का सिनेमा है? सरल जवाब है- नहीं! यह सिनेमा बटा हुआ है, जुड़ा हुआ है ताकतों से, ऊर्जाओं से, मूलभूत सुविधाओं से और उनके जोड़ने वाली गोंद से-ऐसी जो क्षेत्रीय, प्रादेशिक, उप-क्षेत्रीय, उप-सांस्कृतिक सामाजिक फैलाव से चिपकी हुई है। राष्ट्रीय सिनेमा एक संकुचित और सीमाबद्ध विश्लेषणात्मक अवधि है, जैसे ही प्रादेशिक का बोलबाला करना भी एक दुखद श्रेणीकरण ही है। प्रादेशिक या क्षेत्रीय सिनेमा भी-विस्तृत, विघटित, नियंत्रित, निर्धारित करके हमें पहुंचाया जाता है। हमारे महिमा-गान के खिलाफ रचे हुए संशयवाद का मूल यही है। हर क्षेत्रीय या प्रादेशिक सिनेमा को ज्यादा यथार्थवादी, ज्यादा सच्चा, जमीन से जुड़ा हुआ माना जाता है। क्यों भला? यह केवल अनुभूत कल्पनाएं हैं। क्या हम दर्शकों पर होने वाले भावनिक प्रभाव, असर का कभी भी कोई मूल्यांकन, अवलोकन कर सकते हैं? नहीं-यह जवाब फिर दोहराता हूं इसीलिए ऐसे जटिल प्रश्नों से बचकर सीधे 21वीं सदी के सिनेमा पर आते हैं, जो भविष्य की जर्जर, और भूतकाल की आकृतियों से बंधी है, जिनमें वर्तमान के आलेख और संदिग्धताएं दिखती हैं।

ये लेख केवल एक नक्शा है। नक्शे के इस ओर नागराज मंजुले का प्रतिरोधक, उत्पीड़ितों की आवाज बनने वाला सिनेमा है जिसमें दुर्लभ-सा दर्पमर्दन, अपमान, क्लेश, परित्याग है और दूसरी ओर परेश मोकाशी का आंतरिक आशावाद और निश्चयात्मकता है। मोकाशी की पहली फिल्म 'हरिश्चंद्राची फैक्टरी' हिंदुस्तान फिल्म कंपनी के चालक-दादासाहेब फाल्के के पहली फिल्म बनाने के संघर्ष को दर्शाती है। उनका उछाह, उनकी महत्वाकांक्षा 20वीं सदी के आधुनिकता के जमाने में, पुरानी, रूढ़िवादिता से भरी परंपराओं के साथ होने वाली दिक्कतों का समाधान ढूंढने में प्रमुदित होती है।

नागराज की पहली फिल्म के अंत में 'फैंट्री' में- एक दलित लड़का स्क्रीन पर पत्थर फेंक रहा है, वह पत्थर जिस विस्फोटक क्रोध से फेंकता है, मानो ऐसा लगे कि दर्शकों पे, अन्यायकारी समाज व्यवस्थाओं पर फेंक रहा हो। वह पत्थर जितना दर्शकों की ओर निशाना साधे हुए है, उतना ही आक्रोश परदे पर भी है। मंजुले कई चर्चाओं में कह चुके हैं, लोग कहते हैं- भारतीय सिनेमा को सौ साल पूरे हुए है, पर मुझे जैसे आदमी को फिल्म सौ साल बाद बनाने को मिली है 'यह क्यों हुआ'? सत्य इससे काफी परे है, अनेक दलित निर्देशकों ने काफी गंभीर फिल्में बनाई हैं। गैर- ब्राह्मण समाज/या

बहुजन समाज के बारे में- जाति व्यवस्था के बारे में 1930-60 के स्वर्णकाल माने जाने वाले समय में 'अयोध्येचा राजा', 'महाराजा पोर', 'अछूत कन्या', 'ब्राह्मण कन्या', 'माणूस' और 'सावकारी पाश' जैसी कई फिल्मों में बन चुकी हैं। 1980 के दशक में होती दलित चेतना की फिल्मों में काफी देखाई गई है। फिर भी, हमारी समकालीन परिस्थिति देखते हुए नागराज का परदे को चीरना जायज ही लगता है। रोष सिनेमा का ही नहीं समाज का भी है। अगर फाल्के का सिनेमा हिंदू एकीकरण(यूनिफिकेशन) की जड़ें मजबूत कर रहा था, गांधी की तरह रामराज्य के सपने देख रहा था, तो सौ साल बाद मंजुले को परदे और कैमरे की तरफ पत्थर उछालने की जुर्रत करना यानी पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे ब्राह्मणवादी चौखटे को, ढांचे को गिराने की नई परिभाषा है। क्या फाल्के या उनके समकालीन फिल्मकारों का सिनेमा इस ब्राह्मणवाद का मूल है? नहीं। मंजुले के सिनेमा में एक मार्ग भिन्नता है। अगर समाज में ब्राह्मणवाद है तो सिनेमा में उसका चित्रण जाहिर ही है। किसे बनाने को मिल रहा है, कैसे बनाया जा रहा है, वह सिनेमा किन लोगों की बोली बोल रहा है, यह आंकने से साफ पता चलेगा कि मुंबई-पुणे में बनाने वाले सिनेमा में और कोल्हापुर या अन्य शहरों से निर्मित होने वाली संवेदनाओं में काफी फर्क है। आने वाले समय में मंजुले को पहचान के सुलभीकरण से जरूर आगाह रहना होगा।

एक परत नीचे आए तो उमेश कुलकर्णी और सचिन कुंडलकर दिखाई देते हैं। यह दोनों एफटीआईआई (भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान) से आते तो हैं ही, साथ ही साथ एक छोटे घरेलू-सी व्यवस्था में बनाए गए सुमित्रा भावे-सुनील सुकथनकर के सिनेमा में वे असिस्टेंट के तौर पर काम कर चुके थे। भावे-सुकथनकर एक शिक्षाप्रद-जिसे अंग्रेजी में- संदेश देने वाला सिनेमा कहते हैं- वह बनाते हैं। यह सिनेमा 1970 दशक में निकले हुए 'इंडियन न्यू वेव' की एक शाखा है। भावे-सुकथनकर मराठी सिनेमा के सबसे गए-गुजरे माने जानेवाले समय में अच्छे सिनेमा का प्राण फूंक रहे थे। वे जिस सिनेमा से ताल्लुक रखते हैं वह दादा कोंडके, चंद्रकांत-सूर्यकांत, लक्ष्मीकांत बेर्डे, सचिन, अशोक सराफ के फटा-सा स्थलांतरित, व्यंग हास्यानुकृति को गैर-गंभीर सिनेमा मानता था। गैर-गंभीर सिनेमा को गंभीरता से क्यों नहीं देखा जाता यह एक अलग ही सवाल है। क्या सिनेमा का काम केवल शिक्षाप्रद होना है? क्या कोंडके के द्विअर्थी संवाद लोगों तक भ्रष्टाचार, शहरी दिखावे के बारे में आलोचना नहीं करता था? खैर मूल विषय पर वापस आते हैं।

अगर हम एक खाली नकारात्मक ढांचे से शुरूआत करें कि- मराठी में कोई 'ऑतेअर' नहीं हुआ है, तो 'ऑतेअर' के कुछ गिनी-चुनी खूबियां हमें याद करनी चाहिए। 'पॉलिटिक देज ऑतेअर' के बारे में पहले त्रूफो ने और फिर एंड्रू सरिस ने लिखा था जिसमें निर्देशक अपना समाज के प्रति दृष्टिकोण दिखा रहा है। 1930-60 के बीच हॉलीवुड तथा जागतिक सिनेमा में कई ऐसी हस्तियां हो गई- जैसे की- हिट्चकॉक, फोर्ड, मैकेण्ड्रिक, दासा जिन्होंने अपनी शैली और आवाज कायम की थी पर 1970 में- यह दुनिया बदल चुकी थी। वह दिन चले गए थे जब जॉन फोर्ड शॉट नापसंद हो तो कैमरा अपना हाथ रख थे। कोप्पोला, एलन, स्कॉर्सेसे जैसे निर्देशकों के आगमन से स्टूडियो सिस्टम और ऑतेअर के संबंधों में बदलाव आ गया था। अब बड़े स्टूडियो ने छोटे या मध्यम प्रमाण के स्टूडियो भी खड़े किए थे, जिनसे इन 'स्वायत्त' निर्देशकों को अपने मन की छोटी- मध्यम बजट की फिल्म बनाने के मौके मिले। हॉलीवुड ने यह जान लिया था कि 'बी' सिनेमा को परे करने से

अपना ही नुकसान है। 1970 के दशक में भारतीय सिनेमा जगत में काफी उतार-चढ़ाव हुए। बच्चन नाम के विस्फोट से 'एंग्री यंग मैन' का जन्म हुआ। यह 'यंग मैन' मजदूर से धीरे-धीरे परदे पर मालिक होकर भ्रष्ट पूंजीवादी के ईमानदार या बदमाश पुलिसवालों के डॉन के पात्र निभाने लगा।

इस विस्फोट से बाहर निकलना और इंडस्ट्री के बाकी अभिनेताओं को काम देना, यह मल्टीस्टार फिल्मों के माध्यम से हुआ। इस सब में, एक 'गंगा-जमुना' तहजीब का लहजे का हीरो ही ज्यादा दिखने लगा हालांकि यह उत्तर भारतीयकरण 1940 से शुरू हुआ था। ऐसा भौमिक अपनी पीएच. डी. में लिखते हैं।

इस स्टारडम के खेल में शायद ही मराठी अभिनेता थे। अमोल पालेकर ही एक अभिनेता थे जो अपनी छाप छोड़ पाए। उनका नाम भी ज्यादा मध्य सिनेमा से जुड़ा हुआ था। अपनी फिल्मों में वे कई दफा बच्चन या धर्मेन्द्र से दोस्ती के सपने, या लड़की के सामने आम आदमी की परत से उठकर हीरो होने का सपना देखते हैं और फिर सपने से जागकर अपने मध्यमवर्गीय जीवन में लौट जाते हैं। इस सब में मराठी सिनेमा कहा था? प्रादेशिक स्टारडम की यात्रा हमेशा हिंदी सिनेमा में कहीं नजर आने की होड़ में रुक जाती हैं। कई मराठी अभिनेताओं ने हिंदी में छोटे पात्र की भूमिका करने के बजाय मराठी में स्टारडम को चुना।

पश्चिमी भारत में बसी मुंबई चित्रनगरी की वजह से मराठी अदाकारों, कलाकारों को या तो उस औद्योगिकीकरण की तरफ रुझान करना पड़ा या फिर वे अपने मराठी पहचान के आगे सोचकर कई सहयोगीवादी सिनेमा लहर से जुड़ गए। मराठी सिनेमा अब हिंदी की परछाई में जी रहा था। उसमें एक अनुकरणशीलता आ गई थी। मेलोड्रामा में औरतों के काया पे अत्याचार का सुलभीकरण दिखाई देता था। जिसको फिल्मों ने एक ढंग भी कुछ विकृत ही था।

फिर आता है जब्बार पटेल का सिनेमा, जो अपनी तेज नजर से, तीखे अनुमान से, और चिन्हशास्त्रीय भाषा से यथार्थवाद में नई जान फूंक रहा था उनकी 'सामना', 'सिंहासन', 'जैत-रे-जैत' में यह फिल्में तीन अलग अलग भ्रष्ट भूमिकाओं और पहचानों-संवेदनाओं का अभ्यास करती है। उनके एक नाटक 'घासीराम कोतवाल' पर 'युक्त कलेक्टिव' ने फिल्म बनाई थी जिसमें ए. एम् पद्मनाभन, अशोक त्यागी, ओम पुरी, कमल स्वरूप, कमलेंद्र मंडल, कृष्णन हरिहरन, विनोद प्रधान, मणि कौल, मनमोहन सिंह, विनय श्रीवास्तव, वीरेंद्र सैनी, रविंद्र गुप्ता, राजेश गुप्ता, सईद मिर्जा, हितेंद्र घोष ऐसे कई लोग 'युक्त' का सहभाग था। ऐसी सहयोगात्मक लहरें ओड़िसा-केरल में, या बंगाल में भी दिखती हैं। घासीराम नामक यह फिल्म के इतिहास के पन्नों में कहीं खो गई। ऐसे प्रायोगिक और लहरों में बनने वाला सिनेमा उतार-चढ़ाव से गुजरकर ढलान की ओर ही जाता है। सबकी अपनी-अपनी सिनेमा की परिभाषा होती है। ऐसे सहयोगात्मक गुटों के दोस्त रहे पटेल या विकास देसाई विश्ववादी होने के कारण मराठी पहचान के आगे जाने का प्रयास करते रहे। इस विश्वजनीन- या कॉस्मोपॉलिटन-दृष्टिकोण के आलिंगन से मराठी ऐसी कोई अपना आंदोलन न हो पाया क्योंकि वैसा करना 'बॉम्बे मॉडर्न' कहे जाने वाले समूह के सोच से बहुत अलग हो जाता। 'मार्ग' मैगजीन के मुल्कराज आनंद, मराठी अंग्रेजी कवि और विज्ञापन की दुनिया से जुड़े अरुण कोल्हटकर, आलोचक कवि और फिल्मकार दिलीप चित्रे, निस्सीम इजिकल यह सब इस बॉम्बे मॉडर्न का हिस्सा थे अंजलि नेरलेकर अपनी किताब में कहती हैं।

अमोल पालेकर का मराठी सिनेमा (आक्रित, बनगरवाड़ी, कैरी, ध्यासपर्व, समांतर, धूसर) उन्हें 1980 के पूर्वकाल का सिनेमा और 21वीं सदी के मराठी सिनेमा के बीच एक सशक्त सेतु बनाता है। उनके फिल्मों में प्रभात के सुवर्ण युग के छटाओं के साथ साथ, कुंडलकर, उमेश कुलकर्णी, परेश मोकाशी इनके फिल्मों के पूर्वचिन्हों के रूप में प्रसंग- मालिकाएं दिखती हैं। 'ध्यासपर्व' और 'हरिश्चंद्राची फॅक्टरी' इन फिल्मों को तुलनात्मक दृष्टि देखें तो यह बात स्पष्ट हो सकती है। कला के अनेक विधाओं को जानने वाले पालेकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा से, मराठी सिनेमा को और अधिक योगदान दे सकते थे। पु. शि. रेगे- दिलीप चित्रे- अरुण कोल्हटकर इनकी कविता का दृश्य रूप, सिनेमा का भाषा में दिखाने की प्रतिभा उनमें जरूर है। 'थोड़ा-सा रुमानी हो जाए' इस हिंदी सिनेमा में इसका साक्ष्य हमें जरूर मिलता है या 'गानसरस्वती'- किशोरी आमोणकर की व्यक्तित्व और गायनशैली पर आधारित 'भिन्न षड्ज' जैसे फिल्म के कुछ दृश्यों में यह अनुभव प्रतीत होता है।

आंदोलन का रूप लेती लहरों में रचनात्मक ऊर्जाओं को, अर्थपूर्ण प्रक्रिया से सांस्कृतिक धड़ों को भर के रखती हैं। मराठी सिनेमा का सांस्कृतिक बीड़ा पुणे- मुंबई के अभिजात लोगों की मुट्टी में बंद होने के कारण दो अलग तरह का सिनेमा सीधे-सीधे नजर आता है। गांव का सिनेमा, और नागर सिनेमा और इन सिनेमा में काफी संवाद भी है। पटेल जितने इस संवाद को खोलने की कोशिश करते, उतना नया व्यावसायिक सिनेमा मुट्टी बंद करता। इस मुट्टी को पटेल की तरह दूसरे तरफ से खोलने की कोशिश कोंडके ने की। हम कह सकते हैं कि जैसे सिनेमा बनाने वाले कई लोग हैं, वैसे ही देखने वाले कई हैं। अभिजात सिनेमा हमेशा 'बी' सिनेमा को गैर-गंभीर कहकर नकारता है। 'बी' सिनेमा जो अंग्रेजी में 'ट्रैश' और 'पल्प' के करीब माना जाता है, उसमें 'ट्रैश' सिनेमा अभिजात का मजाक उड़ाता है। जैसा वैविध्यपूर्ण सिनेमा; वैसा ही विविधरूपी दर्शक। पुणे के अनुनासिक लहजे में बात करने वाले अभिजात होता है, या पान खाकर हॉल में थूकने वाला भी, भक्त प्रहलाद की फिल्म देखनी वाली और सिनेमा हॉल के बाहर चप्पल उतरने वाला भी, और लावणी पे परदे पर सिक्के फेंकने वाला भी। किसी ने सच ही कहा है, हर समाज में वैसा सिनेमा पैदा होता है, जैसा वह समाज होता है।

आज के दौर में यह बटा हुआ रूप हमें दिखता है कुंडलकर, कुलकर्णी, मंजुले, जाधव और मोकाशी के फिल्मों। कुंडलकर, उनकी मराठी फिल्मों में असंगत या अब्सर्ड- से परे होकर 'राजवाड़े एंड संस' या 'गुलाबजाम' में एक बिखरे घरेलूपन में होने वाली संवृतिभीति (क्लॉस्ट्रोफोबिया) और उससे बाहर निकलने के प्रयास की ओर बढ़ रहे हैं। खाद्य और लिंगभाव का बार-बार एक गहरा संबंध उनके काम में देखा जा सकता है। एक अलग दर्द की टीस 'गिरणी' से लेकर 'थ्री ऑफ अस' से आगे बढ़कर 'विहिर' की गहराई में मृत्यु, भोलापन और अबोधता की राह पर चल रहे हैं- उमेश कुलकर्णी। हालांकि उनके समाज के बाजारीकरण पे बनी 'देऊल' में काफी खामियां हैं क्योंकि फिल्म जिस व्यवहार की आलोचना कर रही है, उसी के मार्ग पर खुद चलने लगती है।

'हाईवे' में भी वे अनेक- कहानियों को संभल नहीं पाते। दो अलग पटलों पर चलने वाली मंजुले की 'सैराट'- पहले अंश में मेलोड्रामा, मंथर कैमरा, और बहुजन की भाषा बोलती है, पर दूसरे अंश में वह नवयथार्थवादी होकर किसी और दिशा में जाते-जाते फिर मेलोड्रामा पर अंत में लौट आती है। यहां सदमा, दहशत और आघात का एक सौंदर्यशास्त्र मानो बनाया है मंजुले ने ऐसा लगता है। अब मेलोड्रामा और नवयथार्थवाद यह दोनों खाली पात्र या बर्तन की तरह होते हैं उनमें कुछ और भरना

पड़ता है। अभी मंजुले बच्चन के साथ फिल्म बना रहे हैं, और उनका प्रतिरोधक सिनेमा अब सुधारकवादी बनने की पूरी आशंका है। बच्चन खुद 'एंग्री यंग मैन' से परंपरावादी, न्याय, और समस्याप्रधान सिनेमा करने लगे हैं। सालों से चले आ रहे ब्राह्मण अनुनासिक आवाजों से लैस टीवी से बचाकर एक नई-सी बोली से भाषिक सिनेमा को उभारने वाले मंजुले अब कहां जाएंगे यह देखना दिलचस्प होगा।

मोकाशी मराठी सिनेमा में दृढ़ता से परंपरा-आधुनिकता का प्रश्न पूछ रहे हैं। उनका मिथकीय और ऐतिहासिक दृष्टिकोण सराहना होगा इसमें कोई दो राय नहीं। मोकाशी, आज के सिनेमा में, अपने निडर आशावाद से एक नई सांस फूंक रहे हैं। जहां उनके पात्र दिन में तारे देखते हैं, कभी सोचते, कभी गलतियों से सीखते हैं, हार से नई लड़ाइयां शुरू करते हैं। उनकी नजर में एक अनूठी अनुकंपा, सहानुभूति है। उनका मिथकीय और ऐतिहासिक दृष्टिकोण सराहना होगा इसमें कोई दो राय नहीं।

आज 'न्यूड' जैसी फिल्म से सालों से चले रहे काया को लिंगभेद-लिंगभाव, शरीर-वस्त्र, प्रति-संस्कृति की झालर से आगे बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं। उनकी पहले बनी फिल्मों में- नटरंग, बाल-गंधर्व और बालक पालक में यह दिशाएं पहले से ही दिखाई देती हैं। न्यूड हाल ही में, इफ्फी में दिखने से रोक दिया गया था पर अभी यह फिल्म सिनेमा-घरों में चल रही हैं। कुंडलकर ने न्यूड लिखी है और जाधव या कुंडलकर, दोनों काया को उसके सबसे चेतनापूर्ण अवस्था में देखते हैं पर उस पर जमी जातीयता की चमड़ी के उतने करीब नहीं जाते। एक सवाल पूछना ही चाहिए- क्या इस जात की परत से जुड़ी काया एक कुछ अलग अनुभूति से फिल्मों में आती है, या उन्हें अलग जिए गए सामाजिक गलियारों से फिर से बंधा हुआ मानना चाहिए?

आज हमें नए सवालों की जरूरत है, नए अभिनिवेश की नहीं। सच्ची आलोचना की जरूरत है, फेसबुक के किए हुए लाईक की नहीं। रुचिपूर्ण सिनेमा जितना महत्वपूर्ण है उतना ही साधारण, रोजमर्रा का, या 'ट्रैश' सिनेमा भी जरूरी है। मराठी सिनेमा में लहरें नहीं प्रवेग, स्फुरण है, आंदोलन नहीं आलोड़न या क्षोभ है, परिवर्तन नहीं परिक्रमण है। ये कोई बुरी बात नहीं कि ऐसा हो रहा था, और हो रहा है। नई आवाजें, नए आयाम, नए निकष और नई कहानियां जो हमारे इर्द-गिर्द अगल-बगल में घट रही हैं, उन्हें देखना, सुनना, समझना, समझाना, कहना जरूरी है। ■

मराठी रंगमंच

अविनाश कोल्हे

अनुवाद : ओमप्रकाश शर्मा

मराठी रंगमंच का इतिहास वैभवशाली है। आज भी भारत में कार्यरत विविध रंगमंचों के अंतर्गत मराठी रंगमंच का स्थान सम्माननीय है। यह स्थान हाल ही में प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि इसके पीछे कई पीढ़ियों की अनगिनत मेहनत है। हरेक पीढ़ी अपनी थाती अपने तरीके से आगे ले जाती है।

आज के मराठी रंगमंच का अपना बहुत बड़ा इतिहास है, जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से आरंभ होता है। सन् 1843 में विष्णुदास भावे ने सांगली में 'सीतास्वयंवर' नाटक मंचित किया। वह मराठी रंगमंच की गंगोत्री समझी जाती है। इस नाटक के प्रस्तुतीकरण में पड़ोसी राज्य 'कर्नाटक' की 'यक्षगान' नामक नाट्य शैली का ज्यादा इस्तेमाल किया गया। यह बात दर्ज है कि इस नाटक को देखने के लिए सांगली के सरदार पटवर्धन पधारे थे। 'सीतास्वयंवर' नाटक का मंचन बहुत ही सफल होने से विष्णुदास भावे ने रामायण की कई कथाओं पर नाटक पेश किए। भावे के नाटकों पर मुंबई इलाके में जोर-शोर से जारी 'पारसी थिएटर' का प्रभाव था। कालानुरूप पौराणिक नाटकों का मंचन रंगमंच पर किया जाता था।

विष्णुदास भावे द्वारा आरंभ किए गए मराठी रंगमंच के पश्चात एक महत्वपूर्ण मोड़ सन् 1880 में आया, तब अण्णासाहेब किर्लोस्कर ने 'संगीत नाटक' का श्रीगणेश किया। किर्लोस्कर ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाटक से प्रेरणा ग्रहण करके 'संगीत शाकुंतल' नामक संगीत मराठी नाटक पुणे में पेश किया। उनके 'किर्लोस्कर नाटक कंपनी' ने मराठी में व्यावसायिक नाटक कंपनियों का नया पर्व आरंभ किया। इस काल पर नाटककार कोल्हटकर, अण्णासाहेब किर्लोस्कर, कृष्णाजी प्रभाकर खाडीलकर, गोविंद वल्लभ देवल, राम गणेश गडकरी आदि नाटककारों का प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव लगभग आधी सदी तक रहा। इस जमाने के बालगंधर्व, दीनानाथ मंगेशकर केशवराव भाले आदि स्टार कलाकर थे। सन् 1880 से सन् 1920 तक का समय भारतीय राजनीति में 'तिलक युग' के नाम से जाना जाता है। उस जमाने में लोकमान्य तिलक की राजनीति बहुत विख्यात थी। उनके द्वारा स्वराज्य प्राप्ति के लिए जारी कोशिश से मराठी समाज सम्मोहित हो उठा था। इस बात से मराठी रंगमंच अलिप्त कैसे रह पाता। इसके बढ़िया उदाहरणस्वरूप कृष्णाजी प्रभाकर खाडीलकर द्वारा सन् 1907 में मंचित 'किचक वध' नाटक का नामोल्लेख कर सकते हैं। इस नाटक का सृजन इस प्रकार किया गया था- कीचक यानी तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड कर्जन, द्रौपदी यानी भारत माता, भीम

आक्रामक राष्ट्रवाद का प्रतीक, युधिष्ठिर यानी मध्यमार्गी राजनीति का प्रतीक था। इसका प्रस्तुति करण बहुत ही विस्फोटक था। ऐसी कला/साहित्य पर पाबंदी हेतु ब्रिटिश सरकार ने सन् 1910 में 'इंडियन प्रेस ॲक्ट' को मंजूरी दी तथा इस कानून के तहत 'किचक वध' नाटक पर सन् 1910 में पाबंदी लगाई। उसके पश्चात अनबोलती फिल्मों (मूकपट) का जमाना आरंभ हुआ यह मनोरंजन का तकनीकी आविष्कार बहुत जल्द जनप्रिय हुआ। दादासाहेब फाल्के ने सन् 1913 में 'राजा हरिश्चंद्र' नामक पहली अनबोलती फिल्म बनाई। इस नए कला प्रकार ने दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। सन् 1920 से संगीत नाटक का प्रभाव कम हुआ। तत्पश्चात मराठी नाटक को बोलती फिल्मों के साथ मुकाबला करना पड़ा। सन् 1932 में मराठी की पहली बोलती फिल्म 'अयोध्या राजा' प्रदर्शित हुई। रसिकों को यह नया मीडिया बहुत पसंद आया। इसका असर मराठी रंगमंच पर कुछ समय तक हुआ और यहीं से मराठी रंगमंच के बुरे दिन शुरू हुए जो कि सन् 1940 के दशक तक बना रहा। कुछ अध्येताओं के मतानुसार सन् 1920 से 1930 तक का समय मराठी रंगमंच के लिए दौलायमान समय था। ऐसा होने के बावजूद इस परीक्षा की घड़ी में मामा वरेकर, आचार्य अन्ने, माधवराव जोशी, रांगणेकर आदि नाटककारों द्वारा प्रदान किया गया योगदान उल्लेखनीय है।

इसी संदर्भ में सन् 1933 में 'नाट्यमन्वंतर' नामक नाट्यसंस्था की स्थापना और उसके द्वारा 'आंधळ्यांची शाला' (अंधों की पाठशाला) नाटक का मंचन बहुत ही महत्वपूर्ण घटना है। के. नारायण काले, अनंत काणेकर, पार्श्वनाथ आलतेकर, केशवराव दाते, केशवराव तथा ज्योत्स्ना भोले जैसे दिग्गज कलाकार इस नाटक से जुड़े थे। 'आंधळ्यांची शाला' के मंचन की विशेषता यह है कि परंपरा से जारी संगीत-पौराणिक, ऐतिहासिक नाटक नकारकर, एक अंक एक प्रवेश की प्रस्तुति, पदों के बजाय भावगीत-कविताओं का मंचन करके कम से कम नेपथ्य के साथ यथार्थवादी नाटक का निर्माण करना। 'आंधळ्याची शाला' नाटक यॉर्नसन लिखित 'गॉटलेट' नामक मूल नाटक का नाट्य रूपांतर था। यथावकाश 'नाट्यमन्वंतर' नाट्य संस्था काल के परदे के पीछे चली गई।

आजादी प्राप्त होने से पूर्व ही मराठी रंगमंच का शतकोत्सव सन् 1943 में संपन्न हुआ। इस शतकोत्सव की वजह से मराठी रंगमंच को संजीवनी प्राप्त हुई। इसका मुख्य श्रेय मुंबई मराठी साहित्य संघ तथा मुंबई के अन्य नाट्य संस्थाओं को प्रदान किया जाता है। डॉ. अमृत नारायण भालेराव की कोशिश इस संदर्भ में रंग लाई। इस महोत्सव में साहित्य संघ द्वारा 'संगीत-शारदा' नाटक का मंचन किया गया।

इसके बाद का अगला चरण यानी 1950-51 के दौरान मुंबई के भारतीय विद्या भवन संस्था द्वारा अंतर-महाविद्यालयीन स्तर पर एकांकी प्रतियोगिताओं के आयोजन से शुरू हुआ। इस प्रतियोगिता की वजह से कई युवा कलाकार रंगमंच की ओर आकर्षित हुए। इतना ही नहीं उनके द्वारा किए गए श्रम से रंगमंच को बल मिला। ऐसी प्रतियोगिताओं से रंगकर्मियों की एक पीढ़ी मैदान में डर गई। इसके अंतर्गत दामू केंकरे, विजया मेहता, नंदकुमार रावते, रत्नाकर मतकरी, अरविंद-सुलभा देशपांडे, विजय तेंदुलकर, कमलाकर सारंग जैसे कई नामों का समावेश किया जा सकता है।

पुणे में भी मुंबई के समानांतर एक आंदोलन आकार ग्रहण कर रहा था। पुणे में भालबा केलकर, डॉ. श्रीराम लागू, वासुदेव पालंदे आदि ने 'प्रोग्रेसिव्ह ड्रॅमॅटिक एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना

19 अक्टूबर 1951 में करके महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया गया।

अंत में, सन् 1960 में मुंबई में 'रंगायन' नामक संस्था स्थापित की गई। यह संस्था मराठी रंगमंच के इतिहास का महत्वपूर्ण चरण सिद्ध हुई। भारतीय विद्या भवन की प्रतियोगिता से नाम कमाए कलाकारों ने सोचा कि हमें प्रतियोगिता के अतिरिक्त अलग नाटक निर्माण करना चाहिए। इसी सोच ने 'रंगायन' को जन्म दिया। 'रंगायन' ने अपने दस वर्ष के सफर में कई नाटकों तथा एकांकियों का मंचन किया। उसमें से जल्दी से याद आने वाले नाम हैं- 'ससा आणि कासव' (खरगोश और कछुवा), 'एक शून्य बाजीराव', 'मी जिंकलो मी हरलो' (मैं जीता मैं हारा), 'शांतता कोर्ट चालू आहे' (खामोश अदालत जारी है), 'मादी', 'खुर्च्या' (कुर्सियां) आदि नाटकों ने इतिहास गढ़ा।

प्रा. सं. शि. भावे के अनुसार, 'सन् 1955 से नाटकों की पुरानी संहिताओं का स्वरूप बदला, नायक-नायिका, उपनायक-उपनायिका जैसे पात्र, उलझे हुए, पक्की गांठवाले, सुलझाने वाली पद्धति की रचनाएं रहस्य-उत्सुकता-उत्कर्षबिंदु का व्यूह सारे पीछे छूट गए। इन सभी की आवश्यकता समाप्त हुई बल्कि नए आशय को इन सारी बातों की रुकावट होने लगी। नए आशय के जोरदार दबाव से संहिता लेखन के पुराने संकेत नष्ट हो गए। इस समय 'माणूस नावाचे बेट, 'वेड्याचे घर उन्हांत' नामक नाटकों का सृजन जानबूझकर किया गया एक नया प्रयोग है।'

'रंगायन' नाट्य संस्था और उसके द्वारा किए गए कार्य का संकेत ऊपर आ चुका है। यह संस्था व्यक्तिगत मत भिन्नता की वजह से सन् 1970 में निष्क्रिय हुई। इस संस्था से अरविंद देशपांडे, अरुण काकडे, सुलभा देशपांडे आदि रंगकर्मियों ने नाता तोड़ा। उन्होंने 'आविष्कार' नामक नाट्य संस्था स्थापित की। इस संस्था ने सन् 1971 में गिरीश कर्नाड लिखित महत्वपूर्ण नाटक 'तुघलक' का मंचन किया। इसका अनुवाद विजय तेंदुलकर ने किया था। रंगमंच के सौभाग्य से 'आविष्कार' नाट्य संस्था को दादर स्थित छबिलदास पाठशाला में स्थान उपलब्ध हुआ। छबिलदास में अपने नाटकों का मंचन जानबूझकर करने का बीड़ा सत्यदेव दुबे, अमोल पालेकर, अरविंद, सुलभा देशपांडे, श्रीराम लागू आदि ने उठाया। देखते ही देखते यह समीकरण बन बैठा कि 'छबिलदास' एक पाठशाला के नाम के बजाए प्रायोगिक रंगमंच की अपनी हक की जगह है। मुंबई के प्रायोगिक रंगमंच में 'आविष्कार' एवं 'छबिलदास' ने नए प्राण फूंक दिए।

पुणे की 'थिएटर अकादमी' नामक एक ओर नाट्यसंस्था सन् 1970 से 1980 के दशक में और बाद में भी नाट्य विषय के संदर्भ में काम करने वाली महत्वपूर्ण संस्था के रूप में 'घासीराम कोतवाल' नाटक से विख्यात हुई।

इस मध्यधारा के 'घटनानुसार और भी कुछ धाराओं' पर विचार करना आवश्यक है। इसमें से एक धारा का नाम है- 'मजदूर रंगमंच'। इसमें अभिनेता, नाटककार, निर्देशक तथा दर्शक सभी मजदूर विभाग के होने से इस रंगमंच को 'मजदूर रंगमंच' संबोधित करते हैं। सन् 1922 के 20 सितंबर को मजदूर नेता ना. म. जोशी ने 'सहकारी मनोरंजन मंडल' की स्थापना की। मजदूर रंगमंच के प्रारंभिक समय में ऐतिहासिक नाटक बड़े पैमाने पर लिखे गए और वे विख्यात भी हुए। अल्प पढ़े तथा अनपढ़ मजदूर रंगकर्मियों को पसंद आ पाए ऐसे सहज-सरल नाटकों का सृजन किया गया। जो कि कल्याण खजिना, 'प्रतापगढ़' आदि नाटकों के नाम से ही ज्ञात होता है। आजादी के पश्चात 'मजदूर रंगमंच' गतिशील हुआ। सन् 1953 में 'मजदूर कल्याण मंडल' की स्थापना हुई और सन्

1964 से 'अंतर-मिल नाट्य प्रतियोगिताएं' आरंभ हुईं। सन् 1991 में भूमंडलीकरण की वजह से अन्य चीजों की तरह 'मजदूर रंगमंच' का उत्साह कम हो गया। अपवाद स्वरूप सन् 1990 के दशक में जयंत पवार लिखित नाटक 'अधांतर' का मंचन हुआ। जयंत पवार ने सन् 1982 में आरंभ हुईं और आगे भी द्वाइं वर्षों तक जारी रहने वाली मिल हड़ताल से समापन की कगार पर आया मिलगांव, परिणामस्वरूप वहां के नौजवान अपराध जगत की ओर मुड़ गए इस विषय को लेकर कलात्मक दृष्टि से बढ़िया नाटक लिखा।

'मजदूर रंगमंच' की तरह उल्लेखनीय एक शाखा निर्मित हुई जिसे 'दलित रंगमंच' कहते हैं। इस रंगमंच का उद्देश्य था कि नाट्य साहित्य के माध्यम से दलित आंदोलन को गति प्रदान करना। प्रा. रूस्तम अचलखांब लिखित 'कैफियत' (1982) नामक दलित विषयक नाटक की प्रस्तावना 'अस्मितादर्श' के संपादक पानतावणे ने लिखी थी, जिसमें उन्होंने 'दलित रंगमंच' की विशेषताओं पर प्रकाश डाला था। प्रस्थापित व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह, समस्या प्रधानता, मूल्यगर्भिता, परिवर्तन प्रवृत्ति का स्वीकार, दलित जीवन के सामाजिक दुखों का आविष्कार आदि दलित रंगमंच की विशेषताएं हैं। इस रंगमंच के आरंभिक नाटक हैं- 'कालोखाच्या गभति' (भि. शि. शिंदे), 'आम्ही देशाचे मारेकरी' (टेक्सास गायकवाड), 'साक्षीपुरम' (रामनाथ चव्हाण), 'घोटभर पाणी' (प्रेमानंद गज्वी)। सन् 1990 के आसपास दलित समाज में भी बड़े पैमाने पर मध्यवर्ग निर्मित हुआ। परिणामस्वरूप दलित रंगमंच पर आरंभ में दिखाई देने वाली आंच बहुत कम हो गई। ऐसा होने के बावजूद आज भी 'कोण म्हणतो टक्का दिला?' (संजय पवार), 'खैरलांजी (प्रज्ञा पवार) लिखित नाटकों का मंचन जारी है।

आज के मराठी रंगमंच की ज्यादा आशादाईं स्थिति नहीं है। एक आंदोलन तो लगभग समाप्त हो चुका है इसलिए आंदोलन के लिए जो माहौल चाहिए वैसा रहा ही नहीं। अलग-अलग नाट्य प्रतियोगिताएं जारी हैं और उसमें नौजवानों की पीढ़ी नाटकों का मंचन कर रही है लेकिन ऐसा करते समय उनकी एक आंच व्यावसायिक रंगमंच की ओर तो दूसरी आंच टीवी धारावाहिक की ओर से होती है। नई, अच्छी विचारोत्तेजक संहिता सामने नहीं आ पा रही फिर भी इसके भी अपवाद हैं। आशुतोष पोतदार (फ 1/105 आणि सिंधू, सुधाकर, रम आणि इतर), मकरंद साठे (चारशे कोटी विसरभोले, चौक), ऐसे इने-गिने नाम हैं। इस स्थिति की वजह से शायद सुनील बर्वे ने कुछ दिनों पहले 'हर्बेरियम' के अंतर्गत 'हमीदाबाईची कोठी, 'बॅरिस्टर' आदि नाटकों का मंचन किया। आज भी महेश एलकंचवार और सतीश आलेकर जैसे वरिष्ठ नाटककार हैं। लेकिन उनकी लेखनी रुकी हुई-सी लगती है। यह स्थिति ज्यादा अच्छी नहीं है। आज की पीढ़ी को स्वयं को कुछ सूझ नहीं रहा और न वे वैश्विक स्तर के नाटकों का मराठी में मंचन करना चाहते हैं। एक जमाना था, जब विजय तेंदुलकर जैसे श्रेष्ठ नाटककार गिरीश कार्नाड, मोहन राकेश जैसों के नाटक मराठी में अनूदित करते थे। लेकिन आज की पीढ़ी खुद के लिखे स्तरहीन नाटकों का मंचन करने में धन्यता मान रहे हैं। संक्षेप में आज का समय मराठी रंगमंच के लिए अच्छा समय है, ऐसा कहना मुश्किल है। हम आशा करते हैं कि ये दिन ज्यादा दिनों तक नहीं टिकेंगे। ■

उपन्यासों की आलोचना का परिदृश्य

रामचंद्र सालुंखे

अनुवादक : गोविंद बुरसे

उपन्यास लेखन की प्रेरणा लेखक को समकालीन जीवन से मिलती है। उपन्यास का एक बिंदु समाज होता है तो दूसरा बिंदु होती है कलाकृति। आनंद और मनोरंजन से भी जीवन के संदर्भ में विस्तृत संचेतनाओं का ज्ञान करा देना उपन्यास का वास्तविक उद्देश्य होता है। घटित घटनाओं का अपनी भूमिका से विश्लेषण कर रचना करते जाना यह प्रायः कथात्मक साहित्य में होता है। वास्तविक रूप से जीवन जीने के अनुभवों की पुनर्रचना उपन्यासकार उपन्यास में करता है। विभिन्न संभावनाओं और उत्तरों के विकल्प उससे निर्माण होते हैं। वास्तविक जीवन में एक ही विकल्प होता है। जीवन जीने से उपन्यास का विभ्रम ज्यादा वास्तविक लगता है अर्थात् श्रेष्ठ उपन्यास में ही यह संभव होता है। ऐसी स्थिति में पाठक को वास्तविक जीवन से उपन्यास व जीवन अधिक अच्छा लगने लगता है। इसी कारण यथार्थवाद का विचार होता है खासकर उपन्यास के संदर्भ में ही। कविता, कहानी, इतना ही नहीं नाटकों के संदर्भ में भी यह विचार बहुत अधिक नहीं होता लेकिन उपन्यास में इस यथार्थ का विचार ही नहीं, उसके साथ कल्पना का विचार भी अनिवार्य रूप से करना पड़ता है।

उपन्यास और अन्य साहित्य विधा में भेद करते हुए उपन्यास की पृष्ठ संख्या, कीमत का ज्यादा होना और उसे पढ़ने में लगने वाला समय इन बातों का भी विचार करना पड़ता है। इस कारण मनोरंजन के लिए उपन्यास की ओर मुड़ने वाले पाठक तुलना में कम ही दिखाई देते हैं। इन सभी बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि उपन्यास पठन एक गंभीर प्रक्रिया है। (अर्थात् मनोरंजनात्मक, रहस्यवादी और ऐतिहासिक उपन्यासों को इसमें से छोड़ना होगा)

लेखक को अपनी जीवन कथा सामाजिक स्तर पर व्यक्त करने की पद्धति प्रजातांत्रिक समाज व्यवस्था में अधिक महत्वपूर्ण लगने लगी। उसमें से उपन्यास जैसी साहित्यिक विधा विकसित हुई दिखाई देती है। वह व्यक्तिगत स्वरूप की कहानी होने पर भी उसे सामाजिक स्वरूप प्राप्त हुआ दिखाई देता है। उसी कारण उपन्यास का स्वरूपगत ढांचा बहुत शिथिल हुआ दिखाई देता है। साठ के बाद भिन्न-भिन्न समाज स्तरों से आए उपन्यास अधिकतर निम्न स्तर के शोषण और दुखद समस्याओं की कथा हैं लेकिन इस उपन्यास धारा ने जीवन के अलग-अलग पक्ष खोजते हुए गहराई लाने का प्रयास किया हो ऐसा दिखाई नहीं देता। उपन्यास और समाज की सीमा रेखा को धुंधला करते हुए इन उपन्यासों ने समाज के विभिन्न तबकों का परिचय पाठकों को करा दिया है। समाज

का उपन्यास से होने वाला संबंध अधिक स्पष्ट हुआ है। ऐसी स्थिति में उपन्यास की आलोचना को इस साहित्य विधा के संदर्भ में स्वागतपरक भूमिका रखना आवश्यक था और आगे इस आलोचना की यात्रा विश्लेषण-विवेचन की ओर होना आवश्यक भी, वह वैसी नहीं दिखाई देती है। यह आलोचना हर समय कृति को केंद्र में रखती ही है, ऐसा नहीं। कुछ सामाजिक शास्त्रों की ओर जाने वाली यह भूमिका बहुत बार तो उपन्यास का कथानक अपनी भाषा में व्यक्त करती है। इस कारण विश्लेषण-मूल्यांकन के बजाए संस्तुतिपरक आलोचना इस समय लिखी गई। साठ के बाद की आलोचना की यात्रा उपन्यास निर्मित के समानांतर होते हुए दिखाई देती है। उपन्यास को समझ लेते हुए उसकी त्रुटियों को पहचान कर उसे दिशा देने का काम भी इस आलोचना ने किया है, तो कभी वह इन उपन्यासों के साथ बहते भी गई है। सैद्धांतिक, व्यावहारिक और बड़ी विस्तृत मात्रा में लिखी गई आस्वादनपरक इन तीनों भेदों में उपन्यास की आलोचना की गई है।

मराठी में साठ के बाद की आलोचना धारा प्रमुखतः भालचंद्र नेमाड़े, विलास सारंग और डॉ. हरिश्चंद्र थोरात ने आगे बढ़ाई। चंद्रकांत बांदिवडेकर तथा चंद्रकांत पाटील द्वारा उपन्यास की आलोचना का विचार भी यहां किया जाने वाला है। उसी तरह फुटकर रूप में लिखी गई आलोचना भी प्रतिनिधि रूप में विचारार्थ रखी गई है। आलोचना का विचार करते हुए मुख्यतः उपन्यास विधा को ही केंद्र में रखा गया है।

इस काल में साहित्यिक प्रतिमानों के मानदंड लगाकर मराठी उपन्यासों का अच्छा प्रबंधन भालचंद्र नेमाड़े ने किया है। यह प्रबंधन उन्होंने अधिकतर अर्थवत्ता और शैली इन मानदंडों के आधार पर किया है। रीति, शैली, नैतिकता और भाषिक कृति, आदि संज्ञाएं प्रयुक्त कर, उनके द्वारा की गई उपन्यास आलोचना चर्चा का विषय बन गई है। 'उपन्यास विधा के जड़ पकड़ने के लिए हमारी परंपरा उपकारक-अनुकूल रही हैं; यह उनका यह विचार स्वीकारना पड़ता है। नेमाड़े ने सामाजिक स्वरूप के उपन्यासों का स्वागत कर ऐतिहासिक और पारंपरिक ढांचागत उपन्यासों को नकारा। उनकी भूमिका कुल मिलाकर जीना और लिखना एक ही स्तर पर लाने वाली है। लेखक भी एक मनुष्य होता है, मन के प्रश्न लेखक की कृति में उतरते हैं, उसमें से वह कुछ विचारधारा बनाता है और उसके लिए भाषिक कृति करता है, ऐसा कहते हुए नेमाड़े ने उपन्यास के कुछ अंशों पर जोर दिया है। उपन्यास आलोचना में उनके द्वारा नव नैतिकता, देशीयता, भाषिक कृति, यथार्थवाद संज्ञाओं को कुछ मराठी पूर्व परंपरा होने पर भी नेमाड़े ने नए सिरे से रखी। यह नैतिकता, 'स्थितिशील, भावुक, पूर्णतः व्यक्तिगत स्वरूप के, बलिष्ठ बोधवादी, प्रचार स्वरूप के स्थापित संस्थात्मक नैतिकता को बारीकी से अलग किए बगैर उपन्यासकार से न्याय न कर सकेगी। (टीकास्वयंवर, 2001)

देशीवाद की परंपरा को अंधेपन से स्वीकारना संभव नहीं, उसी तरह विश्लेषण के बगैर का छिछला यथार्थवाद भी स्वीकारने जैसा नहीं। उसी तरह इस संदर्भ में नेमाड़े ने भूमिका की खींचातानी कर अंतिम हिस्से तक ले जाकर खत्म करने जैसी भी नहीं? नेमाड़े ने अपनी प्रस्तुति में कुछ संज्ञाएं जोर देकर आगे बढ़ाई है तो कुछ उनके विवेचन में धुंधली हो गई है। उनकी आलोचना और उपन्यास इन दोनों विधाओं में आए इस संदर्भ का लेखन देखना पड़ता है। वास्तववाद और देशीवाद का विश्लेषण विवेचन करना नेमाड़े ने उपन्यासों में टाल दिया है, ऐसा नहीं दिखता। ऊबाऊ यथार्थ नेमाड़े ने टाल दिया है। फिर भी नेमाड़े के सभी विचार स्वीकार किए जाएं, ऐसा नहीं। 'समाज ने

निश्चित की अर्थ की संकल्पना संस्था लेखक के लिए अनिवार्य होती है।' (टीका स्वयंवर, 2001) ऐसा जब वे कहते हैं तब वे यथार्थ का स्थापित रूप स्वीकारने को कहते हैं' शायद, ऐसा लगता है लेकिन यह दिखाई देता है कि उनके उपन्यास कभी भी ऐसा नहीं करते। इस संदर्भ में डॉ. हरिश्चंद्र थोरात का एक कथन ध्यातव्य है। वे कहते हैं- 'नेमाड़े का अनुकरण करने वाले उनके अनुगामी या तो उनके उपन्यासों का नीरस संस्करण निकालते हैं या फिर उनके उपन्यासों का अनुकरण न करते हुए उनकी आलोचना का अनुकरण कर कला रहित यथार्थवाद के आगे चलने लगते हैं।' (गेल्या पन्नास वर्षातील कादंबरीचा आकृतिबंध, गेल्या अर्ध शतकातील मराठी कादंबरी, 2007) थोरात का यह कथन स्वीकारना पड़ता है। इधर के 'ब-बलीचा', 'चालेगत' आदि उसी धारा के उपन्यास होने पर भी वे अलग रास्ते से जाने वाली और रचनात्मकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकने जैसे हैं। ऐसे कई प्रकार के उपन्यास नब्बे के बाद लिखे जाने लगे लेकिन आशय की दृष्टि से होने वाली पुनरावृत्ति उन्हें लगी। नेमाड़े का उपन्यास विषयक विचार किसी ने आगे बढ़ाया, ऐसा नहीं दिखता। उनका किया उपन्यास का प्रबंधन भी इससे आगे के समय में नहीं हो पाया।

विलास सारंग भी इस काल के एक महत्वपूर्ण उपन्यास आलोचक हैं। सारंग ने मराठी के नव उपन्यास की आलोचना की है। पश्चिमी उपन्यासों की आधुनिकता, व्यक्तिवाद आदि का प्रमाण देकर उन्होंने, 'कोसला', 'अजगर', 'सात सक्कं त्रेचालीस', 'हॅट घालणारी बाई' इन नव उपन्यासों की आलोचना की है। उसमें उन्होंने अस्तित्व संबंधी, नायक के सामान्यीकरण के साथ होने वाला विशेषीकरण, पागलपन, काव्यात्मकता, पारंपरिक रचना टालना, उसमें आने वाला जीवन विषयक दर्शन, असाधारण मनोवस्थाओं का आकर्षण, मध्यवर्गीय मनोवृत्ति से छुटकारा आदि विशेषताएं व्यक्त की हैं लेकिन मराठी मिट्टी में अभी तक तो ऐसे उपन्यासों ने जड़ नहीं पकड़ी।

सामाजिक परिस्थिति की पूछताछ और उस कारण वह मूलतः भारतीय परंपरा के अनुरूप नहीं हैं। उस कारण उपन्यास विधा यहां जड़ नहीं पकड़ती। वी. एस. नायपॉल के मत का आधार लेते हुए सारंग ने कहा है कि- 'भारतीय मूल प्रवृत्ति के अनुकूल उपन्यास विधा नहीं है, उपन्यास की तुलना में कहानी विधा हमारे लिए स्वास्थ्यवर्धक दिखाई देती है।' (सर्जन शोध आणि लिहिता लेखक, 2007) इस काल में लिखे हुए उपन्यासों ने उनकी धारणा गलत सिद्ध कर दी है। जिस तरह से नई कहानी, नई कविता निर्माण हुई वैसे नए उपन्यास यहां निर्माण नहीं हुए ऐसा कहते हुए, 'उपन्यास का स्वरूप सामाजिक होता है' इस तथ्य की ओर उनका ध्यान नहीं दिखता। अगले समय में उपन्यास के विभिन्न रूप सामने आए हैं। सारंग का ऐसा ही एक उपन्यासों के लघुरूपों का मुद्दा भी नब्बे के बाद के उपन्यासों ने समाप्त किया दिखाई देता है। सारंग यथार्थवाद का संबंध भौतिक संपन्नता को गिनने के लिए और उपन्यास का संबंध संकलक से जोड़ते हैं। यथार्थवादी उपन्यास मात्र संकलन नहीं करते, इस और वे ध्यान नहीं देते। यथार्थवाद विदेशी है, वह भारतीय मानस में जड़ नहीं पकड़ेगा, उपन्यास साहित्य विधा भी ऐसे विदेशीपन के कारण यहां की भूमि में जड़ नहीं पकड़ेगी, यह सारंग का मत स्वीकारने जैसा नहीं है, लेकिन हमारा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण जांच पड़ताल में बाधा बनता है, उनकी यह बात स्वीकारना बाध्यकारी हो जाता है। सारंग का विवेचन नया लगता है, लेकिन वे वंश परंपरा और जैविकता को अति महत्व देते हैं। उस तुलना में परिवर्तनों और सामाजिक गति को उतना महत्व देते हुए नहीं दिखाई देते। उपन्यास निर्मित में अन्य कारक

भी महत्वपूर्ण है, यह बात दिमाग में रखनी पड़ती है।

मराठी उपन्यास भारतीय स्तर पर और भारतीय उपन्यास वैश्विक स्तर पर श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में कहां पिछड़ता है, इस संदर्भ में बहुत चर्चा हुई दिखाई देती है। इसमें भारतीय स्तर पर दिखाई देने वाले हिंदी-अंग्रेजी साहित्य के अध्ययनकर्ता, यह चर्चा करने में बहुसंख्य हैं। भारतीय समाज व्यवस्था के जाति-वंश की सीमाओं के कारण लेखक के अनुभवों को होने वाली सीमाएं, उस कारण संपूर्णता की संचेतना निर्माण न होना, टूटकर गिरने के कारण समाज की ओर तटस्थता से देख न पाना, रिश्तों-संबंधों का संस्कार, परिवार निष्ठता और उसका गृहस्थ होना इन बातों का उल्लेख चंद्रकांत बांदिवडेकर ने किया है। इस संदर्भ में उन्होंने, 'पापी, चोर, डाकू, अपराधी, हिंस्र, कामभाव से ग्रस्त, नैतिकता और आदर्श को ठोकर मारकर वर्तन करने वाला आदमी कैसा होता है इसका गहराई से चित्रण भारतीय लेखक नहीं कर सकता,' (साहित्याचे अर्थ शोध आणि बोध, 2008) ऐसा कहा है, वह मराठी उपन्यासों पर भी लागू है। बेचैन करने वाला, जीवन की संपूर्णता होने वाला, विस्तृत अनुभव व्यक्त करनेवाला, बहुआयामी अनुभव देने वाला उपन्यास बांदिवडेकर की अपेक्षा है। उनकी आलोचना जीवनवादी लगती है, लेकिन वास्तव में वह समन्वय करने वाली है। यथार्थवाद की सीमाएं व्यक्त करते हुए वे साहित्य के वातावरण का विचार करते हैं, अध्ययन के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से उपन्यास को देखना उन्हें सीमित लगता है। 'अपनी दृष्टि से उपन्यास के जीवन अनुभवों पर आकार और अर्थ-रोपित न करते हुए उपन्यास में निहित जीवनानुभव अपने मन में उतारना, यह मर्मशोधन की पहली आवश्यक शर्त है।' ऐसा उन्होंने इस संदर्भ में कहा है। गांधीवाद, मार्क्सवाद, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण आदि कुछ दृष्टियों से बांदिवडेकर ने मराठी उपन्यासों में से कुछ उपन्यासों की आलोचना की है। वि.स.खांडेकर, श्री ना. पेंडसे, गो. नी. दांडेकर इन उपन्यासकारों पर और 'बिढार', 'जरीला', 'गोतावला', 'जोगीण', 'अधोलोक', ऐसे कुछ उपन्यासों पर प्रदीर्घ लेख लिखकर व्यावहारिक आलोचना को समृद्ध किया है। बांदिवडेकर कुछ मानदंडों के आधार पर इन उपन्यासों के मूल्यांकन करते हैं। अच्छे लगने वाले उपन्यास ऐसी आलोचना के लिए चुनना इस काल में विशेष है।

चंद्रकांत पाटील का 'कळविषयी' लेख व्यावहारिक आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण है। समकालीन कथात्मक साहित्य की विशेष प्रवृत्तियां व्यक्त कर 'ऐसे प्रश्नों के और विखंडित स्वरूप के, स्वरूप का संतुलन रखने के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले कथातंत्र के प्रयोग के कारण, दर्शन मीमांसा, सत्ताशास्त्र-दर्शन-जीवन समस्याओं से आसानी से खेलते रहने के कारण और कथात्मक कल्पनाशीलता के कारण 'कळ' का स्वरूप पारंपरिक उपन्यासों से अलग हुआ है। 'कळ' को विश्व के समकालीन कथात्मक साहित्य के सामने रखा जाना चाहिए।' (कळविषयी, आणि तोपर्यंत, 2001) इस तरह 'कळ' का स्थान खास ढंग से वे तय करते हैं। सभी उपन्यासों की समीक्षा करना उपन्यासों की आधुनिक आलोचना हो सकती है।

पाटील ने 'कोसला' उपन्यास की भाषा-शैली का शास्त्रीय दृष्टि से किया गया विवेचन उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है। गद्य की शैली शास्त्रीय दृष्टि से की गई वह पहली आलोचना होगी। 'आधुनिकता' संकल्पना के आधार पर उन्होंने कुछ उपन्यासों की जांच पड़ताल की है और इस संकल्पना की बहु आयामिता, जटिलता, उसका यूरोप का स्वरूप, उपन्यास और यथार्थ से उसका

संबंध आदि बातें वे एक आलेख में खोलकर स्पष्ट करते हैं।' (आधुनिकता, कादंबरी आणि मराठी लेखिका, आणि तोपर्यंत, 2001) श्रेष्ठ उपन्यास के मानदंडों संबंधी चर्चा आवश्यक हो जाती है। कुछ अपवाद छोड़कर यह चर्चा करते कोई नहीं दिखाई देता। चंद्रकांत पाटील का इस संदर्भ में विवेचन महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। उपन्यास को यथार्थ से होने वाले संबंध को उन्होंने स्पष्ट किया है। श्रेष्ठ उपन्यास के मानदंड व्यक्त करते हुए कथात्मक साहित्य की नवीनता, अस्तित्व में स्थित अज्ञात हिस्से की खोज, ज्ञान की संचेतना और अधिभौतिक दर्शनपरक भूख मिटाने की क्षमता, इन चीजों का उसमें अंतर्भाव करते हैं। उपन्यास में श्रेष्ठ और विस्तृत स्वरूप के रहस्य की खोज होनी चाहिए। अनुभूति से सुसंगति लगाकर गुणों की नई दृष्टि से यह खोज होती है। उपन्यास से काल और स्थान को भेदकर प्रश्नों के मूल में जाकर जीने का अर्थ ढूंढा जाता है। खोजने का प्रयास करना यही सच्ची नैतिकता है। ऐसा साहित्य दुख का मुकाबला करने के लिए दिशा दर्शक सिद्ध हो सकता है। श्रेष्ठ उपन्यास के मानदंड तय किए बगैर मराठी उपन्यास की दिशा निश्चित हो नहीं सकेगी। पाटील के सुझाए मानदंड उसके लिए महत्वपूर्ण हैं।

दलित उपन्यास, क्षेत्रीय उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, स्त्री उपन्यास लेखन आदि की इस काल में आलोचना हुई है। वह जीवनवादी स्वरूप की है, ऐसा कहा जाता है। 'धार आणि काठ' में नरहर कुरुंदकर मराठी उपन्यास का इतिहास नए सिरे से रखने की कोशिश करते हैं उसमें उपन्यास के वृत्ति प्रवृत्ति की खोज की गई है। कुरुंदकर के इस विवेचन को उनके कई अध्ययन शाखाओं की पृष्ठभूमि प्राप्त हुई है। 'शरच्चंद्र' मराठी के अध्ययन के लिए एक अच्छा सा मानदंड है इस कारण कुरुंदकर ने 'शरच्चंद्र' के उपन्यास पर भी लिखा है। उनके विवेचन में 'अनुभव का पूरा असलीपन' मुद्दा निरंतर आता है लेकिन इस पुस्तक में उपन्यास संबंधी मूल्यांकन के कुछ भी मानदंड हाथ नहीं लगते। 'कादंबरी आणि मराठी कादंबरी' उषा हस्तक की पुस्तक में इसी तरह की इतिवृत्तात्मक प्रस्तुति दिखाई देती है। इस काल में भाऊ पाध्ये के उपन्यास नवनैतिकता को मानने वाले महत्वपूर्ण लगते हैं। राजन गवस ने पाध्ये के उपन्यासों का विभिन्न दृष्टियों से विश्लेषण किया है विद्वतापूर्ण जो कि है। विजया राजाध्यक्ष द्वारा संपादित पुस्तक 'मराठी कादंबरी आस्वादयात्रा' में लेखक ने सभी वाद या 'इज़मस' को दूर रखकर आस्वादन की भूमिका को स्वीकार किया है। 'प्रतिष्ठान', 'अक्षरयात्रा', 'ललित', 'खेल' ऐसी कुछ पत्रिकाओं के 'उपन्यास विशेषांक आलोचना में योगदान देने वाले हैं। 'ललित' के उपन्यास विशेषांक में (नवंबर 2013) उपन्यास इस विधा की विशेषताएं, पृष्ठभूमि, सामाजिक आशय, उपन्यास का आत्मकथा-नाटक-सिनेमा से संबंध, भारतीय स्तर पर उसका स्थान इन विषयों पर अंकित है। दिगंबर पाध्ये ने उपन्यास निर्माण क्या होता है वह सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, लेखक की चुनाव प्रक्रिया, उसकी यथार्थ संबंधी प्रतिक्रिया पर लिखा है। मराठी उपन्यास निर्मित के पीछे हुए बदलाव को जांचते हुए वर्तमान उपन्यास में दर्शन यह विषय हाशिए पर जाने के कारण उपन्यास को प्राप्त हुआ घटना कथन का रूप और साहित्य में श्रेष्ठता की राजनीति इस संदर्भ में पाध्ये ने नाराजगी जताई है। (दिगंबर पाध्ये, ललित, 2013) मराठी 'कादंबरीतील विचार' यह सूत्र पकड़कर नितीन रिंटे उपन्यास का मूल 'विचार' ही है यह मत रखते हैं (नितीन रिंटे, ललित, 2013) विचार का उपन्यास से होने वाला संबंध ध्यान में रखकर प्रस्थापित व्यवस्था और बहुसंख्य पाठकों की पैरवी करने वाला विचार उपन्यास में है या उसके विरोध में? यह मानदंड उसके श्रेष्ठत्व

के लिए उन्हें महत्वपूर्ण लगता है। आधुनिकता का विचार और वह किस दृष्टि से स्वीकृत किया गया है यह यहां महत्वपूर्ण बात है। 'मराठी कादंबरीत चित्रित झालेल अधःस्तर' महेंद्र भवरे का आलेख समकालीन उपन्यास में प्रमुखता से होने वाला विषय व्यक्त करने वाला है। महेंद्र कदम का लेख प्रयोगधर्मी उपन्यासों के आशय और अभिव्यक्ति की दृष्टि से विचार करने वाला है, वैश्वीकरण का विरोध समकालीन अधिकांश उपन्यासों का मुख्य सूत्र है। वैश्वीकरण की ओर लेखक किस तरह देखता है, इस संबंध में निर्माण हुए प्रश्न प्रवीण बांदेकर ने रखे हैं। (प्रवीण बांदेकर, ललित, 2013)

अखिल भारतीय मराठी साहित्य महामंडल के 'अक्षरयात्रा' वार्षिकांक में भालचंद्र नेमाडे, श्याम मनोहर, गौरी देशपांडे, रंगनाथ पठारे आदि पिछली अर्धशताब्दी के महत्वपूर्ण उपन्यासकारों पर विद्वतापूर्ण विवेचन है। इस अंक में रवींद्र इंगले वाचरेकर का श्याम मनोहर के उपन्यासों पर आलेख प्रस्तुति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कुछ अपवाद छोड़कर श्याम मनोहर के उपन्यासों की आलोचना अभी भी ठीक से नहीं हुई है। उनका साहित्य पारंपरिक धारा में नहीं आता, उसी तरह वह पारंपरिक आलोचना से समझा नहीं जा सकता। रवींद्र इंगले ने निश्चिंतावादी कोलाहल, अधूरा आयाम और स्वयं संघटन यह तीन संकल्पना मानकर मनोहर के उपन्यास की आलोचना की है। कथानक, उसका क्रम, कोलाहल, आशय, ढांचा और तंत्र इस दृष्टि से प्रस्तुत किया है कि उसमें से रेखात्मक जीवन से अरेखात्मक जीवन में प्रवेश करने वाले उनके पात्रों की विशेषता अधोरेखित की है। 'श्याम मनोहर (जीवन के) इस कोलाहल को सृजन योग्य मानते हैं और उसमें से ही अपनी कृति के विषय, आशय और तंत्र का भी स्वीकार करते हैं, जो सुव्यवस्थित मानी गई सामाजिक रचना अव्यवस्था की दृष्टि से विकसित होती गई, उसमें के बदलाओं को रचना में अभिव्यक्त करते हैं।' (रवींद्र इंगले चावरेकर, अक्षरयात्रा 2008-2010) ऐसा रवींद्र इंगले उनके उपन्यासों के संदर्भ में कहते हैं। मानवी जीवन के संपूर्ण जीवन जीने की खोज करना उनके उपन्यासों का सूत्र है।

'कोसला', 'वासुनाका', 'गोतावला', 'पाचोला', 'बारोमास' इस तरह के एक ही उपन्यास पर लिखी गई और पुस्तक रूप से संकलित और संपादन स्वरूप की आलोचना विभिन्न दृष्टि से संकलित और संपादन स्वरूप की आलोचना विभिन्न दृष्टि से होने पर भी उसमें दोहराव दिखाई देती है। मार्क्सवादी, आंबेडकरवादी, स्त्रीवादी दृष्टिकोण से उन विचारों के मूल्यनिकष प्राप्त होते हैं, लेकिन बहुत बार स्पष्टवादिता को टाला जाता है। कुछ आलोचना लेखों में केवल जायजा लिया जाता है। कलावाद, जीवनवाद, गांधीवाद, फ्रायडवाद, रशियन रूपवाद, आदिबंधात्मक आलोचना, उपनिवेशवाद, नव-यथार्थवाद ऐसे दृष्टिकोण से आई मूल्याधिष्ठित आलोचना संपूर्ण मराठी उपन्यास को नहीं लगाई जा सकती। हर बार इसमें निहित दृष्टिकोण मराठी उपन्यास की आलोचना में सहायक सिद्ध होंगे ही ऐसा नहीं।

स्वातंत्र्योत्तर काल में सैद्धांतिक आलोचना नेमाडे के बाद डॉ. हरिश्चंद्र थोरात ने आगे बढ़ाया है या यूँ कहें कि साहित्य विधा के आवश्यक रीतिशास्त्र की रचना उन्होंने की है। उनके उपन्यास विषयक आलोचना में पारंपरिक आलोचना पद्धति का स्वीकार दिखाई नहीं देता। उनकी यह भूमिका संरचनावाद का अनुकरण करती है। उपन्यास एक 'कथनात्मक' और कथात्मक साहित्य रचना होती है। लेखक को उसमें से जो कहना है और उसने वह जिस तरीके से बताया है, उसका और पाठकों का कुछ संबंध होता है। साहित्यिक रचनाओं के कई पठनों के बाद जो चीजें हमारे हाथ लगती हैं,

उनका लेखक, साहित्य रचना, परिस्थिति और उनके आधार पर किया गया विश्लेषण ऐसे स्वरूप की अध्ययन पद्धति का उल्लेख किया जा सकेगा। साहित्य रचना का कार्य किस तरह चलता है यह ध्यान में रखकर संहिता का सूक्ष्म विश्लेषण करना पड़ता है। उपन्यास बयान करने वाला, उसके प्रस्तुतीकरण की पद्धति और जिस पर थोरात जोर देते हैं, उस 'काल' और 'अवकाश' की संकल्पना उनकी आलोचना में महत्वपूर्ण है। 'मिखाइल बाख्तिन' पश्चिमी आलोचक के आधार पर किए उनकी प्रस्तुति में 'बहुस्वरातां अत्यंत महत्वपूर्ण है। मार्क्सवाद, गांधीवाद, अंबेडकरवाद, स्त्रीवाद ऐसे किसी भी दृष्टिकोण से किसी उपन्यास की आलोचना करनी हो तो उस स्वरूप के रीतिशास्त्र की निर्मित करनी पड़ती है। उससे विवेचन में वस्तुनिष्ठता आ जाती है। उपन्यास की संरचना केंद्र में रखकर ऐसी प्रस्तुति करते हुए उन्होंने कुछ उपन्यास का आधार लिया है। 'साहित्य रचना के अध्ययन की दृष्टिकोण से संरचना का विश्लेषण और साहित्य कृति के आशय सूत्र इनका संबंध ढूँढना अत्यंत महत्वपूर्ण हो सकता है।' (कथनात्मक-साहित्य आणि समीक्षा, 2011) ऐसा मत उन्होंने इस संदर्भ में व्यक्त किया है। कुल मिलाकर उनकी उपन्यास आलोचना में घटना, घटना घटने का और व्यक्त करने का काल, समय, पात्र और उनकी बहु-स्वराता बयान करने वाला और उसका दृष्टिकोण और भाषा इस दृष्टि से विचार किया जाता है। 'कथा, निवेदन और भाषा यह तीनों स्तर उपन्यास के स्वरूप को साकार करते हैं। इन तीनों स्तरों के व्यवहार में सुसंवाद स्थापित करना संभव हुआ तो ही उपन्यास के अर्थपूर्ण ढांचे की निर्मिति संभव है।' (कादंबरी विषयी, 2006) यह उनका इस संदर्भ में मूल्यांकन का प्रतिमान हमें दिखाई देता है। उपन्यास का अध्ययन और आलोचना अलग कर आलोचना के लिए मूल्यांकन की आवश्यकता भी व्यक्त की है। उपन्यास की आलोचना करते हुए उन्होंने उपर्युक्त संकल्पना और अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया है। इस काल के कई उपन्यास लेखकों और आलोचकों ने यथार्थवाद की ढीली और छिछली कल्पनाएं मन में रखी हैं। इस पृष्ठभूमि में उपन्यास में निहित यथार्थ और कल्पना की विद्वतापूर्ण खोज डॉ. थोरात ने की है। यथार्थवाद के संदर्भ में उनकी भूमिका तथ्य के साथ ही ज्ञाता, विश्लेषक और चयनकर्ता लेखक को महत्व देने वाली है। यथार्थ और कल्पना यह दोनों संकल्पनाएं अलग न करते हुए उनकी एक दूसरे पर निर्भरता समझ लेनी पड़ती है। 'उपन्यास अनुकृति करता है, वह प्रत्यक्ष भौतिक जगत की नहीं तो उसे अर्थवत्ता प्राप्त करा देने वाले, उसकी यथार्थता पर विश्वास निर्माण करने के लिए बाध्य करने वाले यथार्थ विषयी संवादपरता पर।' (हरिश्चंद्र थोरात, कादंबरी: वास्तव आणि कल्पित, अक्षरयात्रा, 2009-2010)।

यह दिखाई देता है कि थोरात ने अपनी आलोचना में तथ्यपरक स्वरूप का विवेचन किया है। वे जाने-माने आलोचकों के विवेचन के विसंगति को पकड़ते हैं। उन पर आपत्ति की जाती है कि उन्होंने 'बाख्तिन' के विचार उधार लिए हैं। यह आपत्ति स्वीकृत करने पर भी, उस कारण उनके विचारों का महत्व कम नहीं होता। उपन्यास की ओर किस दृष्टि से देखना है यह उपन्यास और पाठक इनमें से तय होता है। भारतीय दृष्टिकोण को उस कारण कोई बाधा निर्माण नहीं होती लेकिन इस तरह के सामग्री रहित और स्वरूपबद्ध भूमिका से मूल्याधिष्ठित निर्णय की ओर जाना हानिकारक सिद्ध होता है। श्रेष्ठ उपन्यास के मानदंड जीवन संबंधी प्राप्त और निश्चित हुए दृष्टिकोण से, जीवन की रहस्यात्मकता की उपन्यास ने किए खोज पर और मूल्यपरकता से तय किए जाए ऐसा लगता है।

मराठी में उपन्यास, आलोचना विभिन्न प्रकार के आलोचना लेखन से विकसित हुई है उसी तरह इस काल में 'गौतमची गोष्ट', 'ब बलीचा', 'चालेगत' आदि के प्रयोगशीलता से भी आगे बढ़ते दिखाई देती है। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण कार्य श्याम मनोहर के उपन्यासों में दिखाई देता है। उपन्यास आलोचना में उस दृष्टि से विशेष विचार हुआ दिखाई नहीं देता।

मराठी उपन्यास राजनीतिक, ऐतिहासिक और आंचलिक जैसी सीमाओं में जकड़ा है। उस पर विभिन्न विचारधारागत आलोचना का दबाव है क्या? ऐसा प्रश्न उठाया जा सकता है। समकालीन जीवन का एक ही पक्ष नहीं होता। बहु सांस्कृतिकता ध्यान में रखते हुए कई तरह के उपन्यास लिखे जाने चाहिए थे लेकिन वैसा होते दिखाई नहीं देता। मराठी उपन्यास को बहुआयामी दृष्टि से विकसित होना आवश्यक था। साठोत्तरी मराठी उपन्यास यथार्थवाद के प्रभाव में रहने के कारण प्रयोगात्मक न रहते हुए भी उनमें दोहराव आया। वास्तववाद के प्रभाव से श्रेष्ठ उपन्यास लेखन नहीं हुआ। नेमाड़े के उपन्यासों में विचार और मराठी लेखन का प्रभाव है। वास्तव में यह दिखाई देता है कि नेमाड़े के उपन्यासों में यथार्थवाद का स्वरूप विश्लेषणात्मक है लेकिन यथार्थवाद का प्रयोग करते हुए कई उपन्यासकार भ्रम में रहे हैं।

साठ के बाद उपन्यास आलोचना में वर्णनपरक आलोचना बड़ी संख्या में लिखी गई है। उपन्यास विधा के साथ इस काल की आलोचना ने न्याय करते हुए कुछ कमी रही हो, ऐसा नहीं लगता, लेकिन उपन्यास को ठीक से दिशा देने का कार्य उसके द्वारा नहीं हो सका। प्रयोगात्मक उपन्यासों की चर्चा यह आलोचना करती है, लेकिन पूरा समाधान हो ऐसा उपन्यास उसे नहीं दिखाई देता। प्रभावी और श्रेष्ठ उपन्यासकार मराठी जगत से आज तक निर्माण नहीं हुआ, ऐसी भावना ही आलोचना क्षेत्र में दिखाई देती है। इस काल में श्रेष्ठ उपन्यास निर्माण न होने के कारण नेमाड़े यथार्थवाद और देशीवाद में दर्शाए जाने लगे तो दूसरी ओर पिछली अर्धशताब्दी के महत्वपूर्ण उपन्यासकार के रूप में भी पहचाने जाने लगे।

डॉ. हरिश्चंद्र थोरात उपन्यास अध्ययन के रीतिशास्त्र विकसित करते हैं, लेकिन पूरा समाधान कर सकें ऐसे उपन्यास आलोचना के मानदंड उनके विवेचन में नहीं। इस कारण मराठी उपन्यास आलोचना नेमाड़े के समाजनिष्ठ मूल्यों के आधार पर और थोरात द्वारा व्यक्त की गई अध्ययन पद्धति पर खड़ी है। उस कारण 'उपन्यास क्या व्यक्त करता है' इस तरह होने वाली आलोचना का जोर अब 'वैसा क्यों व्यक्त करता है' और 'कैसे व्यक्त करता है' इस ओर ध्यान देने लगी है। इधर उपन्यास संबंधी आलोचना विचार कथात्मक और संवादात्मक घटनाओं को केंद्र में रखकर होने लगा है। चंद्रकांत पाटील द्वारा व्यक्त श्रेष्ठ उपन्यास के मानदंड भी इस काल के आलोचना विचार में महत्वपूर्ण सिद्ध होने वाले हैं। ■

शताब्दी का समीक्षा-विचार

रवींद्र किंबहुने

अनुवाद : स्मिता दात्ये

‘शताब्दी का समीक्षा विचार’ शीर्षक लेख से पहले कुछ व्यक्तिगत स्वरूपवाले ब्यौरे दर्ज करना आवश्यक है। इससे आलेख के विवेचन से संबंधित अनुमान लगाना पाठकों के लिए आसान होगा और वे अपनी प्रतिक्रियाएं तय कर सकेंगे। मैं पिछले लगभग तीस वर्षों से अंग्रेजी भाषा साहित्य के अध्यापन कार्य से संलग्न हूं। स्नाकोत्तर कक्षाओं को अलग-अलग पाठ्यक्रम पढ़ाना ही मेरी आजीविका है। मेरा यह प्रयास रहा है कि अंग्रेजी भाषा पर न्यूनतम प्रभुत्व प्राप्त कर दुनिया की विविध भाषाओं में लिखे उत्तमोत्तम अनुवादित ग्रंथ पढ़ सकूं और एक तुलनात्मक दृष्टिकोण तैयार हो सके। मेरा स्पष्ट मत है कि केवल अंग्रेजी यानी ब्रिटिश साहित्य का अध्ययन अपने देश की प्रादेशिक भाषाओं के विकास और उसके साहित्य के आस्वादन तथा मूल्यांकन के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में अंग्रेजी का जो प्रभाव पड़ा है, उसकी चाहे जितनी प्रशंसा क्यों न की जाए, परंतु गहराई से विचार करने पर यह बात धीरे-धीरे साफ होने लगती है कि इसके कारण सांस्कृतिक क्षेत्र में हमारा अपरिमित नुकसान हुआ है। इस प्रभाव के कारण कई उलझी हुई समस्याएं उत्पन्न हुईं और उनके दूरगामी परिणाम हुए। शताब्दी के अंत में भी हम यह नहीं कह सकते कि इस नुकसान की सुस्पष्ट कल्पना हमारे सामने है। अपनी विद्यमान सांस्कृतिक स्थिति को समझना दिन-ब-दिन कठिन होता जा रहा है। इस कारण यह शंका उत्पन्न होती है कि कहीं इससे हमारा स्वत्व-भान नष्ट तो नहीं हो जाएगा। एक ओर जहां विकसित पूंजीवादी के विकराल रूप, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आक्रमण और विकासशील राष्ट्रों के सम्मुख विकल्पहीन स्थिति से उत्पन्न सांस्कृतिक साम्राज्यवाद है, वहीं दूसरी ओर देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वरूप के उलझे हुए प्रश्न हैं और इन दो भागों के बीच आज हम फंसे हुए हैं। अंतरराष्ट्रीय को ही वैश्विक समझने की भूल करने के कारण हम वैचारिक स्तर पर धोखा खा रहे हैं। इस पृष्ठभूमि में इस बात की नितांत आवश्यकता है कि शताब्दी का समीक्षा विचार करें।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम काल में मराठी समीक्षा की स्थिति ऐसी बिलकुल नहीं है, जिस पर गर्व किया जा सके। उधारी को ईमानदारी से स्वीकार न करने वाली, विद्याशाखांतर्गत व्यासंग और अनुसंधान के लिए आवश्यक अनुशासन का पालन न करने वाली, परभृत परंतु अधूरे समझे गए विदेशी समीक्षा विचारों से पोषित, संदर्भहीन और तेजी से बदलने वाले साहित्य व्यवहार के फैशन्स

को अविचारपूर्ण तत्परता से ग्रहण करने वाली समीक्षा मराठी में कुकरमुत्तों की तरह बाढ़ आई है। समय की आवश्यकता और अद्यतन बने रहने की लालसा में पाठ्यक्रम बदले जाते हैं। इस बदलाव के पीछे न कोई नियोजित होता है और न कोई तर्क होता है। परीक्षा पद्धति और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए संपादित पुस्तकों का ढेर छापा जाता है। ये अधिकांश पुस्तकें पाठ्यक्रमिक और उथले स्वरूप वाली होती हैं। हम मराठी की भला ऐसी कितनी पुस्तकों के नाम तुरंत गिना सकते हैं, जो समीक्षा के स्वरूप और सिद्धांत विषयक हों या किसी साहित्यकार के समग्र लेखन से संबंधित हों? पिछले 30-40 वर्षों में जिस रूपवाद का इतना बोलबाला था, उससे संबंधित कम से कम परिचयात्मक ही सही, क्या एक भी पुस्तक मराठी में उपलब्ध है? यदि यह मान लिया जाए कि पिछली पीढ़ी के तथाकथित समीक्षकों का अंग्रेजी भाषा का ज्ञान और विदेशी समीक्षा का वाचन काफी हद तक ठीक था, तो उन्होंने विदेशी भाषा के मौलिक ग्रंथों के अनुवाद करने की बजाय मराठी में स्वतंत्र लेखन (समीक्षा) करने की हठधर्मिता क्यों की? ऐसे लेखन से समीक्षा का तो कुछ भला नहीं हुआ, हां, खोखले वाद तेजी से फैल गए। साहित्य यानी क्या? भाषा, साहित्य और संस्कृति का आपस में क्या संबंध है? साहित्य का अन्य ज्ञान शाखाओं से क्यों और कैसा संबंध है? साहित्य और समाज का क्या रिश्ता होता है? साहित्य के मूल्यांकन की कौन-सी पद्धतियां हैं? मानदंड क्या है? आदि प्रश्नों पर कहीं भी तर्कसंगत, ठोस और गहन चर्चा होने की बात पता नहीं चलती। जो भी चर्चा उपलब्ध है, वह मामूली और कामचलाऊ उधारी पर आधारित है। परिणामस्वरूप परंपरागत तरीके से अध्यवसाय और अनुसंधान करनेवाले लोगों को घोर उपेक्षा का सामना करना पड़ा। संत साहित्य का अध्ययन करनेवाले विद्वानों की उपेक्षा हुई। इसी प्रकार, अ.का.प्रिपोलकर, सं.गं. मालशे, ना.गो. कालेलकर, वि.भि. कोलते, शं.गो. तलपुते, म.वा.धोंड जैसे कुछ नामों पर ध्यान दें, तो पता चलता है कि इन अध्येताओं को अनुसंधानकर्ता संपादक के रूप में संबोधित किया गया। हमारे मन में यह संदेह उत्पन्न होने लगता है कि इस बीच कहीं ऐसी धारणा तो नहीं फैल गई थी कि अनुसंधान और संपादन करने के लिए समीक्षा की किसी भी मजबूत सैद्धांतिक चौखट की आवश्यकता ही नहीं होती? श्री कोलते के 'पंचोपाख्यान' ग्रंथ की प्रस्तावना पढ़ने पर उनके अध्यवसाय का विस्तार, ऐतिहासिक दृष्टि की स्पष्टता और उनकी मर्मज्ञ प्रवृत्ति हमारे ध्यान में आती है। परंतु मर्देकरजी के उदय के बाद पूरा चित्र ही बदल गया। समीक्षा विचारों के मुद्दों की प्रधानता का क्रम बदल गया। इस कारण उन्नीसवीं शताब्दी में संस्कृति संपर्क के विकास काल में वृद्धिगत हुआ समीक्षा विचार भी दीर्घ काल तक हमारे लिए अपरिचित ही रहा।

मर्देकरजी के सौंदर्यशास्त्रीय और सैद्धांतिक लेखों के कारण मराठी में एक नया रिवाज शुरू हुआ। उनके विवचन की नींव दर्शनशास्त्र पर आधारित थी। मर्देकरजी के लेखों के आधार पर यह कहना कि इस दर्शन और तत्कालीन पाश्चात्य समीक्षा विचार का उन्होंने गहन अध्ययन किया था, उनके प्रति अन्याय करना होगा। हां, उन्हें इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने मराठी में सौंदर्यशास्त्रीय लेखन की नींव रखी परंतु अंत में इससे क्या साध्य हुआ? प्रभाकर पाध्ये, भा.ज. कविमंडल जैसे उंगलियों पर गिने जा सकने वाले समीक्षकों की क्लिष्ट, तर्कों की लड़ियां खोलने वाली, बोझिल और कलाकृतियों के प्रत्यक्ष आस्वाद की दृष्टि से पूरी तरह निरुपयोगी, बढ़ा-चढ़ाकर कही हुई, नीरस तिरछे टाइप में छपी बातों की भीड़ लगाने वाले लेखन का उच्च स्तरीय आडंबर फैल

गया। इस कारण समाज की अभिरुचि को नियंत्रित करने की कोशिश करनेवाली 'सत्यकथा' जैसी पत्रिका के लिए सामग्री प्राप्त होती गई। समीक्षा और सौंदर्यशास्त्र का क्या संबंध है? सौंदर्यशास्त्र की व्याप्ति कहां तक है? समीक्षा पद्धति, मानदंड, आस्वाद, मूल्यांकन आदि के बारे में कुछ स्पष्ट सैद्धांतिक विवेचन इस लेखन में अपवाद स्वरूप ही मिलता है। हां, ऐसे लेखन में अलग-अलग सूत्रों, आकृतियों, रेखाचित्रों और जटिल विश्लेषणों की सहायता से विविध ज्ञानशाखाओं के प्रवाहों का मामूली आधार लेते हुए मराठी पाठक को भयचकित करने की जो क्षमता थी, वह अवश्य प्रशंसनीय थी। इस कारण यह भ्रम फैल गया कि समीक्षा किसी निबिड़ वन की तरह होती है और पाठकों तथा अध्येताओं में हीन भावना बढ़ गई। जिस पाश्चात्य दर्शन की परंपरा के आधार पर सौंदर्यशास्त्र की कमजोर इमारत खड़ी थी, उस दर्शन का और सत्ताशास्त्रीय परंपरा का पूरा अध्ययन कितने समीक्षकों ने किया था? यह बताना आवश्यक है कि कई सालों तक इंग्लैंड में रहने के बावजूद मर्टेकरजी तत्कालीन विचारों से विशेष परिचित नहीं थे। हां, यह सच है कि मर्टेकरजी का आधुनिक मराठी साहित्य और संस्कृति में जो दबदबा है, वह दोगम दर्जे समीक्षकों को अल्प प्रसिद्ध आज भी दे सकता है। कारण यह है कि मैंने अब तक किसी साहित्य कृति की ऐसी विस्तृत समीक्षा नहीं पढ़ी है, तो मर्टेकरजी के प्रसिद्ध लय तत्व के आधार पर की गई हो। ऐसा भी नहीं हुआ कि बालकवि के काव्य का कोई अर्थ निरूपण हमारे हाथ लगा हो।

दूसरे यह कि बाद के कालखंड में वा.ल.कुलकर्णी जैसे समीक्षक प्रसिद्ध हुए। विश्वविद्यालय के मराठी विभाग के प्रमुख होने और विद्यार्थियों की कई पीढ़ियों को प्रभावित कर चुके होने के कारण समीक्षा के क्षेत्र में दीर्घकाल तक उनकी धाक जमी रही। दो-चार अपवादों को छोड़ दें, तो कहीं भी यह उल्लेख नहीं मिलता कि उनके समीक्षा विचार के मूल में कौन-से पाश्चात्य स्रोत हैं। इसके कारण यह समझ भी नष्ट हो गई कि उनके प्रभाव को टालते हुए, उनके दृष्टिकोण से अलग समीक्षा पद्धति भी हो सकती है। एक ऐसी एकाधिकारशाही पद्धति प्रचलित हो गई, जो अभिरुचि के स्तर को, साहित्य की विविधता को, गहन व्यासंग को और समावेशक दृष्टि को तुच्छता से देखती थी। ललित रचनाओं को तो उन्होंने घाटावर नेऊन बसविले (ललित रचनाओं का तो जैसे उन्होंने अंतिम संस्कार ही कर दिया)। उनके समकालीन और आयु में छोटे गो.म.कुलकर्णी इस दौरान उपेक्षित रहे। उदारमतवादी कुलकर्णी भला किस काम के? लगभग सत्तर के दशक में गो.म. कुलकर्णी की ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय रूपरेखा समीक्षा के क्षेत्र में अर्थपूर्ण सिद्ध होने लगी। यह कल्पना ही बहिष्कृत हो गई थी कि मराठी साहित्य की कोई एक परंपरा है और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उसका अध्ययन किए बिना समकालीन साहित्यिक-सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाना कठिन होता है। हां, रूपवाद के प्रभाव के कारण साहित्य को इतिहास से अलग करने की प्रक्रिया अवश्य पूरी हो गई। इस कारण दि.के.बेडेकर जैसे समीक्षक उपेक्षित ही रहे। मुक्तिबोध के समीक्षा विचारों की यही स्थिति हुई। साठ के दशक के बाद वाली पीढ़ी के उदय के बाद परंपरा के ऐसे कितने ही अज्ञात सूत्र धीरे-धीरे स्पष्ट होते गए। इस बात की समाजशास्त्रीय साहित्यिक मीमांसा की जा सकती है, बल्कि करनी आवश्यक भी है, परंतु यहां यह हमारा विषय नहीं है इसलिए यह बात अत्यंत जिम्मेदारी के साथ स्वीकार करनी होगी कि उत्तम समीक्षा ग्रंथों के अनुवाद कर नए-नए मौलिक विचारों के निर्माण को प्रोत्साहन देने की बजाय वा.ल. कुलकर्णी ने मराठी समीक्षा को अत्यधिक हानि पहुंचाई है, क्योंकि

उन्हें इस बात पर स्वयं ही विश्वास नहीं था कि वे मराठी साहित्य की मूलभूत समीक्षा कर रहे हैं मैं जानता हूँ कि पाठक यह समझेंगे कि लघु पत्रिकाओं के कालखंड में प्रसिद्धवादों में से बासी मुद्दे उठाकर मैं ताजा उफान ला रहा हूँ परंतु यहां मेरा आशय यह दर्शाना है कि साहित्यिक-सांस्कृतिक पर्यावरण के दूषित होने के चलते पाठकों की समझ कितनी संकुचित हो जाती है। मैं यह दावा नहीं करता कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह पर्यावरण दूषित नहीं था परंतु स्वाभाविक ही उसका स्वरूप और उसके कारण भिन्न है।

इस कालखंड में प्राचीन काव्यशास्त्र के अध्येता समीक्षक भी थे। काव्यशास्त्र के सिद्धांत समझाने के अलावा वे और कुछ नहीं कर सके। अब संस्कृत भाषा पर प्रभुत्व रखने वाले लोग दुर्लभ होने लगे हैं। इस क्षेत्र में भी ग.त्र्यं. देशपांडे जैसे विद्वान उपेक्षित ही रहे। इन समीक्षकों को ये प्रश्न महत्वपूर्ण ही नहीं प्रतीत हुए कि प्राचीन काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को उपयोजन समकालीन साहित्य के संदर्भ में किया जा सकता है या नहीं, यदि ऐसा करना संभव हो तो उसकी पद्धतियां कौन-सी हैं, बदली हुई ऐतिहासिक परिस्थिति में प्राचीन काव्यशास्त्र की परिभाषा, सिद्धांत और उपयोजना करते समय कौन-सी कठिनाइयां आ सकती हैं, या परिभाषा का कोई प्रयोजनपूर्ण अर्थविस्तार करना आवश्यक है या नहीं, आदि। प्राचीन काव्यशास्त्र का अध्ययन करते समय हमें इस तत्व का बोध होता है कि दर्शनशास्त्र, उपासना पंथ, भाषा विचार, व्याकरण और साहित्य समीक्षा के बीच सैद्ध्य संबंध होता है, इनका आपस में कुछ न कुछ मेल होता है परंतु इन समीक्षकों को यह समस्या गंभीर नहीं प्रतीत हुई कि जगन्नाथ के बाद खंडित हुई परंपरा को नए काल के संदर्भ में किस प्रकार उपयोजित किया जा सकता है? जब तक र.पं.कंगले की लिखी सुबोध और अधिकृत अर्थ निरूपण करने वाली पुस्तकें नहीं आई थीं, तब तक संस्कृत परंपरा से अपरिचित मुझ जैसे पाठक के मन में केवल उलझन ही उलझन थी। इस कारण काल-भान से रहित अर्थ-निरूपण करनेवाला लेखन ऐतिहासिक कुतूहल उत्पन्न करने वाला और दुरभिमान में वृद्धि करने वाला हो गया। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से पोषित समीक्षा विचार अपना संदर्भ खोकर स्वतंत्र रूप से स्थिर होने लगा। एक आँख प्राचीन सिद्धांत की तरफ और दूसरी पश्चिम की तरफ होने के कारण आँखें होते हुए भी जैसे अंधत्व आ गया। जाते-जाते अत्यंत खेद के साथ कहना पड़ता है कि प्राचीन काव्यशास्त्र का ऐसा अधिकारी भाष्यकार मराठी में नहीं है, जो डॉ. नगेंद्र की बराबरी कर सकता हो। एक बार जब हम सांस्कृतिक परंपरा स्वीकार कर लेते हैं, संस्कृति संपर्क की ऐतिहासिक प्रक्रिया समझ लेते हैं, तब यह आग्रह नहीं रखा जा सकता कि किसी भी क्षेत्र में पूर्णतया स्वतंत्र ऐसा कुछ होता है। गतिशील ऐतिहासिक वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में विचारव्यूहों का नई पद्धति से, मौलिक से और जिम्मेदारी के साथ अर्थ लगाना पड़ता है। इसमें से ही नए कालसंलग्न व्यूह तैयार होते रहते हैं। इसके लिए अनुसंधान की स्वस्थ और वस्तुनिष्ठ दृष्टि, निष्कर्षों से संबंधित निर्भीक स्पष्टता, तर्कों का आधार और स्पष्टवादिता आवश्यक है। यह अनुभव होता है कि इस प्रकार का खालिस मराठीपन इतिहासाचार्य राजवाड़े के साथ ही समाप्त हो गया है। फिर भी इस मुद्दे को अधिक तूल देने की आवश्यकता नहीं है कि समीक्षा स्वतंत्र है या परभूत है। मुद्दा है प्रभाव को आत्मसात करना। तारतम्य रखते हुए अपनी सांस्कृतिक परंपरा के साथ, संवेदनशील स्वभाव के साथ और वर्तमान परिस्थिति के साथ विचारों का मेल करते हुए उनकी प्रस्तुति कर पाना आवश्यक है।

बीसवीं शताब्दी के मराठी साहित्य से हमें इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि अधूरी उधारी के कारण विकृत रास्ते अपनाने पड़ते हैं।

प्रचलित और परंपरा मायने में समीक्षा दो प्रकार की होती है। एक उपयोजित और दूसरी सैद्धांतिक। इसमें से उपयोजित समीक्षा में अर्थ निरूपण और मूल्यांकन की, और सैद्धांतिक समीक्षा में पद्धतियों की योजनाबद्धता, उससे उत्पन्न होनेवाली समस्याएं, मूल्यांकन के निकर्षों से संबंधित सैद्धांतिक प्रश्न आदि पर चर्चा अपेक्षित होती है। लेखक के आशयसूत्र, उसकी आस्था के विषय, तकनीकों का इस्तेमाल और समग्र रचना, परंपरा में उसका स्थान आदि बातों की प्रधानता होती है। तीक्ष्ण बुद्धिवाला समीक्षक लेखक पर सहानुभूतिपूर्ण अंकुश रख सकता है। इस प्रकार की समीक्षा बहुत बड़ा सांस्कृतिक कार्य करती है। मराठी में ऐसी समीक्षा विरल है। इस संदर्भ में मुझे तुरंत वसंत पलशीकर के आलेख का स्मरण होता है उन्होंने 'रात्र काली, घागर काली' नामक उपन्यास का बहुत सुंदरता से परीक्षण किया था। चि.त्र्यं. खानोलकर ने यदि इस परीक्षण को गंभीरता से लिया होता, तो अपने अगले लेखन की फिसलन वे रोक पाए होते। लेखक और पाठक के बीच का महत्वपूर्ण संपर्क सूत्र होता है समीक्षक। कह सकते हैं कि ऐसा प्रशिक्षित व्यक्ति, जिसे वाचन प्रक्रिया को प्रगल्भ करने वाली आवश्यक बातों का ध्यान हो, समीक्षक होता है। इस कारण वाचन में साहित्यिक रचना को समझने के लिए जो असंख्य संदर्भ होते हैं, आवश्यक नहीं कि हमें उनका ख्याल होता ही हो। समीक्षक ऐसे परिप्रेक्ष्य का एहसास करा देता है। इस दृष्टि से समीक्षक पाठकों की साहित्यिक ग्रहणशक्ति की व्याप्ति बढ़ाने का कार्य करता है। हां, यह मानना होगा कि मराठी में सार्थ समीक्षा के उदाहरण अपवादस्वरूप ही मिलते हैं।

ऊपर बताए गए समीक्षा के कार्यों पर ध्यान दें, तो सैद्धांतिक दृष्टि से यह स्वीकार किया जा सकता है कि इससे साहित्य का नया पाठक वर्ग तैयार होता है परंतु यह बताना कठिन है कि मराठी में यह तत्व कितना लागू हो सकता है? इसके विपरीत आक्रामक, विवादास्पद और मुँह-तोड़ समीक्षा यदि हो, तो पाठकों को कुतूहल जागृत होता है और वे उस साहित्य रचना के वाचन के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं। दुर्भाग्य से मराठी में यह कार्य अलग-अलग प्रकार के पुरस्कार करते दिखाई देते हैं। यह बात अलग है कि पुरस्कार प्राप्त रचना को बहुत उत्सुकता से पढ़ने वाला पाठक बाद में निराश होता है। मेरा विश्वास है कि समीक्षा सामाजिक सांस्कृतिक कार्य करती है, इस कारण मुझे यह निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि समीक्षा के कारण पाठकों की साहित्य विषयक समझ विकसित होती है। इस बात की चिंता करने का कोई कारण नहीं कि इस प्रकार की प्रबुद्ध समीक्षा पढ़ने वाले लोग कम ही हैं, क्योंकि अलग-अलग स्तर के पाठकों तक यह समीक्षा रिसती जाती है। इस बात का यदि आलेख निकाला जाए कि किसी कालखंड में केवल समीक्षा को समर्पित पत्रिका से या सैद्धांतिक चर्चा करनेवाले ग्रंथों से लेकर समाचारपत्रों के खुदरा साप्ताहिक परीक्षणों तक पारिभाषिक शब्दावली किस प्रकार प्रचलित होती जाती है, तो हमें इस प्रक्रिया की जानकारी मिल सकती है। वैसे, यह मानना आवश्यक नहीं कि सबके पास ही ऐसी आवश्यक संकल्पनात्मक स्पष्टता होगी। युगविशेष तय करते समय कुछ मुख्य संकल्पनाओं का सैद्धांतिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जा सकता है।

में मानता हूँ कि समीक्षा सृजनात्मक लेखन का उपजीव्य है। यदि लेखन ही न हो, तो समीक्षा

किसकी की जाए? परंतु आधुनिक काल में या बिलकुल हाल ही में पाश्चात्य देशों में जो समीक्षा विचार प्रचलित हुआ है, उसके अनुसार समीक्षा एक स्वतंत्र साहित्य प्रकार का दर्जा प्राप्त करती दिखाई देती है। इस आशय का विवेचन समकालीन समीक्षा विचारों के भाष्यकार जॉनाथन क्यूलर ने अपनी पुस्तक 'द परस्यूट ऑफ साइंस' में किया है। इस कारण आजकल साहित्य सिद्धांत और समीक्षा सिद्धांत यानी लिटररी थिअरी और क्रिटिकली थिअरी में अंतर माना जाता है। द्विविल विरोधी पदों को उलटपुलटकर नए तरीके से किए जाने वाले विचार का यह परिणाम कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, पुरुष-स्त्री, केंद्र-परिधि, साहित्य समीक्षा आदि पद। सामान्यतः इसमें से प्रथम पद को प्रमुख समझा जाता है और हमारी पूरी विचारधारा इस प्रमुखता से प्रभावित दिखाई देती है। सत्ताशास्त्र की दृष्टि से ऐसी संरचना की आवश्यकता का कोई तर्कपूर्ण कारण नहीं है। इन पदों को उलट-पुलटकर विचार करना शुरू करें, तो विचारों को एक नई दिशा मिलती है। यानी, यदि कहें कि समीक्षा-साहित्य, तो समीक्षा प्रमुख और साहित्य गौण हो जाता है तब समीक्षा को उपजीव्य नहीं कहा जा सकता। इस सारे विचार-व्यूह में लेखन या राइटिंग को एक समावेशक संकल्पना मानते हुए साहित्यिक और गैर-साहित्यिक यानी लिटरेचर और नॉन लिटरेचर का भेद भी नष्ट कर दिया जाता है। बार्थ जैसे फ्रांसिसी समीक्षकों ने तो समीक्षा के सभी परंपरागत कार्य ही नकार दिए हैं। उनका मत है कि किसी भी साहित्यिक रचना का अर्थ निरूपण करना समीक्षा का कार्य है ही नहीं। यह सारा पाश्चात्य विचार-व्यूह समीक्षा को साहित्य का उपजीव्य नहीं मानता, क्योंकि उनके विचारों की यात्रा दर्शनशास्त्र, सत्ताशास्त्र, भाषाविज्ञान और व्याकरण से शुरू होकर साहित्य की तरफ यानी उनके विचार में लेखन की तरफ आती है परंतु आपके मेरे जैसे पाठकों को साहित्यिक रचना का आस्वाद महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। उनमें से कुछ लोगों को इससे आगे के प्रश्न सताते हैं, इसलिए समीक्षा के राज्य में प्रवेश करना उन्हें निश्चित ही आवश्यक प्रतीत होता होगा। वे ऐसा करें भी। यद्यपि पाठक और लेखक के बीच सेतु निर्माण करने का कार्य भले ही समीक्षा करती हो, तथापि मूल साहित्यिक रचना के समाने वह हमें दायम ही प्रतीत होगी।

पाश्चात्य देशों की सांस्कृतिक-ऐतिहासिक समस्याएं और उनकी परंपराएं उनके सिद्धांत प्रतिपादन की आज की विकसित अवस्था दर्शाती है। अपनी परिस्थिति में उसका ज्यों-का-त्यों इस्तेमाल करना खतरनाक होगा। यदि यह मान लें कि समीक्षा व्यवहार के विविध स्तर होते हैं, तो यह पहेली बनी रहती है कि यूरोपीय दर्शनशास्त्र से संघर्ष कर खड़ी हुई संपूर्ण समीक्षा अपने लिए प्रयोजक सिद्ध कैसे हो सकती है? ऐसा लगता है कि उपनिवेशवाद के परिणामों के गहन एहसासों का चाबी की तरह इस्तेमाल किए बिना यह पहेली हल नहीं की जा सकती। अपने यहां का समीक्षा लेखन विशेष ऊंचे दर्जे का नहीं होता। अलग-अलग स्तर के पाठकों की अपेक्षाओं और समस्याओं को न समझ पाने के कारण बहुस्तरीय समीक्षा भी कहीं विकसित हुई नहीं दिखाई देती। पहले से चली आई परंपरा के अनुसार आज भी नई पद्धतियों और विचार व्यूहों का गहन अध्ययन किए बिना ही तथाकथित उच्चस्तरीय समीक्षा लिखी जाती है। इससे उपयोजित समीक्षा प्रभावित होती है और अनेक उलझनें उत्पन्न होती हैं। जैसा कि आरंभ में ही कहा गया है, वर्तमान फैशन्स को उठाकर मूल विचारों के पर्यावरण की ओर ध्यान दिए बिना की गई समीक्षा भले ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो, पर वह अंततः अल्पजीवी ही होगी। रा.भा. पाटणकर, अशोक केलकर, भालचंद्र नेमाडे,

दिलीप चित्रे, विलास सारंग, राजा ढाले जैसे कुछ अपवाद छोड़ दें, तो क्या यह कहा जा सकता है कि मराठी में उच्चस्तरीय समीक्षा उपलब्ध है?

मुझे लगता है कि मराठी का स्वतंत्र समीक्षाशास्त्र होना संभव है। हां, यह नहीं कहा जा सकता कि आज वह उपलब्ध है। सीधे बात यह कि फ्रेंच, रशियन, ब्रिटिश, ग्रीक, रोमन, अमेरिकन और संस्कृत समीक्षाशास्त्र यदि हो सकते हैं, तो मराठी का क्यों नहीं हो सकता? श्री श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने अपनी पुस्तक 'महाराष्ट्रीयोंके काव्यपरीक्षण' में इसका पहला प्रयास किया था। इतिहास और संस्कृति के प्रभाव से किसी भी जन समुदाय का स्वभाव तैयार होता है। दुनिया को देखने का उनका दृष्टिकोण उनकी भाषा ही गढ़ती है। इससे उनकी संस्कृति, स्वभाव और सृजन की प्राथमिकताएं तय होती हैं। इन सभी बातों के बहुस्तरीय समावेशन से समीक्षाशास्त्र तैयार होता है। दुर्भाग्य से उपनिवेशवाद के दबाव के कारण भारतीयों का स्वत्व-भान नष्ट हो गया। पाश्चात्यों द्वारा की गई संरचना के हम शिकार हुए। यदि ऐसा न होता, तो हमने रामायण, महाभारत, अजंता के चित्र, कैलाश गुफा, नृत्य की परंपरा और हिंदुस्तानी संगीत आदि का आस्वाद पाश्चात्यों के मानदंडों के आधार पर न लिया होता। अपने यहाँ जो विकसित स्वरूप की कथन-परंपराएं, स्थल और काल का सामना करने की मौलिक पद्धतियां, लोक साहित्य की सम्पन्न परंपराएं हैं, उनके व्यासंग से समीक्षाशास्त्र की रचना करना संभव है। प्रश्न वृथाभिमान का नहीं, बल्कि वस्तुनिष्ठा विचार करने का है। प्रायद्वीप स्वरूपवाले देश के विस्तार को और बहुभाषिक तथा अगणित परंपराओं को ध्यान में रखते हुए एक शास्त्र का निर्माण निश्चित रूप से किया जा सकता है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि कोई एक ही विद्वान इस कार्य को पूरा कर सकता है परंतु आदर्श रूपरेखा के बिना इमारत खड़ी नहीं हो सकती। यह समय का दुर्विलास ही कहना चाहिए कि पं. राहुल सांकृत्यायन, पं. धर्मानंद कोसांबी, म.म. मिराशी, राधाकमल मुखर्जी, पं. रामविलास शर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, इतिहासाचार्य राजवाडे, श्रीधर व्यंकटेश केतकर आदि की परंपराएं लेकर आए उनके वंशज फुटकर पाश्चात्य विचारकों के लेखन से स्तंभित हो गए। ऐसा देश ढूंढने से भी नहीं मिलेगा जिसने गुलामी की इतनी बड़ी कीमत चुकाई हो।

दलित साहित्य के उदय के बाद कुछ विचारकों को दलित समीक्षाशास्त्र की रचना करने की आवश्यकता अनुभव हुई, क्योंकि परंपरागत सौंदर्यशास्त्र के मानदंडों के आधार पर दलित साहित्य का मूल्यांकन करना उन्हें स्वीकार नहीं था। वस्तुतः आधे कच्चे रूपवाद और तकनीकी कौशल से उत्पन्न होने वाले खालिस रचना सौष्ठव के विरुद्ध यह विद्रोह था। यह विद्रोह ऐसे साहित्य के विरुद्ध था, जो सांचे में ढली भाषा, विशाल समाजविषयक अज्ञान और रंजनाप्रधानता जैसे दोषों के कारण अर्धमृतास्वथा में था। वस्तुतः किसी भी साहित्य की परंपरा में विद्रोह होता ही रहता है। दलित साहित्य में होने वाले विद्रोह के लिए हमारी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थिति ने विस्तृत और ठोस नींव तैयार की थी। इसे महात्मा फुले और डॉ. बाबासाहब अंबेडकर की प्रखर विचारधारा का साथ मिला था परंतु दलित साहित्यिकों के लेखन की ही समीक्षा होती रही। यदि इस नए दृष्टिकोण के आधार पर समग्र मराठी साहित्य की परंपरा का पुनर्मूल्यांकन हुआ होता, तो दलित समीक्षा का भी विकास हुआ होता और उसे संदर्भ भी मिले होते। सैद्धांतिक स्तर पर भी मरम्मत करना नितांत आवश्यक था। बाबूराव बागुल और राजा ढाले का अपवाद छोड़ दें, तो उनके अलावा किसी

ने यह चुनौती स्वीकार नहीं की। शरद पाटील ने अब्राह्मणी सौंदर्यशास्त्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया, परंतु उनकी मार्क्सवादी विचारधारा के कारण दलित समीक्षकों को यह पसंद आने वाला नहीं था। इस कारण कहना पड़ता है कि दलित समीक्षाशास्त्र स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हो पाया। यदि ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय अक्षों पर ऐसी रचना हुई होती, तो एक स्वतंत्र शास्त्र प्रभावशाली बन सका होता। तब उसे दलित कहने की आवश्यकता नहीं रही होती, बल्कि वह मराठी के समीक्षाशास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त कर लेता।

पंसद-नापसंद, मित्रता, समानांतर विचार करने की पद्धति, एक ही पीढ़ी में जन्म लेने के कारण उत्पन्न समान प्रश्न, आदि के जरिए आपस में संबंधिता बढ़ने और पत्र व्यवहार होने के कारण स्वाभाविक रूप से मनुष्यों के गुट बनते हैं। साहित्य या कला का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है। यह हम सबके जीवन का अनुभव है कि भले ही वैचारिक मतभेद हो या प्रखर विरोधी मत हो, पर स्नेह बना रह सकता है। परंतु अपने मतों को एक ओर रखकर, मतभेदों को खुलकर व्यक्त किए बिना, अपनी भूमिका के प्रति ईमानदार रहे बिना, केवल गुट के प्रति निष्ठा के कारण प्रसिद्धि पाने की लालसा के कारण जब परीक्षण, लेख और तथाकथित गुणवत्ता की प्रशंसा की जाती है, तब इस व्यवहार में राजनीति का प्रवेश होता है। गुट का खेमा बन जाता है। इसके विपरीत, विविध मतों, विरोधों और भेदों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के बावजूद साहित्य या अन्य कई महत्वपूर्ण बातों की तरफ देखने की दृष्टि में मूलभूत समानता हो सकती है। यदि लेखन या समग्र समीक्षा का इस प्रकार विकास होता रहे, तो संस्कृति के लिए यह हमेशा ही श्रेयस्कर होता है। इसमें से साहित्य के विश्लेषण की स्वतंत्र पद्धति या प्रवृत्ति (स्थूल) का निर्माण हो सकता है। यानी, गुट-खेमा-प्रवृत्ति के त्रिकूट पर विचार करें, तो स्पष्ट होता है कि खेमाबाजी विविध क्षेत्रों की राजनीति का ही हिस्सा होती है। ऊपर कही गई तीनों बातें स्वातंत्र्योत्तर काल के मराठी साहित्य में दिखाई देती हैं। चूंकि प्रजातंत्र पर मेरा विश्वास है, मुझे लगता है कि किसी न किसी कालखंड में तीनों प्रवाह तो होंगे ही। मैं मानता हूँ कि विवादास्पद होना, बहस करते रहना, और मुँहफट तरीके से एक-दूसरे के विचारों के एब ढूँढकर उनका भंडाभोड़ करना बुद्धिजन्य क्षेत्र में आवश्यक होता है परंतु मुझे संदेह है कि व्यवहार के स्तर को हम निश्चित रूप से व्यक्तिगत कह सकेंगे। परिवर्तन के लिए पोषक राजनीति जैसे क्षेत्र की फिसलन सत्ताकारण में होने के कारण जिन हिंसक प्रवृत्तियों ने सिर उठाया है, वे सभी प्रवृत्तियां अलग-अलग रूपों में साहित्य के क्षेत्र में प्रबल हुई दिखाई देती हैं। जब साहित्य की सारगर्भिता कम हो जाती है, तब मुद्रण-प्रकाशनों की विस्तारशील सुविधाओं के कारण केवल साहित्यार्गत राजनीति ही विकसित होती है। यदि साहित्य के इतिहास के विविध कालखंडों का निरीक्षण करें, तो यह सत्य स्वीकार करना पड़ता है। वस्तुतः इस प्रकार के तात्कालिक उतार-चढ़ावों की चिंता करने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इस बात पर गंभीरता से विचार करें कि साहित्य के अध्ययन की अनेकविध पद्धतियां किस प्रकार विकसित होंगी और उससे सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण का पोषण कैसे हो सकता है, तो यह उपकारक होगा।

यह तय करने के लिए कि अखिल भारतीय स्तर पर मराठी का क्या स्थान है, या अन्य भाषाओं की समीक्षाओं का भी स्थान तय करने के लिए कुछ पृष्ठभूमि और पूर्व शर्तों पर ध्यान देना होगा। ये समस्याएं हमारे देश की भाषिक परिस्थिति से संबंध हैं, क्योंकि अंततः स्थान तय करना इन्हीं

तथ्यों के आधार पर संभव हो सकता है कि मराठी की कौन-सी रचनाएं अन्य भाषिकों को मौलिक जान पड़ती हैं और क्यों? केवल मराठी लोगों को कोई रचना मौलिक जान पड़ती हो, इससे बात बहुत सीमित हो जाती है। रचनाओं का विविध भाषाओं में अनुवाद होने से भी यह प्रश्न जुड़ा हुआ है। यह आदर्श स्थिति कही जाएगी कि अन्य भाषा के अनुवादक किसी रचना का महत्व पहचान कर उसे अपनी भाषा में उपलब्ध करा दें परंतु अपने देश के समग्र अनुवाद कार्य को ध्यान रखते हुए ऐसा लगता है कि इस प्रकार की आदर्श स्थिति आने में अभी काफी समय लगेगा। इसी कारण अंग्रेजी में किया गया लेखन सामान्य स्तर का होना के बावजूद यह भ्रम होता है कि यह लेखन राष्ट्रीय स्तर का है। प्रत्यक्षतः जितनी साहित्यिक रचनाओं के अनुवाद हिंदी में होते हैं, उतने अनुवाद समीक्षा ग्रंथों के नहीं होते। इस कारण हमारे देश में अंग्रेजी लेखन को अनावश्यक प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है। आधुनिक तकनीकी विज्ञान और दुनिया से संपर्क के मुद्दों के आधार पर यह दलील लगातार दी जाती है कि अंग्रेजी अनिवार्य है। पता नहीं अधिकांश लोग शायद यह समझते हों कि जर्मनी, जापान, चीन या यूरोप के कई छोटे देश सारा आधुनिक कार्य अंग्रेजी में ही करते हैं। इससे अधिक लांछनास्पद बात और कोई हो ही नहीं सकती कि अखिल भारतीय स्तर पर मान्यता प्राप्त करने के लिए एक विदेशी भाषा पर प्रभुत्व होना अपरिहार्य हो जाए। अंग्रेजी के हमारे देश में आने से पहले क्या कबीर या नामदेव पूरे देश को ज्ञात नहीं थे? मैंने तो यह नहीं सुना कि इन दोनों ने अपनी रचनाएं अंग्रेजी में ही हों!

यदि हम मराठी के समीक्षकों के व्यासंग, मौलिकता और योगदान पर विचार करें, तो हम अनुमान लगा सकते हैं कि अखिल भारतीय स्तर पर उनका स्थान कहां है। प्राचीन काव्यशास्त्र का विचार करें, तो कहा जा सकता है कि ग.त्र्यं. देशपांडे का स्थान महत्वपूर्ण है। उनके ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद जयंत परांजपे ने पूर्ण कर लिया है। उसके प्रकाशित होने के बाद उनके अध्ययन का मोल पता चलेगा। देशपांडे मराठी में भी उपेक्षित ही रहे। दर्शनशास्त्र और भाषा विज्ञान को मूलभूत मानते हुए मराठी में जिस समीक्षा का विकास हुआ है, उसमें रा.भा. पाटणकर और अशोक केलकर का योगदान वस्तुतः विश्वस्तरीय है। आरंभ में जैसा कि उल्लेख किया गया है, मुझे अलग-अलग कारणों से जो चार समीक्षक भारतीय स्तर पर महत्वपूर्ण जान पड़ते हैं, वे हैं भालचंद्र नेमाडे, दिलीप चित्रे, विलास सारंग और राजा ढाले। लोक साहित्य और लोक परंपरा के क्षेत्र में अनुसंधान और प्रतिपादन के स्तर पर श्री रा.चिं. ढेरे, प्रभाकर पांडे और विश्वनाथ खैर का अध्ययन बहुमूल्य है। कारण भले ही अलग-अलग हों, पर इन सभी समीक्षकों को स्तर ऊंचे दर्जे का होने के कारण मुझे नहीं लगता कि उनके कार्य को अधिक समय तक अनदेखा किया जा सकेगा।

यह अच्छा ही हुआ कि आस्वादपरक समीक्षा और चरित्रपरक समीक्षा- इन दो प्रवृत्तियों के लिए आपने प्रश्नावली में ढकोसला शब्द का प्रयोग किया है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि समीक्षा का आरंभ आस्वाद से होता है परंतु आस्वाद यानी समीक्षा नहीं। आस्वाद का स्वरूप वैयक्तिक होता है। समीक्षा के आरंभ के लिए भले ही इस प्रकार का वैयक्तिक आधार आवश्यक हो, परंतु समीक्षा व्यक्ति निरपेक्ष ही होती है। वैसी होनी भी चाहिए तभी उसे ज्ञान क्षेत्र में कोई मोल प्राप्त हो सकता है। आशयसूत्रों, तकनीक, रचना सौष्ठव आदि का वस्तुनिष्ठ पद्धति से अध्ययन कर उसकी परंपराओं, विशिष्ट युग, और भाषिक उपलब्धियों के साथ तथा इतिहास और ज्ञान के विकास-चरणों के साथ

साहित्यिक या अन्य रचनाओं का अन्योन्य संबंध जोड़कर दिखा पाना समीक्षा का प्रधान कार्य होता है। इसलिए व्यक्तिगत आस्वाद को क्रमशः विसर्जित करते हुए साहित्यिक रचनाओं और व्यक्तिनिरपेक्ष ज्ञान का मेल बिठाकर तर्कसंगत सैद्धांतिक क्षेत्र शुरू होता है। यदि इस विवेचन को स्वीकार किया जाए, तो चरित्रात्मक समीक्षा भी अंततः निरर्थक हो जाती है। साहित्यिकों के अद्वितीय कार्यों के प्रति कुतूहल के कारण उनके चरित्र के बारे में आत्मीयता और उत्कंठा होना स्वाभाविक है। साहित्यिक के चरित्र तथा उसकी रचना का संबंध नकारना भी आवश्यक नहीं है परंतु इन संबंधों को आधारभूत मानते हुए किया गया विश्लेषण वास्तव में मनोविज्ञान और चरित्र लेखन की श्रेणी में आता है। समीक्षा के साथ उसकी रत्ती भर भी संबंध नहीं है।

आजकल मराठी में कुछ लेख तो पारिवारिक स्वरूप के हैं, जिन्हें देखकर हँसी आती है। ऐसे लेख कम नहीं हैं, जिनमें साहित्यिकों को अप्पा, भाई, तात्या, अक्का जैसे आत्मीयतासूचक नामों से संबोधित किया गया हो। जो मराठी मानसिकता 'हे विश्वची माझे घर' या 'वसुधैव कुटुंबकम्' या 'विश्व स्वधर्मसूर्ये पाहो' जैसे महान वैश्विक बोध के साथ शुरू हुई है, उसका पारिवारिक होते-होते सापेक्षता को खोकर तर्कभ्रष्ट होते जाना इस का लक्षण है। इससे समीक्षा का विकास ही रुक जाता है। एक उदाहरण देते हुए यह विवेचन पूरा करता हूँ। कई बार साहित्यिक के चरित्र की कोई घटना, कोई अनुभव या कोई काल उनकी निर्माण क्षमता पर या किसी रचना पर परिणाम कर सकता है। इस प्रकार के चरित्रात्मक ब्यौरे की जानकारी होने पर हम उस रचना को अधिक अच्छी तरह समझ पाते हैं परंतु ऐसे ब्यौरों को समीक्षा में कितना स्थान दिया जाए? मर्देकर की आरंभिक कविताएं और बाद में हुए उनके विकास में शैली, आशयसूत्रों और निर्माण की पहुंच के बीच काफी अंतर दिखाई देता है। इस परिवर्तन को कैसे स्पष्ट किया जाए? यदि कुछ प्रबल स्पष्टीकरण मिले, तो इस पर रोशनी पड़ सकती है कि इसके मूल में प्रेमानुभव था, इंग्लैंड में निवास का अनुभव था या अन्य कोई अज्ञात कारण थे? चरित्र के आधार पर कुछ स्पष्टीकरण हाथ आ सकते हैं। विजया राजाध्यक्ष के छः सौ पृष्ठों के मोटे ग्रंथ में मर्देकरजी से जुड़ा यह प्रश्न उन्हें महत्वपूर्ण प्रतीत ही नहीं हुआ यानी, चरित्र को न जानते हुए भी कोई संवेदनशील पाठक अपनी ओर से कविता की संहिता का अध्ययन कर मौलिक निष्कर्षों तक पहुंच सकता है तो फिर, चरित्रात्मक पद्धति का इस्तेमाल करने से क्या साध्य होता है? यहां इस ग्रंथ की अन्य त्रुटियों के बारे में लिखने की आवश्यकता नहीं है। यदि समीक्षक और साहित्यिक समकालीन हों या साहित्यिक के जीवन के प्रसंगों और विवरणों आदि के ऐतिहासिक दस्तावेज पर्याप्त अधिकृत रूप में उपलब्ध हों, तभी चरित्रात्मक पद्धति का उपयोग किया जा सकता है। क्या प्राचीन काल के साहित्यिकों के लेखन का अध्ययन चरित्र के अभाव में करना ही छोड़ दें? पाश्चात्य पद्धति से इतिहास लेखन की, दस्तावेजों को सम्हालने की और समकालीन प्रतिक्रियाओं को विशुद्धता से नोट करने की पद्धति हमारे यहां अभी-अभी शुरू हुई है, परंतु पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांत की प्रतिष्ठित तत्व पद्धति 'ऑथर इज डेड' पिछली कई शताब्दियों से हमारे देश में पूरी तरह प्रचलित है। समीक्षा में गुणवत्ता और व्यापकता आने की संभावना तभी बनती है, जब परंपरा को ठीक से समझ लिया जाए और तभी समीक्षा विचार अर्थपूर्ण होता है। ■

दलित शब्द का उद्भव : एक ऐतिहासिक यात्रा

शैलेश मरजी कदम

प्रस्तुत आलेख में दलित शब्द के उद्भव के संदर्भ इतिहास के दृष्टि जो विचार महत्वपूर्ण हो सकते हैं उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। दलित शब्द के उद्भव की जड़ें वेद, उपनिषद तक गहरे रूप से जुड़ी हुई हैं उनके आधार पर दलित शब्द का वर्णन किया गया है। दलित शब्द के उद्भव और विकास के संदर्भ में डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों का विस्तार से विवेचन, विश्लेषण इस आलेख की रीढ़ है।¹

सामाजिक दृष्टि, आर्थिक स्थिति और राजनैतिक रूप से पिछड़े या निचले पायदान पर खड़े जनसमुदाय को निम्न नामों से संबोधित किया जाता था। जैसे-शूद्र, अछूत, हरिजन और दलित। अपने इसी स्वरूप के साथ यह वर्ग, जाति या समुदाय हिंदू धर्म और भारतीय समाज व्यवस्था में आज भी इसी नामों से जाना पहचाना जाता है। इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों का एक वर्ग, अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन को इसका जिम्मेदार मानते हुए यह कहता है कि भारत में जाति-व्यवस्था को मजबूत बनाने इसी औपनिवेशिक शासन व्यवस्था का हाथ है। दूसरी धारा जो ऐतिहासिक अध्ययन पर आधारित है, जो सत्य के अधिक करीब है, जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था को हिंदू धर्म और सामाजिक व्यवस्था की देन मानती है। भारतीय समाज की चातुर्वर्णीय व्यवस्था में सर्वप्रथम शूद्र शब्द समाज में रहनेवाले सबसे निचले पायदान पर खड़े समुदाय के लिए प्रयोग में लाया जाता था। इसकी जानकारी ऋग्वेद के 10वें मंडल के 90वें मंत्र के पुरुषसूक्त से मिलती है। इसके 11वें और 12वें श्लोकों में विश्व के निर्माण और शूद्रों की उत्पत्ति कैसे हुई इसके बारे में जानकारी मिलती है जैसे- 11वां श्लोक जब देवों में पुरुष का विभाजन किया तो उसे कितने भागों में बांटा? उसका मुख क्या था? बाहु क्यों थे? उसके पैर क्या थे? इन प्रश्नों का उत्तर 12वां श्लोक इस तरह देता है। जैसे ब्राह्मण उसके मुख क्षत्रिय, बाहु, वैश्य और उसके पैरों से उत्पन्न हुए।²

आधुनिक संदर्भ तथा भारतीय संविधान के अनुसार आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति के हिसाब से अपेक्षाकृत अधिक विकसित समाज पिछड़ी जाति और कम विकसित समाज अनुसूचित जाति के नाम से जाना जाता है। ब्रिटिश काल में अपनी शब्दावली में अछूतों के लिए शोषित जाति (Depressed Castes) एवं बहिष्कृत जाति (out Castes) आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। ब्रिटिश राजकाज में अपने सरकारी अधिनियमों के तहत जातियों के लिए अनुसूची का निर्माण कार्य किया गया। इस अनुसूची में जिन जातियों को शैक्षणिक एवं सरकारी सेवाओं तथा संसद में सीटों

का लाभ दिया गया उनके लिए 'अनुसूचित जाति' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

दलित शब्द का उद्भव एक ऐतिहासिक विश्लेषण

वर्तमान संदर्भ में 'दलित' शब्द का प्रयोग समूची अनुसूचित जातियों के लिए सर्वाधिक स्वीकार्य रूप में किया जा रहा है। यह मराठी भाषा का शब्द है। 1831 में प्रकाशित मोलवर्थ के मराठी अंग्रेजी शब्दकोश में 'दलित' शब्द का अर्थ है 'सतह' या 'तोड़कर' या 'घटाकर' विभाजित किया हुआ' आदि। 11 तो उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में प्रकाशित रामचंद्र वर्मा द्वारा संपादित 'मानक हिंदी शब्दकोश' में 'दलित' शब्द का अलग अर्थ मिलता है जैसे- 'दलित (दल एवं कत) (1) जिसका दमन हुआ हो (2) जो कुचला, दला मसला या रौंदा गया हो (3) टुकड़े-टुकड़े किया हुआ, चुर्णित (4) जो दबाया गया हो अथवा जिसे पनपने या बढ़ने न दिया हो। हीन अवस्था में पड़ा हुआ (5) ध्वस्त या नष्ट किया हुआ।

इसी शब्दकोश ने दलित वर्ग को निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया है- 'समाज का वह निम्नतम वर्ग जो उच्च वर्ग के लोगों के उत्पीड़न के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत ही हीन अवस्था में हो। जैसे-दास प्रथा वाले प्रदेशों में दास सामंतशाही व्यवस्था में कृषक या पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूर दलित वर्ग आते हैं।'³

'दलित' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करने वालों में उन्नीसवीं सदी के समाज सुधारक महात्मा ज्योतिबा फुले का नाम मिलता है। महात्मा फुले ने जातीय उत्पीड़न के संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग किया था। इसके पश्चात् आजाद भारत में 1970 के दशक में अछूत महार (अब नव बौद्ध) जाति के सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ताओं द्वारा इस शब्द का व्यापक रूप में प्रयोग किया जिसका समूचे भारत में प्रचलन बढ़ा। यह उल्लेखनीय है कि, 'अवधारणा और विचार के स्तर पर इस शब्द की जड़ें बी.आर. अंबेडकर की परिवर्तनकारी राजनैतिक विरासत से जुड़ी हैं।'⁴ हरिजन शब्द के विकल्प में 'दलित' शब्द सशक्त, आत्मीय, मुक्तिगामी और कभी-कभी पृथक पहचान की राजनीति के संदर्भ में उभरता है।'⁵

व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक आधार वाले दलित वर्ग को अस्पृश्यों का पर्याय बना दिया गया और भारत सरकार ने भारत सरकार अधिनियम, 1935 की एक अनुसूची में अस्पृश्यों को अनुसूचित जातियों के रूप में चिन्हित कर दिया गया। इसके बाद 'डॉ. बी.आर. अंबेडकर द्वारा सामाजिक-आर्थिक स्तर पर शोषित उत्पीड़ित तबकों के लिए व्यापक अर्थ में 'दलित वर्ग संघ' की स्थापना हुई।'⁶

'दलित' शब्द का उद्भव और विकास इस संदर्भ में उपर्युक्त भिन्न-भिन्न मतों विचारों को देखने के पश्चात् यहां दलित शब्द के साहित्यकारों और विद्वानों द्वारा की गई परिभाषाएं देखना भी अनिवार्य हो जाता है। दलित शब्द की परिभाषा करते हुए मराठी के प्रसिद्ध दलित साहित्यकार बाबूराव बागुल यह लिखते हैं कि- 'दलित' शब्द से अनेक प्रकार का बोध होता है। जैसे-अपमान-बोध, दुःख-बोध, दैन्य-दासत्व बोध, जाति और वर्ग बोध, विश्व-बंधुत्व बोध, क्रांति-बोध।'⁷ तो अर्जुन डांगले के मतानुसार 'दलित' शब्द का अर्थ है 'दलित यानी शोषित, पीड़ित समाज, धर्म व अन्य कारणों से जिसका आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण किया जाता है, वह मनुष्य है और वही मनुष्य क्रांति कर सकता है।'⁸ अर्थात् डांगले के अनुसार क्रांति करनेवाला दलित होता है। 'दलित' शब्द की परिभाषा देते हुए दलित पैथर्स अपने घोषणापत्र में इसे व्यापक अर्थ में परिभाषित करता है- 'दलित'

का अर्थ है अनुसूचित जाति, बौद्ध, कमागार, भूमिहीन, मजदूर, गरीब किसान, खानाबदोश जातियां, आदिवासी और नारी समाज।⁹ हिंदी के कुछ दलित साहित्यकार दलित शब्द की एक संकुचित परिभाषा देते हैं। जैसे- डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के अनुसार 'दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।' कंवल भारती भी यही मानते हैं कि 'दलित शब्द के अंतर्गत वही जातियां आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियां कहा जाता है।' ओमप्रकाश वाल्मीकि की भी यही मान्यता है कि 'भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया वह व्यक्ति ही दलित है।' इन तीनों साहित्यकारों से अलग परिभाषा देने का प्रयास मोहनदास नैमिषराय करते हैं, वे -'दलित की 'सर्वहारा' शब्द से तुलना करते हुए बताते हैं कि दलित की व्याप्ति अधिक है तो सर्वहारा की सीमित...प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अंतर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं कर सकते... अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।'¹⁰

प्रख्यात दलित चिंतक शरण कुमार लिम्बाले दलित शब्द की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि 'गांव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियां, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मजदूर, श्रमिक, कष्टकारी जनता और यायावर जातियां सभी 'दलित' शब्द से व्याख्यायित होती हैं। दलित शब्द की व्याख्या में केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से काम नहीं चलेगा। उसमें आर्थिक दृष्टि से पिछड़े लोगों का भी समावेश करना होगा।'¹¹

अतः उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि 'दलित' शब्द व्यापक अर्थ बोध की अभिव्यक्ति देता है। सदियों से भारतीय हिंदू समाज ने जिसे अस्पृश्य माना है वही व्यक्ति दलित है। दुर्गम पहाड़ों वनों के बीच-जीवन-यापन करने के लिए बाध्य जनजातियां और आदिवासी जरायमपेशा घोषित जातियां, सभी इस दायरे में आती हैं। सभी वर्गों की स्त्रियां दलित हैं। बहुत कम श्रम-मूल्य पर चौबिसों घंटे काम करने वाले श्रमिक, बंधुआ मजदूर दलित की श्रेणी में आते हैं।¹²

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय हिंदू-समाज में जिस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था है, उसमें अस्पृश्य कहे जाने वाले वर्ग को 'दलित' माना गया है। यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान के द्वारा आरक्षण प्राप्त लोग 'दलित' हैं। 'दलित' संबोधन से समाज के पददलित अधिकार विहीन और सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक उपेक्षा के शिकार अवर्ण लोगों का बोधा होता है।

वास्तव में 'दलित' वह है जो सत्ता सुख और अधिकारों से वंचित है। प्रत्येक सुविधा के अभाव में जीवित रहना जिसकी नियति है। यानी जीवन की मूलभूत सुविधाओं से वंचित वर्ग 'दलित' है।¹³ इससे अधिक तार्किक और मानवीय सोच के आधार पर मराठी के कवि स्व. नारायण सुर्वे 'दलित' शब्द की परिभाषा करते हैं कि 'समाज में जो भी पीड़ित हैं, वह दलित हैं। उपर्युक्त मतों के आधार पर दलित उसे कहा जाए जो आज भी अपना जीवनयापन करने के लिए दूसरों पर निर्भर है, मुख्यधारा से बाहर है।

चातुर्वर्णीय व्यवस्था के विरोध में भारत के इतिहास में सर्वप्रथम छठी शताब्दी में ईसा पूर्व तथागत बुद्ध ने पहला वैचारिक अभियान छोड़ा पुरुषसूक्त में प्रतिपादित व्यवस्था की मौत का बुद्ध द्वारा की गई। वैचारिक आलोचना ने तत्कालीन समाज को आंदोलन करने के लिए प्रेरित किया। बुद्ध के

विचारों से प्रभावित और अंबेडकर के विचारों को वहन करने वाला दलित है। ■

संदर्भ :

1. ऋग्वेद, पुरुषस्तुत ।
2. रामचंद्र वर्मा (संपादक), मानक हिंदी कोश, तीसरा खंड, हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, 1993, पृ.351 ।
3. वही, पृ.351 ।
4. ओलिवर मेंडलसन एवं मारिका विजियानी, द अनटचेबल्स, सबओर्डिनशन पोवर्टी एंड स्टेट इन मॉडर्न इंडिया, मानक सैकिया, नई दिल्ली, 2000, पृ.41
5. वही, पृ. 41
6. सिंह, तेज, आज का दलित साहित्य आंदोलन, 'दि संडे पोस्ट'- साहित्य विशेषांक-2009, (अतिथि संपादक-क्षितिज शर्मा) संपादक-अपूर्व जोशी, नोएडा, उ.प्र., पृ.1171 ।
7. वही, पृ. 1171 ।
8. वही, पृ. 1171 ।
9. वही, पृ. 1171 ।
10. वही, पृ. 1171 ।
11. लिंबाले, शरणकुमार,-दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ.381 ।
12. भारती, कंबल, दलित साहित्य की अवधारणा, 'उत्तर प्रदेश', सितंबर-अक्टूबर, 2002, पृ. 121 ।
13. कुमार, डॉ. संजय- दलित-साहित्य: स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का प्रकाशन, 'ईशा' अंक-6,

चित्रभाषा

मंगेश नारायणराव काले

हिंदी अनुवाद : गोरख थोरात

चित्र, कला और जीवन दोनों हैं; और हम इन दोनों को नहीं बना सकते। मैं अपने चित्र को इन्हीं दो तत्वों के बीच बनाता हूँ - राबर्ट रॉऊशेनबर्ग।

मानव समाज में आपसी संवाद के लिए भाषा की आवश्यकता महसूस हुई। इसी आवश्यकता से मानव वंश के इतिहास में अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों, समाज और संस्कृतियों में भाषाओं का निर्माण होता गया। पहले भाषा विस्तार अपने-अपने समूह तक सीमित था परंतु समूह के विस्तार के साथ-साथ भाषा का भी विस्तार कमोबेश होता गया। एक दिन जब उस भाषा का आखिरी भाषी व्यक्ति खत्म हो गया, उस दिन वह भाषा भी नष्ट हो गई। अगले दौर में लिपि की खोज हुई और भाषा मौखिक से लिखित रूप में स्थापित होती गई। तब से उस भाषा के समूह का मौखिक लोक साहित्य लिपिबद्ध होता गया। आधुनिक दौर में भाषा से कहानी, कविता, उपन्यास जैसा साहित्य सृजन भी होने लगा। मानव समुदाय के आपसी संवाद की आवश्यकता से निर्मित हुई भाषा मानव संबंधों का एक असाधारण माध्यम बन गई। मानव समाज की उल्लासिता के साथ-साथ मनुष्य की जीवनानुभूति अधिक प्रौढ़ होती गई और रोटी, कपड़ा तथा मकान आदि जीवन की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं के साथ मानव समाज अलग-अलग कलाओं के सान्निध्य में रहकर खुद को और व्यापक बनाने लगा।

मानव इतिहास में कलाओं का सान्निध्य अत्यंत प्राचीन घटना है। संगीत, नृत्य, नाट्य, साहित्य, चित्रकला, शिल्पकला आदि अनेक कलाएं मानव जीवन और अभिव्यक्ति के लिए अत्यंत जरूरी बनती गईं। मानव समुदायों की आस्थाओं के अनुसार अपने-अपने दायरे में अलग-अलग कलाएं विकसित होती गईं। इनमें चित्रकला भी मानव सभ्यता की एक अत्यंत प्राचीन कला मानी जाती है। लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व के आदिम मानव ने पहली बार चित्रकला के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्ति किया, जिसके प्रमाण प्राप्त होते हैं। अल्टामिरा, फॉ द गॉमे (Font-de-Gaume) आदि स्पेन की गुफाओं में बने जंगली भैंसे, रेनडियर के चित्र हूबहू असली जानवर जैसे नजर आते हैं। भारत में मध्य प्रदेश के भीमबैठका के पाषाणचित्र (Rock Shelter Painting) भी अल्टामिरा की गुफाचित्रों की तरह आदिम मनुष्यों द्वारा बनाए पाषाण चित्र हैं। तीस हजार से पचास हजार वर्ष तक पीछे जाकर हम इस चित्रकला की आदिम अभिव्यक्ति को देख सकते हैं। इसके बाद का भारतीय

कला में प्रमाण प्राप्त होता है, सीधे सिंधु संस्कृति से। सन् 1921, 1922 और 1931 में मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और चन्हूदारो आदि भूमि के पेट में दफन हुए पुरातन नगरों की खोज हुई और मानवीय सभ्यता के पुरातन होने का एक विशाल परिदृश्य हमारे सामने खुल गया। भारतीय चित्रकला में तब तक आदिम चित्रकला के बाद सीधे सम्राट अशोक के समय तक (ईसापूर्व 274 से 237) का संदर्भ प्राप्त होता था परंतु मोहनजोदड़ो की खुदाई में मिली अनेक कलात्मक वस्तुओं के कारण भारतीय कला की अति प्राचीनता के प्रमाण हमें प्राप्त हुए। खुदाई में मिली मुद्राओं पर छोटे सींगोंवाले बैल, कुत्ता, हाथी, घोड़ा, भैंस आदि जानवरों के चित्र अत्यंत कलात्मकता से खुदे हुए मिलते हैं। मिट्टी के बर्तनों पर पेड़, पत्ते, पंखी आदि के चित्र बनाए नजर आते हैं परंतु मुद्रा की चित्रलिपि को अभी तक हम समझ नहीं पाए हैं। इससे यह साबित हुआ कि भारत में अत्यंत पुरातन काल से चित्रकला मौजूदा थी और वह उन्नत भी थी। सिंधु घाटी की मोहनजोदड़ो संस्कृति के बारे, कला के बारे में कोई प्रमाण नहीं मिलते। ईसापूर्व लगभग 400 साल पहले वैदिक साहित्य का सर्जन हुआ और ईसापूर्व 500 में ब्राह्मण, उपनिषद, आरण्यक आदि की रचना हुई। यद्यपि इस दौर तक की चित्रकला के प्रमाण प्राप्त नहीं होते हैं, फिर भी ऋग्वेद तथा वेदकालीन ग्रंथों में चित्रकला के उल्लेख पाए जाते हैं। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में चित्रकला के कुछ उपांगों की चर्चा मिलती है। साथ ही 'चित्रलक्षण' ग्रंथ में चित्रकला का सांगोपांग वर्णन प्राप्त होता है परंतु यहां तक का चित्रकला का इतिहास भी अखंड रूप से बताया नहीं जा सकता। इसका विशाल कालखंड और उसके अवशेष हमारे लिए या तो अज्ञात रह गए होंगे अथवा विदेशी आक्रमणकारियों के चंगुल में फंसकर अनेक पुरातन कलारूप नष्ट हो गए होंगे। इस कारण भारतीय चित्रकला का जो मजबूत प्रमाण सीधे गुप्तकाल में ही प्राप्त होता है। आज भी गुप्तकाल के अजंता के भित्तिचित्र देखने पर ध्यान में आता है कि भारत में गुप्तकाल के दौरान चित्रकला कितनी उन्नत रूप में विद्यमान थी। दुर्भाग्य से अजंता के पूर्व का कोई भी कलारूप आज मौजूद नहीं है।

गुप्तकालीन (सन 320 से 600 ई.) दौर से लेकर बीसवीं शती तक, यानी सतरह सौ वर्ष के एक बड़े अंतराल में भारतीय चित्रकला अलग-अलग चरणों में विकसित होती गई। अजंता शैली के बाद चित्रकला का महत्वपूर्ण पड़ाव सीधे राजपूत तथा मुगलकालीन कला में दिखाई देता है परंतु इस दरमियान चित्रकला की तुलना में भारतीय शिल्पकला का उन्नयन अधिक हुआ है। संक्षेप में, अजंता के भित्तिचित्र, फिर राजपूत और मुगलों की लघुशैली के चित्र और आधुनिक कालखंड, आदि तीन ध्रुवों पर भारतीय चित्रकला को परखा जा सकता है। भारतीय समाज, कला प्रधान समाज कभी नहीं था। उसके जीवन में साहित्य, कला आदि का स्थान हमेशा नगण्य था। इस कारण इन सत्रह सौ वर्षों में जो कला-सर्जन हुआ, वह मुख्यतः राजसत्ता और धर्मसत्ता के दबाव में हुआ। इसमें चित्रकला को एक स्वतंत्र कला के रूप में ख्याति प्राप्त हुई परंतु इस कला का सर्जक कारीगर भी एक चित्रकार होता है, यह अहसास बिलकुल आजकल का है। इससे पहले भारतीय चित्रकार की पहचान केवल एक कारीगर तक ही सीमित थी। इसके अलावा भारतीय समाज के एक विशिष्ट तबके को छोड़ दें तो चित्रकला की कोई विशेष प्राथमिकता नहीं थी। बीसवीं शती में भारतीय कलाओं में आधुनिकता की लहर बहने लगी और चित्रकला-चित्रकार-चित्रभाषा आदि तीन तत्व केंद्र में आए। इस कारण चित्रकला के आगामी दौर में कला-निर्मित-चित्रभाषा के सूत्र का सफर अधिक मुखर होता

दिखाई पड़ता है।

किसी भी कला को जानने-समझने के लिए उस कला की भाषा को आत्मसात करना अत्यंत आवश्यक होता है। इसके बिना तत्कालीन कलारूपों से संवाद की स्थिति नहीं बन सकती। इसी कारण चित्र का अवलोकन करते समय 'चित्रभाषा' सबसे बड़ी बाधा बनती है परंतु यह चित्रभाषा ठीक-ठीक क्या है? इसकी लिपि कौन-सी है? इस चित्रभाषा का निर्माण कैसे हुआ? चित्रभाषा के तत्व क्या हैं? क्या चित्रभाषा के निर्माण से कला-प्रवाहों का कोई संबंध होता है? चित्रकला के इतिहास के विभिन्न पड़ावों की धारणाओं का चित्रभाषा पर क्या असर होता है? परिवर्तनशील कला-प्रवाहों के साथ कला-भाषा भी नए सिरे से कैसे विकसित होती है? कला अध्येता, रसिक, दर्शक, चित्रकार आदि के लिए चित्रभाषा का कोई अलग व्याकरण होता है? चित्रभाषा में कला के इतिहास का क्या स्थान होता है? चित्रभाषा में तत्कालीन अथवा पूर्वकालीन कला के प्रति निरक्षर समाज की क्या प्रतिक्रिया होती है? भारतीय चित्रकला की चित्रभाषा को जानने-समझने के लिए पश्चिमी कला का इतिहास, उसकी परंपरा को जानना जरूरी है? चित्रभाषा के विकास में कला प्रेरणा तथा कला प्रभावों का क्या स्थान होता है? यदि चित्रभाषा दृश्य-भाषा है तो बिना किसी लिपि के उसे कैसे पहचाना जा सकता है? ऐसे में कई प्रश्न चित्र का अवलोकन करनेवाले के दिमाग में उठ सकते हैं इसलिए कुछ सवालों का जायजा लेकर चित्रभाषा की अवधारणा को जानने-समझने का प्रयास करेंगे।

चित्रभाषा

चित्रभाषा एक दृश्यभाषा है। अतः वह प्रत्यक्ष चित्र से ही अभिव्यक्ति होती है परंतु चित्र का अवलोकन करते समय सामने उपस्थित चित्र, उसका आशय, विषय, उसकी निर्मित का समय, चित्र की शैली आदि अनेक तत्वों के जरिए चित्र के साथ संवाद स्थापित किया जाता है। पहली नजर में चित्र के आशय-विषय की दृष्टि से कमोबेश अन्वयार्थ हाथ आना संभव होता है परंतु आधुनिक अथवा आधुनिकतापूर्व दौर में उस चित्र का स्थान, चित्र के रंग-संयोजन की पद्धति, चित्र से अभिव्यक्ति होने वाला दौर आदि अनेक तत्वों से चित्रभाषा खुलती जाती है। चित्रभाषा को जानने-समझने की प्रक्रिया में कला इतिहास सबसे पहले बाधा बनता है क्योंकि जब तक हमारी समझ में यह नहीं आता कि सामने उपस्थित चित्रकला के इतिहास में कहां खड़ा है, तब तक उस चित्र की महत्ता अथवा कलात्मक मूल्य को पहचाना नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, अजंता की चित्रशैली भारतीय चित्रकला के इतिहास का एक सुनहरा दौर है। इस अजंता शैली के बारे में, उसकी उत्पत्ति के बारे में, उसकी विशेषता के बारे में, रंगरोगन, रेखांकन पद्धति के बारे में, अर्थात् चित्र के शरीरविज्ञान (एनाटॉमी) से यदि हमारा परिचय है तो आगामी काल के किसी भी अजंता शैली सदृश्य चित्र से हम तुरंत संवाद कर सकते हैं क्योंकि पूर्ववर्ती कला प्रभाव और वर्तमान कला-रूपों की विकास प्रक्रिया, इस प्रक्रिया में अजंता शैली का योगदान, वर्तमानकालीन कलाकारों द्वारा अपनाए गए प्रभाव, उनका स्वरूप आदि की जानकारी हमें पहले से मिल चुकी होती है। अर्थात् अजंता के भित्तिचित्र विशाल आकारों वाले होते हैं, जो चित्ररूप में अलग-अलग घटनाओं का कथन करते हैं। एक बार इस कला इतिहास से रूबरू हो जाने पर इसमें दिलचस्पी रखने वाला व्यक्ति अजंता चित्रशैली से वर्तमान चित्रशैली की बीच की कड़ियों को जोड़ सकता है। इससे वह आधुनिक कलारूप

के और पास पहुंचता है। राजपूत-मुगल लघुशैली का एक और उदाहरण देखिए : जो दर्शक अथवा रसिक अजंता चित्रशैली के इतिहास को जानता है, वह अधिक सजगता से राजपूत-मुगल लघुशैली की ओर देख सकता है। यानी अजंता का दौर सन् 320 से 600 ई. का दौर है और राजपूत-मुगल लघुशैली की ओर देख जा सकता है। यानी अजंता का दौर सन् 320 से 600 ई. का दौर है और राजपूत मुगल लघुशैली का दौर सन् 1526 से 1802 का दौर है। यानी दोनों चित्रशैलियों के बीच लगभग 1000-1200 वर्षों का अंतराल है फिर भी दोनों में यह समानता है कि दोनों कलारूप कथनरूप (Narrative) हैं। अंतर केवल आकार और माध्यम का है। यानी अजंता के चित्र आकार में विशाल होकर भी भित्तिचित्र (Fresco) हैं। इसके विपरीत लघुशैली के चित्र आकार में अत्यंत छोटे हैं और कागज तथा कपड़े पर रंगाए गए हैं। यदि इन दोनों कलारूपों के बीच कोई संबंध, रिश्ता है, तो सवाल खड़ा हो जाता है कि इन दो रूपों में आकार और माध्यम की दृष्टि से अंतर क्यों आया? इस सवाल के जवाब के लिए हमें दुबारा कला-इतिहास की तरफ जाना होगा। भारतीय कला और समाज-संस्कृति का 'सुलतान युग से लेकर मुगल युग तक' यानी आक्रमणकारी, धर्मस्थलों का विध्वंस, लूटखसोट, मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा किया गया मूर्तिपूजा का विरोध, बौद्ध धर्म का अस्त, वैदिक धर्म, शाक्त-शैव संप्रदाय, भारतीय दर्शन परंपरा, संबद्ध दौर का राजाश्रय-धर्माश्रय, कलाप्रेरणा आदि सबके बीच तालमेल बिठाना पड़ेगा और तब ध्यान में आएगा कि तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के दबावों के चलते इन दोनों कलारूपों में आकार और माध्यम की दृष्टि से अंतर आता गया है। गुप्त शासनकाल के समापन के बाद चित्रकला की अपेक्षा शिल्पकला में अधिक निखार आया। इसका मुख्य कारण यह था कि धर्मसत्ता के दबाव से अधिकांशतः मंदिर, विहारों में कला-निर्मित की जाती थी। सुलतानी दौर (सन् 712) में खिलजी, सैयद, तुगलक, लोदी आदि कई मुस्लिम घरानों की सन् 1526 तक यानी लगभग 800 वर्ष भारत के कुछ इलाकों पर हुकूमत थी। इसके बाद मुगलों के आक्रमण के बाद और तत्कालीन भारतीय धर्मों की आपसी प्रतिद्वंद्विता के चलते धर्म, विचार, कलारूप आदि को सुरक्षित रखने हेतु कला का रूप सिमटकर सीधे मिनिचर (लघु शैली) रूप तक सीमित होता गया। यदि हमें यह सब पता होगा तो हम अधिक नजदीकी से इन दोनों कलारूपों से संवादी बन सकेंगे या इन दोनों कलारूपों के प्रभाव से, मिश्रण से उत्पन्न आधुनिक नए कलारूपों से संवाद स्थापित कर सकेंगे और संवाद की चित्रभाषा हमें अवगत हो जाएगी।

चित्रभाषा भिन्न-भिन्न तत्वों से बनी है। इसमें सबसे अहम तत्व चित्रकार को माना जा सकता है। आधुनिक युग से पूर्व सीधे पुरातन युग तक कई अज्ञात चित्रकारों ने जाने-अनजाने चित्रभाषा का निर्माण किया और सोद्देश्यता से उसका विस्तार भी करते रहे। आधुनिक काल में यही प्रक्रिया कमोबेश घटित होती नजर आती है। यहां अंतर केवल इतना है कि आधुनिक चित्रकला के पूर्ववर्ती अज्ञात चित्रकारों की सर्जना 'कलारूप' के उद्देश्य से नहीं हुई थी। उसकी तुलना में आधुनिक दौर की चित्र-निर्मित केवल कलारूप में होती नजर आती है। (यहां व्यावसायिक उद्देश्य से किया गया चित्र कार्य अभिप्रेत नहीं है) परंतु आधुनिक भारतीय कला स्वयंभू निर्मित भी नहीं है। वह आधुनिक पश्चिमी कला के सान्निध्य से, प्रभाव से खड़ी हुई है। अतः आधुनिक भारतीय चित्रकला की चित्रभाषा को जानने-समझने के लिए हमें पश्चिमी कला के आधुनिक रूपों का भी जायजा लेना पड़ता

है। यहां इस बात का ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक कला किसी न किसी दबाव और पूर्व सुरियों के संसर्ग या प्रभाव से आगे बढ़ती रहती है। अतः किसी भी कलारूप का अवलोकन करते समय 'प्रभाव तत्व' का ज्ञान होना, चित्रभाषा को आत्मसात करने की एक महत्वपूर्ण शर्त माननी होगी।

यहां हम भारतीय अमूर्त चित्रकला का उदाहरण लेंगे। अमूर्त चित्रकला का प्रथम उद्गार बीसवीं शती के प्रारंभ में (1910) वासिली कॅन्डीन्स्की के 'कंपोजिशन' चित्र से पश्चिमी कला में प्रतिबिंबित हुआ। इससे पूर्व पश्चिमी अमूर्त चित्रकला के कुछ रूप पंद्रहवीं-सोलहवीं शती के चीनी कला के चित्रों में और अठारहवीं शती के आधुनिकता पूर्व कालखंड में भी मिलते हैं परंतु जिसे विशुद्ध अॅब्सट्रैक्शन कहा जाए, ऐसा चित्र कॅन्डीन्स्की का 'कंपोजिशन' ही था। इसके बाद यूरोप की तर्ज पर सारी दुनिया के कला समुदायों पर भी अॅब्सट्रैक्ट की मोहिनी फैलती गई। भारत में अॅब्सट्रैक्शन का प्रभाव बीसवीं शती के मध्य में हुआ। इसी दौर में मुंबई में आधुनिकता की राह पर चलना चाह रहे सैयद हैदर रजा, फ्रान्सिस न्यूटन सूजा, हुसैन, आरा, गाड़े आदि चित्रकार-शिल्पकारों ने प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप की स्थापना की और भारत में सच्चे अर्थ में आधुनिकता शुरू हुई। इनमें सैयद हैदर रजा भारतीय अमूर्त कला का एक महत्वपूर्ण नाम है। यदि हमें रजा की अमूर्त चित्रकला को समझना है तो भारतीय परिवेश की ऐसी नई और अपरिचित अमूर्त चित्ररूप चित्रभाषा से अवगत होना आवश्यक है। यहां जिसका उदाहरण हमने लिया है, वे सैयद हैदर रजा पश्चिमी अमूर्त कला से प्रभावित होकर भी अपनी राह तलाशने वाले चित्रकार हैं। उन्होंने अपनी कला का निर्माण पश्चिमी कला-जगत में किया, परंतु अपनी खुद की पहचान बनाने के लिए उन्होंने भारतीय दर्शन और अध्यात्म की राह भी पकड़ी। भारतीय शैली के बिंदु, गोलाकार, त्रिकोण जैसे विशिष्ट भारतीय तत्वों को वे अपने अमूर्त के केंद्र में ले आए। आज 'बिंदु' केंद्रित अभिव्यक्ति रजा के अमूर्त की पहचान बन चुकी है। जिस रसिक-दर्शक को भारतीय तकनीक और पश्चिमी अमूर्त कला का इतिहास ज्ञात है, वही रसिक दर्शक रजा के अमूर्त की मोहिनी जान पाएगा। यहां यह ध्यान रखना होगा कि रजा ने अपने व्यासंग से अपने चित्रों की चित्रभाषा का निर्माण किया। लगभग पूरी जिंदगी फ्रांस जैसे पश्चिमी कला के गढ़ में बिताकर भी अपनी कला-साधना के लिए भारतीय तत्वों का आग्रह करने वाले रजा की चित्रभाषा से संवाद करने के लिए जिज्ञासु व्यक्ति में इस कला-इतिहास का अहसास होना अत्यंत आवश्यक है। बाद में अपने आप ही हम पश्चिमी अमूर्त कला के पूर्व रूपों की ओर जाते हैं। इसमें 'अमूर्त कला को सबसे कठिन कला है' ऐसा मानने वाला और इस परंपरा का आद्य चित्रकार वासिली कॅन्डीन्स्की है। उसकी 'कला का अध्यात्म' अवधारणा पर बाद में दुनिया भर की अनेक कला-संस्कृतियों के चित्रकारों का ढांचा खड़ा हो गया। कॅन्डीन्स्की द्वारा प्रतिपादित कला की स्पिरिच्युलिटी को केंद्र बनाने वाली धारणा हो अथवा भारतीय अमूर्त कला निर्मित पर सर्वाधिक प्रभाव डालने वाले स्विस चित्रकार पॉल क्ली हो; इन चित्रकारों से परिचित हुए बिना रजा के चित्र का अध्यात्म हमारे पल्ले नहीं पड़ेगा। इसी काल का 'प्रकृति में अध्यात्म' का आग्रह करने वाला पीएट मांद्रीयेन हो या रजाक के चित्रों में भारतीय तकनीक से आने वाले भौमितिक आकार हों; इन आकारों के सहोदर और अधिक विज्ञाननिष्ठ भौमितिक आकारों को पहली बार अमूर्त में स्थापित करने वाला रूसी चित्रकार काझीमीर मलेचिव हो अथवा इसी दौर में रंगों की मोहिनी को उभारने वाला फ्रेंच चित्रकार हेन्री मातीस हो, भारतीय उत्तराधुनिक अमूर्त कला से संबंधित पूर्वसुरियों की सभी अमूर्त कला-रूपों को नकारने

वाला जैक्सन पॉलक जैसा विद्रोही अमेरिकी चित्रकार हो अथवा पालक का समकालीन और अमूर्त का एक नया अध्यात्म उपस्थित करने वाला अमेरिकी चित्रकार मार्क रोथको हो।... इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है, परंतु भारतीय अमूर्तता को समझने के लिए इन सभी की कला-सृष्टि का परिचय अत्यंत महत्वपूर्ण है। मगर यहां ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक कलाकार अपनी कला-निर्मित के लिए अपने पूर्वसुरियों भिन्न-भिन्न सतहों पर कमोबेश कुछ न कुछ स्वीकारता ही रहता है। यहां सवाल बस यही है कि क्या वह स्वयं प्रेरणा से इस स्वीकार का प्रयोग अपनी कला-निर्मित करता है? इसमें से वह क्या रखेगा और क्या त्याग देगा?

चित्रभाषा के निर्माण में जिस प्रकार चित्रकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, वैसे ही उस परिवेश की भूमिका महत्वपूर्ण भी होती है, जिसमें वह चित्रकार अपनी चित्र-निर्मित करता है क्योंकि तत्कालीन समाज, संस्कृति और वर्तमान के दबाव से ही परिवेश आकार ग्रहण करता है और इस परिवेश के प्रॉडक्ट के रूप में कला-निर्मित होती है।

चित्रकार की चित्र-निर्मित एक कलाकार की सर्जनशीलता का भी प्रॉडक्ट होती है क्योंकि इस निर्मित के लिए एक सर्जक के तौर पर वह स्वानुभूत कलासंचित से भी कुछ स्वीकार करता है। इस कारण चित्रभाषा निर्माण की प्रक्रिया में तीसरे कारक के रूप में कलाकार का सर्जक रूप महत्वपूर्ण होता है इसलिए चित्रभाषा के इन महत्वपूर्ण कारकों को कौन-सा तत्व प्रभावित करता है, यह जानने पर चित्रभाषा की निर्माण प्रक्रिया को समझना आसान हो जाता है।

कलाकार का व्यक्तित्व, उसका परिवेश और कला का इतिहास आदि तीन धुरियों पर कलाकृति आकार ग्रहण करती है। चित्रभाषा के सुलभीकरण का सर्वाधिक दायित्व इस 'कलाकृति' के कारक पर ही निर्भर होता है क्योंकि 'देखनेवाला' जो भी देखना या खोजना चाहता है, इसके लिए वह कलाकृति को ही केंद्र बनाता है। अतः कलाकृति का निर्माण करने वाले कारकों का यहां विचार करेंगे।

परिवेश

कलाकार सबसे पहले एक सामाजिक सदस्य होता है। एक व्यक्ति के रूप में उसकी समाज में एक मौजूदगी होती है। घटना, दुर्घटना, सुख-दुख, आनंद, रूढ़ि, परंपरा आदि की छाया में उसका व्यक्ति से कलाकार में रूपांतरण होता है। वैश्वीकरण के बाद यह दायरा कुछ अधिक विस्तृत हुआ। इस दौर में हम अपने जाने-अनजाने अनेक संस्कृतियों से संबद्ध हुए। समाज तथा संस्कृति की अनेक छायाएं यहां के समाज, मानवीय जीवन तथा कलाओं को प्रभावित करती हैं। स्पष्ट है कि इस मंथन से कलाकार की कला-निर्मित भी अछूती नहीं रह सकती। अतः इन सबकी प्रतिध्वनियां कला-निर्मित में ध्वनित होना संभव है। इसी कारण कलाकृति के निर्माण में परिवेश अत्यधिक महत्वपूर्ण बन जाता है। यहां पिकासो के विश्वविख्यात चित्र 'ग्वेर्निका' का उदाहरण लिया जा सकता है। ग्वेर्निका शहर को युद्धखोरों ने जिस तरह से नष्ट कर दिया था, जिस ढंग से वहां मानवता के चेहरे पर कालिख पोती गई थी, यह चित्र उसी फासीवादी युद्धखोर शासक के विरुद्ध एक कलाकार की शिकायत थी। इसका अर्थ यह हुआ कि जब परिवेश जलता है, तब एक कलाकार को सब कुछ हरा-भरा नजर नहीं आ सकता। इससे उसकी कलाकृति खंडित होती है।

कलाकार का सर्जक रूप

क्या एक ही व्यक्ति की, व्यक्ति और कलाकार के रूप में दो भिन्न भूमिकाएं हो सकती हैं? कला के इतिहास में इस सवाल पर भिन्न-भिन्न धारणाएं नजर आती हैं। उत्तर आधुनिक धारणा एक कलाकार का व्यक्ति और कलाकार के रूप में विभाजन करने को तैयार नहीं है परंतु आधुनिक धारणा एक व्यक्ति के कलाकार में हो रहे रूपांतरण को स्वीकार करती है। यहां आधुनिक धारणा के हवाले से यह कहा जा सकता है कि एक सर्जनरत कलाकार का सृजनशील चिंतन, क्षमता, कौशल आदि जिस तरह महत्वपूर्ण होता है, उसी तरह इतिहास को साक्षी मानकर उसका अपने परिवेश में घुल जाना भी महत्वपूर्ण होता है। इतिहास, परिवेश और कलाकार का सर्जक रूप आदि के संयोग, संघर्ष और मिश्रण से कोई कलाकृति जन्म लेती है। यहां सबसे अहम सवाल यह है कि कलाकार का सर्जक रूप इन सबकी तरफ कितनी गंभीरता से देखता है। यदि वह अपने परिवेश, इतिहास की परवाह किए बिना ही स्वांतः सुखाय निर्मित का आग्रह करता है, यदि वह अपने सतही अनुभवों को ही निर्मित के लिए आवश्यक आत्म साक्षात्कार समझ रहा है तो ऐसे कलाकार को एक सर्जक की दृष्टि से अपात्र ही कहना होगा उसने अपने इतिहास से, अपने परिवेश की उथल-पुथल के रूप में हो रहे सूचना के विस्फोट से क्या और कितना अपनाया है और इस मिश्रण से बनने वाले जीवनानुभवों ने उसके अंतर्मन को कितना स्पर्श किया है, यह देखना दिलचस्प होगा क्योंकि उसने कितने अनुपात में इनका कला में रूपांतरण किया है, इसी पर कलाकार का सर्जक रूप अधोरेखित होता है।

कला इतिहास

इतिहास के निर्माण में बीते हुए समय का एक स्थिर अवकाश में रूपांतरण अथवा समय के जम जाने की प्रक्रिया होती है। जब हम कला के इतिहास की बात करते हैं, तब यह बात मात्र कला तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि उस इतिहास में मानवीय संस्कृति, समाज, भौगोलिकता, घटनाएं, व्यक्ति, समूह आदि के एकात्म भाव का दस्तावेजीकरण भी बना हुआ होता है। एक विशिष्ट कला के संदर्भ में जब हम इतिहास को खंगालते हैं तो उस समय उन कलारूपों के परिवेश के अनेक संदर्भ भी कला के इतिहास में दर्ज होते रहते हैं। यानी कई घटनाओं का, व्यक्तियों का कला से कोई ठेठ संबंध नहीं होता, फिर भी उस कला के निर्माण में उन तत्वों का प्रत्यक्ष-परोक्ष संबंध दिख पड़ता है। उदाहरणार्थ, जब हम भारतीय, राजपूत, मुगल लघु शैली के उद्गम के बारे में सोचते हैं तब मुसलमान आक्रमणकारियों का संदर्भ आता है। वस्तुतः इस शैली के निर्माण में इन आक्रमणकारियों का दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है परंतु इन आक्रमणकारियों से हम अपनी इस कला-निर्मित की रक्षा नहीं कर पाते। गुप्तकाल में अजंता शैली के परवर्ती कालखंड में भारतीय चित्रकला धीरे-धीरे मिनिएचर के रूप में परिवर्तित होती गई। इसके पीछे सीधा व्यावहारिक तर्क यह था कि कला-निर्मित की रक्षा नहीं कर पाते। गुप्तकाल में अजंता शैली के परवर्ती कालखंड में भारतीय चित्रकला धीरे-धीरे मिनिएचर रूप में परिवर्तित होती गई। इसके पीछे सीधा व्यावहारिक तर्क यह था कि कला-निर्मित के इस लघु रूप के कारण उसकी रक्षा करना आसानी से संभव होता है अर्थात् इसके पीछे की यह एक कारण मीमांसा हुई। भारतीय लघुशैली की निर्मित के पीछे और भी भिन्न-भिन्न प्रेरणाएं, प्रभाव और उद्देश्य बताए जा सकते हैं इसलिए कला-इतिहास जिस तरह अपने समाज-संस्कृति के कलारूप

निर्मिति के पीछे के विशाल कालखंड का एक संहिता रूप होता है, उसी प्रकार वह कला बाह्य अन्य यथार्थ का दस्तावेजीकरण भी होता है।

कला इतिहास, परिवेश और कलाकार का सर्जक रूप आदि तीनों कारकों की मौजूदगी को जिस प्रकार हम प्राचीन काल से रेखांकित कर सकते हैं, उसी तरह उसे आधुनिक-उत्तर आधुनिक दौर में भी रेखांकित किया जा सकता है।

इसी का अनुकरण हम भारतीय आकृतिमूलक (Figurative) कला के संदर्भ में कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, भारत के अत्यंत महत्वपूर्ण फिगरेटिव चित्रकार तैयब मेहता की कलाकृति से संवाद करना हो तो एक ओर हमें भारतीय पुराणकथाएं, मिथक, विशेषतः महाकाली जैसे विशिष्ट भारतीय रूपों (हिंसक रूप) की खोज करनी पड़ती है, वहीं, दूसरी ओर अमेरिकी फिगरेटिव कला की फ्रांसिस बेकन की कलाकृति के हिंसक एलिमेंट की भी खोज करनी पड़ती है अथवा मेहता के रंग-संयोजन को जानने-समझने के लिए जिस प्रकार भारतीय अध्यात्म में प्रवेश करना पड़ता है, उसी प्रकार विज्ञाननिष्ठ पश्चिमी रंग-संयोजन की भी खोज-खबर लेनी पड़ती है। कुल मिलाकर, कोई कलाकार अथवा उसकी कला निर्मित को समझने का प्रयास करते समय उसके चित्र से अभिव्यक्त आशय, रचे गए नए मिथक अथवा सृजनशीलता का एक कल्पित प्रॉडक्ट मात्र का सीमित विचार नहीं कर सकते। यह संवाद अधिक सरल होने के लिए अलग-अलग कलारूप, इतिहास आदि से भी रूबरू होना पड़ता है।

समय के विशाल अंतराल में हो रहे परिवर्तन इतने अद्भुत होते हैं कि कुछ वर्षों के बाद पीछे मुड़कर देखने पर तत्कालीन युग में प्रतीत होने वाला आश्चर्य आज के निकष पर निरर्थकता में परिवर्तित हो जाता है इसलिए समय के संदर्भ में जैसे-जैसे पीछे जाएंगे वैसे-वैसे हमसे टकराने वाले तत्कालीन वर्तमान संभवतः आज की तरह अचंभित करने वाले प्रतीत नहीं होंगे परंतु समय के दूर तक फैले अंतराल का कला के संदर्भ में एक निश्चित अन्वयार्थ होता है और वह है पूर्ववर्तियों का कलारूप; जो आज भी उतना ही मोहित करता है। भूतकाल की कला हर बार नए रूप में मिलती है। इसका महत्वपूर्ण कारण यह है कि वह आज के कलारूप का आद्यरूप होती है। उसके बारे में मानव स्वभावतः सश्रद्ध होता है। कला के आधुनिक कालखंड में भी यह विगत काल का निरूपण हमें भा जाने वाला, सुलगाने वाला, अपनी ओर खींचने वाला और प्रभावित करने वाला साबित होता है।

चित्रभाषा के निर्माण में इन सभी पूर्वसुरी प्रेरक तत्वों का अहम सहभाग होता है। वस्तुतः पुरातन कला और आधुनिक कला में एक बुनियादी अंतर है; कि इन दोनों कलानिर्मित के मूल में कलाकार का सृजन अलग-अलग कारणों से प्रभावित होता है। अर्थात् पुरातन कला में अजंता के भित्तिचित्र रंगाने वाले कलाकार, कलाकार की अपेक्षा कारीगर के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। तत्कालीन धर्म या शासक के हुक्म की तामील और जीविका निर्वाह, इन्हीं दो प्रमुख दबावों से तत्कालीन कारीगरों ने (चित्रकारों ने) यह निर्मित की है। अतः स्पष्ट है कि इन सारी कलाकृतियों से फूट पड़ने वाली अभिव्यक्ति उस कारीगर की अपनी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि धर्म तथा सत्ताधीशों की अभिप्रेत अभिव्यक्ति है। उदाहरणार्थ, अजंता के भित्तिचित्र का कोई चित्र देखें, तो कहा जा सकता है कि इन चित्रों में बुद्ध से संबद्ध जातक कथाओं का चित्रांकन हुआ है जो बुद्ध के विचारों के

प्रचार-प्रसार के लिए बुद्ध धर्म के अनुयायी राज्यकर्ता के आश्रय में हुआ होगा। इस चित्र में उन अज्ञात चित्रकारों ने मानवीय शरीर (एनाटॉमी) का एक विशिष्ट विचार रखा है। उसका प्रतिमांकन, रंग-संयोजन, वेश-भूषा, सजावट आदि पर बारीकी से विचार किया गया है। प्रत्येक स्त्री देह एक समान कलात्मक, कमनीय और सुडौल है। बुद्ध की प्रतिमा के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। यह सब तत्कालीन चित्रकारों ने अपनी ज्ञात चित्रशैली से किया है। इसी कारण मन में कोई पूर्वाग्रह (पठन, अध्ययन) रखकर हम इन चित्रों से टकराते हैं। आगामी 1000-1200 वर्षों के एक बड़े कालखंड के बाद बने राजपूत-मुगल लघुचित्रों में भी वही तत्कालीन चित्रकारों की कारीगरी, उससे बनी इस शैली के दर्शन होते हैं। इसकी तरफ भी हमें कला इतिहास के नजरिए से ही दुबारा देखना होगा। इसमें फिर से हमें शैली, सजावट, नक्काशी, चित्र के विषय-आशय आदि के विवरण मिलने लगते हैं। इन चित्रों से हमारा संवाद आसानी से हो जाता है। यहां यह बात ध्यातव्य है कि आधुनिकता की तुलना में इस चित्र के आशय-विषय की बोधगम्यता सहज और सरल है क्योंकि वह किसी विशिष्ट धारणा से जन्मा है परंतु आधुनिक दृष्टि से चित्र बनाने वाला कलाकार एक 'चित्रकार' है, 'कारिगर', नहीं और उसकी कलानिर्मित बतौर कलारूप हुई हैं। इन दोनों कलारूपों से टकराते समय चित्रभाषा का यह अंतर हमें हमेशा ध्यान में रखना होगा।

कलाभाषा की दृष्टि से चित्रकार की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है परंतु आधुनिक दौर के बीते 100-150 वर्षों में आधुनिक-उत्तराधुनिक कला ने जिस तरह कलाभाषा का विकास किया है, वह अचंभे में डाल देता है। इसमें सबसे बड़ी बात यह निकल आती है कि इन 100-150 सालों में जो दस-बारह महत्वपूर्ण कला प्रवाह उत्पन्न हुई हैं, उनके उन्नायक कलाकारों ने न केवल कलानिर्मित की, बल्कि नई कलानिर्मित के लिए पूरक नई धारणाओं को भी जन्म दिया।

इस आलेख के शुरू में विख्यात अमेरिकी चित्रकार रॉबर्ट राऊशेनबर्ग की धारणा को उद्धृत किया गया है। पॉप आर्ट परंपरा से संबद्ध रॉबर्ट राऊशेनबर्ग की असल पहचान चित्रकला और शिल्पकला को एक मिश्रित रूप में प्रस्तुत करने वाले कल्पक चित्रकार और शिल्पकार के रूप में है। मार्शल दुशा के आधुनिक दृश्यकला में लाए गए 'रेडीमेड' को रॉबर्ट राऊशेनबर्ग ने एक कदम आगे बढ़ाया है। बिलकुल रोजमर्रा की इस्तेमाल की वस्तुओं को उसने चित्र के ढांचे में बिठा दिया है। उसने मूर्त और अमूर्त का एक विलक्षण कॉम्बिनेशन बना दिया। पूर्ववर्ती कल्पनाओं को अस्वीकार कर रॉबर्ट ने कला इतिहास में अपनी अलग पहचान बनाई है। आधुनिक कला को नई संवेदना प्रदान करने वाले चित्रकार की यह उद्धृत संवेदना नई कलाभाषा के लिए नया व्याकरण खड़ा करती है। रॉबर्ट के अनुसार, 'चित्र (कला निर्मित) यदि कला और जीवन दोनों हैं, तो इन दोनों के निर्माण की कला चित्रकार के पास होना संभव नहीं है। अधिक से अधिक वह अपने सर्जन को कला और जीवन के दरमियान खड़ा कर सकता है अर्थात् यहां राऊशेनबर्ग यह सूचित करना चाहता है कि 'कलाकार की भी अपनी सीमाएं होती हैं। वह सृष्टि का निर्माता नहीं है। वह सृष्टि के रचयिता द्वारा निर्मित, मौजूद जीवन और कला के दरमियान अधिक से अधिक कुछ दखलंदाजी कर सकता है, सर्जन नहीं कर सकता।

यह धारणा एक तरफ जहां पूर्ववर्ती धारणाओं में स्थित कलाकार के विशेष स्थान को नकारती है, वहीं दूसरी ओर वह कलाकार की सर्जनशीलता की सीमा को भी रेखांकित करती है परंतु इसमें

उसका एक सूचक कथन छिपा है कि कलाकार इन दोनों में कुछ हस्तक्षेप कर सकता है। यह हस्तक्षेप नए कला-रूपों को रसद मुहैया कराता है। ऐसे हस्तक्षेपों से ही चित्रभाषा का व्याकरण अधिक सुबोध होता है। इसी से कला और कलाकार के बीच का अवकाश संवाद के लिए खुल जाता है।

एक बात स्पष्टता से कही जा सकती है कि यदि रसिक, दर्शक, अध्येता, कलाकार आदि विभिन्न रिश्तों से कला को समझने के लिए 'चित्रभाषा' को आत्मसात करना है, तो कला इतिहास के प्रत्येक मोड़ की कला धारणाएं और कला-प्रवाहों के प्रयोजनों को भी समझना होगा। इन कला-प्रवाहों के नियोजन और कला प्रवाहों के लिए सहयोगी बने कलाकारों की समानांतर तथा विरोधी धारणाओं को जानने का प्रयास किया जाए तो संसार की कोई भी कलाकृति हमारे साथ संवाद करने के लिए तत्पर हो उठेगी। यदि ऐसा होता है तो 'यह चित्र मेरी समझ में नहीं आता' जैसा कला-मूढ़ कथन हमारे मुख से नहीं निकलेगा। ■

श्रद्धांजलि

- पूर्व प्रधानमंत्री व कवि अटल बिहारी वाजपेयी
 - साहित्यकार वी.एस. नायपॉल
 - कवि विष्णु खरे
 - कवि श्याम कश्यप
 - कथाकार हिमांशु जोशी
 - उपन्यासकार काजी अब्दुल सत्तार
- इज सभी दिवंत विभूतियों को महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा की ओर से श्रद्धांजलि

पाठक, लेखक, आलोचक

श्याम मनोहर

अनुवाद : निशिकांत ठकार

तीन लोग थे। एक लेखक, एक पाठक, एक आलोचक। सहसा तीनों का एक साथ एक छोटा-सा विश्व बन गया था। ऐसा नहीं कि तीनों बुद्धिमान थे। ऐसा भी नहीं कि तीनों बहुत सिन्सिअर थे चिंतनशील थे ऐसा भी नहीं था। सहसा किसी समय एक छोटे-से कालखंड में लोग काफी सिन्सिअर हो जाते हैं, जितनी है उतनी बुद्धि का पूरा इस्तेमाल करने लगते हैं, कुछ जाने समझे, एक दूसरे का साथ शेअर करें ऐसा उन्हें लगने लगता है, वैसा लेखक, पाठक और आलोचक के बीच एकबार हो गया।

अब एकबार वे तीनों अपने छोटे विश्व में लेखक, पाठक और आलोचक की दशा में कार्यरत हो गए तो स्वाभाविक ही साहित्य पर बातें करने लगे।

वे कुछ अपने आप के साथ बोल रहे थे तो कुछ बाकी दोनों से। ऐसी बढ़िया बात हो रही थी। पाठक ने कहा, 'यूं तो मैं पढ़ता था, लेकिन इधर मुझे पढ़ने में दिलचस्पी हो गई है। पहले मैं प्रायः समाचार पत्र, साप्ताहिक पढ़ा करता था, इधर मैं कहानी-उपन्यास पढ़ने लगा हूं। मन में आता है कि कविताएं पढ़ूं, लेकिन कविता पढ़ने को मन नहीं कर रहा है।'

लेखक ने कहा, 'नौकरी करते हुए लिखा-पढ़ी करना, इसलिए मेरा पढ़ना चौतरफा नहीं है। इधर मुझे एक उपाय सूझा है। कोई साधारण पुस्तक, जैसे कि इतिहास, भूगोल, साइंस, चाहो तो रसाई-व्यंजन की या बिलकुल दर्शन की पुस्तक, एक-दो कविता संकलन, कोई एक विदेशी उपन्यास, एक दो अपने इधर के उपन्यास मैं अपने पास रखता हूं। लेखन करते करते पढ़ता हूं। मतलब चाहा तो पढ़ता हूं चाहा तो लिखता हूं। थोड़ा लिखता हूं, थोड़ा पढ़ता हूं।... इस तरह। नौकरी, घर काम से बचे हुए समय में साल भर में इकट्ठी की हुई पुस्तकें पढ़ता हूं। एक बार, दो बार... कितनी ही बार पढ़ता रहता हूं। ऐसा नहीं करता कि एक बार ही सब समझ में आए। जितना समझ में आएगा उतना ही सही। इस तरह साल भर बाद... यानी बिलकुल साल भर बाद ऐसा भी नहीं... मैं पुस्तकों को बदलता हूं। दोस्त मुझे अच्छे मिले हैं। वे मुझे पुस्तकें देते हैं। सुझाते हैं। आलोचक ने कहा, 'दरअसल मुझे दर्शन की पुस्तकों को पढ़ना है। पढ़ना क्या है, अध्ययन करना है। पोलिटिकल थियरीज को भी पढ़ना है। खास समय निकालकर पढ़ना है। फुरसत ही नहीं मिल रही है। संगोष्ठियों

के कारण ही मेरा बहुत कुछ पढ़ना होता है। या फिर किसी पत्रिका या समाचार पत्र के लेख मांगने पर। इधर मुझे कुछ महसूस हो रहा है दरवाजा नहीं खुलता।

पाठक ने कहा, 'मैं सिर्फ पाठक हूँ। मनोरंजन के लिए, कहानी के लिए, लोग-यानी कहानी के किरदार-कौन हैं, उनका क्या होता है, क्यों होता है- इसकी उत्सुकता-वश-उत्सुकता अवश्य चाहिए-इसलिए मैं पढ़ता हूँ। हां, और एक बात, कभी-कभी वर्णनों को पढ़ते हुए भाषा का आनंद आता है। जो पढ़ा है, उसका कुछ न कुछ वाक्य कोई, वाक्या, या कोई शब्द अपने आप से या दूसरे किसी से कह सकना चाहिए। बिलकुल दस वर्षों बाद भी याद आना चाहिए।' आलोचक की ओर देखकर पाठक ने कहा, 'आप जो पढ़ते हैं हम भी वह पढ़ते हैं। आलोचक भी तो पाठक होता ही है। और भी कुछ होता है। मन में आता रहता है कि अंतर्वस्तु कितनी महान है और महानता के निकष क्या है? इस बातपर पुनः पुनः नए ढंग से सोचना पड़ता है। एकबारगी दृढ़ मत करके नहीं चलता। मन में आता है कि रचना कैसी है और क्यों महान है? बड़ी बात यह है कि महान का अर्थ क्या है? इसी परिभाषा को बारबार ढूंढना पड़ता है। महानता के निकषों का पता लगना बहुत कठिन बात है। युद्ध जीतने वाला योद्धा भी महान लगता है और परम शांति वाला मानव भी महान लगता है। इतिहास को देखें तो महानता के लक्षणों से सर चकरा जाता है।'

पाठक ने कहा, 'लेखक का पढ़ना कैसा होता है?'

आलोचक ने जल्दी से कहा, 'मैं बताता हूँ। लेखक आम पाठक भी होता है, और आलोचक भी होता है।'

लेखक ने संकोच से कहा, 'मैंने अपने तई एक बात कुछ अलग तय की है। यानी देखिए, किसी पुस्तक में किसी बात का वर्णन आया है, तो उसे पढ़कर मैं सीखने की कोशिश करता हूँ कि वह वर्णन चाहे कितना भी बढ़िया हो, उसे अन्य कितने तरीकों से किया जा सकता है। इसी नजरिए से सब तरफ देखता हूँ। हां, अब महानता के लक्षणों की बात से तो सर चकरा जाता है। मैंने अपने तई यह तय किया है कि महानता के लक्षणों को निर्धारित करने में उतावलापन किसी काम का नहीं।'

पाठक मानो अपने आप से बुदबुदा रहा था, 'मैं सोचता हूँ कि अपने यहां अध्यात्म का इतना चल रहा है, इतने गुरु, बाबाजी हैं, इतने आध्यात्मिक शिविर हो रहे हैं, तो कहानी में, उपन्यास में, अध्यात्म का कुछ न कुछ तो करना ही चाहिए।'

लेखक ने पूछा, 'और क्या-क्या आना चाहिए?'

'बहुत है।' पाठक ने कहा।

आलोचक ने कहा, 'क्यों न हम, हमें जो-जो सूझता है उसकी एक सूची बनाएं? इस तरह नहीं कि क्या है, क्या नहीं है बल्कि कभी अपने मन में जो बातें आ रही हैं, उनकी सूची।

तीनों ने याद करके सूची बनाई।

1. अध्यात्म, 2. धर्म, 3. इस धर्म की मनुष्य की अपने धर्म से संबंधित धारणा, 4. व्यवसाय, 5. विचारधाराएं, 6. भ्रष्टाचार, 7. आंदोलन, 8. शहर, गांव, उनका सौंदर्य, गंदगी, 9. रूढ़ियां, 10. कानून : पालन और तोड़ना, 11. रिश्तेनाते, 12. अन्य प्रांतियों, विदेशियों से संबंध, 13. आदमी की कदकाठी, 14. आदमी का अनाड़ीपन, स्थूल बुद्धि, समझदारी, 15. आदमी कितना भारतीय कितना प्रांतीय, कितना आदमी?, 16. आदमी की जीने की प्रक्रियाएं और अवस्थाएं, 17. आदमी कब, किस

तरह, किसे आधार बनाकर जीता है, 18. आदमी की बौद्धिक, मानसिक प्रक्रिया, 19. महानता के बारे में आदमी की धारणा, 20. आदमी की कल्पनाशक्ति, 21. भाषा वापरने की रीत, 22. आर्थिक व्यवहार, 23. अस्मिता, 24. जीवन की अद्भुतता।

पाठक ने कहा, 'बस हो गया, और भी सूझ रहा है, लेकिन अब बस हो गया। एक वक्त पर इतना सब सोचना नहीं होता। रुक-रुककर सोचना हो सकता है, इस प्रक्रिया को, आदमी की इस गति को लेखन में लाना चाहिए। आदमी की सैकड़ों पीढ़ियों ने रुक-रुककर ही विचार किया है। आदमी फटाफट कब सोचता है इसे भी लेखन में लाना होगा। आलोचक ने हँसकर कहा, 'बस हो गया तो ठीक है, बस हो गया। लेकिन मैं इस तरह की सूची फिर कभी बनाऊंगा। मुझे इस एक्जरसाइज को तो करना ही होगा।' आलोचक ने सूची पर नजर डालकर कहा, 'वर्गीकरण करना पड़ेगा। देखते हैं बाद में।'

लेखक ने मन में कहा, 'जीने में कुछ विषय एक के बाद एक लगातार आते रहते हैं। उनके इस तरह आने में अन्य विषय भी कैसे भी, कहीं भी किसी भी तरह से आते हैं। ... आदमी की अतार्किकता... बड़ी अद्भुत होती है।'

आँखें आधी मूंदते हुए पाठक ने अप्रत्याशित रूप से अपने आप से ही कहा, 'और एक विषय सूझ रहा है।'

'हां?' लेखक ने उत्सुकता से पूछा।

'शक्ति। 'बड़ी-बड़ी आँखों से पाठक ने कहा, 'जीते हुए आदमी को अंदर से शक्ति महसूस होनी चाहिए। हालत किसी भी तरह की हो, जीने की शक्ति महसूस होनी चाहिए। जीने में, हर एक काम में, व्यवहारों में देखिए की चिड़चिड़ाहट होती है... कहीं कोई बात ठीक नहीं। चिड़चिड़ाहट होती है, अपसेट होना होता है, बिखर जाता है, किरकिरी होती है... अंदर जीने की शक्ति होनी चाहिए कि नहीं? यानी देखिए, यह परेशानी का जीना, किरकिरी... कहानी में आने दो, आएगा ही लेकिन लेखन में कुछ ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो, मैं ठीक तरह से नहीं कह पा रहा हूँ लेकिन लेखक को पढ़ते हुए क्या लेखन में समझने का मजा होना चाहिए कि नहीं? समझना भी तो मजा होता है ना? इस तरह की कुछ बात मुझे करनी है। इसे अपनी सूची में ले लो।'

आलोचक ध्यान से सुन रहा था, रुककर, सूची पर नजर डालकर बोला, 'मजेदार शक्ति-यहां इसे इस तरह नोट कर देता हूँ। और कोई सही शब्द सूझा तो देखेंगे।'

लेखक मन में बुदबुदाया, 'समझना। मजा। शक्ति। मजा। समझने का मजा। मजेदार शक्ति। लेखन का लक्षण तो अच्छा है।'

आलोचक ने कहा, 'पाठक की पढ़ने की प्रक्रिया इस विषय पर भी उपन्यास हो सकता है।'

हँसते हुए पाठक ने कहा, 'तो फिर आलोचक की प्रक्रिया इस पर भी उपन्यास हो सकता है।'

आलोचक ने कहा, 'हजारों विषय हैं।'

लेखक मन में मगन हुआ।

पाठक ने कहा, 'आज की हमारी बातों पर भी कुछ ना कुछ लेखन हो सकता है।' रुक-रुककर पाठक ने कहा, 'लेकिन अब बस, इससे ज्यादा सहन नहीं होता और दूसरी बात, मुझे मां के लिए दवाई लानी है। चलेंगे? मजा आ गया आज।'

इस तरह उनकी छोटी अनायोजित महफिल समाप्त हो गई। लेखक ने मन में कहा, 'पाठक फुरसत से पढ़ सकता है, लेखक भी फुरसत से लिख सकता है, लेकिन भीतर से वह हरदम लेखक ही होगा। लेखक का परिवार होगा, नौकरी होगी... फिर भी वह भीतर से हरदम लेखक। घरवालों को, समाज को समझना चाहिए कि लेखक हरदम लेखक होता है। लेखक किसी का नहीं होता। अपना भी नहीं।'।

आलोचक ने मन में कहा, 'बहुत काम करना होगा। अपने खुद के प्रश्न होने चाहिए। हर एक प्रश्न को स्वयं को ही उठाना होगा और उत्तर सबके होने चाहिए।'।

अगले दो दिनों तक लेखक के मन में इस अनायोजित छोटी मीटिंग पर विचार आते रहे।

कभी तो लेखक के मन में आया : व्यक्ति विशिष्ट होता है। व्यक्ति को आम नहीं कहा जा सकता। फिक्शन हो भी सकता है।

कभी तो-फिक्शन के बारे में ढीला ही सोचना चाहिए। कभी तो-लेखक का अपने वैचारिक, मनोवैज्ञानिक व्यूहों का ढीला-सा ही रखना ही ठीक होगा। अज्ञात आकलन के लिए अस्तित्व में गुंजाइश होनी चाहिए ना। कभी तो-

अपनी मीटिंग की कहानी में तीनों पुरुष हैं। वाक्य रचना पुरुषवाचक है।

पुरुष क्यों?

शंका तो करनी ही होगी।

जो साक्षात् है उसी को क्यों लेना?

फिर क्या?

तीनों महिलाएं?

या, दो महिलाएं, एक पुरुष

या, एक महिला, दो पुरुष

महिला को (दो हो तो) / महिलाओं को : लेखक बनाए, पाठक बनाए या आलोचक? महिला कौन-सी कसौटी?

केवल यथार्थ की कसौटियों को ही क्यों काम में लाना?

झमेला हो रहा है।

होने दो झमेला।

जीने में होता ही है न झमेला।

हां, लेकिन समूचा जीना झमेला नहीं होता। जीने का कुछ हिस्सा तो निश्चित, तयशुदा होता है। झमेला भी तयशुदा होता है। जीने के तयशुदा हिस्से का तयशुदा आकार होता है। हर एक झमेले का आकार जुदा होता है।

कुल मिलाकर फिक्शन का शिल्प: तयशुदा आकार। झमेले का बिना तयशुदा आकार।

इसलिए हरएक फिक्शन का अलग शिल्प। झमेले को प्रसंग, संवाद, वर्णन, शिल्प और भाषा में आजमाना। कभी तो लेखक के मन में आया ठेठ लेखक-व्यक्ति, पाठक-व्यक्ति, आलोचक-व्यक्ति जैसा प्रयोग करें, लिंग-झमेला मिल जाएगा।

इस कहानी की हद तक लिंग-झमेला मिट जाएगा। अन्य स्थानों पर के लिंग झमेलों को मिटाने

के लिए अलग-अलग युक्तियों/तत्वों को खोजना पड़ेगा। ऐसा नहीं कि अन्य झमेले मिट जाएंगे। झमेलों से तो निपटना होगा। जीने में और फिक्शन में। कभी तो लेखक के ध्यान में आया झमेलों से निपटने के लिए ऊर्जा चाहिए।

कैसी ऊर्जा? विशेषण क्या?

अरे, पाठक-व्यक्ति ने कहा था न, मजेदार ऊर्जा।

जीने में मजेदार ऊर्जा हो तो, जीने का मजा। फिक्शन में तो मजेदार ऊर्जा होनी ही चाहिए। पाठक-व्यक्ति ने कहा था, समझना मजेदार होता है। फिक्शन में समझना तो होता ही है।

पूरा का पूरा समझना?

लेखक खामोश हो गया

कभी तो लेखक ने मन में कहा कभी तो कुछ न कुछ तो समझना होना ही चाहिए।

फिर भी लेखक को मन में अच्छा नहीं लग रहा था और फिर सहसा लगता है, जीने के लिए सब कुछ समझने की शर्त तो है ही नहीं।

लेखक जरा-सा मुस्कुराया।

बाद में लेखक इन मुद्दों के साथ चुप हो गया।

कभी तो लेखक ने मन में कहा 'फिक्शन में खोज होनी चाहिए।'

जल्दी-जल्दी से लेखक ने मन में कहा, 'खोज करने की ऊर्जा मजेदार होती है।'

और लेखक को सूझने लगा जो भी है, उसी में से खोजा जाता है। खोजना मुश्किल होता है। सृजन आसान होता है। सृजन के साचे बन जाते हैं। फिर सांचों से प्रोडक्शन होता है। खोज करने वाला लेखन से कम होता है। प्रोडक्शन आसान होता है।

कभी तो लेखक ने मन में कहा, 'इस दृष्टि से अब हम अन्यभाषी और मराठी-भाषी लेखन को फिर से पढ़ेंगे। हमें भी तो सीखना है।' ■

साहित्य के उज्ज्वल भविष्य के लिए

भानू काले

अनुवाद : ओमप्रकाश शर्मा

वैसे हाल ही में ऊपरी तौर पर चर्चित विषय रहा है कि मराठी साहित्य का और भाषा का भविष्य क्या होगा? मुझे नहीं लगता कि जो भाषा दस करोड़ लोग बोलते हों, हजारों पाठशालाओं में तथा महाविद्यालयों में अनगिनत अध्यापक जो भाषा पढ़ा रहे हों, वह नजदीक के भविष्य काल में नाम शेष होगी। मुझे ऐसा भी नहीं लगता कि आगामी समय में उच्च शिक्षा पाने के लिए या बढ़िया नौकरी पाने हेतु मराठी अनिवार्य हो पाएगी फिर भी अपने बच्चों को अंग्रेजी मीडियम की पाठशाला में पढ़ाना केवल शहरों एवं उच्च-वर्ग में ही नहीं अंचल तथा उपेक्षित वर्गों में भी बढ़ता प्रमाण है। इस वजह से अगली पीढ़ी की नाल मराठी के साथ बचपन से ही टूटना, लगातार बंद हो रही मराठी पाठशाला, टीवी पर घर बैठे उपलब्ध होने वाले सैंकड़ों चैनल, मोबाइल और इंटरनेट का चहुंओर प्रयोग, ये सभी अपने आसपास सर्वत्र दिखाई देने वाला आज का यथार्थ है। मराठी प्रेमियों की स्थिति असमंजस में पड़ने जैसी हो चुकी है। उन्हें चिंता हो रही है, और समझ नहीं आ रहा कि साहित्य तथा भाषा के भविष्य के संदर्भ में ठोस रूप से क्या करें बल्कि हमें ऐसी कोई फिक्र करने की आवश्यकता नहीं ऐसा दावा करना संभवतः बेईमानी का या जानबूझकर नजरअंदाज करने का द्योतक होगा। इस गुत्थी वाले विषय के कई आयाम हैं, पर आलेख की सीमारेखा के बारे में सोचकर यहां मुझे विशेष महत्वपूर्ण लगने वाले तथा हमेशा ऊहापोह में न आ पाने वाले चार दिशा सूचक मुद्दों को मैं विचारार्थ पेश करना चाहता हूँ।

पहला मुद्दा प्रांतीय स्तर पर नहीं बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर कृति करने वाला है, वह यह कि सभी भारतीय भाषाओं को बेवजह बैर भाव न रखकर अंग्रेजी के साथ सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। अपनी भूमिका यह होनी चाहिए कि 'अंग्रेजी के बजाए भारतीय भाषा' नहीं बल्कि 'अंग्रेजी के साथ भारतीय भाषा'। यह भूमिका हमसे ज्यादा अपने लड़कों, नाती, पोतों को ज्यादा जल्दी पसंद आएगी। अगर हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो छपाई का प्रसार, पाठशाला विभाग, पाठ्य पुस्तकें, बहुजन समाज में शिक्षा का प्रसार आदि सभी लाभ हमें अंग्रेजी के संपर्क से ही प्राप्त हुए हैं। हमने अंग्रेजी से मूलतः संस्कृत में प्राप्त न होने वाले विराम चिह्न ही नहीं लिए बल्कि भारतीय भाषाओं के कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता, लघु निबंध, समीक्षा आदि ज्यादातर साहित्यिक विधाओं ने बड़े पैमाने पर अंग्रेजी से प्रेरणा ग्रहण की। भले ही मिट्टी यहां की है परंतु बीज आयातित हैं। कभी हवा से उड़कर

आए हुए या कभी जानबूझकर लाकर बोए हुए। आज भी दुनिया भर में सबसे ज्यादा साहित्य सृजन, नव सृजन तथा कुल ज्ञान संचय अंग्रेजी में ही हो रहा है। रोजाना बढ़ने वाले ज्ञान भंडार को अन्य भाषाओं में अनूदित करते रहना असंभव है। समाज शास्त्र से लेकर मनोविज्ञान तक तथा अर्थशास्त्र से लेकर रसायन विज्ञान तक आज उपलब्ध सभी ग्रंथों का ऊपरी तौर पर अध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि उन पर अंग्रेजी का प्रभाव है। हम खुले दिल से यह बात स्वीकार करें कि उच्च शिक्षा पाने के लिए आज अंग्रेजी का कोई पर्याय नहीं। ऐसा करने से इस विसंगति की कतई आवश्यकता नहीं कि बाहरी तौर पर अंग्रेजी का विरोध करें, सभी को मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए, इस बात पर बल देते रहें लेकिन प्रत्यक्षतः अपने बच्चों, नाती, पोतों को अंग्रेजी पाठशाला में दाखिला दें। जब अपनी कथनी और करनी के बीच का फासला दूर हो पाएगा तभी अपनी भूमिका ज्यादा यथार्थवादी एवं ईमानदार होगी। ऐसा करने के पश्चात् भी भारतीय भाषाओं के संवर्धन की आवश्यकता क्या है? इस संदर्भ में हम जो कारण ढूँढेंगे, वे खुद को पसंद आने चाहिए इसलिए वे प्रत्यक्ष स्थिति को ज्यादा गति प्रदान कर सकेंगे। उदाहरणस्वरूप, मेरे ख्याल से मराठी जैसी भारतीय भाषा की जरूरत भविष्य में भी रहेगी। इस बारे में प्रमुख कारण वित्तीय नहीं बल्कि सांस्कृतिक समृद्धि के लिए ये भाषाएं अपरिहार्य हैं। मातृभाषा विशिष्ट लोक समूह को स्वयं की एक समूह पहचान प्रदान करने का काम करती है तथा यह समूह पहचान ही समाज का सामाजिकरण करती है, संस्कृति की बुनियाद रखती है। मातृभाषा में ही कई सांस्कृतिक संकल्पनाओं की अभिव्यक्ति हो सकती है। उदाहरणार्थ 'जूठन' तथा 'कच्ची रसोई' का शेष अंश, भोग और प्रसाद, हल्दी मिले चावल (अक्षत) और सादा चावल, तीर्थ और पानी के बीच का फर्क अंग्रेजी में कैसे अभिव्यक्त कर पाएंगे? परंपरागत जारी कहावतें और सुभाषित, लोककथा और इतिहास, संस्कार और धरोहर से समृद्ध हुआ भाषिक आशय अंग्रेजी में कैसे आ पाएगा? ऐसे अन्य अनेक कारण मातृभाषा के संवर्धन हेतु चर्चा का विषय बनेंगे और उस दृष्टि से उपाय योजना भी सुझेगी। यह उपाय तार्किक दृष्टि से ज्यादा पसंद आने वाले और ज्यादा यथार्थवादी होंगे इसलिए प्रत्यक्ष रूप में ज्यादा असरदार सिद्ध हो पाएंगे।

दूसरा मुद्दा राज्य स्तर पर कृति करने का है। वह यह है कि मराठी ने राजनीतिक रंग से सराबोर भाषिक दृढ़ संकल्प को अलग रखकर हिंदी के साथ पटरी बिठानी चाहिए। महाराष्ट्र में सभी व्यवहार मराठी में ही होनी चाहिए, ऐसा बल देने वाले कई बार फ्रांस, जर्मनी, जापान जैसे अनेक देशों के उदाहरण देते हैं लेकिन वे यह बात भूला बैठते हैं कि वे देश बहुतेरे व्यवहार अपनी भाषा में कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि उनके देश की वह एकमात्र प्रमुख भाषा है। मूलतः दुनिया के बहुसंख्य देशों का निर्माण 'एक भाषा-एक देश' इस तत्व पर हुआ है। फ्रेंच बोलने वालों का फ्रांस, जर्मन बोलने वालों का जर्मनी, जापानी बोलने वालों का जापान आदि। उन देशों में अन्य भाषा बोलने वाले रहते हैं लेकिन समाज का प्रमुख प्रवाह वहां की भाषा बोलने वालों का ही होता है। आधुनिक भारत का एक राष्ट्र के रूप में हुआ निर्माण अन्य देशों की तुलना में बहुत अलग ढंग से हुआ है। यह स्थान गहराई में जाकर विश्लेषण करने का नहीं है लेकिन यह पक्की बात है कि भारत निश्चित तौर पर बहुभाषिकों का देश है। इसके अलावा वित्तीय, सामाजिक, शैक्षिक कारणों से लगातार हो रहे नागरिकों के स्थानांतरण से और संविधान द्वारा प्रदत्त निवास स्वतंत्रता की वजह से बहुभाषिकत्व एकदम राज्य स्तरीय, बल्कि छोटे-बड़े शहरों के स्तर पर भी बढ़ा है। अंग्रेजी के साथ सभी भाषाएं

अकेली लड़ती रहीं परिणामतः वे पिछड़ गईं। महात्मा गांधी जैसे द्रष्टा नेता ने बहुत पहले पहचाना था कि भारत को जोड़ने वाली केवल हिंदी ही हो सकती है। इंदौर में सन् 1918 में संपन्न हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने इस मुद्दे को अधोरेखित किया कि हिंदी ही राष्ट्रभाषा कैसे बन सकेगी। इसके अलावा केवल शाब्दिक चर्चा के बजाए प्रत्यक्ष काम को ज्यादा महत्व प्रदान करने वाले नेता ने जारी सम्मेलन के अंतर्गत अपने कनिष्ठ पुत्र देवदास को हिंदी का प्रचार-प्रसार करने हेतु दक्षिण भारत भेजा था। उस समय राजाजी जैसे कई दक्षिणी नेताओं ने उन्हें पूरा सहयोग प्रदान किया। परिणामस्वरूप उस समय दक्षिण में हिंदी का बढ़िया प्रचार-प्रसार भी हुआ। दुर्भाग्य इस बात का है कि आजादी के पश्चात इस ओर हमने बिलकुल ध्यान नहीं दिया। राजनीतिक कारणों से हिंदी का विरोध बढ़ता चला गया। हमने भारत में संपर्क भाषा, राष्ट्र निर्माण करने वाला सुनहरा मौका गंवा दिया। आज अनेक मराठी प्रेमियों के साथ बातचीत करते समय कई बार हिंदी विरोधी क्रोध और मजाक उड़ाने वाला स्वर सुनाई देता है। जन सामान्य द्वारा स्वीकृत 'व्यस्त', 'प्रधानमंत्री', 'पर्दाफाश' और कई अन्य हिंदी प्रभावित शब्दों पर आपत्ति उठाई जाती है। भूमंडलीकरण के जमाने में अत्यधिक बहुभाषिक समाज में साथ रहने की वजह से भाषा संकट अपरिहार्य है। दरअसल मराठी को हिंदी का जोरदार समर्थन करना चाहिए। सौभाग्य से दोनों भाषाओं की लिपि देवनागरी ही है। प्रभाकर माचवे से लेकर मुक्तिबोध तक मराठी मातृभाषी कई लेखकों को हिंदी साहित्य जगत में ऊंचा स्थान प्रदान किया गया है। अगर दस करोड़ मराठीभाषी और तीस करोड़ हिंदीभाषी इकट्ठा हो जाएं तो वे बहुत बड़ी भाषिक ताकत बन सकते हैं। किताब बिक्री, व्याकरण के साथ-साथ भाषा व्यवहार में कंप्यूटर का बड़े पैमाने पर प्रयोग, सरकार के साथ अनुबंध जैसे कई मुद्दों पर इकट्ठा कार्य कर सकेंगे। हिंदी के साथ सहयोग बढ़ने से अंततः मराठी का ही लाभ होगा। यह बात समझनी चाहिए कि अपने मराठी प्रेम में अंग्रेजी एवं हिंदी के साथ सहयोग करने पर जरा भी बाधा नहीं पहुंचेगी। वैसा सहयोग करने से अपनी लोक छवि कलंकित होगी, ऐसा डर लगने का कोई कारण नहीं। इसके साथ ही किसी न किसी को यह हिम्मत जुटानी ही पड़ेगी।

तीसरा मुद्दा स्तरीय पत्रिकाओं के संवर्धन का है। हमें यह बात समझनी होगी कि भाषा और साहित्य की समृद्धि के लिए पत्रिकाओं का ऐतिहासिक महत्व है। जब दो सौ वर्ष पूर्व पाश्चात्य समाज उल्लास के एक विशिष्ट चरण पर था तब वहां पत्रिकाओं की संकल्पना चरम सीमा पर पहुंची। विज्ञान-तकनीक द्वारा किए गए विविध अनुसंधान से तथा वित्तीय प्रगति की वजह से स्थिरता आ पाई इसलिए बड़े पैमाने पर खाली समय वाला समाज का एक बड़ा घटक उस समय वहां, मानव इतिहास में, पहली बार उदित हुआ। अखबार से ज्यादा गहराई में जाने वाला, ज्ञान तथा सूचना कौशल और मनोरंजन पूर्ण प्रकाशन भी उस समय की तथा वर्ग की जरूरत थी। उस जरूरत की भरपाई पत्रिकाओं ने की। उसी समय मुद्रण क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व तरक्की से बड़े पैमाने तथा किफायती कीमत में साहित्य निर्माण भी सहज संभव हो सका। यह बात सभी साहित्य के बारे में अच्छी तरह लागू हो सकती है। आज अगर पत्रिकाओं का मंच उपलब्ध न हो पाए तो कविता, कहानी, लघु निबंध जैसी साहित्य की कई विधाओं पर संकट मंडराएगा। कालांतर में वे नष्ट भी हो सकती हैं। स्तरीय साहित्य सृजन के लिए पत्रिकाओं की अत्यधिक आवश्यकता होती है। 'काल' के हरिनारायण आपटे हो या फड़के-खांडेकर या फिर आज के हाल ही के युवा नवोदित लेखक हों। इन सभी की

रचनाएं पत्रिकाओं की वजह से ही पाठकों तक पहुंची है। समय की मांग है कि स्तरीय पत्रिकाओं का एक सामाजिक जिम्मेदारी के रूप में संवर्धन होना चाहिए। इसी के साथ यह बात भी उतनी ही सच है कि पत्रिकाओं में लिखने वाले लेखकों को बदलते यथार्थ का ख्याल रखना चाहिए। मुख्यतः आज टीवी के चैनलों ने मनोरंजन के लिए पढ़ने वाले पाठकों को छीन लिया है। दूसरी ओर प्रमुखतः सूचना पाने के लिए पढ़ने वाले पाठक आज बड़े पैमाने पर इंटरनेट की ओर रुख कर चुके हैं। ऐसी परिस्थिति में पाठकों को आकर्षित करने हेतु, उनके मन की गहराई की जरूरतों की पूर्ति करने वाले, उनका बौद्धिक स्तर बढ़ाने वालों तथा उसे अपनी लगने वाली रचनाएं उपलब्ध करानी होंगी। इसके लिए पत्रिकाओं को गंभीरता से खोजबीन करनी होगी कि उनका स्वरूप कैसा हो? और वैसा सृजन (लेखन) कौन-कौन कर सकेगा? अर्थात् ऐसी खोजबीन ठीक से कर पाने के लिए यह जरूरी है कि पत्रिकाएं भी सुदृढ़ हों।

इस आलेख का चौथा और अंतिम मुद्दा है - तकनीक। इतिहास के हर मोड़ पर तकनीक की वजह से साहित्य को बल प्राप्त हुआ। वह कई बार अनपेक्षित भी था। उदाहरण स्वरूप, कालिदास या भास या भवभूति ही श्रेष्ठ लेखक हों, फिर भी अगर उनका साहित्य केवल भोजपत्र पर ही पोथीबद्ध रहता, तो वह बहुत कम पाठकों तक सीमित रह जाता। छपाई की सुविधा उपलब्ध होने से उन्हें भविष्य में भी बड़ा पाठक वर्ग मिल पाया। छपाई के लिए अगर रोटरी मशीनें, संपर्क व्यवस्था, यातायात के साधन न निकले होते तो आज की तरह अखबार लाखों पाठकों तक कभी भी नहीं पहुंचे होते। साहित्य और भाषा के संदर्भ में उनका प्रबोधन पर महत्वपूर्ण योगदान बहुत सीमित रह जाता। आज अनगिनत पाठक अपने हाथ के छोटे-से किंडल पर सैकड़ों किताबें संग्रहीत कर सकते हैं। जब चाहें तब पढ़ सकते हैं। इस वजह से ऐसा विश्वास उत्पन्न होता है कि भविष्य में भी पढ़ना जारी रहेगा लेकिन उसका स्वरूप ढालने वाले माध्यम बदल सकते हैं। यानी अमृत वही रहेगा केवल प्याले बदल जाएंगे। इस संदर्भ में रेडियों का उदाहरण विचारणीय है। टीवी का प्रसार होने से अब रेडियो बंद पड़ जाएगी वाली बात उठी थी लेकिन प्रत्यक्ष रूप में वैसा नहीं हो पाया। इसका एक कारण यह है कि बीबीसी जैसी प्रमुख प्रक्षेपक कंपनियों ने अपने प्रसारण में बदलाव किया। दूसरी बात यह कि मोटर बनाने वाली कंपनियों ने मोटर में बैठकर सुन पाएं ऐसे रेडियो मूल मोटर में लगाकर मोटर बेचना आरंभ किया और कुल श्रोताओं की भी तादाद जबरदस्त बढ़ सकी। इस तरह के कई बदलाव तकनीकी की वजह से आगामी कुछ वर्षों में हो सकते हैं। जिन्हें भाषा और साहित्य के प्रति आस्था है उन्हें ऐसे बदलाव की ओर ध्यान देना चाहिए। इनमें से एक ताजा उदाहरण द्रष्टव्य है। अमेरिका का विश्व विख्यात साप्ताहिक दो साल पहले बंद हो गया था, वह फिर से छपने लगा। इतना ही नहीं, वह अच्छी तरह से चल निकला। डीटीपी, यूनिकोड, ई-मेल, स्केनिंग, फेसबुक आदि का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग करना चाहिए। अंत में, भाषा व्यवहार से संबंधित अध्यापक, पत्रकार, संपादक, लेखक, समीक्षक, प्रूफ रीडर, प्रकाशक, विक्रेता आदि सभी को अपना कार्य बढ़िया तरीके से करना होगा, यही भाषा और साहित्य के संवर्द्धन का उत्तम मार्ग है। उन्हें इस बात की खोज हमेशा करनी चाहिए कि बदलती तकनीक का अपने काम में किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है। ■

अंक के रचनाकार

- भालचंद्र नेमाडे- विजयश्री दुर्गा, 6वां रास्ता, सांताक्रूज (पूर्व) मुंबई-400055(महा.)
☎022-26119911
- कृपाशंकर चौबे- म.गां.अं.हि.वि.वि., वर्धा-442001(महा.) ☎9836219078
- सूर्यनारायण रणसुभे- 'निकष' 19, अजिंक्य विला, अजिंक्य सिटी, अंबाजोगाई रोड, लातूर-413572
(महा.) ☎ 02382-227894
- ना.धो. महानोर- पाणकला, पलसखेडे, पो. फर्दापुर, अजंता के पास, जि. औरंगाबाद,(महा.)
☎08600102583
- वंसत आबाजी डहाके- 'कैक्टस' दक्षिण माल टेकड़ी, परिगणित कॉलोनी कांग्रेस नगर रोड़,
अमरावती-444002,(महा.) ☎ 9890362703
- सतीश कालसेकर- c/o डॉ. सचिन बैरागी, श्री साईं रुग्णालय, चिंचपाडा, वेण-रायगढ -402107
- यशवंत मनोहर- लुंबिनी, 45, लोकसेवा नगर, नागपुर-440022(महा.) ☎942402396
- चंद्रकांत पाटील- ए- 501, 'ऋतुरंग' परांजपे स्कूल के पास, कांथरूड पुणे-4110038,(महा.)
- प्रभा गणोरकर-कैक्टस दक्षिण माल टेकड़ी, परिगणित कॉलोनी, कांग्रेस नगर अमरावती-
444002,(महा.)
- नामदेव ढसाल- 404 फ्लोरीडा, शास्त्रीनगर, अंधेरी (प.) मुंबई-400058(महा.)
- नारायण कुलकर्णी- किताब, राउतवाडी, अकोला-444005 (महा.)
- अनुराधा पाटील- अभिजित, 119 म. गांधी नगर, स्टेशन रोड़ औरंगाबाद-431005(महा.)
- मल्लिका अमाशेख-404,फ्लोरीडा, शास्त्रीनगर, अंधेरी (प.) मुंबई- 400058(महा.)
- भुजंग मेश्राम- द्वारा-श्रीमती संघजा मेश्राम, 2 सी हिरन, नंदादीप सो. बसव कल्याण नगर,
अंबरनाथ (पू.) ठाणे -421501(महा.)
- सायमन मार्टिन- मितवा, भुईगांव, ता. वसई, जि. ठाणे-401201,(महा.) ☎9421549666
- शरण कुमार लिंबाले- सुयोगकंज, समर्थनगर, नवी सांगली, पुणे-411027(महा.) ☎9403961222
- मनोहर जाधव-मराठी विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेश खिंड, पुणे-411007(महा.) ☎9822850290
- दासू वैद्य- श्रीराम अपार्टमेंट्स, चौथी कॉलोनी, कोरुणवाडी, पदमपुरा रोड, औरंगाबाद- 431005,(महा.)
☎9403584111
- आसावरी काकडे-'सेतु' डी-1/3 स्टेट बैंक नगर, कर्वेनगर, पुणे-411052, (महा.) ☎9371836889
- प्रफुल्ल शिलेदार-'नंदादीप' ए-6, दामोदर कॉलोनी, RPTS मार्ग, सुरेंद्रनगर, नागपुर-440015,(महा.)
☎9970186702
- अशोक कोतवाल-'संदर्भ' 48/1/54, ब्लॉक नं.6, शिव कॉलोनी, जलगांव-425001(महा.)

- नागनाथ मंजुले- लबड़े गार्डन सोसायटी, वराजे, पुणे-411052,(महा.)
- वसंत केशव पाटील- 'मंगेश प्रसाद' तुलुनाड भवन के पीछे, वानले सवाडी, सांगली-416414,(महा.)
- विजय चोरमारे- वरिष्ठ उप-संपादक, महाराष्ट्र टाइम्स, मुंबई-400001,(महा.) ☎9594999456
- सौमित्र- 201, हवा महल, को हा.सो./डॉ. चरतसिंह मार्ग, अंधेरी, पूर्व, मुंबई-400093,(महा.)
- मंगेश नारायण काले- 4 बी, आनंदमयी, बी-विंग, हा.सो. होटल वरूणराज के पास,एरंडवणा, कर्वे रोड, पुणे- 411004,(महा.) ☎9766594154
- अरुण काले-द्वारा-कल्पना काले, एन-34/एस-2/6/2/1स्वामी विवेकानंद नगर, सिडको, नासिक-422009,(महा.)
- श्रीकांत देशमुख- नरहर नगर, काबरानगर, रिंग रोड, नांदेड़- 431605,(महा.) ☎9422436769
- चैताली अहेर- चैताली दर्शन अहेर, F-402, लोटस, तुलसी लैंडमार्क सेक्टर-11, स्पाइन रोड, चिखली प्रधिकरण, पुणे-411026,(महा.)
- प्रिया जामकर- प्रिया जामकर, 23 बी, आनंदवन हेरिटेज, आनंद नगर, हिंगवे खुर्द, सिंहगड़ रोड, पुणे-411051,(महा.)
- कविता मुरुमकर- 255, रविवारचा पेठ, कॉलोनी के पास, सोलापुर,(महा.)
- अनिल साबले- मु.पो. आतूर, शेवंता निवास, ता. जुन्नर, जि. पुणे- 412409,(महा.)
- बालाजी मदन इंगले- इंद्रायणी नगर, डिग्गी रास्ता उमरगा, ता. उमरगा जि. उस्मानाबाद- 413606,(महा.) ☎9881823833
- ऐश्वर्य पाटेकर- मु. पो. काकासाहेब नगर, ता. निफाड, जि. नासिक,(महा.)
- पृथ्वीराज तौर- 308, साई मेन्शन, पावडेवाडी नाका चौक, नांदेड़-431605,(महा.)
- वीरा राठौड़- पी-10,अमर हाउसिंग सोसायटी, सिडको, एन-8 औरंगाबाद-431003,(महा.) ☎8888228335
- पांडुरंग सुतार- जयराम सोसायटी 04, भडगांव रोड, पाचोरा, जि. जलगांव-424201,(महा.)
- उज्वला केलकर- सर्वे नं.176/2, गायत्री, प्लॉट नं.12, वसंत दादा साखर कारखाना कामगार भवन के पास सांगली-416416,(महा.)
- तुकाराम धांडे- रामनगर, इंगतपुरी, जि. नासिक-422403,(महा.) ☎9890074895
- लोकनाथ यशवंत-सत्यम अपार्टमेंट, विश्वकर्मा नगर, राजकला चौक,नागपुर-440027,(महा.)
- शेषराव वीरजी धांडे- समीक्षा, सिविल लाईंस, वाशिम-444505,(महा.) ☎9923489697
- शशिकांत हिंगोनेकर-निर्मला रेसिडेंसी, प्लॉट नं-1, भिकमचंद जैन नगर, प्रिपाला रोड, जलगांव- 425001,(महा.)
- अरुण शेवते-बी-102, लिंक पैलेस, साईबाबा कॉम्प्लेक्स, गोरेगांव(पू.) मुंबई-40063, ☎9892438574
- नीलकांत कुलसिंगे- समित प्रकाशन,18/4,MIG कॉलोनी,त्रिमूर्ति नगर, नागपुर-440022,(महा.) ☎9960364521
- संगीता बर्वे- सर्व नं. 62/2A,6-C,बल्लाल सोसा. दूसरी मंजिल, सहकार नगर नं.1, पर्वती, पुणे-411009,(महा.) ☎9545995693

- **रणधीर शिंदे-** 'मराठी विभाग, कोल्हापुर विश्वविद्यालय, कोल्हापुर,(महा.) 9890913031
- **नीलिमा गुंडी-** 3, अन्नपूर्णा, 1259, शुक्रवार पेठ, ऑफ बाजीराव रोड, गली नं 5, सुभाष नगर, पुणे-411002,(महा.) 9881091935
- **निशिकांत ठकार-** 47, मुराराजी पेठ, सोलापुर-413001,(महा.) 982393996
- **भारत सासणे-** 204, लक्ष्मी एंक्लेव, गणेशखिंड रास्ता, शेवरलेट के पास पुणे-411016,(महा.) 9822337906
- **जयंत पवार-** सी 811/भूमि ग्रीन सोसा. रहेजा इस्टेट के पीछे, कुलपवाड़ी, बोरिवली (पू.) मुंबई-400066,(महा.) 9769908984
- **सदानंद देशमुख-** मु.पो. जानेफल, ता. मेहकर, जि. बुलढाणा-443306,(महा.) 9420564982
- **आसाराम लोमटे-** 24 संभाजीनगर, परभणी-431401,(महा.) 9422192193
- **नीरजा-** ए-14, श्री जी दर्शन, शिवाजी रोड, अवधूत नगर के पास दहिसर(पू.) मुंबई-400068,(महा.) 9969810896
- **दीपध्वज कासोदे-** 21, मैत्रेय श्री कॉलोनी, मुक्ताई नगर, जलगांव,(महा.)
- **मधुकर धर्मापुरीकर-** ए-103, बालाजी अपार्टमेंट, फरादे पार्क, वाडी (बु) नांदेड़-431605,(महा.) 9860020486
- **प्रिया तेंडुलकर-** न्यू कफ परेड़ 'डियोरो', 2401, भक्ति पार्क, शिवडी- चेंबूर रोड वडाला, मुंबई-400037, (महा.) 9820362103
- **महेश एलकुंचवार-** 4, दडिगे ले-आउट, शंकरनगर, नागपुर-440001,(महा.) 0712-2524934
- **नागनाथ कोतापल्ले-** हाउस नं.4, प्लेनेट मिलेनियम, पिंपले सौदागर, औंधकैम्प, पुणे-411029, (महा.) 020-27404172
- **संजय आर्वीकर/हृषीकेश आर्वीकर-** फ्लैट नं.101, संकेत अपार्टमेंट,खेर टाउन, पोस्ट आफिस के सामने, धरमपेठ, नागपुर-440010,(महा.)
- **अविनाश कोल्हे-** 1301,13वीं मंजिल 'तुलिप' दोस्ती एक्सर्स, एनटॉप हिल्स, वसई वडाला(पूर्वी) मुंबई-400037,(महा.)
- **रामचंद्र सालुंखे-** अध्यक्ष, मराठी विभाग, कला, वाणिज्य व विज्ञान महाविद्यालय कन्नड, जि. औरंगाबाद,(महा.) 9423688425
- **रवींद्र किंबहुने-** कृष्णा किंबहुने, 402,बी 3; वेदय कांचन पुष्प हाउसिंग कॉम्प्लेक्स, घोडबंदर रोड, ठाणे (प)-400617,(महा.)
- **शैलेश मरजी कदम-** सहायक प्रोफेसर म.गां.अं.हि.वि.वि, वर्धा-442001,(महा.)
- **श्याम मनोहर-** 10, दीपरेखा प्लॉट 1, तुलसी बागवाले कॉलोनी, दशभुजा गणपति मार्ग सहकारनगर, पुणे-411009,(महा.)
- **भानू काले-** सी-2, गार्डन इस्टेट, नागरस रास्ता, औंध-पुणे-411004,(महा.) 9850810091
- **अरुणा ढेरे-** विदिशा, 32 तुलसीबाग वाले कॉलोनी, पुणे-411009,(महा.)

अनुवादकों के पते

- **दामोदर खड़से-** बी-503-504 हाई ब्लिस, कैलाश जीवन के पास धायरी, पुणे-411041,(महा.)
☎9850088496
- **सुनील देवधर-**ए-101,कुणाल बेलेजा, एल.एम.डी. चौक, बावधन, पुणे-411021,(महा.)
☎9823546592
- **निशिकांत ठकार-** 47 मुरारजी पेठ, सोलापुर-413001,(महा.) ☎ 9823939946
- **प्रफुल्ल शिलेदार-** 'नंदादीप' ए-6, दामोदर कॉलोनी, RPTS मार्ग, सुरेंद्रनगर, नागपुर-440015,(महा.)
☎9970186702
- **प्रकाश भातम्ब्रेकर-** 12, न्यू रोज विला, गोरेवाड़ी, पं. सातवलेकर मार्ग, माहिम, मुंबई-400016,(महा.)
☎9324409490
- **पद्माजा घोरपड़े-** 1/21, लीला पार्क सोसायटी, शिवतीर्थ नगर, पौड रोड, कोथरूड, पुणे-411038
☎9850056669
- **टीकम शेखावत-** बी-602, श्रीनिवास ग्रीन लैंड काउंटी, मानाजी नगर नरहे, पुणे-411041,(महा.)
☎9765404095
- **गजानन चव्हाण-** 3, नताशा, फूड वर्ल्ड लेन, डी.पी.रोड, औंध, पुणे-411067,(महा.) ☎9881710955
- **गोरख थोरात-** हिंदी विभाग, स.प. महाविद्यालय, तिलक रोड, पुणे-411030,(महा.) ☎9403185097
- **भगवान वैद्य 'प्रखर'-** 30, गुरुछाया कॉलोनी, साईनगर, अमरावती-444607,(महा.) ☎9422856767
- **अजीत हर्षे-** 48-एम.आई.जी, कोटरा सुल्तानाबाद, भोपाल-462003,(महा.) ☎9926510922
- **ओमप्रकाश शर्मा-** ए-44, व्हायोला हाउसिंग सोसायटी, सिप्ला फाउंडेशन रोड, वारजे पुणे-411041,(महा.) ☎9503024764
- **गोविंद बुरसे-** अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी महाविद्यालय, कन्नड, जि. औरंगाबाद-431103,(महा.)
☎9423437599
- **स्मिता दात्ये-** 17/1, प्लॉट नं.7 विज्ञान नगर, को. ऑप. हा.सो. बावधन खुर्द, पुणे-411021,(महा.)
☎9822589829



प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

सदस्यता आवेदन पत्र

'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 300 रु. (व्यक्तिगत)
'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 400 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 120 रु. (व्यक्तिगत)
'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 180 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

(नोट : केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएंगे। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

बैंक ड्राफ्ट 'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा' के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन नं. 07152-232943



Bank Details for Online Payment :

Name: Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name: Bank of India, Wardha Account No.: 972110210000005
IFSC Code No.: BKID0009721 MICR Code No.: 442013003



बहुवचन/पुस्तक-वार्ता पत्रिका के अंक से के लिए

रुपये का बैंक ड्राफ्ट संख्या दिनांक

संलग्न कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भेजे :-

नाम :

पता :

दूरभाष : ई-मेल :

दिनांक :

(सदस्य के हस्ताक्षर)